।। श्रीहरिः ।।

श्रीगणेश पुराण

श्रीगणेश-पुराण

अनुक्रमणिका

●●●

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीगणेश-पुराण

प्रथम खण्ड

१. प्रथम अध्याय

श्रीगणेशजी की कथा का प्रारम्भ

नैमिषे सूतमासीनमभिवाद्य महामतिम्।
कथामृतरसास्वादकुशलः शौनकोऽब्रवीत् ॥

प्राचीन काल की बात है—नैमिषारण्य क्षेत्र में ऋषि-महर्षि और साधु-सन्तों का समाज जुड़ा था। उसमें श्रीसूतजी भी विद्यमान थे। शौनक जी ने उनकी सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया कि 'हे अज्ञान रूप घोर तिमिर को नष्ट करने में करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान श्रीसूतजी! हमारे कानों के लिए अमृत के समान जीवन प्रदान करने वाले कथा तत्त्व का वर्णन कीजिए। हे सूतजी! हमारे हृदयों में ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि तथा भक्ति, वैराग्य और विवेक की उत्पत्ति जिस कथा से हो सकती हो, वह हमारे प्रति कहने की कृपा कीजिए।'

शौनक जी की जिज्ञासा से सूतजी बड़े प्रसन्न हुए। पुरातन इतिहासों के स्मरण से उनका शरीर पुलकायमान हो रहा था। वे कुछ देर उसी

स्थिति में विराजमान रहकर कुछ विचार करते रहे और अन्त में बोले–शौनक जी ! इस विषय में आपके चित्त में बड़ी जिज्ञासा है। आप धन्य हैं जो सदैव ज्ञान की प्राप्ति में तत्पर रहते हुए विभिन्न पुराण-कथाओं की जिज्ञासा रखते हैं। आज मैं आपको ज्ञान के परम स्तोत्र रूप श्रीगणेश जी का जन्म-कर्म रूप चरित्र सुनाऊँगा। गणेशजी से ही सभी ज्ञानों, सभी विद्याओं का उद्‌भव हुआ है। अब आप सावधान चित्त से विराजमान हों और श्रीगणेश जी के ध्यान और नमस्कारपूर्वक उनका चरित्र श्रवण करें।

नमस्तस्मै गणेशाय ब्रह्मविद्याप्रदायिने।
येनागस्त्यसमः साक्षात् विघ्नसागरशोषणे ॥

कैसे हैं वे श्रीगणेश जो सभी प्रकार की ब्रह्मविद्याओं को प्रदान करने वाले अर्थात् ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप पर प्रकाश डालने और जीव-ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन करने वाली विद्याओं के दाता हैं।

वे विघ्नों के समुद्रों को महर्षि अगस्त्य के समान शोषण करने में समर्थ हैं, इसीलिए उनका नाम 'विघ्न-सागर-शोषक' के नाम से प्रसिद्ध है, मैं उन भगवान श्रीगणेश जी को नमस्कार करता हूँ।

प्रथमपूजा के अधिकारी श्रीगणेशजी

यह कहकर सूतजी कुछ समय के लिए मौन हो गए और फिर बोले–'शौनक जी! भगवान् गणेश जी ही सर्वप्रथम पूजा-प्राप्ति के अधिकारी हैं। किसी भी देवता की पूजा करो, पहिले उन्हीं को पूजना होगा।'

शौनक जी ने निवेदन किया–'हे भगवन् ! हे सूत ! सर्वप्रथम यह बताने की कृपा कीजिए कि गणेश जी को प्रथम पूजा का अधिकार किस प्रकार प्राप्त हुआ ? इस विषय में मेरी बुद्धि मोह को प्राप्त हो रही है कि सृष्टि-रचयिता ब्रह्माजी, पालनकर्त्ता भगवान् नारायण और संहारकर्त्ता

शिवजी में से किसी को प्रथमपूजा का अधिकारी क्यों नहीं माना गया ? यह त्रिदेव ही तो सबसे बड़ा देवता माने जाते हैं।'

सूतजी ने कहा—शौनक जी ! यह भी एक रहस्य ही है। देखो, अधिकार माँगने से नहीं मिलता, इसके लिए योग्यता होनी चाहिए। संसार में अनेकों देवी-देवता पूजे जाते हैं। पहिले जो जिसका इष्टदेव होता, वह उसी की पूजा किया करता है। इससे बड़े देवताओं के महत्त्व में कमी आने की आशंका उत्पन्न हो गई, इस कारण देवताओं में परस्पर विवाद होने लगा। वे उसका निर्णय प्राप्त करने के लिए शिवजी के पास पहुँचे और प्रणाम करके पूछने लगे—प्रभो ! हम सबमें प्रथमपूजा का अधिकारी कौन है ?

शिवजी सोचने लगे कि किसे प्रथमपूजा का अधिकारी मानें ? तभी उन्हें एक युक्ति सूझी, बोले—देवगण ! इसका निपटारा बातों से नहीं, तथ्यों से होगा। इसके लिए एक प्रतियोगिता रखनी होगी।

विश्व की परिक्रमा करने की प्रतियोगिता

देवगण उनका मुख देखने लगे। शंकित हृदय से सोचते थे कि कैसी प्रतियोगिता रहेगी ? यह शिवजी ने उनके मन के भाव ताड़ लिये, इसलिए सान्त्वना-भरे शब्दों में बोले—'घबराओ मत, कोई कठिन परीक्षा नहीं ली जायेगी। बस, इतना ही कि सभी अपने-अपने वाहनों पर चढ़कर संसार की परिक्रमा करो और फिर यहाँ लौट आओ। जो पहिले लौटेगा, वही सर्वप्रथमपूजा का अधिकारी होगा।'

अब क्या देर थी, सभी अपने-अपने वाहन पर चढ़कर दौड़ पड़े। किसी का वाहन गजराज था तो किसी का सिंह, किसी का भैंसा तो किसी का मृग, किसी का हंस तो किसी का उल्लू, किसी का अश्व तो किसी का श्वान। अभिप्राय यह कि वाहनों की विविधता के दर्शन उस

समय जितने भले प्रकार से हो सकते थे, उतने अन्य समय में नहीं।

सबसे गया-बीता वाहन गणेशजी का था मूषक। उसे 'चूहा' भी कहते हैं। ऐसे वाहन के बल-भरोसे इस प्रतियोगिता में सफल होना तो क्या, सम्मिलित होना भी हास्यास्पद था। गणेश जी ने सोचा–छोड़ो, क्या होगा प्रतियोगिता में भाग लेने से? हम तो यहाँ बैठे रहकर ही तमाशा देखेंगे।

वे बहुत देर तक विचार करते रहे। अन्त में उन्हें एक युक्ति सूझी–'शिवजी स्वयं ही जगदात्मा हैं, यह संसार उन्हीं का प्रतिबिम्ब है, तब क्यों न इन्हीं की परिक्रमा कर दी जाये। इनकी परिक्रमा करने से ही संसार की परिक्रमा हो जायेगी।'

ऐसा निश्चय कर उन्होंने मूषक पर चढ़ कर शिवजी की परिक्रमा की और उनके समक्ष जा पहुँचे। शिवजी ने कहा–'तुमने परिक्रमा पूर्ण कर ली?' उन्होंने उत्तर दिया–'जी!' शिवजी सोचने लगे कि 'इसे तो यहीं घूमते हुए देखा, फिर परिक्रमा कैसे कर आया?'

देवताओं का परिक्रमा करके लौटना आरम्भ हुआ और उन्होंने गणेशजी को वहाँ बैठे देखा तो माथा ठनक गया। फिर भी साहस करके बोले–'अरे, तुम विश्व की परिक्रमा के लिए नहीं गये?' गणेशजी ने कहा–'अरे, मैं! कबका यहाँ आ गया!' देवता बोले–'तुम्हें तो कहीं भी नहीं देखा?' गणेशजी ने उत्तर दिया–'देखते कहाँ से? समस्त संसार शिवजी में विद्यमान है, इनकी परिक्रमा करने से ही संसार की परिक्रमा पूर्ण हो गई।'

सूतजी बोले–'शौनक! इस प्रकार गणेशजी ने अपनी बुद्धि के बल पर ही विजय प्राप्त कर ली। उनका कथन सत्य था, इसलिए कोई विरोध करता भी तो कैसे? बस, उसी दिन से गणेश जी की प्रथमपूजा होने लगी।'

❀❀❀

२. द्वितीय अध्याय

हरि अनन्त हरि चरित अनन्ता

सूतजी बोले– 'हे शौनक जी ! यह एक तथ्य भी है कि गणेश जी ही उनके पात्र भी हैं। वे बड़े देवता का भी कार्य-सिद्धि में विघ्न उपस्थित होने पर उन विघ्नराज का आश्रय न लिया हो।

हे शौनक ! वे देव भी बड़े दयालु हैं। नाम तो शिवजी का ही आशुतोष है किन्तु वे सर्वात्मा और सर्वरक्षक प्रभु तो शिव जी की अपेक्षा भी शीघ्र ही प्रकट हो जाते हैं। उनका भक्त कभी किसी संकट में नहीं पड़ता। यदि प्रारब्ध-वशात् कभी किसी विपत्ति में पड़ भी जाता है तो, गणेश्वर की उपासना करने पर उनके अनुग्रह से उनके समस्त दुःख दूर होकर परम सुख की प्राप्ति होती है। शौनक ने कहा–'हे सूतजी ! हे महाभाग ! हे प्रभो ! मैं गणेश जी के विभिन्न चरित्रों का अध्ययन करना चाहता हूँ तो मुझे बताइए कि किस ग्रन्थ का अवलोकन करूँ ? हे दयामय ! आपको तो उनके समस्त चरित्र विदित हैं ही, यदि आप ही उन्हें सुनाने की कृपा करें तो मेरा अत्यधिक उपकार होगा।'

सूतजी बोले–'हे शौनक ! भगवान् गणेश्वर के इतने चरित्र हैं, कि उन सबका कथन इस जिह्वा से सम्भव नहीं, क्योंकि 'प्रभु अनन्त प्रभु चरित अनन्ता' वाली बात समस्त विद्वान् ऋषि-मुनि कहते हैं। फिर भी गणेश जी प्रथमपूजा के अधिकारी होने के कारण समस्त देव-चरित्रों में जुड़े हुए हैं। इसलिए उनका प्रभाव भी सर्वाधिक व्यापक है। हे मुने ! हे शौनक ! वे भगवान् सर्व समर्थ हैं, वे सभी का तिरस्कार करने में समर्थ हैं, किन्तु उनका तिरस्कार कोई भी नहीं कर सकता। यह त्रैलोक्य उन्हीं भगवान् के संकेत पर नृत्य करता है। इसकी समस्त क्रियाएँ उन्हीं की इच्छा पर आश्रित हैं। हे शौनक ! भगवान् गणेश्वर स्वयं कहते हैं–

शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप।
यो भेदबुद्धिर्योगः स सम्यग्योगो मतो मम ॥

हे नरेश्वर ! हे वरेण्य ! शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और मुझ गणेश में जो अभेद बुद्धियोग हैं, मेरे मत में वही सम्यक् योग है। इससे यह भी सिद्ध है, कि समस्त देवता उन्हीं के स्वरूप हैं। वे ही भगवान् विभिन्न कार्य-रूपों के अनुसार अपना भिन्न-भिन्न नाम रखते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ ! उन सब देवताओं के चरित्र भी उन्हीं गणराज के चरित्र हैं। यद्यपि सब चरित्र एक ही ग्रंथ में मिलने सम्भव नहीं हैं, फिर भी गणेश्वर के अनेकों प्रमुख चरित्रों का वर्णन गणेश-पुराण में हुआ है।

राजा सोमकान्त का वृत्तान्त-कथन

शौनक जी ने पूछा–'हे प्रभो ! गणेश-पुराण का आरम्भ किस प्रकार हुआ ? यह मुझे बताने की कृपा करें। इसपर सूत जी कहने लगे– 'हे शौनक ! यद्यपि गणेश-पुराण है तो बहुत प्राचीन, क्योंकि भगवान् गणेश्वर तो आदि हैं, न जाने कब से गणेश जी अपने उपासकों पर कृपा करते चले आ रहे हैं। उनके अनन्त चरित्र हैं जिनका संग्रह एक महापुराण का रूप ले सकता है। उसे एक बार भगवान् नारायण ने नारद जी को और भगवान् ने शंकर और जगज्जननी पार्वती जी को सुनाया था।

बाद में वही पुराण संक्षेप रूप में ब्रह्माजी ने महर्षि वेदव्यास को सुनाया और फिर व्यास जी से महर्षि भृगु ने सुना। भृगु ने कृपा करके सौराष्ट्र के एक राजा सोमकान्त को सुनाया था। तब से वह पुराण अनेक कथाओं में विस्तृत होता और अनेक कथाओं से रहित होता हुआ अनेक रूप में प्रचलित है।

शौनक जी ने पूछा–भगवन् ! आप यह बताने का कष्ट करें कि राजा सोमकान्त कौन था ? उसने महर्षि से गणेश-पुराण का श्रवण कहाँ किया

था ? उस पुराण के श्रवण से उसे क्या-क्या उपलब्धियाँ हुईं ? हे नाथ ! मुझे श्रीगणेश्वर की कथा के प्रति उत्कण्ठा बढ़ती ही जा रही है।

सूतजी बोले–'हे शौनक ! सौराष्ट्र के देवनगर नाम की एक प्रसिद्ध राजधानी थी। वहाँ का राजा सोमकान्त था। वह अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन करता था। वह वेदज्ञान सम्पन्न, शस्त्र-विद्या में पारंगत एवं प्रबल प्रतापी राजा समस्त राजाओं में मान्य तथा अत्यन्त वैभवशाली था। उसका ऐश्वर्य कुबेर के भी ऐश्वर्य को लज्जित करता था। उसने अपने पराक्रम से अनेकों देश जीत लिए थे।

उसकी पत्नी अत्यन्त रूपवती, गुणवती, धर्मज्ञा एवं पतिव्रत-धर्म का पालन करने वाली थी। वह सदैव अपने प्राणनाथ की सेवा में लगी रहती थी। उसका नाम सुधर्मा था। जैसे वह पतिव्रता थी, वैसे ही राजा भी एक-पत्नीव्रत का पालन करने वाला था।

उसके हेमकान्त नामक एक सुन्दर पुत्र था। वह भी सभी विद्याओं का ज्ञाता और अस्त्र-शस्त्रादि के अभ्यास में निपुण हो गया था। यह सभी श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न, सद्गुणी एवं प्रजाजनों के हितों का अत्यन्त पोषक था।

इस प्रकार राजा सोमकान्त स्त्री-पुत्र, पशु-वाहन, राज्य एवं प्रतिष्ठा आदि से सब प्रकार सुखी था। उसे दुःख तो था ही नहीं। सभी राजागण उसका हार्दिक सम्मान करते थे तथा उसकी श्रेष्ठ कीर्ति भी संसारव्यापी थी।

परन्तु युवावस्था के अन्त में सोमकान्त को घृणित कुष्ठरोग हो गया। उसके अनेक उपचार किये गए, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। रोग शीघ्रता से बढ़ने लगा और उसके कीड़े पड़ गये। जब रोग की अधिक वृद्धि होने लगी और उसका कोई उपाय न हो सका तो राजा ने मन्त्रियों को बुलाकर कहा–'सुव्रतो ! जाने किस कारण यह रोग मुझे पीड़ित कर रहा है।

अवश्य ही यह किसी पूर्व जन्म के पाप का फल होगा। इसलिए मैं अब अपना समस्त राज-पाट छोड़कर वन में रहूँगा। मेरे पुत्र हेमकान्त को मेरे समान मानकर राज्य शासन का धर्मपूर्वक संचालन कराते रहें।'

यह कहकर राजा ने शुभ दिन दिखवाकर अपने पुत्र हेमकान्त को राज्यपद पर अभिषिक्त किया और अपनी पत्नी सुधर्मा के साथ निर्जन वन की ओर चल दिया। प्रजापालक राजा के वियोग में समस्त प्रजाजन अश्रु बहाते हुए उनके साथ चले। राज्य की सीमा पर पहुँचकर राजा ने अपने पुत्र, अमात्यगण और प्रजाजनों को समझाया—'आप सब लोग धर्म के जानने वाले, श्रेष्ठ आचरण में तत्पर एवं सहृदय हैं। यह संसार तो वैसे भी परिवर्तनशील है। जो आज है, वह कल नहीं था और आने वाले कल में भी नहीं रहेगा। इसलिए मेरे जाने से दुःख का कोई कारण नहीं है। मेरे स्थान पर मेरा पुत्र सभी कार्यों को करेगा, इसलिए आप सब उसके अनुशासन में रहते हुए उसे सदैव सम्मति देते रहें।'

फिर पुत्र से कहा—'बेटा ! यह स्थिति सभी के समक्ष आती रही है। हमारे पूर्व पुरुष भी परम्परागत रूप से वृद्धावस्था आने पर वन में जाते रहे हैं। मैं कुछ समय पहिले ही वन में जा रहा हूँ तो कुछ पहिले या पीछे जाने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

'यदि कुछ वर्ष बाद जाऊँ तब भी मोह का त्याग करना ही होगा। इसलिए, हे वत्स ! तुम दुःखित मत होओ और मेरी आज्ञा मानकर राज्य-शासन को ठीक प्रकार चलाओ। ध्यान रखना, क्षत्रिय धर्म का कभी त्याग न करना और प्रजा को सदा सुखी रखना।'

इस प्रकार राजा सोमकान्त ने सभी को समझा-बुझाकर वहाँ से वापस लौटाया और स्वयं अपनी पतिव्रता भार्या के साथ वन में प्रवेश किया। पुत्र हेमकान्त के आग्रह से उसने सुबल और ज्ञानगम्य नामक दो अमात्यों को भी साथ ले लिया। उन सबने एक समतल एवं सुन्दर स्थान देखकर वहाँ विश्राम किया। तभी उन्हें एक मुनिकुमार दिखाई दिया।

राजा ने उससे पूछा—'तुम कौन हो ? कहाँ रहते हो ? यदि उचित समझो तो मुझे बताओ।'

मुनि-बालक ने कोमल वाणी में कहा—'मैं महर्षि भृगु का पुत्र हूँ, मेरा नाम च्यवन है। हमारा आश्रम निकट में ही है। अब आप भी अपना परिचय दीजिए।'

राजा ने कहा—'मुनिकुमार! आपका परिचय पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं सौराष्ट्र के देवनगर नामक राज्य का अधिपति रहा हूँ। अब अपने पुत्र को राज्य देकर मैंने अरण्य की शरण ली है। मुझे कुष्ठ रोग अत्यन्त पीड़ित किए हुए है, उसकी निवृत्ति का कोई उपाय करने वाला हो तो कृपाकर मुझे बताइए।'

मुनिकुमार ने कहा—'मैं अपने पिताजी से अपना वृत्तान्त कहता हूँ, फिर वे जैसा कहेंगे, आपको बताऊँगा।'

यह कहकर मुनि-बालक चला गया और कुछ देर में ही आकर बोला—'राजन्! मैंने आपका वृत्तान्त अपने पिताजी को बताया। उनकी आज्ञा हुई है कि आप सब मेरे साथ आश्रम में चलकर उनसे भेंट करें तभी आपके रोग के विषय में भी विचार किया जायेगा।'

राजा सोमकान्त के पूर्व जन्म का वृत्तान्त भृगुद्वारा वर्णन

राजा अपनी पत्नी और अमात्यों के सहित च्यवन के साथ-साथ भृगु आश्रम में जा पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर बोला—'हे भगवन्! हे महर्षि! मैं आपकी शरण हूँ, आप मुझ कुष्ठी पर कृपा कीजिए।'

महर्षि बोले—'राजन्! यह तुम्हारे किसी पूर्वजन्मकृत पाप का ही उदय हो गया है। इसका उपाय मैं विचार करके बताऊँगा। आज तो तुम सब स्नानादि से निवृत्त होकर रात्रि-विश्राम करो।'

महर्षि की आज्ञानुसार सबने स्नान, भोजन आदि के उपरान्त रात्रि व्यतीत की और प्रातः स्नानादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर महर्षि की सेवा में उपस्थित हुए। महर्षि ने कहा—'राजन्! मैंने तुम्हारे पूर्वजन्म का वृत्तान्त जान लिया है और यह भी विदित कर लिया है कि किस पाप के फल से तुम्हें इस घृणित रोग की प्राप्ति हुई है। यदि तुम चाहो तो उसे सुना दूँ।'

राजा ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'बड़ी कृपा होगी मुनिनाथ! मैं उसे सुनने के लिए उत्कण्ठित हूँ।'

महर्षि ने कहा—'तुम पूर्व जन्म में एक धनवान वैश्य के लाड़ले पुत्र थे। वह वैश्य विंध्याचल के निकट कौल्हार नामक ग्राम में निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम सुलोचना था। तुम उसी वैश्य-दम्पति के पुत्र हुए। तुम्हारा नाम 'कामद' था।

'तुम्हारा लालन-पालन बड़े लाड़-चाव से हुआ। उन्होंने तुम्हारा विवाह एक अत्यन्त सुन्दरी वैश्य-कन्या से कर दिया था जिसका नाम कुटुम्बिनी था। यद्यपि तुम्हारी भार्या सुशीला थी और तुम्हें सदैव धर्म में निरत देखना चाहती थी, किन्तु तुम्हारा स्वभाव वासनान्ध होने के कारण दिन-प्रतिदिन उच्छृङ्खल होता जा रहा था। किन्तु माता-पिता भी धार्मिक थे, इसलिए उनके सामने तुम्हारी उच्छृङ्खलता दबी रही। परन्तु माता-पिता की मृत्यु के बाद तुम निरंकुश हो गये और अपनी पत्नी की बात भी नहीं मानते थे। तुम्हें अनाचार में प्रवृत्त देखकर उसे दुःख होता था, तो भी उसका कुछ वश न चलता था।

'तुम्हारी उन्मत्तता चरम सीमा पर थी। अपनों से भी द्वेष और क्रूरता का व्यवहार किया करते थे। हत्या आदि करा देना तुम्हारे लिए सामान्य बात हो गई। पीड़ित व्यक्तियों ने तुम्हारे विरुद्ध राजा से पुकार की। अभियोग चला और तुम्हें राज्य की सीमा से भी बाहर चले जाने का आदेश हुआ। तब तुम घर छोड़कर किसी निर्जन वन में रहने लगे। उस समय तुम्हारा कार्य लोगों को लूटना और हत्या करना ही रह गया।

'एक दिन मध्याह्न काल था। गुणवर्धक नामक एक विद्वान् ब्राह्मण उधर से निकला। बेचारा अपनी पत्नी को लिवाने के लिए ससुराल जा रहा था। तुमने उस ब्राह्मण युवक को पकड़ कर लूट लिया। प्रतिरोध करने पर उसे मारने लगे तो वह चीत्कार करने लगा—मुझे मत मार, मत मार। देख, मेरा दूसरा विवाह हुआ है, मैं पत्नी को लेने के लिए जा रहा हूँ।

किन्तु तुम तो क्रोधावेश में ऐसे लीन हो रहे थे कि तुमने उसकी बात सुनकर भी नहीं सुनी। जब उसे मारने लगे तो उसने शाप दे दिया—'अरे हत्यारे! मेरी हत्या के पाप से तू सहस्त्र कल्प तक घोर नरक भोगेगा।'

'तुमने उसकी कोई चिन्ता न की और सिर काट लिया। राजन्! तुमने ऐसी-ऐसी एक नहीं, बल्कि अनेक निरीह हत्याएँ की थीं, जिनकी गणना करना भी पाप है।

'इस प्रकार इस जन्म में तुमने घोर पाप कर्म किये थे, किन्तु बुढ़ापा आने पर जब अशक्त हो गये तब तुम्हारे साथ जो क्रूरकर्मा थे वे भी किनारा कर गये। उन्होंने सोच लिया कि अब तो इसे खिलाना भी पड़ेगा, इसलिए मरने दो यहीं।'

अमोघ प्रभाव गणेश-उपासना का कथन

'राजन्! अब तुम निरालम्ब थे, चल-फिर तो सकते ही नहीं थे, भूख से पीड़ित रहने के कारण रोगों ने भी घेर लिया। उधर से जो कोई निकलता, तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखता हुआ चला जाता। तब तुम आहार की खोज में बड़ी कठिनाई से चलते हुए एक जीर्णशीर्ण देवालय में जा पहुँचे। उसमें भगवान् गणेश्वर की प्रतिमा विद्यमान थी। तब न जाने किस पुण्य के उदय होने से तुम्हारे मन में गणेशजी के प्रति भक्ति-भाव जाग्रत् हुआ। तुम निराहार रहकर उनकी उपासना करने लगे। उससे तुम्हें सबकुछ मिला और रोग भी कम हुआ।

'राजन् ! तुमने अपने साथियों की दृष्टि बचाकर बहुत-सा धन एक स्थान पर गाड़ दिया था। अब तुमने उस धन को उसे देवालय के जीर्णोद्धार में लगाने का निश्चय किया। शिल्पी बुलाकर उस मन्दिर को सुन्दर और भव्य बनवा दिया। इस कारण कुख्याति सुख्याति में बदलने लगी।

'फिर यथासमय तुम्हारी मृत्यु हुई। यमदूतों ने पकड़कर तुम्हें यमराज के समक्ष उपस्थित किया। यमराज तुमसे बोले—'जीव ! तुमने पाप और पुण्य दोनों ही किए हैं और दोनों का ही भोग तुम्हें भोगना है। किन्तु पहले पाप का फल भोगना चाहते हो या पुण्य का ?' इसके उत्तर में तुमने प्रथम अपने पुण्यकर्मों के भोग की इच्छा प्रकट की और इसीलिए उन्होंने तुम्हें राजकुल में जन्म लेने के लिए भेज दिया। पूर्व जन्म में तुमने भगवान् गणाध्यक्ष का सुन्दर एवं भव्य मन्दिर बनवाया था, इसलिए तुम्हें सुन्दर देह की प्राप्ति हुई है।'

यह कहकर महर्षि भृगु कुछ रुके, क्योंकि उन्होंने देखा कि राजा को इस वृत्तान्त पर शंका हो रही है। तभी महर्षि के शरीर में असंख्य विकराल पक्षी उत्पन्न होकर राजा की ओर झपटे। उनकी चोंच बड़ी तीक्ष्ण थी, जिनसे वे राजा के शरीर को नोच-नोच कर खाने लगे। उसके कारण उत्पन्न असह्य पीड़ा से व्याकुल हुए राजा ने महर्षि के समक्ष हाथ जोड़कर निवेदन किया—'प्रभो ! आपका आश्रम तो समस्त दोष, द्वेष आदि से परे है और यहाँ मैं आपकी शरण में बैठा हूँ तब यह पक्षी मुझे अकारण ही क्यों पीड़ित कर रहे हैं ? हे मुनिनाथ ! इनसे मेरी रक्षा कीजिए।'

महर्षि ने राजा के आर्त्तवचन सुनकर सान्त्वना देते हुए कहा—'राजन् ! तुमने मेरे वचनों में शंका की थी और जो मुझ सत्यवादी के कथन में शंका करता है, उसे खाने के लिए मेरे शरीर से इसी प्रकार पक्षी प्रकट हो जाते हैं, जो कि मेरे हुंकार करने पर भस्म हो जाया करते हैं।'

यह कहकर महर्षि ने हुंकार की और तभी वे समस्त पक्षी भस्म हो गये। राजा श्रद्धावनत होकर उनके समक्ष अश्रुपात करता हुआ बोला—'प्रभो !

अब आप पाप से मुक्त होने का उपाय कीजिए।'

महर्षि ने कुछ विचार कर कहा–'राजन्! तुमपर भगवान् गणेश्वर की कृपा सहज रूप से है और वे ही प्रभु तुम्हारे पापों को भी दूर करने में समर्थ हैं। इसलिए तुम उनके पाप-नाशक चरित्रों का श्रवण करो। गणेश-पुराण में उनके चरित्रों का भले प्रकार वर्णन हुआ है, अतएव तुम श्रद्धाभक्तिपूर्वक उसी को सुनने में चित्त लगाओ।'

राजा ने प्रार्थना की–'महामुने! मैंने गणेश-पुराण का नाम भी आज तक नहीं सुना तो उनके सुनने का सौभाग्य कैसे प्राप्त कर सकूँगा? हे नाथ! आपसे अधिक ज्ञानी और प्रकाण्ड विद्वान और कौन हो सकता है? आप ही मुझपर कृपा कीजिए।'

महर्षि ने राजा की दीनता देखकर उसके शरीर पर अपने कमण्डलु का मन्त्रपूत जल छिड़का। तभी राजा को एक छींक आई और नासिका से एक अत्यन्त छोटा काले वर्ण का पुरुष बाहर निकल आया। देखते-देखते वह बढ़ गया। उसके भयंकर रूप को देखकर राजा कुछ भयभीत हुआ, किन्तु समस्त आश्रमवासी वहाँ से भाग गये। वह पुरुष महर्षि के समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

भृगु ने उसकी ओर देखा और कुछ उच्च स्वर में बोले–'तू कौन है? क्या चाहता है?' वह बोला–'मैं साक्षात् पाप हूँ, समस्त पापियों के शरीर में मेरा निवास है। आपके मन्त्रपूत जल के स्पर्श से मुझे विवश होकर राजा के शरीर से बाहर निकलना पड़ा है। अब मुझे बड़ी भूख लगी है, बताइये, क्या खाऊँ और कहाँ रहूँ?'

महर्षि बोले–'तू उस आम के अवकाश स्थान में निवास कर और उसी वृक्ष के पत्ते खाकर जीवन-निर्वाह कर।' यह सुनते ही वह पुरुष आम के वृक्ष के पास पहुँचा, किन्तु उसके स्पर्श मात्र से वह वृक्ष जलकर भस्म हो गया। फिर जब पाप पुरुष को रहने के लिए कोई स्थान दिखाई न दिया तो वह भी अन्तर्हित हो गया।

३. तृतीय अध्याय

राजा द्वारा गणेश-पुराण श्रवण का संकल्प कथन

महर्षि बोले–'राजन् ! कालान्तर में यह वृक्ष पुनः अपना पूर्वरूप धारण करेगा। जब तक यह पुनः उत्पन्न न हो तब तक मैं तुम्हें गणेश-पुराण का श्रवण कराता रहूँगा। तुम पुराण श्रवण के संकल्पपूर्वक आदि-देव गणेशजी का पूजन करो, तब मैं गणेश-पुराण की कथा का आरम्भ करूँगा।'

मुनिराज के आदेशानुसार राजा ने पुराण-श्रवण का संकल्प किया। उसी समय राजा ने अनुभव किया कि उसकी समस्त पीड़ाएँ दूर हो गई हैं। दृष्टि डाली तो कुष्ठ रोग का अब कहीं चिह्न भी शेष नहीं रह गया था। अपने को पूर्णरूप से रोग-रहित एवं पूर्ववत् सुन्दर हुआ देखकर राजा के आश्चर्य की सीमा न रही और उसने महर्षि के चरण पकड़ लिये और निवेदन किया कि प्रभो ! मुझे गणेश-पुराण का विस्तारपूर्वक श्रवण कराइये।'

महर्षि ने कहा–'राजन् ! यह गणेश-पुराण समस्त पापों और संकटों को दूर करने वाला है, तुम इसे ध्यानपूर्वक सुनो। इसका श्रवण गणपति-भक्तों को ही करना-कराना चाहिए, अन्य किसी को नहीं। कलियुग में पापों की अधिक वृद्धि होगी और लोग कष्ट-सहन में असमर्थ एवं अल्पायु होंगे। उनके पाप दूर करने का कोई साधन होना चाहिए।' इस विचार से महर्षि वेदव्यास ने मुझे सुनाया था। उन्हीं की कृपा से मैं भगवान् गणाध्यक्ष के महान् चरित्रों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त कर सका था।

'महाराज ! भगवान् गजानन अपने सरल स्वभाव वाले भक्तों को सब कुछ प्रदान करने में समर्थ हैं। निरभिमान प्राणियों पर वे सदैव अनुग्रह

4

करते हैं, किन्तु मिथ्याभिमानी किसी को भी नहीं रहने देते। उन्होंने गर्व होने पर महा-महिमा से सम्पन्न एवं समस्त वेद-शास्त्रों के पारंगत भगवान् वेदव्यासजी को भी तिरस्कृत कर दिया था। उनके हृदय में अपने-पराये, बली-निर्बल या मूर्ख-विद्वान् का कोई भी भेद नहीं है। अभिमानी मनुष्यों का अभिमान-खण्डन करना तो उन्होंने अपना बहुत आवश्यक कर्म मान लिया है।'

राजा ने आश्चर्य से पूछा–'प्रभो ! भगवान् वेदव्यास जी तो समस्त दुर्गुणों, दोषों और दुर्बलताओं से परे पूर्णज्ञानी और भगवान् नारायण के ही अंशावतार माने जाते हैं, उनमें अभिमान का आविर्भाव कैसे हो गया ? कृपाकर यह सभी बातें बताने का कष्ट करें।'

महर्षि भृगु ने कहा–'राजेन्द्र ! वेदव्यासजी ने वेद के चार विभाग कर उनकी पृथक्-पृथक् संहिताएँ बना दीं, जिससे उनका रहस्य समझना कठिन नहीं रहा। उनके उस अपूर्व कार्य की विद्वत्समाज में बड़ी प्रशंसा हुई। इससे उन्हें अपने पर अत्यन्त गर्व होने लगा। फिर उस वेद ज्ञान को अधिक सुलभ करने के उद्देश्य से उन्होंने पुराणों की रचना आरम्भ की।'

वेदव्यास की बुद्धि का भ्रमित होना कैसे ?

महाराज ! श्रीगणेशजी आदिदेव हैं, इसलिए समस्त कार्यों में गणेशजी का प्रथम स्मरण करने की परिपाटी प्राचीन काल से चली आती है। किन्तु श्रीवेदव्यासजी अपनी पुराण-रचना के आरम्भ में भगवान् गणेश्वर की वन्दना करना भूल गये। उसके फलस्वरूप उनकी स्मरणशक्ति क्षीण होने लगी। वे अनेक मुख्य बातों को भूल जाते। बहुत याद करने पर भी अनेक बातों में उन्हें सफलता न मिल पाती। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़-से होकर लोकपितामह ब्रह्माजी की सेवा में उपस्थित हुए और उनकी वन्दना कर बोले–'ब्रह्मन् ! मैंने वेद के चार विभाग करने के पश्चात् पुराणों की रचना आरम्भ की थी, किन्तु मुझे बड़ा आश्चर्य है कि अब कुछ सूझता

ही नहीं कि मैं क्या लिखूँ ? हे प्रभो ! मेरे ज्ञान नष्ट होने का क्या कारण है, यह बताने की कृपा करें।'

ब्रह्माजी ने ध्यान लगाया और तब बोले—'व्यास ! तुम अपनी विद्या के गर्व में अधिक भर गये हो, इसलिए भगवान् गणेश्वर को भी भूल गये। तुमने पुराण रचना के आरम्भ में उन आदिदेव की वन्दना और मंगलाचरण तक नहीं किया है। तब फिर तुम्हारा ज्ञान क्यों न नष्ट होता ? अब तुम गणेशजी को ही प्रसन्न करो।'

व्यासजी को अपनी भूल का ज्ञान तो हो गया, किन्तु उन्हें गणेशजी के विषय में अभी कुछ भी स्मरण नहीं आया, इसलिए उन्होंने विनय-पूर्वक ब्रह्माजी से पूछा—'प्रभो ! मुझे गणेशजी के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं है। आप बतायें कि गणेशजी कौन हैं ? उनका स्वरूप कैसा है ? उनके चरित्र की विशेषता क्या है ?'

ब्रह्माजी ने कहा—'सत्यवतीनन्दन ! गणेशजी तो सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं महामहिम परात्पर ब्रह्म हैं। आगम-शास्त्र में उनके सात करोड़ मन्त्र उपलब्ध हैं। उनमें षडक्षरी और एकाक्षरी मन्त्र अधिक सरल हैं। जो उनकी उपासना करने वाले भक्त हैं, उनके दर्शन करने से भी समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं। एक बार शिवजी ने उनकी स्थापना-विधि पर प्रकाश डाला था, उसे मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ।

'हे व्यास ! प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर पवित्र होकर पवित्र जल में स्नान करे और शुद्ध वस्त्र धारण करके श्रेष्ठ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठकर आचमन, प्राणायाम और मानसोपचार द्वारा पूजन करके प्रणव बीज मन्त्र के सहित उनके षडक्षरी या एकाक्षरी मन्त्र का अनुष्ठान विधि पूर्वक जप करे। जब तक भगवान् गजानन के स्वरूप के दर्शन हो जाय तब तक जप अखण्ड रूप से निरन्तर चलता रहे। इस प्रकार की आराधना करने पर भगवान् गणेश्वर अवश्य प्रसन्न हो जाते हैं।'

ब्रह्माजी से उपासना-विधि सीखकर व्यासजी ने उन्हें प्रणाम किया और बोले–'ब्रह्मन् ! गणेश-मन्त्र और बीज कौन-सा है ? उसका जप अब तक किस-किसने किया है और उसे क्या-क्या सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं ?'

ब्रह्माजी ने कहा–'व्यास ! श्रीगणेश्वर ओंकारमय हैं। समस्त वेद उन्हीं का गान करते हैं। प्रणव समस्त मन्त्रों का बीज है, और उसके द्वारा भगवान् गजानन का ही जप या स्तवन होता है। अकेले प्रणव की ही बड़ी महिमा है। उसी का जप करके देवता, मनुष्य, ऋषि-मुनि आदि सभी अपने-अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकते हैं।'

व्यासजी बोले–'इसे कुछ विस्तार से समझाकर कहिए। गणेशजी की महिमा के विषय में मेरी जिज्ञासा बढ़ती जा रही है। हे पितामह ! मुझ पर कृपा कीजिए।'

गणेश का त्रिदेवों को कार्य सौंपने का वर्णन

ब्रह्माजी बोले–'द्वैपायन ! मैं तुम्हें प्राचीन काल का एक प्रसंग सुनाता हूँ–जब संसार का प्रलयकाल उपस्थित हुआ तब जल, वायु के घोर उत्पात से सृष्टि नष्ट हो गई।

'समस्त सृष्टि ही माया-मोह में डूबकर अदृश्य हो गई। उस समय मैंने, विष्णु ने और शिव ने एक साथ बैठकर विचार किया कि अब क्या किया जाय ? कोई उपाय भी नहीं सूझता। फिर पूछें भी तो किससे ? कहीं कोई भी दिखाई नहीं देता था।

'तो सत्यवतीसुवन ! हम तीनों ने पाताल-लोक जाकर घोर तपस्या की, किन्तु कोई फल न निकला। हम बहुत थक गये तो वहाँ से पृथिवी पर आकर घूमने लगे। सर्वत्र अन्धकार था, उसमें एक जलाशय दिखायी दिया। उसमें बड़ा तेज था, जिसकी सहायता से आकाश में गमन करने की बड़ी सुविधा प्रतीत हुई। किन्तु भूख-प्यास से व्याकुल होने के कारण हम अधिक भ्रमण में भी असमर्थ हो गए।

हम थक कर एक स्थान पर रुके ही थे कि हमारे समक्ष करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाश प्रकट हो गया। हमने ध्यान से देखा तो उस प्रकाशपुञ्ज में भगवान् गणाध्यक्ष विराजमान थे। हमने तुरन्त ही उन्हें प्रणाम कर स्तुति आरम्भ की–

नमो नमो विश्वेभृतेऽखिलेश नमो नमः कारणकारणाय।
नमो नमो वेदविदामदृश्य नमो नमः सर्ववरप्रदाय॥

हे विश्व के भरणकर्त्ता! अखिलेश्वर! आपको नमस्कार है। हे समस्त कारणों के भी कारण! हे प्रभो! आपको नमस्कार है। हे नाथ! आप वेदज्ञों के लिए भी अदृश्य ही रहते हैं। हे समस्त वरों के प्रदान करने वाले परात्पर ब्रह्म! आपको नमस्कार है, नमस्कार है।

हम त्रिवेदों की स्तुति सुनकर आदिदेव गणेश्वर ने कहा–'त्रिदेव! मैं प्रसन्न हूँ, आप वर माँगिये।' तब हमने प्रार्थना की–'प्रभो! हम क्या माँगें, यह हमारी समझ में ही नहीं आता। इसलिए आप ही हमें उचित आदेश दीजिए, वही हमारे लिए श्रेष्ठ वर होगा।'

गणाधिपति ने मुसकराते हुए कहा–'ब्रह्मा! विष्णु! शिव! मैं आप तीनों को पृथक्-पृथक् तीन कार्य देना उचित समझता हूँ। चतुरानन! आप सृष्टि-रचना का कार्य करो, विष्णु उनके पालन का भार लें और अन्त में शिव उसका संहार कर दें।'

यह कहकर उन्होंने ब्रह्माजी को सृष्टि रचने की शक्ति दी और विष्णुजी को संसार के पालन की सामर्थ्य प्रदान करते हुए अपने दशाक्षरी मन्त्र 'गं' क्षिप्रप्रसादनाय नमः' का उपदेश दिया। फिर शिवजी को अपना एकाक्षरी मन्त्र 'गं' और षडक्षरी मन्त्र 'वक्रतुण्डाय हुम्' तथा समस्त आगम विद्या और संहारक शक्ति प्रदान कर दी।

तब ब्रह्माजी ने निवेदन किया–'हे देवाधिदेव! हे गणाध्यक्ष! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! मैं सृष्टि के विषय में कुछ भी नहीं जानता। उसे मैंने कभी देखा तो क्या, सुना भी नहीं। तब उसकी रचना कैसे कर पाऊँगा?'

गणेश्वर बोले–'हे चतुर्मुख ! सृष्टि का दर्शन करना है तो मेरे शरीर में विद्यमान अनन्त ब्रह्माण्डों का अवलोकन करो। फिर तो मेरी कृपा से तुम सहज रूप से ही सब कार्य स्वयं करने लगोगे।'

हे मुने ! यह कहकर उन्होंने मुझे दिव्य दृष्टि दी और फिर अपने श्वास के साथ भीतर खींच लिया। उनके उदर में पहुँचकर मैंने अनन्त ब्रह्माण्डों के दर्शन किए। वहाँ मैंने समस्त जीवों के साथ स्वयं को, विष्णु को और शिव को भी देखा। जो दृश्य एक ब्रह्माण्ड में दिखाई दिया, वही अन्य ब्रह्माण्डों में भी देखे थे, जिससे मैं भ्रमित होकर गणेशजी की स्तुति करने लगा। तब गणेशजी ने मुझे अपने निःश्वास के साथ बाहर निकाल दिया।

बाहर निकलकर मैंने देखा तो कोई नहीं था। न विष्णु, न शिव और न भगवान् गणेश्वर ही। तब मैं सृष्टि-रचना का संकल्प करने लगा। मुझे समस्त वेद-शास्त्रों का स्वतः ज्ञान हो गया था। संसार में मेरे समान वेदज्ञ कोई था ही नहीं, इसलिए सर्वत्र मेरी प्रशंसा होने लगी, जिससे मन में बड़े भारी अभिमान की उत्पत्ति हो गई।

बस, वह अभिमान मेरे कार्य में पूर्ण रूप से बाधक बन गया। सृष्टि-रचना के समय अनेकानेक विघ्न आ उपस्थित हुए। तब मैं भगवान् गणेश्वर का ही ध्यान करने लगा और मैंने उनकी स्तुति करते हुए केवल इतना ही कहा–'प्रभो ! इस विपत्ति से उबारिये। हेरम्ब ! मुझपर कृपा कीजिए।' तभी मैंने आकाशवाणी सुनी–'चतुरानन ! किसी वट वृक्ष के नीचे बैठकर तपस्या करो। साथ ही, भगवान् गणेश्वर का ध्यान और मन्त्र-जप भी करते रहो।'

ब्रह्माजी ने की, गजानन की उपासना

महर्षि भृगु ने राजा सोमकान्त के प्रति कहा–'राजन् ! तब ब्रह्माजी ने व्यासदेव को बताया कि आकाशवाणी सुनने के पश्चात् मुझे एक स्वप्न

दिखाई दिया कि प्रलय में सब कुछ लीन हो जाने पर भी केवल एक विशाल वटवृक्ष ही शेष बचा खड़ा है। उस वृक्ष के एक पत्र पर कोई बहुत छोटा बालक लेटा हुआ है। मैंने ध्यान से देखा तो उसका रूप भगवान् विनायक-देव के ही समान था। उसके दर्शन कर मुझे बड़ा आनन्द हुआ और मैं पुनः गणेशमन्त्र का जप करने लगा।

हे मुनि ! तभी मैंने देखा कि वह बालक धीरे-धीरे मेरे पास आ गया है। उसने कहा—'चतुरानन ! समस्त चिन्ताओं को त्याग कर मेरे एकाक्षरी मन्त्र का दस लाख जप करो। जप का यह अनुष्ठान पूर्ण होने पर तुम मेरा साक्षात् दर्शन करोगे।' बस, यह सुखद स्वप्न देखकर मेरी नींद खुल गई।

'हे व्यास ! फिर मैंने एकाक्षरी मन्त्र का जपानुष्ठान आरम्भ किया। जिस प्रकार भी सम्भव हुआ, मैंने उन आदिदेव को पूर्ण प्रसन्न करने का प्रयास किया। अनुष्ठान पूर्ण होने पर मुझे भगवान् गणेश्वर के साक्षात् दर्शन हुए। उनके अत्यन्त तेजस्वी और विलक्षण रूप के समक्ष मेरे नेत्रों में चकाचौंध भर गई और स्मृति भी नष्ट हो गई।'

उसी समय मेरे कानों में भगवान् गजानन की गम्भीर वाणी सुनाई दी—'चतुरानन ! स्वप्न में मैंने तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन देने का वचन दिया था, उसे मैंने पूरा कर दिया है। अब तुम अपना अभिलषित वर मुझसे माँग लो।'

'हे मुने ! मैंने गजानन भगवान् को प्रणाम कर निवेदन किया—प्रभो ! कार्य में उपस्थित सभी विघ्न दूर हो जायें और मुझे शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जिससे मैं आपके गुणानुवाद में भी समर्थ हो सकूँ, इसपर गणेश्वर प्रभु 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गये।

महर्षि भृगु बोले—'हे राजन् ! भगवान् गणाध्यक्ष के अदृश्य हो जाने पर ब्रह्माजी ने सर्ग-रचना का आरम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने मरीच्यादि चौदह मानस-पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें आदेश दिया कि सृष्टि रचो।

किन्तु उन्होंने अति तपस्वी और अति ज्ञानी होने के कारण चतुरानन के आदेश पर ध्यान नहीं दिया।'

फिर विवश हुए चतुर्मुख ने स्वयं ही सृष्टि की रचना की और निश्चिंत होकर प्रभु-चिन्तन करने लगे। इस प्रकार ब्रह्मा जी को सर्ग-रचना में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका पूर्ण श्रेय भगवान् गणेश्वर की उपासना का ही है।

शौनक ने सूत जी से पूछा—प्रभो! गणेश्वर का पूजन केवल ब्रह्मा जी **ने किया था, अथवा किसी** अन्य देवता ने भी? विष्णु और शिव तो स्वयं **सर्वशक्तिमान्** प्रभु हैं। समस्त विश्व का पालन और संहार क्रमशः यही दोनों करते हैं। इसलिए, यह दोनों ही अपने-अपने कार्यों में समर्थ हैं, फिर यह गणेश का पूजन क्यों करते होंगे?

उनकी बात सुनकर सूतजी को हँसी आ गई, बोले—'हे मुने! मैं समझ रहा हूँ कि तुम ऐसे अटपटे प्रश्न क्यों कर रहे हो? अवश्य ही तुम इन प्रश्नों के द्वारा लोक-कल्याण का साधन करना चाहते हो। वस्तुतः तुम्हारा यह विचार समस्त विश्व के हित में होने के कारण अत्यन्त प्रशंसनीय है।

'हे शौनक! अब मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ, सुनो श्रीगणाध्यक्ष का पूजन समस्त देवताओं ने समय-समय पर किया है। जब-जब, जिस-जिस देवता के कार्य में विघ्न-व्यवधान की उपस्थिति हुई तब-तब, वही-वही देवता उन प्रभु की भक्तिभाव-पूर्वक आराधना में प्रवृत्त हुए। यहाँ तक कि समस्त शक्ति स्वरूपा देवियों ने भी उन गणपति की उपासना करके अपने-अपने अभीष्ट की प्राप्ति की हैं।'

विघ्नेश्वर की उपासना भगवान् विष्णु द्वारा

हे मुने! गणेश जी का पूजन ब्रह्मा जी ने भी किया था, उसका वर्णन तो मैं कर ही चुका हूँ। भगवान् विष्णु ने भी संकटग्रस्त होने पर उन्हीं प्रभु

की उपासना करके सिद्धि प्राप्त की थी। इस सम्बन्ध में स्वयं श्रीब्रह्माजी ने व्यासजी को जो उपाख्यान कहा था वही महर्षि भृगु ने राजा सोमकान्त के प्रति कहा था। उस परम हर्ष को देने वाली गाथा को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ। तुम ध्यान से सुनो–

एक बार जब ब्रह्माजी सृष्टि-रचना में लगे थे, तब भगवान् विष्णु के कानों से मधु-कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हो गए। वे भूख से व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगे तो ब्रह्माजी पर दृष्टि पड़ी। फिर क्या था, वे उन्हें ही खाद्य समझकर उनकी ओर दौड़े। ब्रह्माजी उनकी चेष्टा देखकर भयभीत हो गए। उन्होंने व्याकुल होकर योगमाया से निवेदन किया कि 'भगवान् विष्णु को जगा दो देवि! अन्यथा यह असुर मुझे खा डालेंगे।' योगमाया की प्रेरणा से भगवान् की निद्रा दूर हुई।

ब्रह्माजी पर संकट देखकर भगवान् ने अपने पाञ्चजन्य की ध्वनि की, जिसे सुनकर त्रैलोक्य काँप उठा। उस ध्वनि को सुनकर मधु-कैटभ सचेत हुए और ब्रह्माजी को भूलकर भगवान् विष्णु पर टूट पड़े। अब तो दोनों में घोर युद्ध होने लगा। पाँच हजार वर्ष तक घोर युद्ध हुआ, किन्तु असुरों पर विजय न मिल सकी।

जब भगवान् का वश न चला तो उन्होंने संगीतज्ञ गन्धर्व का रूप धारण कर लिया और एक वन में जाकर वीणा पर श्रुति स्वर में गीत गाने लगे। उनके गीत से तीनों लोक मुग्ध हो गए। वह स्वर कैलाशपति भगवान् शंकर के भी कानों में पड़ गया। उन्होंने निकुम्भ और पुष्पदंत को आदेश दिया कि उस संगीतज्ञ को लिवा लाओ।

शिवगण उन्हें लिवा लाये। गन्धर्व वेशधारी विष्णु ने उन्हें प्रणाम कर, उनके आदेश पर वीणा की तान छेड़ी। उसे सुनकर भगवान् वृषभध्वज, माता पार्वती जी, गणेश जी और कार्तिकेय तथा अन्यान्य सभी देवता मुग्ध हो गए। शंकर ने प्रसन्न होकर कहा–'वर माँगो।'

विष्णु बोले–'वर देना चाहते हैं तो मधु-कैटभ नामक असुरों का नाश हो जाय, यह वर दीजिए।'

शम्भु हँसे, बोले–'तो तुम विष्णु हो ? इस वेश में यहाँ आने की क्या आवश्यकता हुई ? क्या असुरों के भय से छद्मवेश बनाये घूम रहे हो ?'

विष्णु ने कहा–'आपको प्रसन्न करने के लिए ही यह सब करना पड़ा है आशुतोष ! अब आप शीघ्र ही वह उपाय कीजिए, जिससे असुरों का नाश हो सके।'

"गणेशं पूजयित्वैव ब्रज युद्धाय केशव।
स च तौ माययाऽऽमोह्य वशतां प्रापयिष्यति ॥"

शिवजी ने प्रसन्न-मुद्रा में कहा–'रमानाथ ! यदि असुरों पर विजय प्राप्त करनी है तो गणेश जी को प्रसन्न करो। वे ही असुरों को अपनी माया से मोहित करके आपके वश में कर सकते हैं।'

विष्णु बोले–'उन्हें प्रसन्न करने की विधि बताइए पार्वतीनाथ ! बिना विधि के पूजा सफल नहीं हो पाती।'

गणेशजी के वरदान से मधु-कैटभ का वध

शिवजी ने उन्हें षोड़शोपचार युक्त गणपति-पूजन की विधि बताई। तदुपरान्त भगवान् विष्णु ने गणेश जी की सौ दिव्य वर्षों तक उपासना की। उनके घोर तप से प्रसन्न हुए गजवदन प्रकट हो गए। उन्होंने कहा–'मैं तुम्हारे तप से प्रसन्न हूँ। बोलो, क्या चाहते हो ?'

विष्णु बोले–'मधु-कैटभ नामक असुर बहुत प्रबल हो गए हैं। मेरे वश में नहीं आ रहे हैं, अतएव पार्वतीनन्दन उनके वध का उपाय कीजिए।'

श्रीगणेश जी ने कहा–'बैकुण्ठनाथ ! यदि आपने पहिले ही मेरा पूजन किया होता तो अब तक असुर परास्त भी हो गए होते।'

विष्णु बोले—'गणेश्वर! मुझे आपका प्रभाव विदित नहीं था। अब आप वही कीजिए, जिससे मैं उन असुरों का वध करने में सफल हो सकूँ। हे नाथ ! इसके साथ ही मुझे अपनी अनन्य एवं दुर्लभ भक्ति भी प्रदान करने की कृपा कीजिए हे विघ्नहरण।'

भगवान् विष्णु की प्रार्थना सुनकर गणेश्वर ने कहा—'यही होगा रमानाथ ! आपके हाथ से वे दोनों असुर शीघ्र ही मारे जायेंगे। इससे चतुरानन का भय भी दूर हो जायेगा और आपको महान् कीर्ति की भी प्राप्ति होगी। हे विष्णो ! अब आपके कार्य में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा।'

यह वर देकर भगवान् गणेश्वर अन्तर्धान हो गए और भगवान् त्रिलोकीनाथ वहाँ से लौटकर अपने स्थान पर पहुँचे, जहाँ उन्होंने दोनों असुरों को युद्ध के लिए समुद्यत देखा। त्रिलोकीनाथ को वहाँ आये देखकर उनकी ओर झपटते हुए बोले—'तुम बड़े डरपोक हो जी ! जो रणक्षेत्र छोड़कर ही भाग गए।'

विष्णु हँसे और उन्होंने युद्ध करके मधु-कैटभ का संहार कर दिया। जहाँ उन्होंने गणेश्वर की आराधना की थी, वह स्थान सिद्ध क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

❀❀❀

राजा भीम का उपाख्यान कथन

सूतजी बोले—हे शौनक ! भृगु जी ने सोमकान्त से पुनः कहा—'हे महाराज ! अब श्रीगणेश्वर का अन्य उपाख्यान तुम्हारे प्रति कहता हूँ। विदर्भ देश की घटना है—उसकी राजधानी कौण्डिन्यपुर थी। वहाँ भीम

नामक एक प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। उसकी पतिव्रता पत्नी का नाम चारुहासिनी था। उनका दाम्पत्य जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था, किन्तु बड़ी आयु होने पर भी सन्तान न होने का दुःख उन्हें पीड़ित करता था।

तब राजा ने सोचा कि इसके लिए कोई उपाय करना चाहिए। ऐसा निश्चय कर उसने अपना राज्य अपने विश्वासपात्र अमात्य को सौंप दिया और उससे कहा—'जब तक मैं न लौटूँ तब तक सावधानी पूर्वक प्रजा-पालन और देश की सीमा की रक्षा करते रहना।' अमात्य ने आदेश-पालन का वचन दिया तो राजा वहाँ से निश्चिन्त होकर वन को चल दिया। वह राजा वन में भ्रमण करता हुआ विश्वामित्र जी के आश्रम में जा पहुँचा और महर्षि को प्रणाम कर बैठ गया। महर्षि ने देखकर पूछा—'तुम कौन हो? यहाँ किस प्रयोजन से आये हो? अपना पूर्ण परिचय दो।'

राजा बोला—'प्रभो! मैं कौण्डिन्यपुर में रहता हुआ विदर्भ देश पर शासन करता था। मेरा नाम भीम है। मेरी वृद्धावस्था हो गई तो भी कोई सन्तान नहीं हुई इसीलिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। मैं नहीं जानता कि मुझ जैसे कर्त्तव्यनिष्ठ एवं धर्मज्ञ व्यक्ति को भी इस दुर्भाग्य की प्राप्ति क्यों हुई है?'

महर्षि ने कहा—'राजन्! तुमने पूर्वजन्म में श्रीगणेश्वर का निरादर किया। उसी के फलस्वरूप तुम इस जन्म में सन्तानहीन रहे हो। यदि उनको प्रसन्न कर लो तो तुम्हें अब भी सन्तान की प्राप्ति हो सकती है।'

राजा ने जिज्ञासा की—'महामुने! मुझे मेरे पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाने की कृपा कीजिए कि मेरे द्वारा भगवान् गणेश्वर का निरादर कैसे हो गया था?'

विश्वामित्र बोले—'महाराज! तुम्हारे कुल में बहुत पहले भीम नामक

एक अन्य प्रतापी पुरुष हुआ था। उसकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और पतिव्रता थी। उससे एक पुत्र की प्राप्ति हुई, जो गूँगा, बहिरा और विकलांग था। उसके शरीर से दुर्गन्ध आती थी। माता-पिता ने उसका नाम दक्ष रखा। अनेक प्रयत्न करने पर भी वह बालक मूकता और बधिरता के दोष से मुक्त न हो सका।'

'हे राजन्! किसी ने राजा से कहा कि यदि बालक अपनी माता के साथ तीर्थाटन करे तो सम्भव है कि बालक का रोग दूर हो जाये। उसके परामर्श पर राजा के आदेश से रानी अपने पुत्र को लेकर तीर्थयात्रा को चल पड़ी। मार्ग में चोरों ने उसे लूट लिया, इसलिए उसके पास जीवन-यापन के लिए भी धन नहीं रहा।

तब उसने एक शिव-मन्दिर में शरण ली और बालक को वहीं छोड़कर भिक्षा के लिए गाँव में चली गई। तभी उस मन्दिर में एक धर्मज्ञ ब्राह्मण आया। उसके शरीर का स्पर्श करके प्रवाहित होने वाली वायु के स्पर्श से बालक का शरीर रोगमुक्त हो गया।

रानी लौटकर शिवालय में आई तो अपने पुत्र को सर्वाङ्ग सुन्दर और रोगमुक्त देखकर बहुत प्रसन्न हुई। उसने ब्राह्मण देवता का पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि वह गणेश जी का उपासक था। उसने रानी को गणेश जी की उपासना का उपदेश दिया।

अब माता और पुत्र दोनों ने भगवान् गणेश्वर की उपासना की जिससे प्रसन्न होकर गणेश जी ने स्वप्न में कहा कि तुम मेरे परम भक्त महर्षि मुद्गल के पास जाओ, उनसे तुम्हें समस्त अभीष्टों की प्राप्ति हो सकती है।

महर्षि भृगु ने कहा—'हे सोमकान्त! विश्वामित्र जी ने भीम को आगे का वृत्तान्त सुनाते हुए कहा कि वे दोनों मुद्गल आश्रम की खोज में बहुत समय तक अरण्यों में भटकते रहे, तब एक दिन बड़ी कठिनाई से उन्हें

वह आश्रम मिला। वहाँ आकर उन्होंने अपना सब वृत्तान्त सुनाया तो महर्षि ने श्रीगणेश्वर के एकाक्षरी मन्त्र 'गं' के अनुष्ठान का उपदेश दिया।'

राजा भीम ने जिज्ञासा की—'महामुने! आपके मुख से यह चरित्र सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। एक ब्राह्मण के शरीर के स्पर्श से बहने वाली वायु के स्पर्श मात्र से वह बालक रोग रहित और सुन्दर कैसे हो गया? इसका समाधान करने की कृपा कीजिए।'

विश्वामित्र बोले—'राजन्! प्रभु की इच्छा से जो कुछ भी हो जाय, वही सम्भव है, उसमें आश्चर्य ही कैसा? भगवान् गजानन चाहें तो किसी भी निमित्त से अभीष्ट प्रदान कर सकते हैं। देखो, एक समय की बात है—सिन्धु देश की पल्ली नामक ग्राम में एक धनिक वैश्य रहता था, उसका नाम कल्याण था। एक दिन वह वणिक्-पुत्र अपने मित्रों के साथ वन में गया। वहाँ एक ऐसी शिला देखी जिस पर कोई मूर्ति-सी अङ्कित थी। उन्होंने उसे गणेश्वर नाम देकर पूजन आरम्भ किया और सबने मिलकर वहाँ एक मण्डप बनाकर उत्सव मनाने की आयोजना की।

उस दिन से अपने सब मित्रों के साथ वह वणिक्-पुत्र रात-दिन वहीं रहकर गणेश जी की उपासना करने लगा। जब वे घर नहीं पहुँचे तो माता-पिता को चिन्ता हुई और पता लगाने आये कि वे कहाँ हैं और क्या करते हैं?

सब बालकों को उपासना आदि में लगे देखकर उनके माता-पिता आदि ने कल्याण से कहा कि तुम्हारे पुत्र ने हमारे बालकों को भी पागल बना दिया है, जो अरण्य में पड़ी हुई शिला का पूजन आराधना कर रहे हैं। इसलिए तुम अपने पुत्र को रोको अन्यथा हमें उसके साथ कठोरता का व्यवहार करना पड़ेगा।

यह सुनकर कल्याण ने उस मण्डप को गिरा दिया और अपने पुत्र

को मारने लगा। उसने उस गणेश-शिला को उठाकर दूर फेंका और समस्त बालकों को वहाँ से भगा दिया।

श्रीबल्लाल विनायक की स्थापना का वर्णन

हे राजन्! इससे वणिक्-पुत्र बल्लाल को बड़ा मानसिक कष्ट पहुँचा। उसने पिता से हाथ जोड़कर निवेदन किया कि 'पिताजी! आप मुझे कितना भी भारी दण्ड दे दीजिए, किन्तु उन सर्वात्मा भगवान् गणाध्यक्ष का निरादर मत कीजिए। वे प्रभु समस्त कल्याणों के देने वाले हैं। अपने भक्तों के सभी विघ्नों का भी हरण करते हैं। उनके समान अन्य कोई बड़ा देव नहीं है।'

वैश्य ने क्रोधावेश में कहा—'मूर्ख! इस पत्थर को सर्वात्मा कहता है? देखूँगा तेरा गणाध्यक्ष तेरे विघ्नों को किस प्रकार दूर करता है और तुझे बन्धन से कैसे छुड़ाता है?'

कल्याण ने अपने पुत्र को एक पेड़ से दृढ़तापूर्वक बाँध दिया और बोला—'अब भी अपनी भूल स्वीकार कर और गणेश की भक्ति छोड़कर अपने कार्य में लग जा।' किन्तु पुत्र ने पिता की बात स्वीकार नहीं की तो वह उसे गाली देता चला गया।

इस बालक को अपने पिता की निष्ठुरता पर क्रोध आ गया और उसने उसे शाप दे डाला—'तुमने मुझे इस निर्जन वन में अकेला ही निर्दयतापूर्वक बाँधकर छोड़ दिया है। इसके फलस्वरूप तुम बहरे, गूँगे, अन्धे और विकलांग होओगे।'

बहुत समय बीत गया। वृक्ष से बँधा रहने के कारण बालक थक गया और रस्सी के बन्धन उसके कोमल अङ्गों में गड़ गये। इससे अत्यन्त पीड़ित होकर वह भगवान् गजानन को पुकारने लगा और अन्त में उनकी ओर से भी निराश हो गया तो उसने आत्मघात करने का निश्चय किया।

वह वृक्ष से ही सिर मारने लगा, उससे मस्तक में क्षत हो गये। तब वह बालक पीड़ा और निराशा के कारण रोता हुआ बोला–'विघ्नेश ! आपके भक्त पर ऐसा महान् संकट है और आप सुनते नहीं। पता नहीं, आप कहीं हैं भी या नहीं ? यदि हैं तो आते क्यों नहीं ?'

तभी उसने देखा–एक ब्राह्मण आ रहा है। उसने तुरन्त ही बालक के बन्धन खोले और सिर पर हाथ फेरते हुए कहा–'वत्स ! तुम्हारी पुकार सुनते ही तो यहाँ आ गया हूँ। तुमने पिता को जो शाप दिया है, वह सत्य होगा और यह स्थान तुम्हारे नाम पर 'बल्लाल विनायक' के नाम से प्रसिद्ध हो जायेगा।

इधर कल्याण का शरीर उसी समय से रोगग्रस्त हो गया, उससे दुर्गन्ध आने लगी। वह बहरा, गूँगा और विकलांग हो गया। उसकी दशा देखकर पत्नी को बहुत दुख हुआ। वह पुत्र को देखने के लिए अरण्य में गई तो वहाँ उसे गणेश्वर के पूजन में लगा देखा। इससे उसके मन में बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने पुत्र से कहा–'पुत्र ! यह तो तू बड़ा मंगल कार्य कर रहा है। परन्तु, तुम्हारे पिता की दशा बहुत दारुण हो गई है, उन्हें भी चलकर देखना चाहिए। वत्स ! माता-पिता की आज्ञा मानना भी पुत्र का परम कर्त्तव्य है।'

बल्लाल ने उसी प्रकार शान्तिपूर्वक बैठे रहकर कहा–'जननि ! सांसारिक माता-पिता तो अनित्य हैं। यथार्थ माता-पिता तो भगवान् गणेश्वर ही हैं, जिनकी मैंने शरण ले ली है। इन्हीं भगवान् का निरादर करने के कारण पिताजी को ऐसी दशा प्राप्त हुई है। अब उनकी सेवा करना तुम्हारा भी कर्त्तव्य है, क्योंकि पत्नी के लिए पति की सेवा ही सर्वोपरि है।'

माता ने कहा–'पुत्र ! अपने जन्मदाता पिता को शाप से मुक्त कर दो। मैं तुमसे विनय करती हूँ।' यह सुनकर बल्लाल ने कहा–'जननि ! मैं तो अब कुछ भी नहीं कर सकता। अगले जन्म में तुम एक राजा की

महारानी बनोगी। किन्तु तुम्हारा पुत्र गूँगा, बहरा, विकलांग और दुर्गन्धि युक्त होगा। उसके कारण तुम्हारा पति उस पुत्र के साथ तुम्हें भी घर से निकाल देगा।

फिर एक शिवालय में एक गणपति भक्त ब्राह्मण के स्पर्श से तुम्हारे उस दक्ष नामक पुत्र का शरीर नीरोग और सुन्दर हो जायेगा।' हे राजन्! यह समस्त घटना-चक्र उसी वाणी के अनुसार घटित हुआ था।

विश्वामित्र बोले–'हे राजन्! अब आगे का वृत्तान्त सुनो। कौण्डिन्यपुर नगर के निकट ही एक महावन था, जिसमें भगवान् गणाध्यक्ष का एक प्राचीन मन्दिर विद्यमान था। दक्ष ने उस मन्दिर में जाकर गणेश्वर के एकाक्षरी मन्त्र का जप आरम्भ किया। इसी मध्य उसने अपने को हाथी पर सवार देखा। वह स्वप्न उसने माता को सुनाया तो वह बोली–'पुत्र! स्वप्न तो बहुत ही सुन्दर है। हाथी के दर्शन का अर्थ हुआ भगवान् गजानन का दर्शन और हाथी की सवारी का अर्थ हुआ राज्यपद की प्राप्ति।'

काल की गति विचित्र होती है

मुनीश्वर आगे बोले–'राजन्! काल की गति बड़ी विचित्र है। वह अनुकूल चलता है तो समस्त सौभाग्यों की प्राप्ति कराता है और प्रतिकूल चलता है तो नष्ट कर देता है, देखो, कौण्डिन्यपुर में उस समय चन्द्रसेन नामक राजा राज्य करता था, उसकी मृत्यु अकस्मात् हो गई। नगर में सर्वत्र शोक छा गया, राजा की सदाचारिणी पत्नी सुलभा पति के वियोग में मूर्च्छित हो गई।

तभी एक वेदज्ञ ब्राह्मण ने आकर कहा–'जिसकी जितनी आयु होती है वह उतना ही जीवित रहता है। इसलिए शोक व्यर्थ है। फिर, जो मर गया, उसका संस्कार तो करना ही चाहिए अन्यथा सद्गति कैसे होगी? जो केवल शोक का दिखावा करता है, वह अवश्य स्वार्थी है, इसलिए राजा का संस्कार करना ही उसके प्रति सच्ची प्रीति प्रदर्शित करना होगा।'

राजा के कोई पुत्र या परिवारीजन नहीं था, इसलिए प्रधान अमात्य ने उसका मृतक संस्कार किया और फिर सब अमात्य बैठकर विचार करने लगे कि किसे राजा बनाया जाय ? तभी महर्षि मुद्गल वहाँ आ गये और अमात्यों के पूछने पर महर्षि ने कहा, 'गज अपनी सूँड़ जिसके कण्ठ में माला पहिनाए, उसी को राजा बनाना चाहिए। इसके लिए आप लोग एक उत्सव का आयोजन करके राजा का चयन कर लो।'

महर्षि की आज्ञानुसार शुभ दिन देखकर उत्सव का आयोजन किया गया, जिसमें सहस्त्रों व्यक्ति उपस्थित हुए। दक्ष भी उसमें दर्शक के रूप में सम्मिलित हुआ। रानी ने पुष्कर नामक गजेन्द्र की सूँड़ में एक रत्नमाला डाली और प्रार्थना की कि 'हे गजराज ! इस माला को किसी ऐसे योग्य व्यक्ति के गले में डाल दो जो धर्मपूर्वक राज्य शासन चला सके।'

हाथी उस जनसमूह के मध्य में इधर-उधर सूँड़ हिलाता हुआ धीरे-धीरे चल पड़ा। वह कभी-कभी रुक कर किसी विशिष्ट व्यक्ति को सूँघने लगता तो वह व्यक्ति समझता कि यह मेरे ही गले में माला डालेगा। अनेकों उत्सुक व्यक्ति हाथी के पास इसी आशा में आने लगे। किन्तु हाथी सबकी ओर देखता और बहुतों को सूँघता हुआ अन्त में दक्ष के पास जा पहुँचा और उसे सूँघकर, देखकर, कुछ ठहर कर अन्त में उसने उसी के गले में वह रत्नमाला डाल दी।

दक्ष राजा हो गया। हाथी ने उसे अपनी सूँड़ से उठाकर ऊपर बैठा दिया। सर्वत्र हर्षध्वनि और जयघोष होने लगा। वह हाथी पर चढ़ाकर ही राजभवन में लाया गया। वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उसका विधिपूर्वक अभिषेक किया। उस समय दुन्दुभि बज उठी, राजा दक्ष पर पुष्पों की वर्षा होने लगी। राजा ने सभी को यथा पद विभिन्न प्रकार के उपहार और ब्राह्मणों को गवादि के दान किए।

हे महाराज ! दक्ष का विवाह राजा वीरसेन की पुत्री से हुआ। फिर उसके वृहद्भानु नामक एक पुत्र हुआ जिसने सुखपूर्वक उस राज्य को

भोगा। बृहद्‌भानु का पुत्र खड्‌गधर हुआ। खड्‌गधर का पुत्र सुलभ, उसका पुत्र पद्‌माकर, उसका पुत्र वपुदीप्त और उसका पुत्र चित्रसेन हुआ। हे राजन्! उस चित्रसेन से पुत्र तुम हो।'

ब्रह्माजी ने कहा—'हे व्यास! विश्वामित्र जी के मुख से अपना परम्परागत वंश-परिचय सुनकर राजा भीम को बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने निवेदन किया—'प्रभो! मुझ पर भी भगवान् गणाध्यक्ष का अनुग्रह हो सके, वैसी कृपा कीजिए।'

उसकी प्रार्थना सुनकर विश्वामित्र ने कहा—'हे राजन्! तुम राजा दक्ष द्वारा निर्माण कराये गये गणेश मन्दिर में रहकर गणाध्यक्ष का अनुष्ठान करो तो तुम्हारे सब अभीष्ट पूर्ण हो जायेंगे।' यह सुनकर राजा उन्हें प्रणाम करके अपने वंश-परम्परागत से उपासकीय गणेश्वर मन्दिर में जाकर उपासना करने लगा और अनुष्ठान पूर्ण होने पर उसके रुक्मांगद नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। कालान्तर में पिता की आज्ञा से रुक्मांगद अपने पैतृक राज्यपद पर आसीन हुआ।'

यह कहकर ब्रह्माजी चुप हो गये तो व्यासजी ने उनसे निवेदन किया, ब्रह्मन्! फिर रुक्मांगद भी गणेश भक्त हुआ या नहीं? राजा रुक्मांगद बड़ा धार्मिक और सत्यवादी हुआ था। उसे भी एक बार बड़े संकट की प्राप्ति हुई थी, जिसकी निवृत्ति गणेश-कृपा से ही हुई।

रुक्मांगद की संकट से निवृत्ति

व्यासजी बोले—'प्रभो! उसे किस प्रकार से संकट की प्राप्ति और निवृत्ति हुई, सो कहने की कृपा कीजिए उसके विषय में जानने की मुझे बड़ी अभिलाषा हैं।' यह सुनकर चतुरानन ने कहना आरम्भ किया—हे व्यासजी! राजा रुक्मांगद सुखपूर्वक राज्य करता था।

एक दिन वह शिकार के लिए वन में गया और शिकार न मिलने

पर इधर-उधर भटकने लगा। तभी उसे वाचक्नवि ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। वह उस आश्रम में गया तो वहाँ ऋषि और उनकी पत्नी मुकुन्दा दिखाई दिए। उसने दोनों को प्रणाम किया और ऋषि की आज्ञा से कुटी के एक कक्ष में विश्राम करने लगे।

इसी बीच ऋषि स्नानार्थ सरोवर पर चले गये, तभी ऋषि-पत्नी ने राजा के पास जाकर कहा कि 'तुम अति सुन्दर हो, मैं तुमपर मोहित हो गई हूँ, मुझे प्रसन्न करो।' राजा बोला-'आप पूज्य महर्षि की पत्नी हैं और मेरे लिए माता के समान हैं, अतः मैं ऐसा दुष्कर्म नहीं कर सकता।' यह सुनकर मुकुन्दा ने उसे शाप दे दिया कि तूने मेरा तिरस्कार किया है, इसलिए कोढ़ी हो जाएगा। राजा उसी समय कोढ़ी हो गया।

वह बड़ा दुःखी हुआ और सोचने लगा-'मैंने धर्म का पालन किया तो भी मेरी ऐसी दशा हुई। अब ऐसे घृणित जीवन से कोई लाभ नहीं।' ऐसा निश्चय कर वह एक वटवृक्ष के नीचे बैठकर प्रायोपवेशन करने लगा।

ब्रह्माजी बोले-'हे द्वैपायन! उसी अवसर पर नारद जी उस मार्ग से निकल रहे थे। उन्होंने राजा को आमरण अनशन करते देखा तो उसका कारण पूछ बैठे। राजा ने उन्हें सब बात बताई तो उसे निर्दोष जानकर दया आ गई और बोले कि 'विदर्भ राज्य में 'चिन्तामणि गणेश' नामक एक प्रसिद्ध देवालय है। वहीं गणेश-प्रतिमा के समक्ष ही गणेश-कुण्ड है। उसमें जो कोई स्नान करता है वह रोग-मुक्त हो जाता है। इसलिए तुम भी ऐसा ही करो।'

राजा उनके उपदेशानुसार चिन्तामणि नगर पहुँचा और उसने गणेशजी के दर्शन कर कुण्ड में स्नान किया। इससे वह तुरन्त ही नीरोग हो गया। तब उसने वहाँ गणेश्वर का भक्तिभाव पूर्वक षोड़शोपचार से पूजन किया और फिर ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान-दक्षिणा दी। तभी उनके पास गणेश-दूत आकर बोले-राजन्! भगवान् गणेश्वर की आज्ञा

से हम यहाँ आये हैं। तुम हमारे साथ उस विमान पर चढ़कर प्रभु की सेवा में चलो।'

राजा बोला–'प्रभु पार्षदो ! मेरे माता-पिता अभी जीवित हैं, मैं उन्हें छोड़कर आपके साथ कैसे चलूँ ? तो दूत बोले–'तुम पुनः इस कुण्ड में स्नान और गणपति-पूजन कर उनका पुण्य अपने माता-पिता के अर्पण करो तो उन्हें भी अपने साथ ले सकते हो।' राजा के दूतों के कहे अनुसार ही पुनः स्नान, पूजनादि किया और अपने माता-पिता को साथ लेकर गणपति धाम को चला गया।'
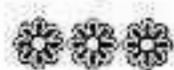
❀❀❀

मुकुन्दा की दुष्टता के कारण गृत्समद का शाप

व्यासजी बोले–लोकपितामह ! आपने राजा रुक्मांगद का बड़ा सुन्दर चरित्र सुनाया। किन्तु ऋषि-पत्नी मुकुन्दा के विषय में कुछ नहीं कहा। उसकी दुष्टता का पता ऋषि को लगा या नहीं ? और लगा तो फिर क्या हुआ ?

ब्रह्माजी बोले–हे सत्यवतीनन्दन ! मुकुन्दा की दुष्टता का ऋषि को तो पता नहीं लगा, लेकिन सहस्राक्ष इन्द्र ने यह बात जान ली। उसने राजा रुक्मांगद का रूप बनाया और ऋषि-पत्नी के पास जा पहुँचा। मुकन्दा उसे देखकर हर्ष-विभोर हो गई। उनके मिलन के फलस्वरूप मुकुन्दा के गर्भ से एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषि ने हर्षित मन से उसके समस्त संस्कार कराये और उसे समस्त वेद-वेदांगादि का ज्ञान कराया। उन्होंने उस बालक का नाम गृत्समद रखा।

एक बार मगध देश के राजा के यहाँ श्राद्ध था। उसमें अनेक

ऋषि-महर्षि आमन्त्रित थे। गृत्समद भी उस अवसर पर निमन्त्रित था। वहाँ ऋषियों और विद्वानों के समाज में शास्त्र-चर्चा चलने लगी तो गृत्समद बीच-बीच में बोलकर अपनी विद्वत्ता दिखाने लगा।

इसपर एक ऋषि को क्रोध आ गया और उन्होंने उससे कहा—'रुक्मांगद ! निरर्थक बड़प्पन मत बघारो। वस्तुतः तुम ऋषि-पुत्र नहीं, वरन् क्षत्रिय-पुत्र हो। तुम्हें तो हमारे साथ बैठने का भी अधिकार नहीं।'

फिर क्या था, गृत्समद तुरन्त उठकर अपनी माता के पास गया और पूछने लगा—'माता ! मैं किसका पुत्र हूँ ?' मुकुन्दा ने कहा—'पुत्र अपने पिता का ही होता है, इसमें शंका कैसी ?'

किन्तु इस उत्तर से वह सन्तुष्ट न हुआ और उग्र रूप धारण कर बोलो—'कुलटे ! तेरा पाप खुल गया है, मुझे सत्य बता, अन्यथा ठीक नहीं होगा।' मुकुन्दा उसके उग्र रूप से भयभीत हो गई और उसने सत्य बात बता दी कि वह रुक्मांगद का पुत्र है। इसपर गृत्समद ने अत्यन्त क्रोध-पूर्वक उसे शाप देते हुए कहा—'ब्राह्मण-वंश को लज्जित करने वाली पिशाची ! तू कंटकी होगी।'

गृत्समद को अपनी माता का शाप

पुत्र के मुख से अपने लिए शाप सुनकर मुकुन्दा को भी क्रोध आ गया और काँपती हुई वाणी से बोली—'अरे मूढ़ ! अपनी जननी को शाप देता है ! जा, दुष्ट ! तुझे तेरे इस अपराध का भयानक दण्ड मिलेगा। तुझे अत्यन्त भयंकर महाबली पुत्र की प्राप्ति होगी, जिसके घोर अत्याचारों से समस्त संसार क्षुब्ध हो जायेगा।'

गृत्समद जानते थे कि माता का शाप निष्फल नहीं होगा, अतः वे घर से निकलकर पुष्पक वन में गये। मार्ग में उन्होंने आकाशवाणी सुनी कि 'तुम राजा रुक्मांगद के नहीं, इन्द्र के पुत्र हो। वे पुष्पक वन स्थित एक

वयोवृद्ध एवं वीतराग महर्षि के आश्रम में पहुँचे, जिन्होंने उन्हें गणेश–आराधना का उपदेश दिया।'

अब गृत्समद ने घोर तप आरम्भ किया। वरदेश्वर गणनाथ का ध्यान करते हुए वे एक पाँव के अँगूठे के बल पर खड़े रहे। जिह्वा पर गणेश्वर का ही नाम रहता। इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए उन्हें एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु उपासना सफल नहीं हुई। तब उन्होंने और भी कठोर व्रत लिया। केवल एक जीर्ण पत्ता पाते हुए ही पन्द्रह हजार वर्ष व्यतीत कर दिए। अन्त में भक्तवत्सल भगवान् गजानन को आना ही पड़ा। हे व्यास ! उस समय उनका तेज हजारों सूर्यों के समान था। मस्तक पर चन्द्रमा और कण्ठ में विशाल कमलमाल बड़े-बड़े तालपत्र के समान कानों में कुण्डल सुशोभित थे। सर्पों का यज्ञोपवीत धारण किए हुए वे दशभुज गणेश सिंह पर सवार थे। उनके साथ उनकी दोनों पत्नियाँ सिद्धि-बुद्धि भी थीं।

गृत्समद उनके रूप को देखते ही रह गए। उस समय उन्हें अपने शरीर का भी ध्यान नहीं था। किंकर्त्तव्यविमूढ़ के समान खड़े हुए एकटक उन्हें देखते रहे।

गणेशजी ने भक्त की ऐसी विह्वल अवस्था देखते हुए कहा–'भक्तराज ! मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। जो इच्छा हो वह माँगो, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा।'

गृत्समद सावधान हुए। उन्होंने साष्टाङ्ग प्रणाम कर निवेदन किया–'प्रभो ! यह मेरा सौभाग्य ही है कि मुझे आपके मंगलमय दर्शन प्राप्त हुए हैं। नाथ ! यह पुष्पक वन अब आगे से 'गणेशपुर' कहा जाने लगे और आप स्वयं यहाँ निवास करके भक्तों की कामना पूर्ण करते रहें।'

वरदराज ने 'तथास्तु' कहकर वर प्रदान किया और फिर बोले–'भक्तवर ! तुम्हारे एक अत्यन्त बलशाली पुत्र की प्राप्ति होगी, जो

तीनों लोकों में ख्याति प्राप्त करेगा। उसे महाकाल भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी न जीत सकेगा। इस क्षेत्र का नाम युगानुसार होंगे–सतयुग में पुष्पकवन, त्रेता में मणिपुर, द्वापर में मानक और कलियुग में भद्रक। यहाँ जो कोई स्नान-दानादि करेगा, उसके समस्त अभीष्ट पूर्ण होंगे।'

ऐसा वर देकर वरदराज अन्तर्धान हो गये। गृत्समद ऋषि ने वहाँ एक मन्दिर बनाकर प्रथमेश्वर गणराज का श्री-विग्रह स्थापित कर पूजन किया। आगे चलकर गणेशजी के नाम पर उस स्थान का नाम भी 'वरद' हो गया।

त्रिपुरासुर ने गणेश की आराधना की

गृत्समद अब केवल भगवान् गजानन की उपासना में लगे रहने लगे। परन्तु एक दिन उन्होंने एक अत्यन्त तेजस्वी बालक को स्वयं प्रकट हुआ देखा तो आश्चर्यचकित हो गये। वह बालक उनसे नम्र वाणी में बोला–'मैं आपकी छींक से उत्पन्न हुआ आपका पुत्र हूँ। जब तक मैं अपने पैरों पर खड़ा नहीं होता, तब तक आप मेरा पालन कीजिए। फिर तो मैं स्वयं ही पौरुष से सब देवताओं और तीनों लोकों को जीत लूँगा।'

उसकी बात सुनकर गृत्समद कुछ करे, उन्हें माता के वचन याद आ गये। परन्तु करते भी क्या ? उन्होंने बालक से कहा–'पुत्र ! तुम गणेशजी की उपासना करो।' यह कहकर उन्होंने उसे गणेशजी का मन्त्र देकर उपासना-विधि भी बतलाई।

बालक वहाँ से चला गया। उसने एकान्त में वन में जाकर वरदराज की आराधना आरम्भ की। वह भी एक पाँव के अँगूठे से खड़ा रहकर तपस्या करता रहा। उसे भी पिता के समान निराहार रहकर घोर तप करते हुए पन्द्रह हजार वर्ष व्यतीत हो गए।

भगवान् गणाधीश्वर प्रसन्न हो गए। उन्होंने एक भयानक शब्द के

साथ उसको दर्शन दिया। मुनिकुमार ने देखा कि वरदराज साक्षात् खड़े हैं तो वह उनके चरणों में गिर गया। गणेशजी ने हर्षपूर्वक कहा–'उठो भक्त-श्रेष्ठ ! मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ। अपना इच्छित वर माँग लो मुझसे।'

मुनिकुमार ने हाथ जोड़कर निवेदन किया–'प्रभो ! मैं आपके असीम तेज से अत्यन्त विस्मित और भयभीत हूँ। कृपा कीजिए प्रभो ! मेरी इच्छा पूर्ण कर दीजिए नाथ ! मैं बालक हूँ स्तुति किस प्रकार की जाती है, इसका ज्ञान नहीं। यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे त्रैलोक्य-विजय का वर प्रदान कीजिए। देव, दानव, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर तथा सर्पादि सभी मेरे वश में हो जायें। इन्द्रादि सभी लोकपाल सदैव मेरी सेवा करें। इस जीवन में सभी सुखों को भोगकर अन्त में मोक्ष भी प्राप्त करूँ।'

भगवान् गणपति बोले–'वत्स ! तुम सदैव भय रहित और तीनों लोकों के विजेता होगे। मैं तुम्हें लोहे, चाँदी और सोने के तीन नगर प्रदान करता हूँ। इन्हें भगवान् शंकर के अतिरिक्त कोई भी नहीं तोड़ सकेगा। यह तीनों पुर शिवजी के एक ही बाण से टूट जायेंगे। इत तीनों पुरों के स्वामी होने के कारण तुम्हारा नाम त्रिपुर हो गया।'

वर प्रदान कर गणेशजी अन्तर्हित हो गए। त्रिपुरासुर ने उनकी मूर्ति स्थापित की और उनका षोड़शोपचार से पूजन किया। उसके पश्चात् वह त्रैलोक्य विजय के लिए चल पड़ा। धरती, स्वर्ग, पाताल सभी पर उसका अधिकार हो गया। देवताओं सहित इन्द्र हार गये। उसके भय से देव-समुदाय वन, पर्वत आदि की गुफाओं में छिपता फिरा। चतुर्भुज ब्रह्मा नाभि-कमल में प्रविष्ट हो गए। भगवान् विष्णु भी क्षीरसागर में जा छिपे।

शौनकजी ! त्रिपुरासुर प्रचंड हो उठा। उसके दो पुत्र हुए जिनका नाम चण्ड और प्रचण्ड थे। उसने चण्ड को बैकुण्ठ को और प्रचण्ड को ब्रह्मलोक का अधिकारी बना दिया। त्रिपुरासुर को इतने से भी शान्ति नहीं मिली। उसकी अधिकार-लिप्सा इतनी बढ़ी कि कैलास पर जा पहुँचा।

शिवजी को उसे प्राप्त वरदान और शक्ति का ज्ञान था। वे अविलम्ब उनके सामने पहुँचकर बोले–'वत्स ! मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ। तुम जो चाहो सो माँग लो।'

त्रिपुरासुर बोले–'भोले बाबा ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हो तो कैलास छोड़कर मन्दराचल पर चले जायें।' शिवजी समझ गये कि कैलास छोड़े बिना काम नहीं चलेगा, इसलिए तुरन्त ही मन्दरगिरि को प्रस्थान कर गये। इस प्रकार संसारभर में असुर-साम्राज्य छा गया।

देवताओं द्वारा श्रीगणेश-पूजा का वर्णन

गिरि-कन्दराओं में छिपे हुए इन्द्र सहित सब देवता अत्यन्त दुःखित थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि असुर पर विजय कैसे प्राप्त हो ? उसी अवसर पर देवर्षि नारद वहाँ आ पहुँचे। देवताओं ने मुनि का बड़ा स्वागत-सत्कार किया और विनयपूर्वक बोले–'ऋषिराज ! इस दैत्य से किस प्रकार छुटकारा प्राप्त हो ? इसका कुछ उपाय निश्चित कीजिए।'

नारदजी बोले–'देवगण ! भगवान् विनायक के वरदान से ही त्रिपुरासुर इतना प्रचण्ड हुआ है। यदि तुम उन्हीं भगवान् को प्रसन्न करो तो असुर का विनाश हो सकता है।'

यह कह कर नारद जी चले गये। देवताओं ने गणेश जी की आराधना आरम्भ की। उनकी मन्त्रमूर्ति का षोड़शोपचार-पूजन किया जिससे प्रसन्न होकर वरदराज गणेश जी प्रकट हो गये। उनको सामने देखकर देवगण गद्गद कण्ठ से प्रार्थना करने लगे–

"नमो नमस्ते परमार्थरूप नमो नमस्तेऽखिलकारणाय।
नमो नमस्तेऽखिलकारकाय सर्वेन्द्रियाणामधिवासिनेऽपि ॥

नमो नमो भक्तमनोरथेश नमो नमो विश्वविधानदक्ष ।
नमो नमो दैत्यविनाशहेतो नमो नमः सङ्कटनाशकाय ॥"

'हे परमार्थ-स्वरूप ! आपको नमस्कार है । हे अखिल विश्व के कारणरूप आपको नमस्कार है । हे सबके कर्त्ता प्रभो ! हे सभी इन्द्रियों में निवास करने वाले गजानन ! आपको नमस्कार है । हे नाथ ! आप भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने वाले तथा विश्व के विधान में दक्ष हैं, आपको नमस्कार है । हे दैत्यों को विनष्ट करने में हेतु रूप, आपको नमस्कार है । हे सर्व सङ्कटों को नष्ट करने वाले वरदराज ! आपको नमस्कार है ।'

सूतजी बोले–'हे शौनक ! देवताओं के इस प्रकार प्रार्थना करने पर श्रीगणेश्जी ने प्रसन्न होकर कहा–'देवताओ ! मैं तुम्हारी स्तुति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ । तुम क्या चाहते हो ? जो माँगोगे वही दूँगा ।'

देवताओं ने हाथ जोड़कर निवेदन किया–'वरदराज प्रभो ! इसमें सन्देह नहीं कि आप सब कुछ दे सकते हैं । परन्तु शङ्का यह है कि आपके वर की प्रचण्डता को प्राप्त हुए त्रिपुरासुर का दमन अब किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि आप अपने ही वचन को मिथ्या कैसे करेंगे ?'

गणेश जी ने कहा–'मैं तुम सब की रक्षा करूँगा । त्रिपुरासुर तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगा ।'

देवगण बोले–'प्रभो ! हम उसी के भय से मारे-मारे फिर रहे हैं । हमारा राज्य छिन गया । यज्ञादि के न होने से आजीविका नष्ट हो गई । इस गिरि-कन्दरा में भूखे-प्यासे रहते हुए हम अत्यन्त क्षीणबल और हीनकार्य हो गए हैं । यहाँ भी हमें उस दुर्दान्त दैत्य का सदा भय लगा रहता है ।' गणराज ने सान्त्वना दी-'यह सब समय का प्रभाव है देवताओ ?' जब तुम्हारा ऐश्वर्यशाली समय चला गया, तब यह संकटकाल भी चला ही जायेगा । देखो ! कालचक्र कभी रुकता नहीं, वह सदैव घूमता है ।

यद्यपि आज वह दैत्य दुर्दान्त हो रहा है, फिर भी उसका पतन भी अवश्यम्भावी है ।'

देवताओं ने निवेदन किया–'परन्तु, अब अपनी स्थिति से हम ऊब बैठे हैं प्रभो ! आपने उसे इतनी शक्ति प्रदान की है तो आप ही उसकी शक्ति का हरण भी कर सकते हैं । अतएव हम निराश्रितों को आश्रय प्रदान कीजिए प्रभो ! हमें इस विपत्ति से शीघ्र छुड़ाइए दीनबन्धो !'

यह कहकर देवगण उनके समक्ष दीन भाव से नत मस्तक हो गए । गणेशजी ने उनकी विपत्ति का अनुमान किया और बोले– 'देवगण ! मेरा पूजन करते रहो । भक्तिभाव से की गई मेरी उपासना कभी निष्फल नहीं होती ।'

यह कहकर गणेशजी अन्तर्धान हो गए, देवता पुनः उनकी भक्तिपूर्वक उपासना करते रहे । उधर भगवान् गणेशजी स्वयं ब्राह्मण का वेश रखकर त्रिपुरासुर के पास पहुँचे । उसने एक तेजस्वी ब्राह्मण का आगमन देखकर अर्घ्य-पाद्यादि से उनका सत्कार किया और फिर बोला–'भगवन् ! आप कौन हैं, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?'

त्रिपुरासुर से गणेश-प्रतिमा की याचना का वर्णन

विप्रवेशधारी गणेशजी ने कहा–'दैत्यराज ! मेरा नाम कलाधर है । मुझे भगवान् शंकर द्वारा पूजित उस गणेश-प्रतिमा की अभिलाषा है, जो कैलास में विद्यमान है । उसे मुझे प्रदान कर दो ।'

त्रिपुरासुर बोला–'वह प्रतिमा अवश्य दूँगा ।' यह कहकर उन्होंने अपने अनुचरों को प्रतिमा लाने का आदेश दिया । किन्तु जब भगवान् शंकर कैलास छोड़कर मन्दराचल पर चले गये थे तब उस प्रतिमा को भी साथ ले गये थे । अनुचरों ने लौट कर यह बात निवेदन की ।

त्रिपुरासुर ने वह प्रतिमा भगवान् शंकर से लाकर देने को कहा और ब्राह्मणरूपधारी गणपति को अनेक रत्नाभूषण, मृगचर्म, सुरभि, गौ,

घोड़ा, हाथी, रथ आदि प्रदान किया। दैत्यराज का आदेश पाकर भगवान् शंकर के पास दूत पहुँचे और उन्होंने उनसे गणेश-प्रतिमा देने को कहा।

शिवजी बोले–'वह प्रतिमा नहीं मिल सकती। अपने स्वामी से जाकर कह देना कि भविष्य में वह ऐसा साहस न करे।'

दूत बोला–'प्रतिमा तो आपको देनी ही होगी। मेरे स्वामी का आदेश न मानने की किसमें शक्ति है। अतएव, भलाई इसी में है कि प्रतिमा तुरन्त दे दो।'

शिवजी कुपित हो गए, बोले–'जाता है या नहीं ? अधिक बकवास करेगा तो अभी भस्म हो जायेगा।'

शिवजी को क्रोधित देखकर दूत अपने प्राण लेकर भागा और उसने त्रिपुरासुर के पास जाकर सब बात बताई। दैत्यराज ने आदेश दिया–'मन्दरगिरि पर आक्रमण करो और उस भङ्गड़ी को मार डालो।'

फिर क्या था ! दैत्य की सेना ने एकत्र होकर कूच कर दिया, उधर देवताओं को पता चला तो वे भी एकत्रित होकर भगवान् शंकर की सहायतार्थ आ पहुँचे। इसके बाद घोर संग्राम छिड़ गया। देवसेना का संरक्षण भगवान् शंकर स्वयं कर रहे थे। परन्तु दैत्यों का बल बहुत बढ़ा हुआ था, इसीलिए शिवजी की संरक्षणता प्राप्त होने पर भी देवगण उनके समक्ष न ठहर सके, वरन् रणक्षेत्र छोड़कर इधर-उधर भाग निकले।

६. षष्ठ अध्याय

शिवजी द्वारा गणेश्वर की उपासना का वर्णन

त्रिपुरासुर अपनी विजय के गर्व में फूल गया। उसने सोचा कि 'लगे हाथों इस भङ्गड़ी की स्त्री को भी क्यों न हथिया लिया जाय ?' ऐसा

विचार करके वह कैलास की ओर बढ़ा। उसे ज्ञात था कि पार्वती जी उसी के अधिकार-क्षेत्र में आये हुए कैलास में रह रही हैं। इसलिए उन्हें पाना कठिन नहीं है।

पार्वती जी ने सुना कि त्रिपुरासुर उन्हें लेने के लिए आ रहा है, तो वे काँप उठीं। उन्होंने अपने पिता हिमराज से अपनी कष्टकथा कही तो वे इन्हें एक गुफा में ले गये और वहाँ छिपकर रहने को कहा। जब पार्वती जी न मिलीं तो त्रिपुरासुर उनकी खोज करने लगा, जिससे हिमनन्दिनी तो न मिलीं, किन्तु भगवान् चिन्तामणि की शुभ प्रतिमा अवश्य प्राप्त हो गयी। उस दुर्लभ गणपति मूर्ति को लेकर अपने नगर की ओर चल दिया।

मार्ग में त्रिपुरासुर ने देखा कि साथ-साथ अनेकों बन्दीजन श्रीगणपति का गुणगान करते चल रहे हैं। तभी सहसा वह मंगलमूर्ति उनके हाथ से छूटकर अदृश्य हो गई। मूर्ति के अन्तर्धान होते ही वन्दीजन भी अदृश्य हो गए थे।

त्रिपुरासुर को बड़ी निराशा हुई। पाई हुई अमूल्य मूर्ति हाथ से निकल गई। यह उसके लिए शुभ शकुन नहीं था। इससे नितान्त खिन्न मन हुआ अपने नगर में लौट आया।

उधर भगवान् शंकर भी असुर के अत्यन्त प्रबल सिद्ध होने के कारण चिन्तित थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि उस दुर्दान्त दैत्य का दमन किस प्रकार किया जाय ? वे इस चिन्ता में निमग्न थे ही कि नारदजी आ पहुँचे। शिवजी ने उनका समयोचित सत्कार कर आसन दिया।

तदन्तर वार्तालाप आरम्भ हुआ। देवाधिदेव महादेव ने उन्हें बताया–'देवर्षे ! आप इस समय अच्छे आये हैं। मैं समझता हूँ कि अब वर्तमान समस्या का समाधान सहज ही हो जायेगा। देखो, त्रिपुरासुर कितना प्रबल हो गया है कि कोई भी महाबली उसके समक्ष टिक नहीं पाता। उसकी साम्राज्य- लिप्सा तो बढ़ी हुई थी ही, अब तो वह स्त्री, धन,

आजीविका के साधन तथा उपासना के माध्यमों को भी हथिया लेना चाहता है।'

शूलपाणि की बात पर नारदजी विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने एक चौंका देने वाली बात कही–'कौतुक मुनि ! बेचारे देवताओं की तो सामर्थ्य ही क्या, उस दैत्य ने तो मेरे भी सब अस्त्र निष्फल कर दिये। उसपर किसी भी व्यक्ति और अमोघ अस्त्र का प्रभाव नहीं हुआ।'

नारदजी ने आश्चर्य से कहा–'प्रभो! आप यह क्या कह रहे हैं ? आपके अमोघ अस्त्र और निष्फल हो जायें, यह कभी सम्भव नहीं है। मैं तो समझता हूँ कि या तो आप अपनी शक्ति को भूल गये हैं अथवा यह सब आप की ही लीला है। लोक के कल्याणार्थ और विमोहित प्राणियों को सचेत करने के लिए ही आप यह सब कर रहे हैं।'

शिवजी बोले– 'देवर्षि ! संसार में जहाँ जो कुछ भी हुआ, होता या हो रहा है, वह सभी कुछ लीला मात्र है, किन्तु उस लीला में भी कुछ विशेषता उपस्थित हो जाती है, तब उसका उपाय भी करना होता है। असुर की प्रबलता और देवताओं का अपकर्ष अवश्य ही विचारणीय है इस समय। यदि कोई उपाय आपकी समझ में आता हो तो बताने की कृपा करें।'

देवर्षि ने कुछ विचार कर कहा–'हे सर्वेश्वर ! हे सर्वज्ञ ! हे देवादिदेव महादेव ! आपसे कौन-सा उपाय छिपा है ? फिर भी आप पूछते हैं तो बताता हूँ। आपने युद्ध के आरम्भ में विघ्नेश्वर का पूजन नहीं किया, इसलिए पराजय का मुख देखना पड़ा। अब आप उनकी पूजा करके युद्ध में तत्पर हों तो आपकी विजय अवश्य होगी।'

'बिघ्नेश्वर !' शिवजी ने कहा–'वह तो मेरा पुत्र है देवर्षे ! उसे तो कर्तव्यवश ही मेरी सहायता करनी चाहिए।'

नारदजी ने मुसकराहट के साथ कहा–'पुत्र यदि रूठ जाय तो उसे भी

मनाना होता है। शूलपाणि ! फिर उस स्थिति में तो तपस्या और भी उलझ जाती है, जब शत्रु पुत्र से बल पाकर ही पिता पर आक्रमण करे।'

शिवजी के हृदय को एक झटका लगा, तुरन्त ही पूछ बैठे–'तो क्या गणेश ने ही असुर को इस आक्रमण के लिए प्रेरित किया है ? देवर्षि ! मैं तुम्हारी बात नहीं समझी। मुझे बताओ कि तुम कहना क्या चाहते हो ?'

नारद जी बोले–'यह तथ्य सर्वविदित है महेश्वर ! आपके पुत्र गणेशजी से वरदान पाकर ही त्रिपुरासुर अजेय हो गया है। अब स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि आप सर्वेश्वर को भी तुच्छ समझने लगा है। इस स्थिति से निपटने के लिए आपको भी अपने पुत्र का पूजन करना होगा।'

शिवजी ने निश्चयात्मक स्वर में कहा–'तो अवश्य करूँगा देवर्षे ! मैं अभी से उनका पूजन आरम्भ करता हूँ।'

नारद जी चले गए। भगवान् शंकर ने दण्डकवन में जाकर कठोर तप आरम्भ किया। धीरे-धीरे सौ दिव्य वर्ष व्यतीत हो गए। तप करने में ही शिवजी को जँभाई आ गई और–

"ततस्तस्य मुखाम्भोजान्निर्गतस्तु पुमान् महान् ।
पञ्चवक्त्रो दशभुजो ललाटेन्दुः शशिप्रभः ॥
मुण्डमालः सर्पभूषो मुकुटाङ्गदभूषणः ।
अग्न्यर्कशशिनो भाभिस्तिरस्कुर्वन् दशायुधः ॥"

शिवजी के समक्ष विनायक का प्राकट्य

तभी शिवजी के मुख से एक तेजोमय पुरुष का आविर्भाव हो गया। उनके पाँच मुख, दश भुजाएँ, ललाट पर चन्द्रमा था, उनकी देहकान्ति भी चन्द्रमा के ही समान थी। वे कण्ठ में मुण्डमाला, सर्पों के आभूषण तथा

मुकुट और बाजूबन्द धारण किए हुए थे। उनके तेज के समक्ष अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा भी तिरस्कृत हो रहे थे। उन्होंने अपनी भुजाओं में दश आयुध ले रखे थे।

शिवजी ने उन्हें देखा तो सोचने लगे—क्या यह मेरा ही दूसरा रूप है ? कहीं यह त्रिपुरासुर की ही तो कोई माया नहीं है ? यह स्वप्न है अथवा आदिदेव विघ्ननाशक विनायक का साक्षात् प्राकट्य ?

वरदराज ने उनके मन की बात जान ली। बोले—'प्रभो ! आप जो समझ रहे हैं, मैं वही आदिदेव विनायक हूँ। वस्तुतः मेरे यथार्थ रूप को देवता, ऋषिगण तथा ब्रह्माजी भी नहीं जानते। वेद, उपनिषद्, षट्शास्त्र कोई भी मेरे रूप को वास्तविक रूप को कहने में समर्थ नहीं हैं। मैं चराचर जगत, ब्रह्माजी और अनन्त ब्रह्माण्डों का रचयिता हूँ। सत्व, रज और तम तीनों गुण मुझमें ही प्रकट हैं, किन्तु उन गुणों का स्वामी होते हुए भी मैं उनसे परे हूँ।' संसार की रचना, स्थिति और प्रलय मेरे ही कार्य हैं। आपने मेरा सौ वर्ष तक का निरन्तर चिंतन किया है, इसलिए मैं पूर्णरूप से सन्तुष्ट हूँ। आपकी कामना पूर्ण करने के लिए इस समय यहाँ प्रकट हुआ हूँ। अतः आप जो चाहें, मुझसे माँग लें।'

वरदराज की प्रसन्न मुद्रा देख और वरद वचन सुन कर शिवजी उनकी स्तुति करने लगे—

"दशापि नेत्राणि ममाद्य धन्यान्यथो भुजाः पूजनतस्तवाद्य।
तवानतेः पञ्च शिरांसि धन्याः धन्यास्तु ते पञ्चमुखानि देव॥"

'हे देव ! आपका पूजन करके मेरे दशों नेत्र और दशों भुजाएँ आज धन्य हैं। आपको प्रणाम करके मेरे पाँचों मस्तक और आपकी स्तुति करके मेरे पाँचों मुख धन्य हो गए। प्रभो ! आप रजोगुण के द्वारा समस्त सृष्टि को रचते, सतोगुण द्वारा पालन करते और तमोगुण द्वारा प्रलय कर देते हैं। आप नित्य, निरपेक्ष और निर्लेप हैं।'

'आप ही सभी जीवों के ईश्वर तथा उनके कर्मों के साक्षी और फल प्रदान करने वाले हैं। हे वरदराज! त्रिपुरासुर को नष्ट करने का शीघ्र उपाय कीजिए, अन्यथा यह समस्त सृष्टि नष्ट हो जायेगी।'

वरदायक बोले–आप मेरे बीज मन्त्र का उच्चारण करते हुए शरसन्धान करेंगे तो अवश्य विजय प्राप्त होगी। मैं आपके द्वारा स्मरण करते ही आपके पास आकर कार्य पूर्ण करूँगा। मेरा बीजमन्त्र 'गं' है, इसके उच्चारण के साथ बाण छोड़ते ही त्रिपुरासुर के पुर ध्वस्त हो जायेंगे।'

शिवजी द्वारा त्रिपुरासुर का विनाश

यह कहकर गणेश जी तुरन्त अन्तर्हित हो गए। उसके बाद शिवजी ने उनका भक्तिभाव से पूजन किया और देव-ब्रह्मादि को तृप्त करके पुनः उनकी महिमा को पुष्पाञ्जलि समर्पित की और बोले–'गणपति का यह स्थान आज से मणिपुर नाम से विख्यात होगा।'

इसके पश्चात् शिवजी ने देवसेना एकत्रित की और त्रिपुरासुर की राजधानी की ओर चल दिये। गणेश जी का स्मरण करते ही उन्होंने देखा कि विघ्ननाशक भगवान् वीरवेश में स्वयं आगे-आगे चल रहे हैं।

त्रिपुरासुर के तीनों पुर अभेद्य थे, इसलिए असुर जानता था कि मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। फिर भी उसने सुरक्षा का बड़ा प्रबन्ध कर रखा था। शिवजी ने गणेश जी के द्वारा बताई हुई विधि से 'गं' बीजमन्त्र का उच्चारण करते हुए शर-सन्धान किया और एक ही बाण से त्रिपुरासुर के पुरों को ध्वस्त कर दिया।

उस समय भगवती पार्वती भी अपने प्राणवल्लभ की विजय-कामना करती हुई गणपति-पूजन में लगी थीं। युद्ध में शिवजी की विजय हुई और त्रिपुरासुर मारा गया। देवसेना द्वारा भगवान् त्रिपुरारि की जय के साथ ही गजानन भगवान् की जय बोली जाने लगी।

७. सप्तम अध्याय

पार्वती ने गणेश-पूजन किया

सूत जी बोले–'हे शौनक ! फिर ब्रह्मा जी ने व्यास जी को जगज्जननी पार्वती जी द्वारा पुनः गणेश पूजन करने की बात बताई । महर्षि भृगु बोले–'हे राजन् ! कार्तिकी पूर्णिमा में त्रिपुरासुर के भस्म होने का समाचार प्राप्त होने पर पार्वती जी गिरि-गुहा से बाहर आईं तो अपने पिता हिमाचल और पतिदेव त्रिपुरारी को कहीं न देखकर वे दुःखार्त्त हो गईं और शोक के कारण रुदन करने लगीं । उनका रुदन एक भील ने सुना तो उसने हिमाचल के पास जाकर उनके रोने की बात सुनाई । इससे चिन्तित हुए पर्वतराज अपनी पुत्री गिरिजा के पास पहुँचे और पुत्री को धैर्य बँधाने लगे ।'

उस संत्रस्त गिरिराजनन्दिनी ने कहा–'पिताजी ! न जाने भगवान् शंकर कहाँ हैं ? त्रिपुरासुर से युद्ध करने लगे थे और सुनते हैं कि वह असुर मारा गया, किन्तु वे अभी तक लौट कर नहीं आये । अब उनके सकुशल घर लौटने का उपाय क्या है ?'

ब्रह्माजी बोले–'हे व्यास ! हिमालय ने कुछ देर विचार किया और फिर कहने लगे–'बेटी ! भगवान् गणेश का पूजन करो । कल प्रातःकाल उठकर शौचादि से निवृत होकर स्नान करना और विघ्नेश की मृणमय मूर्त्ति बनाकर उसका षोड़शोपचारों से पूजन करना । भोग षड्रस भोजन रखना, किन्तु ध्यान रहे कि उसमें मोदक (लड्डू) अवश्य हो । भक्तिभाव पूर्वक गणेशजी का ध्यान, स्तवन, नीराजन आदि करने से वे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं । जब तक शिवजी न लौटें तब तक गणेश जी के एकाक्षरी 'गं' मन्त्र का जप करती रहना । वैसे, इसके एक लाख जप से अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है ।'

'सामान्य स्थिति में श्रावणशुक्ल चतुर्थी से भाद्रशुक्ल चतुर्थी तक एक मास पर्यन्त गणपति-पूजन एवं अनुष्ठान करे। पूजन के लिए एक मूर्ति से एक सौ आठ मूर्ति तक ले सकती हो। अनुष्ठान पूर्ण होने पर उद्यापन किया जाता है। उस दिन जप का दशांश हवन, हवन का दशांश तर्पण और तर्पण का दशांश ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिए।

'फिर उन्हें दक्षिणादि देकर मूर्ति का किसी पवित्र नदी या सरोवर में विसर्जन करना चाहिए। विशेष स्थिति में यह जप, पूजन, अनुष्ठानादि कभी भी आरम्भ किया जा सकता है।'

राजा कर्दम का दृष्टान्त-कथन

'हे पार्वती! कल शुभ दिन है, तुम कल से उनका पूजन और जप प्रारम्भ कर दो। देखो, उसी अनुष्ठान के प्रभाव से पूर्वकाल में एक सामान्य मनुष्य को अगले जन्म में राजा के घर जन्म मिला। वह राजा समस्त पृथ्वी का अधीश्वर, राजाओं का स्वामी और अत्यन्त वैभवशाली हुआ। इसका नाम कर्दम था।

'एक बार वह राजा महर्षि भृगु के आश्रम में गया। वहाँ महर्षि ने उसे अनेक इतिहास कथाएँ सुनाईं। तभी प्रसंगवश राजा ने अपने वैभव-सम्पन्न होने का कारण पूछा तो महर्षि ने ध्यान करके बताया—'राजन्! पूर्व जन्म में तुमने गणेश्वर के एकाक्षरी मन्त्र का अनुष्ठान किया था, जिससे प्रसन्न होकर गणपति ने तुम्हें राजराजेश्वर होने का वर प्रदान किया। तुम उस जन्म के एक दरिद्र क्षत्रिय के घर में उत्पन्न होने के कारण जीवन भर दुःख भोगते रहे, तब एक दिन आत्मघात को तत्पर हुए तुम वन में भटक रहे थे, तभी सौभरि ऋषि से तुम्हारी भेंट हुई और तुमने उनसे संकट निवारण का उपाय पूछा।

'उन दयालु ऋषि ने तुम्हें गणपति के एकाक्षरी मन्त्र का उपदेश

किया। तब तुमने उस अनुष्ठान को अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किया, जिसके फलस्वरूप उस जन्म में तुम्हारी शेष आयु सुखपूर्वक व्यतीत हुई और उसी के प्रभाव से इस जन्म में सम्राट् हुए हो।'

राजा नल का दृष्टान्त-कथन

हिमालय ने कहा–'हे उमे! निषध देश के राजा नल ने भी उन्हीं विघ्नेश्वर का पूजन करके अभीष्ट प्राप्त किया था। वह राजा अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, धर्मज्ञ, राज-राजेश्वर और महाबली था। समस्त विश्व में उसकी यश-पताका फहरा रही थी। वह जैसे नीति निधान था, वैसे ही ज्ञानवान् भी था, उसके पास सदैव विद्वान् ब्राह्मणों, ऋषि-मुनियों, मनीषियों आदि का जमघट लगा रहता था।'

'एक दिन उसकी सभा में महर्षि गौतम पधारे। राजा ने उनका अर्घ्य-पाद्यादि पूर्वक अत्यन्त स्वागत-सत्कार किया और जब वे सुखद आसन पर विराजमान हो गये तब राजा ने उनसे कोई पुराण-कथा करने का निवेदन किया। महर्षि ने कुछ समय में ही उन्हें अनेक कथाएँ सुना दीं तभी भगवान् गणेश्वर का प्रसंग आ गया। ऋषि बोले–'हे राजन्! भगवान् गणेश्वर समस्त देवताओं के अधीश्वर एवं सर्वात्मा हैं। वे जिस पर कृपा करते हैं, वह परम भाग्यवान् हो जाता है।'

राजा ने निवेदन किया–'भगवन्! सब देवताओं के अधीश्वर तो भगवान् विष्णु माने जाते हैं तथा कुछ विद्वान् त्रिलोचन को भी सर्वेश्वर कहते हैं, किन्तु गणेश जी को सबका स्वामी कहते तो किसी को भी नहीं सुना। अब आप उन्हें ऐसा क्यों कहते हैं?'

महर्षि बोले–'महाराज! भगवान् गणेश्वर साक्षात् ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तो उन्हीं प्रभु के अंशावतार हैं। उन सभी ने भगवान् वरदराज की उपासना करके ही अपनी-अपनी कार्य-क्षमता प्राप्त की थी।

अन्य देवताओं और ऋषियों आदि ने भी उन्हीं गणेश्वर की उपासना करके सिद्धि प्राप्त की है। यह जितने भी राजे-महाराजे हुए हैं, वे सब उन्हीं भगवान् की कृपा से हुए हैं। हे राजन्! तुमको भी इस वैभव की प्राप्ति में उन्हीं गणाध्यक्ष की ही कृपा निहित है।'

महाराज नल ने पूछा–'प्रभो! मैंने तो कभी उन भगवान् की पूजन-आराधना विशेष रूप से नहीं की है। केवल विभिन्न संस्कारों और देव-पूजनों में गणेशजी का जो आदि पूजन होता है, वही किया होगा।'

गौतम ने कहा–'राजन्! तुमने जो गणेश-उपासना की है, उसकी भी बात सुनो। पूर्व जन्म में तुम गौड़ देश के पिप्पल नगर के निवासी थे। तुम्हारा जन्म एक सामान्य क्षत्रिय-परिवार में हुआ था। सर्वत्र तिरस्कृत रहने के कारण तुम बहुत दुःखित थे, तभी महर्षि कौशिक से तुम्हारी भेंट हुई। तुमने उनसे अपने दुःख की बात कहकर उसके निवारण का उपाय पूछा। महर्षि ने कृपापूर्वक गणेश जी के एकाक्षरी मन्त्र के प्रभाव से इस जन्म में तुम अत्यन्त ऐश्वर्यवन्त राजराजेश्वर हुए हो।'

राजा चित्रांगद का दृष्टान्त-कथन

हिमालय ने कहा–'हे पुत्रि! राजा चित्रांगद की साध्वी रानी को भी अपने पति का विरह-दुःख प्राप्त हुआ था, जिसका निवारण गणेश्वर के पूजन से ही हुआ था। इसका इतिहास यह है कि राजा चित्रांगद मालव देश का राजा था। वह अत्यन्त शक्तिशाली और विद्वान् था। उसकी सुन्दरी भार्या का नाम इन्दुमती था।

'वह राजा एक दिन शिकार खेलने गया था। भीषण अरण्य में एक राक्षसी से उसका सामना हो गया। वह राक्षसी राजा पर आसक्त हो गई। उसने राजा से परिणय-निवेदन किया, किन्तु राजा ने उसकी बात नहीं मानी। इससे क्रुद्ध हुई राक्षसी राजा को खाने के लिए दौड़ी। यह देखकर

राजा वहाँ से भाग कर एक सरोवर में जा छिपा। किन्तु वहीं कुछ नाग-कन्याएँ स्नानार्थ आईं और राजा को देखकर उसपर लुब्ध हो गईं और वे उसे बलपूर्वक अपने साथ पाताल-लोक में लिवा ले गईं और उससे प्रणय निवेदन करने लगीं।

'हे पार्वती ! राजा ने उनका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इससे वे नागकन्याएँ भी रुष्ट हो गईं और उन्होंने राजा को बन्धन में डाल दिया। उधर रानी इन्दुमती पति के न लौटने से बड़ी चिन्तित हुई। उसने राजा के वियोग में अच्छा भोजन एवं आभूषणादि का भी त्याग कर दिया और दिन-रात रोती रहती। एक दिन भ्रमण करते हुए नारद जी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने रानी की अधिक व्याकुलता देखी तो दयापूर्वक बोले-

'महारानी ! इस विपत्ति से छुटकारा पाने का उपाय तुम्हें बताता हूँ, सुनो। भगवान् विघ्ननाशक समस्त संकटों को दूर करने में समर्थ हैं, तुम उनका पूजन करके एक मास तक उनके एकाक्षरी मन्त्र का जप करो। इस अनुष्ठान से तुम्हारी कामना अवश्य पूर्ण हो जायेगी।'

'नारदजी अनुष्ठान-विधि बताकर चले गये। रानी ने धैर्य धारण कर शुभ दिन में प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर श्रीगणेश्वर की मृण्मय मूर्ति स्थापित कर विधिवत् षोड़शोपचार पूजन, स्तवन, नीराजन करके जप का आरम्भ कर दिया और एक मास तक एक लाख जप का अनुष्ठान पूर्ण कर, हवन, ब्राह्मण-भोजन, दान-पुण्य आदि कर प्रतिमा का विसर्जन किया। हे उमे ! रानी प्रसन्नचित्त से उन विघ्ननाशक प्रभु का फिर भी स्मरण करती रही।

'तभी भगवान् गणेश्वर ने बुद्धिदेवी को नागकन्याओं के प्रेरणार्थ प्रेषित किया, जिससे उन्होंने तुरन्त ही राजा को कारागार से बाहर निकाला और उसे स्नान कराकर वस्त्राभूषण पहिनाये और सम्मानपूर्वक उसके राज्य में वापस भेज दिया। यह गणेश जी की ही आराधना का प्रभाव था कि रानी को अपने प्राणपति की प्राप्ति हो गई।'

यह कहकर हिमालय चुप हो गए। पार्वती जी ने दूसरे दिन प्रातःकाल प्रसन्न मन से नित्य कर्मों से निवृत्त होकर श्रीगणेश जी की १०८ मृत्तिका प्रतिमाएँ बनाईं और उन्होंने सुन्दर सुखद आसनों पर प्रतिष्ठित कर संकल्पपूर्वक षोड़शोपचार से पूजन किया। फिर भक्तिभाव से स्तुति, नीराजन, प्रदक्षिणा आदि करके एकाक्षरी मन्त्र का एक मास तक जप किया और अन्त में हवन-तर्पण और ब्राह्मण-भोजन कराकर सभी को अभीष्ट दक्षिणा दी। फिर अभ्यागतों आदि को भी गौ, रत्न, अन्न, वस्त्र आदि विविध वस्तुओं का दान किया। फिर स्वयं भोजन करके भगवान् गणेश्वर का ध्यान करने लगीं। इसी के प्रभाव से उन्हें भगवान् शंकर की प्राप्ति हो गई।

13

८. अष्टम अध्याय

देवराज इन्द्र के विमान का पतन वर्णन

सूतजी बोले—'हे शौनक! फिर चतुरानन ने व्यास जी के प्रति राजा शूरसेन का उपाख्यान कहा—जिसे महर्षि भृगु ने राजा सोमकान्त को इस प्रकार बताया—'हे राजन्! मध्यदेश में सहस्त्र नामक एक विख्यात नगर था, जिसमें रहकर राजा शूरसेन राज्य करता था। यह राजा अत्यन्त पराक्रमी, शत्रुजेता और विद्वान् था। एक दिन राजा अपनी राज-सभा में श्रेष्ठ सिंहासन पर विराजमान था, तभी उसने कुछ दूर पर एक विमान गिरता देखा। राजा ने अपने दूतों को उसका पता लगाने का आदेश दिया तो उन्होंने लौटकर बताया—'महाराज! वह विमान देवराज इन्द्र का है।'

यह सुनकर राजा तुरन्त वहाँ पहुँचा और उसने देवराज से विमान के गिरने का कारण पूछा। इन्द्र ने उत्तर दिया—'राजन्! मैं गणेश रूप

भृशुण्डि ऋषि के दर्शन करके लौट रहा था, तभी मेरे विमान पर तुम्हारे एक कुष्ठी दूत की दृष्टि गई, उसी से यह विमान गिर गया है।'

राजा शूरसेन ने कहा–'प्रभो! भृशुण्डि ऋषि कौन है ? उनके दर्शनों की ऐसी क्या महिमा है, जिससे आप जैसे महा-महिम भी उनके दर्शनार्थ पधारे ! यह सब मुझे बताने की कृपा करें।'

इन्द्र बोले–'राजन् ! इस वर्णन का आरम्भ एक इतिहास से करना होगा। दण्डकारण्य में नाभा एक अत्यन्त क्रूर लुटेरा कोल रहता था। वह मनुष्य, देवता, ऋषि आदि कोई भी क्यों न हो, सभी को लूटता फिरता था। उस दस्यु ने एक बार महर्षि मुद्गल के आश्रम पर आक्रमण कर दिया, किन्तु महर्षि के भय-रहित एवं सौम्य स्वरूप को देखकर उसका हृदय धड़कने लगा और हाथ काँपने लगे। उसका मानसिक उद्वेग इतना बढ़ा कि शरीर से स्वेद की धारा ही बह उठी। निकट ही गणेश-तीर्थ था, उसने सोचा कि शरीर में स्फूर्ति लाने के लिए पहिले स्नान कर लूँ।

'इसलिए उसने उस कुण्ड में गोता लगाया ही था कि उसकी वृत्ति बदल गई। अब उसने महर्षि मुद्गल के पास जाकर उनके चरण पकड़ लिये और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा।

हे महाराज ! ऋषि तो दयालु थे ही, उन्होंने उस दस्यु को क्षमा कर दिया, तब उसने निवेदन किया–'भगवन् ! मैंने अब तक बहुत पाप किए हैं, उनसे निवृत्ति का कुछ उपाय बताइए।' यह सुनकर महर्षि ने उसे गणेश का सप्ताक्षरी मन्त्र 'ॐ गणेशाय नमः' का उपदेश किया और फिर बोले, वत्स ! मैं ! यहाँ एक काष्ठ गाड़ देता हूँ उसके अंकुरित होने तक तुम तपस्या करते रहोगे तो अभीष्ट की अवश्य पूर्ति होगी।'

'वह महर्षि को प्रणाम कर वन में मन्त्र जपता हुआ तपस्या करने लगा। उसे तप करते-करते एक सहस्त्र वर्ष व्यतीत हो गये। तब सहसा वह लकड़ी अंकुरित हो गई। उसी समय महर्षि मुद्गल ने उसे दर्शन दिये

और उसे सुन्दर एवं दिव्य देह युक्त करके अपना पुत्र बना लिया। तदुपरान्त उन्होंने उसे गणेश्वर का एकाक्षरी बीज मन्त्र दिया। उसने उस मन्त्र का अत्यन्त भक्तिभाव से अनुष्ठान किया तथा अनुष्ठान के सम्पन्न होने पर उसकी भृकुटी से एक सूँड़ निकल पड़ी। तभी से उसका नाम भृशुण्डी हो गया।

हे राजन्! तदुपरान्त महर्षि ने उसे वर दिया कि 'जो कोई तुम्हारा दर्शन करेगा, वही मोक्ष को सहज ही प्राप्त कर लेगा और तुम एक लाख कल्प तक जीवित रहोगे।' तब से वह कोल परम सिद्ध महाज्ञानी एवं महर्षि हो गया। संसार भर के बड़े-बड़े महर्षि एवं देवता आदि उनके दर्शन को आने लगे। मैं भी उनकी महिमा सुनकर उनके दर्शनार्थ आया था।

राजा शूरसेन ने यह इतिहास सुनकर पुनः पूछा—'प्रभो! अब आपका यह विमान किस प्रकार उठने योग्य होगा?' इसपर इन्द्र बोले—'राजन्! तुम्हारे राज्य में कोई संकष्टीव्रत करने वाला पुण्यात्मा जब अपने एक वर्ष का पुण्य देगा, तभी यह उठेगा।'

गणेश्वर के संकष्टी-व्रत का इतिहास वर्णन

जब राजा ने पूछा कि 'देवराज! वह व्रत किस प्रकार किया जाता है?' तो उन्होंने उत्तर दिया—'नृपेश्वर! मैं तुम्हें एक इतिहास सुनाता हूँ। पुरा काल में कृतवीर्य नामक एक राजा हो गया है। उसकी पत्नी सुगन्धा अति रूपवती और साध्वी थी। उससे कोई सन्तान नहीं हुई। राजा ने अनेक पुत्र्येष्टि यज्ञ किए तो भी कोई फल नहीं निकला। अमात्यों ने परामर्श दिया—'महाराज! अब तो निवासपूर्वक तपश्चर्या कीजिए।'

राजा को परामर्श उचित प्रतीत हुआ। उसने अमात्यों को राज्य की रक्षा का भार सौंपा और पत्नी सहित वन में चला गया। इस प्रकार दम्पति

घोर तपस्या करने लगे। एक दिन नारद जी पितृलोक गये थे तो वहाँ उनकी भेंट कृतवीर्य के पितरों से हुई। उनके कुशलक्षेम पूछने पर नारद जी ने कहा कि 'कृतवीर्य को जब तक स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले पुत्र की प्राप्ति न होगी, तब तक वह पत्नी सहित कठिन तप करता रहेगा और यदि पुत्र की प्राप्ति न हुई तो वह इसी प्रकार अपने प्राण दे देगा।'

तदुपरान्त देवर्षि यमलोक में पहुँचे, वहाँ उन्होंने भृशुण्डी ऋषि के माता-पिता को अग्निमय कुम्भीपाक में दग्ध होते हुए देखा। उनको बड़ी दया आई। उन्होंने भृशुण्डी ऋषि के पास जाकर उनकी दशा का वर्णन करने के पश्चात् कहा—'मुनिवर! आपके माता-पिता कुम्भीपाक नरक में पड़े हुए घोर दुःख भोग रहे हैं, उनके उद्धार का कुछ उपाय कीजिए।' तब भृशुण्डी ऋषि ने अपने संकष्टी-व्रत का पुण्य सभी पितरों के लिए दिया, जिससे उनके माता-पिता सहित अन्य सब पितर भी मुक्त हो गये।'

राजा ने पूछा—'हे देवेन्द्र ! आपने भृशुण्डी के पितरों के मुक्त होने का वृत्तान्त तो कहा, किन्तु कृतवीर्य के विषय में बताया कि उसके पितरों ने नारद जी को क्या उत्तर दिया ?' वह भी बताने की कृपा कीजिए।

देवराज बोले—'नरेन्द्र ! उसका भी उत्तर सुनो। उन राजा के पिता ने नारद जी से तो यह कहा कि 'उसका उपाय करेंगे' और फिर वह तुरन्त ही ब्रह्माजी के पास गया और उन्हें प्रणाम कर निवेदन किया, ब्रह्मन् ! मेरा पुत्र तो अत्यन्त धार्मिक और ईश्वर-भक्त है, उसको पुत्र की प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? यह सुनकर ब्रह्माजी बोले—'तुम्हारे पुत्र ने पूर्व जन्म में ब्रह्महत्या की थी। वह नन्दुर नामक नगर में निवास करता था उसने धन के लोभ में बारह वेदज्ञ ब्राह्मणों को मार डाला और उनका धन लेकर अपने घर आ गया। उस दिन माघकृष्णा चतुर्थी थी तथा जब वह घर आया था उस समय चन्द्रोदय हो चुका था, उसने अपने समस्त परिवारीजनों के साथ बैठकर अपने पुत्र गणेश को पुकारा। जब वह आ गया तब सभी ने भोजन किया।

तदुपरान्त उसकी मृत्यु हो गई। हे राजन्! उस दिन वह दिनभर भूखा रहा और गणेश का उच्चारण कर भोजन किया! उसे संकष्टी चतुर्थी में दिनभर भूखे रहने से व्रत का और 'गणेश' उच्चारण से नाम स्मरण का पुण्य प्राप्त हो गया। जिसके फलस्वरूप तुम पुण्यवान् नरेश के यहाँ उसका जन्म हुआ और तुम्हारे पश्चात् उसे राज्यपद की प्राप्ति हो गई। अब यदि वह संकष्ट चतुर्थी का व्रत करे तो उसकी ब्रह्म-हत्या छूटकर पुत्र-लाभ हो सकता है।'

यह सुनकर कृतवीर्य का पिता अपने स्थान पर लौट आया और अपने पुत्र को संकष्ट चतुर्थी-व्रत करने की स्वप्न में प्रेरणा दी। तब राजा ने यह व्रत करके गणेश जी का और चन्द्रमा का पूजन किया, जिसके प्रभाव से उसे सुन्दर पुत्र की प्राप्ति हो गई।

ब्रह्माजी बोले–'हे व्यास! इन्द्रदेव से गणेशजी के पूजन-व्रत, जप आदि की ऐसी महिमा सुनकर राजा शूरसेन ने अपने राज्य में ढिंढोरा पिटवा कर घोषणा की कि जिस किसी ने संकष्टी व्रत किया हो, वह राजा के समक्ष उपस्थित हो, राजा उसे अभीष्ट धन प्रदान करेंगे। यद्यपि उस राज्य में गणेशजी का उक्त व्रत करने वाले कई गणेश-भक्तों का निवास था, तथापि उन्हें उस घोषणा से यह आशंका हुई कि कहीं राजा कोई दण्ड न दे बैठे, सम्भव है कि अभीष्ट धन देने की बात लोभ दिलाने के लिए ही कहलाई हो।'

हे द्वैपायन! इस भय से कोई भी राज्यसभा में जाने को इच्छुक नहीं था, किन्तु तब भी एक व्यक्ति वहाँ पहुँच कर बोला–'राजन्! मैंने निरन्तर कई वर्षों तक संकष्टी-चतुर्थी में व्रत किये हैं। यदि आप मेरे कार्य को ठीक समझते हों तो आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूँ? यदि कहीं आपने प्रलोभन देकर दण्ड देने के उद्देश्य से मुझे बुलाया है तो भी मैं प्रस्तुत हूँ।'

दण्ड की बात सुनकर राजा को हँसी आ गई। उसने उस व्यक्ति को

सम्मान सहित बैठाकर सुरेश्वर के विमान गिरने की घटना बताई और अपना एक वर्ष का पुण्य प्रदान करने का उससे निवेदन किया। राजा की बात सुनकर उसने सहर्ष अपने एक वर्ष के संकष्टी-व्रत दान का संकल्प कर दिया।

हे द्वैपायन! उसके संकल्प करते ही इन्द्रदेव का विमान ऊपर उठ गया। इस प्रकार देवराज अपने लोक को गये। तब राजा ने उस व्यक्ति को अभीष्ट धन देकर ससम्मान विदा किया और फिर स्वयं भी प्रति वर्ष संकष्टी व्रत करने लगा, जिसके प्रभाव से इहलोक और परलोक में पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हुई।

व्यासजी ने पूछा—'हे ब्रह्मन्! संकष्टी-व्रत का आपने इतना अधिक माहात्म्य बताया है, किन्तु कुछ विद्वान् अन्य चतुर्थियों में व्रत करना श्रेष्ठ मानते हैं? तब कौन-सी बात ठीक है?'

ब्रह्माजी बोले—'हे द्वैपायन! सभी चतुर्थियों के व्रतों का बहुत माहात्म्य है। जिस पर जो व्रत बन जाय, वह उसी को करके अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर सकता है। परन्तु व्रत के विधान में अन्तर अवश्य है। श्रावण मास की चतुर्थी में सात मोदक खाकर रहे, भाद्रपद की चतुर्थी में दोनों का सेवन करे और आश्विन की चतुर्थी में पूर्ण उपवास।

कार्तिक में दुग्धाहार करे और मार्गशीर्ष में निराहार रहे। पौष मास में गोमूत्र, माघ में तिल और फाल्गुन में घृत-शर्करा सेवन करे। चैत्र में पंचगव्य, वैशाख में शतपत्र, ज्येष्ठ में केवल घृत और आषाढ़ में केवल मधु खाना चाहिए। यह प्रत्येक मास की चतुर्थी के व्रत का विधान मैंने तुम्हें बता दिया है।

❀❀❀

14-

९. नवम अध्याय

शिव-पार्वती-संवाद वर्णन

शौनक बोले—'हे सूतजी ! हे प्रभो ! आपने भगवान् गणेश्वर के बड़े सुन्दर-सुन्दर चरित्रों पर प्रकाश डाला है। वस्तुतः यह चरित्र सुनाने में आप ही समर्थ थे। हे दयामय ! उनके और भी जो-जो महत्त्वपूर्ण चरित्र हों, उन्हें कहने की कृपा कीजिए।'

सूतजी ने प्रसन्न होकर कहा—'हे शौनक ! हे महाभाग ! तुम धन्य हो जो गणेश्वर का चरित्र सुनते-सुनते तुम्हारी तृप्ति ही नहीं होती। अब मैं तुम्हें इन्हीं से सम्बन्धित एक अन्य कथा सुनाता हूँ। एक बार नारद जी सत्यलोक में गये थे। वहाँ उन्होंने लोकपितामह ब्रह्माजी से पूछा था कि 'प्रभो ! सर्वसुलभ उपासना किस देवता की है ? अधिक कठिनाई भी न हो और अभीष्टों की भी प्राप्ति हो जाय।'

ब्रह्माजी बोले—'देवर्षे ! तुम्हारे जैसा ही प्रश्न एक बार पार्वती जी ने भगवान् शंकर से किया था। शिवजी बोले—'श्रीगणेशजी की उपासना ही सर्वसुलभ और समस्त अभीष्टों को देने वाली है।' पार्वती जी को इतने उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने पूछा—'यह उपासना करके किस-किस को सहज में ही अभीष्ट सिद्धि हो गई सो बताइये नाथ !'

शिवजी द्वारा सुदामा के वैभव-सम्पन्न होने का वर्णन

शिवजी बोले—'हे प्रिये ! द्वापर युग की बात है, सुदामा नामक एक अत्यन्त दरिद्र, सदाचारी एवं विद्वान् ब्राह्मण थे। वे आर्थिक संकट से बहुत ही दुःखित रहते थे। एक दिन उनकी पत्नी ने उनसे निवेदन किया—'प्राणनाथ ! आप व्यर्थ ही इतना कष्ट क्यों उठा रहे हैं ? भगवान्

त्रिलोकीनाथ आपके बालमित्र हैं, आप उनके पास जाइये। वे प्रभु आपकी दरिद्रता अवश्य ही दूर कर देंगे।'

यद्यपि सुदामा अपने मित्र से कुछ माँगना नहीं चाहते थे, तथापि उन्हें पत्नी के अत्यधिक आग्रह के कारण जाना पड़ा। पत्नी ने थोड़े से चावल मैले चिथड़े में बाँधकर सौगात के रूप में उन्हें दे दिये। बेचारे सुदामा मार्ग पार करते हुए किसी प्रकार द्वारिकापुरी पहुँचे। किन्तु राजभवन पर जो प्रहरी थे, उन्होंने उन्हें घुसने नहीं दिया, बोले–'बावला हुआ है क्या ? वे राज-राजेश्वर तेरे जैसे फटे-हाल से कैसे मिलेंगे ?'

सुदामा ने अपनी मित्रता की बात बताई तो वे हँसने लगे। किन्तु, बहुत आग्रह करने पर उन्हें दया आ गई। एक प्रहरी ने द्वारिकापति से जाकर कहा–'प्रभो ! कोई सुदामा नामक दरिद्र ब्राह्मण द्वार पर खड़ा है, वह मिलना चाहता है आपसे।'

सुदामा का नाम सुनते ही भगवान् दौड़े आये द्वार पर और गले मिलकर लिवा ले गये अपने साथ। सभी प्रहरी अवाक् देखते रह गये ! राजभवन में सुदामा का बड़ा भव्य-स्वागत हुआ। दोनों मित्र बड़े प्रेम से पुरानी बातें कर रहे थे, तभी उन्होंने सुदामा के साथ ही पोटली देख ली। सुदामा उसे छिपाने लगे तो भगवान् ने उसे झपट कर खोला और कुछ चावल खाकर बोले–'यह तो बड़े स्वादिष्ट हैं मित्र ! ऐसे अमृतोपम पदार्थ को मुझसे छिपाते हो ?'

फिर कुशल-प्रश्न हुआ दोनों ओर से। सुदामा ने सर्वकुशल बताते हुए अपनी दरिद्रता की बात कही जिसे सुनकर श्रीकृष्ण बोले–'मित्र ! तुम गणेश्वर की पूजा नहीं करते हो क्या ? यदि उन प्रभु को प्रसन्न कर लो तो सभी कामनाएँ पूर्ण हो जायें।'

सुदामा ने पूछा–'यह गणेश्वर कौन हैं ? इनकी पूजा का विधान क्या है ?' भगवान् बोले–'गणेश्वर उस परब्रह्म परमात्मा का ही नाम है जो अनादि, अनन्त, सर्वेश्वर एवं परम पूजनीय हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव

भी उन्हीं के अनुशासन में रहकर सृष्टि के संग पालन और लय करते हैं। वे ही प्रभु एकमात्र उपासनीय एवं सर्व कामदाता हैं। समस्त देवता, ऋषि-मुनि एवं वेदज्ञ ब्राह्मण उन्हीं गणेशजी की उपासना में सदैव लगे रहते हैं। तुम भी उन्हीं का पूजन और व्रत करो।'

सुदामा ने पूछा—'गणेशजी का व्रत कब करना चाहिए ? उनके ध्यान, पूजन, व्रतांत को कैसे किया जाता है, यह भी कहिए।' कृष्ण बोले—'हे विप्रवर ! हे सखे ! तुम इनका व्रत किसी भी मास की चतुर्थी में कर सकते हो। अथवा वैशाखी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा या अन्य किसी पुण्य अवसर पर करो। यदि मंगल, शुक्र या रविवार के दिन करो तो भी शुभ है। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर व्रत का संकल्प लेना चाहिए। फिर तिल और आँवले के चूर्ण का उबटन लगाकर पुनः स्नान करे।

'एक स्नान प्रदोष काल में और भी कर ले तो अत्युत्तम। स्नान के पश्चात् स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन एवं नवग्रहों का पूजन करे। धरती को गोबर से लीपकर चौक पूरे और चौकी रखकर उसपर कलश स्थापन करे। फिर गणेशजी की धातु की, मृत्तिका की मूर्ति स्थापित कर षोड़शोपचार से पूजन करे। भोग में उत्तम घृतादि के साथ निर्मित मोदक रखे। यदि यह सम्भव न हो तो समस्त उपचार मानसिक भी हो सकते हैं। हे मित्र ! भावना सर्वोपरि है, इसलिए पूजन में भक्तिभाव भी विशेष फलदायक होता है। यदि श्रद्धा हो तो पूजन कार्य सम्पन्न होने पर ब्राह्मणों को भोजन करावे और यथाशक्ति दक्षिणा दे। सबके अन्त में अपने परिवारीजनों एवं पत्नी, पुत्रादि के साथ बैठकर स्वयं भोजन करे। यह व्रत का विधान तुम्हें बता दिया है।'

सुदामा बोले—'इस व्रत को पहिले किसने किया था ?' श्रीकृष्ण ने इसके उत्तर में कहा—'एक बार प्रलय के पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति होनी थी। परन्तु ब्रह्माजी को अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ा। तब ब्रह्माजी ने गणपति का ही पूजन किया और उनसे शक्ति प्राप्त करके सृष्टि रचना

का कार्य सम्पन्न किया। हे सखे! मुझे भी दुष्ट-दलन करके धर्म संस्थापनार्थ अवतार लेने की शक्ति उन्हीं गणाधीश्वर से प्राप्त हुई है। मैं तो प्रति शुक्रवार में गणेशजी का व्रत किया करता हूँ।'

यह सुनकर सुदामा के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अयाचित वृत्ति से प्राप्त होने वाले द्रव्य से वहीं गणेशजी के पूजन का संकल्प किया और श्रीकृष्ण के परामर्श से उन्हीं के साथ आराधन कर प्रसाद ग्रहण किया और फिर उन्होंने भगवान् से घर जाने की अनुमति माँगी। जब चले गये तब श्रीकृष्ण उन्हें बहुत दूर तक पहुँचाने आए। फिर सुदामा के आग्रह से अपने भवन को लौटे।

व्यापारी के धन चोरी होने का वर्णन

उधर सुदामा जी अपने घर को शीघ्रता से चल पड़े, तभी मार्ग में उनकी मणि नामक एक धनवान व्यापारी से भेंट हुई। रात्रि में सुदामा जहाँ ठहरे थे, वहीं व्यापारी आ ठहरा। किन्तु जब वह प्रगाढ़ निद्रा में था तब चोरों ने उसका सभी बहुमूल्य धन चुरा लिया। जब उसकी आँख खुली, तब उसने वह संकल्प किया कि 'यदि गया हुआ धन मिल जाय तो उसका आधा भाग ब्राह्मण को दान कर दूँगा।'

उसने ऐसा निश्चय किया ही था कि उसे एक सन्दूक कुछ ही दूर पड़ा दिखाई दिया। दौड़कर उसने सन्दूक उठाया तो यह बहुत सारे रत्नादि से भरा पाया। उसने प्रसन्न होकर सन्दूक का आधा धन सुदामा को दान कर दिया। सुदामा को उससे बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उस धनिक व्यापारी को भी साथ लेकर भगवान् गणाध्यक्ष का वहीं पूजन किया।

सायंकाल में जब पूजन कार्य सम्पन्न हो गया, तब सुदामा को भगवान् गणेश्वर के साक्षात् दर्शन हुए। सुदामा ने भक्तिभावपूर्वक उनके चरण पकड़ लिये और स्तवन करने लगे। उन्होंने प्रभु से निवेदन किया–'हे

दयानिधे ! हे सत्यस्वरूप ! परात्पर ब्रह्म ! आप परम दयालु और भक्तवत्सल हैं। हे नाथ ! आपकी महिमा अपरम्पार है, जिसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी नहीं जान पाते, तो मेरे जैसे तुच्छ जीव के तो कहने ही क्या हैं ? हे प्रभो ! आप सर्वशक्तिमान् की स्तुति के लिए सार्थक शब्दों का भी तो मुझे ज्ञान नहीं है। हे दीनबन्धो ! मुझपर दया कीजिए, आपको बारम्बार नमस्कार है, नमस्कार है।'

श्रीगणेश जी ने प्रसन्न होकर सुदामा के मस्तक पर अपना वरद हस्त फेरते हुए कहा—'विप्रश्रेष्ठ ! वर माँगो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।'

सुदामा ने हाथ जोड़कर कहा—'करुणासिन्धो ! जब आप सर्व ऐश्वर्यमय की मुझपर पूर्ण कृपा है तो फिर क्या माँगूँ ? हे नाथ ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे अपनी अनन्य दृढ़ भक्ति प्रदान कीजिए। बस, यही मेरे लिए अत्यन्त श्रेष्ठ वर होगा।'

गणेश्वर 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गए। उस समय वह धनिक भी वहाँ उपस्थित था। उसने सुदामा से गणेशजी के पूजन और माहात्म्य सम्बन्धी कुछ बातें पूछीं और फिर उसने स्वयं भी श्रीगजानन का व्रत करने का संकल्प किया।

सुदामा पर भगवान् गणाध्यक्ष की बड़ी महती कृपा हुई। सुदामा वहाँ से चलकर अपने घर पहुँचे तो यह देखकर अत्यन्त विस्मय करने लगे कि वहाँ कहीं भी उनकी पर्णकुटी नहीं है। वरन् एक अत्यन्त वैभवशाली भवन खड़ा है जो वहाँ कभी नहीं था। सुदामा सोचने लगे कि यह क्या हुआ ? क्या किसी ने मेरी कुटी तुड़वाकर अपना महल बनवा लिया ? और यदि ऐसा है तो मेरी पत्नी कहाँ गई ?

सुदामा इस प्रकार चिन्ता में पड़े थे, तभी उनकी पत्नी ने भवन के भीतर से उन्हें देख लिया और सेवकों को उन्हें बुला लाने की आज्ञा दी। जब सुदामा भीतर गए तो उनकी पत्नी ने कहा—नाथ ! रात में मैं अपनी

पर्णकुटी में सोई थी और प्रातः आँख खुलने पर अपने को इस राजसी भवन में पाया। मुझे आश्चर्य है कि यह सब क्या हो गया! यह इतने दास-दासी भी न जाने कहाँ से आ गए?'

तब सुदामा ने भगवान् गणेशजी के प्रसन्न होने का समस्त वृत्तान्त आद्योपान्त सुना दिया। फिर तो वे प्रति मास ही गणेशजी का पूजन करने लगे तथा यहाँ सर्वसुख भोगकर अन्त में गणेश-लोक को प्राप्त हुए।

चोरों से वैश्य को धन की पुनः प्राप्ति कथन

शौनक बोले—'हे प्रभो! यह तो आपने बड़ा सुन्दर वृत्तान्त सुनाया। अब यह बताने की कृपा करें कि उस वणिक् व्यवसायी ने घर जाकर क्या किया तथा उसे जो रत्नों से भरा सन्दूक मिला था, वह किसका था? तथा सहसा कहाँ से आ गया? मेरी यह जिज्ञासा शान्त करने की कृपा कीजिए।'

सूतजी ने कहा—'शौनक! तुमने अच्छा प्रश्न किया है। उस धनिक को जो रत्नादि धनों से भरा हुआ सन्दूक मिला था, वह भगवान् विघ्नराज की कृपा ही थी। उन्होंने सुदामा को धन प्राप्त कराने के लिए ही वह धन वहाँ सहसा उत्पन्न कर दिया था।

'अब उस वैश्य का वृत्तान्त सुनो—वह कच्छभुज नामक नगर का निवासी था और व्यापार के उद्देश्य से ही परदेश में गया था। उसने अपने नगर में लौटकर भगवान् विघ्नराज का पूजनोत्सव बड़े समारोह से किया, जिसमें नगर के प्रतिष्ठित व्यापारी, अधिकारी एवं उसके बहुत से बान्धव आमन्त्रित किए गए। अनेकों वेदज्ञ ब्राह्मणों ने उस पूजन कर्म में योग दिया। उस धनिक ने ब्राह्मण-भोजन कराके प्रचुर धन दान-दक्षिणा में दिया।

वैश्य के एक परम मित्र थे राजा के प्रधान अमात्य चित्रबाहु। वे भी प्रसाद-ग्रहणार्थ बुलाये गये थे। प्रसाद ग्रहण के बाद चित्रबाहु के द्वारा

यात्रा के कुशलता से पूर्ण होने की बात पूछने पर उसने धन के चोरी जाने और प्रभु कृपा से अन्य रत्न-राशि प्राप्त होने की बात सुनाई। इसके पश्चात् उत्सव का आयोजन सम्पन्न हुआ।

एक दिन कुछ लोग चित्रबाहु के पास जाकर विक्रयार्थ रत्नादि दिखाने लगे तो चित्रबाहु ने रत्नों के असली होने की परीक्षा के लिए अपने मित्र वैश्य को बुलाया। उसने रत्नों को देखकर पहचान लिया कि वह वही रत्न हैं जो मेरे पास से चोरी गए थे और यह बात उसने सबके सामने चित्रबाहु से कह दी।

तब चित्रबाहु ने रत्न लाने वालों से कहा, 'बताओ, तुम्हें यह रत्न कहाँ से प्राप्त हुए ?' पहिले तो उन्होंने कुछ उल्टी-सीधी बातें बनाईं, किन्तु जब उन्होंने चित्रबाहु के आदेश पर अपने को राजसैनिकों से घिरे पाया तो रोते हुए बोले–

'प्रधान जी ! हमारा अपराध क्षमा कर दें तो हम अभी सब बात बताते हैं।' चित्रबाहु ने कहा कि सत्य कहोगे तो क्षमा कर दिए जाओगे। तब उन्होंने स्वीकार किया कि मार्ग में उस वैश्य से ही यह धन चुराया था। इसके पश्चात् उन्होंने वह धन वैश्य को लौटा दिया।'

चित्रबाहु ने उन चोरों से कहा–'देखो, यह भगवान् गणेश्वर का ही प्रभाव है जो तुम लोग धन लेकर यहाँ खिंचे चले आए हो। यदि सुख-समृद्धि चाहते हो तो चोरी का धन्धा छोड़कर अन्य कार्य में लगो और भगवान् गणाध्यक्ष का व्रत, पूजनादि करो तो तुम्हें सहज ही समस्त धन प्राप्त हो जायेंगे।'

यह सुनकर चोरों ने भविष्य में चोरी न करने की प्रतिज्ञा की और संकल्प किया कि हम उन्हीं विनायक की आराधना करते हुए धर्मपूर्वक जीवन-यापन करेंगे। इस प्रकार वे चोर सदाचारी बनकर भगवान् गणेश्वर की आराधना करने लगे जिससे उन्हें सर्व सुखों की प्राप्ति हुई।

वह वैश्य भी चोरी का धन वापस लौट आने पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और गणेश्वर की पूजा करने लगा।

भगवान् विनायक की कृपा चित्रबाहु पर

सूतजी बोले—हे शौनक ! चित्रबाहु ने गणेश-व्रत का दृढ़ संकल्प किया। किन्तु बाद में पुत्र-प्राप्ति होने पर अपने संकल्प को भूल गया। इस कारण उसपर संकट के मेघ मँडराने लगे और एक दिन सहसा राजा ने किसी कारण कुपित होकर उसका सर्वस्व छीन लिया और देश निकाला दे दिया। इस कारण उनके पास जीवन-यापन का कोई भी साधन नहीं रहा। जब भूखों मरने की नौबत आ गई तो नर्मदा के तट पर भीख माँगने लगा।

तभी एक दिन उसने शुक्रदेव जी का आश्रम देखा तो भीतर जाकर महर्षि को प्रणाम कर बैठ गया। महर्षि ने पूछा—'तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? क्या प्रयोजन है तुम्हारा ?'

यह सुनकर चित्रबाहु ने अपना समस्त वृत्तान्त निवेदन किया और अपने संकट से मुक्त होने का उपाय पूछा।

महर्षि ने कुछ देर ध्यान लगाने के बाद कहा—'वत्स ! तुमने पुत्र-प्राप्ति के लिए भगवान् विनायक के व्रत का संकल्प किया था, जिसे पुत्र उत्पन्न होने पर तुम भूल गये। इसी कारण तुम्हें यह घोर कष्ट भोगना पड़ रहा है। इस स्थिति में छुटकारा पाने के लिए उन्हीं भगवान् विनायक का व्रत और पूजन करो, फिर तुम्हें कोई कष्ट नहीं रहेगा और तुम अपने पूर्व को भी पा लोगे।'

हे शौनक ! शुक्रदेव मुनि की बात सुनकर चित्रबाहु को अपनी भूल पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसने तुरन्त ही विनायक भगवान् के व्रत का संकल्प कर गणेश-चतुर्थी के शुभ दिवस में गणेशजी का भक्तिभाव

से पूजन किया, जिसके प्रभाव से उसे पूर्व पद और वैभव की शीघ्र प्राप्ति हो गई।

१०. दशम अध्याय

पति-परित्यक्ता रानी सुनीता का आख्यान

सूतजी बोले–'हे शौनक! एक दिन फल्गुन नदी के तट पर गणेश-पूजन किया जा रहा था। पूजन करा रहे थे महाज्ञानी एवं वेदज्ञ भार्गव पण्डित। उसी समय उन्होंने देखा कि एक स्त्री वहाँ आकर खड़ी हो गई है। देखने में वह किसी बड़े घर की है, किन्तु मुख पर उदासी और चिन्ता के भाव थे तथा आँखें ऐसी हो रही हैं, जैसे रो चुकी हों।

ऋषि को उसकी दीनता देखकर दया आ गई और वे बोले–'महाभागे! तुम कौन हो और कहाँ से और क्यों आई हो? यदि कुछ अभीष्ट हो तो बताओ। भगवान् विनायक उसे पूर्ण करने में समर्थ हैं।'

उस स्त्री ने रोते हुए कहा–'मुनीश्वर! मैं मालवदेश के महाराज चन्द्रसेन की पत्नी हूँ। यद्यपि महाराज अत्यन्त धर्मज्ञ, नीतिज्ञ और परम बल-वैभव सम्पन्न हैं और मुझपर प्रेम भी बहुत करते थे, किन्तु मेरे कोई सन्तान न होने के कारण उन्होंने मेरी ही अनुमति से दूसरा विवाह कर लिया।

'फिर तो वे उसी के प्रेम में आसक्त रहकर मेरा तिरस्कार करने लगे। मेरी सौत ने तो मुझे दासी से भी बुरी अवस्था में डाल दिया। फिर उसके एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम पद्मसेन रखा गया। उसके समस्त संस्कार विधिवत् हुए और विद्याध्ययन के पश्चात् मद्रदेश की राजकुमारी से उसका विवाह भी हो गया।

हे मुनिनाथ ! फिर मेरे पति समस्त परिवार के सहित गयां में पिण्ड-दानार्थ आये और आज समस्त धर्म-कार्य सम्पन्न होने पर थके होने के कारण पलँग पर सो गये। मैं उनकी सेवाशुश्रूषा में लगी थी तभी मेरी सौत वहाँ आई और उसने मुझे अनेक गालियाँ दीं तथा लात-घूसों से प्रहार किया। तब मैं अपमान न सहन करने के कारण आत्महत्या के विचार से शिविर छोड़कर यहाँ चली आई और नर्मदा में कूदना चाहती थी कि कुछ मन्त्र-ध्वनि सुनकर और पूजनादि होते देखकर यहाँ चली आई। अब आप मुझे यह बतायें कि आप किस देवता का पूजन कर रहे हैं ? क्या इसे करने से मेरा भी दुःख दूर हो सकेगा ?'

महर्षि ने उसकी बात सुनकर करुण दृष्टि से देखते हुए कहा–'रानी ! भगवान् विघ्नेश का पूजन कर रहे हैं। यह प्रभु समस्त विघ्नों को दूर कर सभी अभीष्टों के पूर्ण करने में समर्थ हैं। तुम इन्हीं विघ्नराज का पूजन करोगी तो तुम्हारे कष्ट शीघ्र दूर हो जायेंगे।'

यह कहकर मुनि ने उसे बैठने का संकेत किया और पूजन समाप्त होने पर प्रसाद दिया। तब रानी गणेश-पूजन का संकल्प करके उन्हीं का स्मरण करती हुई अपने स्थान को लौट गई।

रानी सुनीता को सर्वसुख प्राप्ति का वृत्तान्त

शौनक बोले–'हे सूतजी ! फिर उस रानी ने क्या किया ? शिविर में लौटने पर उसका पुनः अपमान तो नहीं हुआ ? उसने गणेश-पूजन किया या नहीं ? यदि किया तो उसका क्या फल हुआ ? यह सब वृत्तान्त मेरे प्रति कहने की कृपा कीजिए।'

सूतजी ने कहा–'शौनक ! रानी सुनीता का अगला वृत्तान्त पार्वती के पूछने पर शिवजी ने इस प्रकार बताया कि रानी अपने शिविर में जाकर सो गई। उसके आत्मघात के लिए जाने आदि का बात का किसी को भी पता न चला। महाराज चन्द्रसेन जब अपने राज्य में लौट आये, तब उनके

विचार ने पलटा खाया और उन्होंने सोचा कि बड़ी रानी को सन्तान नहीं हुई तो इसमें उसका क्या दोष है ? वह तो अब तक अपने पातिव्रत-धर्म का निर्वाह करती चली आ रही है। इसलिए उसके प्रति छोटी रानी का व्यवहार अनुचित और अन्यायपूर्ण है।' ऐसा सोचकर वह रानी सुनीता का आदर करने लगे।

भगवान् गणेश्वर के व्रत-विषयक संकल्प का ऐसा प्रभाव देखकर सुनीता उनका पूजन करने के लिए तत्पर हुई और व्रत रखकर विधिपूर्वक राजगुरु भारद्वाज के द्वारा पूजन-कार्य सम्पन्न कराया। उसने पूजन के लिए महाराज को बुलाया तो उन्होंने छोटी रानी मदनावती को भी सुनीता के भवन में चलने को कहा। किन्तु मदनावती ईर्ष्या के कारण महाराज के साथ न गई और वे अकेले ही वहाँ पहुँचे।

हे शौनक ! रानी सुनीता ने अपने पति को आये देखा तो बड़ी प्रसन्न हुई। उसने इसे गणेशजी की ही कृपा माना। फिर उसने पति के साथ बैठकर भगवान् विघ्नराज का भक्तिभाव से पूजन किया और स्तुति, आरती, प्रदक्षिणादि के पश्चात् महर्षि भारद्वाज और अन्य ब्राह्मणों को भोजन और दक्षिणा से सन्तुष्ट किया।

रानी सुनीता के यहाँ व्रतोत्सव मनाये जाने और पतिदेव के उसमें भाग लेने के कारण रानी मदनावती रुष्ट हो गई और महाराज का भी तिरस्कार कर बैठी। तब तो महाराज उसका साथ छोड़कर रानी सुनीता के भवन में ही रहने लगे।

कालान्तर में गणपति की कृपा से रानी गर्भवती हो गई। अब तो महाराज ने स्वयं ही प्रसन्नता के कारण सुनीता के भवन से श्रीविघ्नेश्वर के पूजन का आयोजन किया और उसमें रानी मदनावती को भी बुलाया, किन्तु वह रुष्ट रहने के कारण नहीं आई।

पूजन के पश्चात् महाराज स्वयं ही प्रसाद देने के लिए रानी मदनावती के महल में गये, किन्तु रानी ने प्रसाद नहीं लिया। राजा अपमानित होकर

बड़ी रानी के भवन में लौट आया। उधर मदनावती कुष्ठिन हो गई, इस कारण राजा ने उसका परित्याग कर दिया।

इधर रानी सुनीता को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। उसका जन्मोत्सव बड़ी ही धूमधाम से मनाया गया तथा उसके जातकर्म आदि सभी संस्कार समय-समय पर कराये जाते रहे और उस प्रसन्नता के कारण पुरोहित, ब्राह्मण, अतिथि आदि को पर्याप्त दान-दक्षिणाएँ दी गईं। बालक का नाम लक्षपद रखा गया।

अब मदनावती अत्यन्त दुःखित थी। जब उसे अन्य कोई उपाय न सूझा तो रानी सुनीता के पास जाकर बोली—'बहिन! मुझ पीड़ित पर कृपा करो, मैं तुम्हारी शरण हूँ।' सुनीता को उसपर दया आ गई और उसने कहा—'बहिन! तुमने भगवान् विघ्नेश्वर का अपमान किया और उनका प्रसाद तक ठुकरा दिया था, इसी कारण तुम्हें इस घोर दुःख की प्राप्ति हुई है। अब तुम उन्हीं भगवान् का व्रत और पूजन करो।'

यह सुनकर उसने संकल्पपूर्वक भगवान् विनायक देव का व्रत और पूजन किया, जिसके प्रभाव से वह रोगमुक्त हो गई और पूर्व सम्मान को प्राप्त कर सकी। अब दोनों रानियाँ बड़े प्रेम से रहने लगीं तथा राजा के साथ गणपति पूजन करती हुई सुखपूर्वक जीवन बिताने लगीं। उस व्रत के प्रभाव से राजा सहित उन्हें गणराज के धाम की प्राप्ति हुई।

११. एकादश अध्याय

देवताओं को वरदराज का दर्शन

सूतजी बोले—'त्रिपुर-विजय के पश्चात् देवताओं ने श्रीगणेशजी का भक्तिभाव से पूजन किया। उसके पश्चात् भी वे समय-समय पर उनकी उपासना करके सिद्धि प्राप्त करते।'

हे शौनक ! एक समय पुनः ऐसा ही अवसर उपस्थित हो गया जब देवताओं से वरदराज रुष्ट हो गये और अपनी भूल ज्ञात होने पर उन्होंने पुनः उनको मनाया।

शौनक ने भक्तिपूर्वक सूतजी के समक्ष मस्तक झुकाया और बोले–'सूतजी ! हे पुराणदेवता पुरुष ! वरदराज की कथा में मुझे बड़ा आनन्द आ रहा है। देवताओं को पुनः किस विघ्न का सामना करना पड़ा और उन्होंने किस प्रकार छुटकारा पाया, वह सब मेरे प्रति कहने की कृपा कीजिए।'

सूतजी बोले–'हे शौनक जी ! वह कथा भी कहता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो। देवगण एक बार गोमती के पवित्र तट पर यज्ञ करने लगे। किन्तु उस यज्ञ में अनेक विघ्न आने लगे। तब उन्होंने भगवान् विष्णु के पास जाकर निवेदन किया–हे बैकुण्ठनाथ ! हमारे यज्ञ में बार-बार विघ्न उपस्थित हो रहा है, उसके निवारण का उपाय बताइए।'

भगवान् विष्णु ने हँसकर कहा–'देवताओ ! तुमने गणेशजी का पूजन नहीं किया होगा, इसलिए वे रुष्ट हो गये होंगे। यदि विघ्नों से बचना है तो सर्वप्रथम उनका पूजन करो और उसके पश्चात् यज्ञ करो। फिर कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा।

भगवान् की बात सुनकर देवगण गोमती तट पर लौट गए और ब्रह्माजी के नेतृत्व में गणपति-पूजन करने लगे। उनके उस पूजन से वरदराज प्रसन्न हुए और उन्होंने देवताओं को साक्षात् दर्शन दिया। देवताओं ने उन्हें देखा तो तुरन्त ही हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे–

"यः सर्वकार्येषु सदासुराणामधीशविष्ण्वम्बुजसम्भवानाम्।
पूज्यो नमस्यः परिचिन्तनीयस्तं विघ्नराजं शरणं व्रजामः॥"

'जिनका सभी देवगण, शिव, विष्णु, ब्रह्मादि भी सब कार्यों में

पूजन, नमस्कार और चिन्तन करते हैं, हम उन्हीं विघ्नराज गणेशजी की शरण लेते हैं। हे गणेश्वर ! आपके समान मनोवांछित फल प्रदान करने वाला अन्य कोई देवता नहीं है। त्रिपुरासुर वध के समय शिवजी ने आपका ही पूजन करके विजय प्राप्त की थी। हे अम्बिकानन्दन ! हमारे इस यज्ञ के विघ्नों को दूर कीजिए।'

देवताओं द्वारा वरदराज के बाल रूप का स्मरण होने के कारण वे उन्हें बाल रूप में ही दिखाई देने लगे। यह देखकर शिवजी ने विनोदपूर्वक कहा—'गणपति ! तुमने बहुत दूध पिया है, फिर लम्बोदर क्यों नहीं हो जाते ?' सबके देखते-देखते वे लम्बोदर और दीर्घकाय हो गए। देवताओं ने पुनः उनकी स्तुति की और अन्त में बोले—'हे लम्बोदर ! हे गणपते ! हम आपकी शरण हैं, हमारे विघ्नों को नष्ट कर दीजिए।'

गणेशजी ने कहा—'देवगण, चिन्ता न करो। अब तुम्हारे यज्ञ में कोई विघ्न उपस्थित न होगा। सभी बाधाओं का अन्त हो चुका है। अपना यज्ञ आरम्भ करो।' यह कहकर वरदराज अन्तर्धान हो गये। देवताओं ने उनकी प्रतिमा स्थापित कर पुनः पूजन किया और पुष्पांजलि आदि द्वारा सन्तुष्ट करके यज्ञानुष्ठान का अभ्यास किया। इस बार उनके यज्ञ में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई।

यज्ञ के निर्विघ्न रूप से सम्पूर्ण होने पर देवताओं को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे हर्ष-विभोर हृदय से विघ्ननाशक वरदराज का जय-जयकार करने लगे।

श्रीराधाजी ने गणपति की पूजा की

शौनकजी बोले—'हे सूतजी ! आपने भगवान् वरदराज के पूजन का यह सुन्दर उपाख्यान सुनाया। इससे मैं बहुत ही आनन्दित हो रहा हूँ। अब इनकी अन्य कथाएँ सुनाने की कृपा कीजिए।'

सूतजी बोले—'हे शौनक जी ! विघ्नराज का पूजन सभी युगों में और सभी विशिष्टजनों द्वारा होता आया है । देखो, एक बार भगवान् श्रीकृष्ण की योगमाया और प्रधान प्रियतमा श्रीराधाजी ने भी उनका पूजन किया था ।'

सूतजी बोले—'देखो शौनक ! सिद्धाश्रम नामक सिद्ध क्षेत्र की महिमा संसार–प्रसिद्ध है । श्रीसनत्कुमार ने वहीं रहकर सिद्धि प्राप्त की थी । स्वयं ब्रह्माजी ने भी वहाँ तपस्या करके इच्छित वर प्राप्त किया था । इन्द्र भी वहाँ तप करके सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं । वहाँ भगवान् गणपति का निवास है ।'

'एक बार वैशाखी पूर्णिमा के पुण्य अवसर पर माता पार्वती और पिता महेश्वर के साथ गणेशजी सिद्धाश्रम में ही थे । उस अवसर पर ब्रह्मादि सभी देवगण, ऋषि-मुनिगण, चारण, सिद्ध-गन्धर्व आदि गणपति पूजन के लिए उपस्थित हुए थे ।

'उसी पुण्य अवसर पर सब प्रमुख द्वारिकावासियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण और ब्रजवासियों के साथ नन्दजी भी वहाँ आये थे । गोलोकवासिनी गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की प्राणवल्लभा श्रीराधाजी भी वहाँ आई थीं । उन्होंने स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण किए तदुपरान्त अपने चरणों को धोया और व्रतोपवास पूर्वक मणि-मण्डप में प्रविष्ट हुईं ।

रासेश्वरी श्रीराधा को भगवान् श्रीकृष्ण की कामना थी—

इसलिए उन्होंने भगवान् की प्राप्ति करने के उद्‌देश्य से गजानन के पूजन का संकल्प लिया । श्रीगणपति का षोड़शोपचारों से पूजन किया तथा इस प्रकार स्तुति करने लगीं—

"खर्वं लम्बोदरं स्थूलं ज्वलन्तं ब्रह्मतेजसा ।
गजवक्त्रं वह्निवर्णमेकदन्तमनन्तकम् ॥

शरणागत दीनार्त परित्राणपरायणम्।
ध्यायेद् ध्यानात्मकं साध्यं भक्तेशं भक्तवत्सलम्॥"

'श्रीगजानन खर्व (लघुकाय), लम्बोदर, स्थूलकाय, ब्रह्मतेज से सम्पन्न, गजमुख, अग्नि के समान कांति वाले, एकदन्त तथा अनन्त हैं। जो शरणागत, दीन तथा आर्त्तजनों के दुःख दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं, उन ध्यानात्मक, साध्य, भक्तों के ईश्वर तथा भक्तवत्सल भगवान् गणपति का ध्यान करना चाहिए।'

इस प्रकार ध्यानादि करके श्रीराधाजी ने विधिवत् पूजन आरम्भ किया। शीतल तीर्थजल, दूर्वा, अक्षत, श्वेत सुरभित पुष्प, चन्दन युक्त सुगन्धित अर्घ्य, धूप, दीप, नैवेद्य, फल, अन्न, मोदक रूप विविध व्यञ्जन, रत्नसिंहासन, वस्त्र, आभूषण, मधुपर्क, ताम्बूल, शय्या आदि सामग्री के समर्पण द्वारा उनका षोड्शोपचार पूजन किया और फिर निम्न मन्त्र का एक हजार बार जप किया–

ॐ गं गं गणपतये विघ्नविनाशिने स्वाहा।

जप करने के पश्चात् उन्होंने दशांश हवन और ब्राह्मण भोजन कराया तथा उसके बाद राधाजी के नेत्र प्रभु वियोग में अश्रुपूर्ण हो गए। उन्होंने गद्गद कण्ठ से गणेशजी का पुनः स्तवन किया–

"परंधाम परंब्रह्म परेशं परमीश्वरम्।
विघ्ननिघ्नकरं शान्तं पुष्टं कान्तमनन्तकम्॥
सुरासुरेन्द्र-सिद्धेन्द्रैः स्तुतं स्तौमि परात्परम्।
सुरपद्मदिनेशं च गणेशं मङ्गलायनम्॥"

'जो भगवान् गणपति परमधामरूप, परमब्रह्म परेश, परमेश्वर, विघ्न- विनाशक, शान्त, पुष्ट, मनोहर और अनन्त हैं, तथा सुर, असुर, सिद्धेश्वर आदि जिनकी स्तुति करते हैं और जो देवतारूप कमल

के लिए सूर्यरूप मंगलों के घर हैं, उन परात्पर श्रीगणेशजी की मैं वन्दना करती हूँ।

इस प्रकार श्रीराधाजी ने विघ्नविनाशक स्तोत्र का उच्चारण करके गणेशजी को प्रणाम किया। तब उनकी स्तुति से प्रसन्न हुए विघ्नविनाशक श्रीगणेशजी प्रकट हो गये और उन्होंने श्रीराधा जी के प्रति कहा–'हे जगज्जननि ! आप स्वयं ही ब्रह्मस्वरूपिणी हैं तथा जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर सदैव निवास करती हैं। वस्तुतः आपके द्वारा किया गया यह पूजन और स्तोत्र तो लोकशिक्षा के लिए हो सकता है। माता ! आपने जो-जो वस्तुएँ मुझे समर्पित की हैं, वे सब ब्राह्मणों को दे दीजिए। क्योंकि उन्हें देने से सभी वस्तुएँ अनन्त हो जाती हैं।'

श्रीगणेशजी का यह निर्देश सुनकर श्रीराधा जी ने वे सभी वस्तुएँ ब्राह्मणों को दे दीं। तत्पश्चात् वरदराज गणेश जी ने भोग लगाया और अभीष्ट पूर्ति का वर प्रदान करते हुए कहा–'माता ! जिस कामना से आपने मेरा पूजन किया है, वह शीघ्र ही पूर्ण होगी।'

इस प्रकार वर देकर श्रीगणेशजी अन्तर्धान हो गये। तब रासेश्वरी ने वहाँ जाकर पुनः वरदराज का पूजन कर अभीष्ट प्राप्त किया। हे शौनक ! तुमने गणेशजी के विषय में पूछा वह मैंने बता दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो ?'

शौनक जी उक्त कथा सुनते हुए अत्यन्त विस्मित और हर्षित हो रहे थे। उन्होंने सूतजी को पुनः प्रणाम किया और गद्गद कंठ से हाथ जोड़कर बोले–'प्रभो ! मुझे उन महामहिम गणेश जी की वह कथा सुनाइए जिसमें उन्होंने चन्द्रमा को शाप दे दिया था।'

|४

१२. द्वादश अध्याय

श्रीगणेशजी द्वारा चन्द्रमा को शाप वर्णन

सूतजी बोले–'शौनकजी ! सुनो, प्राचीन काल की बात है–कैलास-शिखर पर अनेक देव, दिव्य ऋषिगण, सिद्धगणादि के साथ चतुरानन ब्रह्माजी भी एक उच्च आसन पर विराजमान थे। वहीं पर एक अन्य आसन पर भगवान् शंकर भी जगज्जननी उमा के सहित सुशोभित थे। उनके निकट ही गणपति और कुमार कार्तिकेय दोनों ही अन्य बालकों के साथ क्रीड़ा में मग्न हो रहे थे।'

शिवजी के हाथ में एक दिव्य फल था। वे सोच रहे थे कि इसे किसे दिया जाये ? पार्वती जी से पूछा तो वे कभी कहतीं कि गणेश को दे दीजिए और कभी कहतीं-कुमार को देना उचित होगा। जब वे कुछ निश्चयात्मक उत्तर न दे पाईं तो शिवजी ने उसे बाद में विचार करने के उद्देश्य से अपने पास रख लिया।

अब दोनों बालक–गणेश और कुमार उस फल की माँग करने लगे। जब उनका अधिक आग्रह बढ़ा तब शिवजी ने ब्रह्मा जी से पूछा–'ब्रह्मन् ! यह अपूर्व फल देवर्षि नारदजी दे गये थे। इसे यह दोनों बालक माँग रहे हैं। फल एक ही है और आधा फल कोई लेना नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में आप ही निर्णय कीजिए कि यह इनमें से किसे दिया जाय ?'

चतुरानन विचार कर बोले–'यदि फल एक ही है तो नियमानुसार कुमार को दिया जाना चाहिए। क्योंकि किसी भी वस्तु पर बड़े बालक का अधिकार पहिले पहुँचता है।'

ब्रह्माजी की बात सुनकर शिवजी ने वह फल कुमार को दे दिया। यह देखकर गणपति रुष्ट हो गये, विशेष कर उनका क्रोध चतुरानन पर ही था कि उन्होंने ऐसी व्यवस्था क्यों दे डाली ?

सभा समाप्त हुई। सभी देवता आदि उठ-उठ कर अपने-अपने स्थानों को चले गये। ब्रह्माजी भी अपने लोक में जा पहुँचे। वहाँ उन्हें सृष्टि का आरम्भ करना था। किन्तु, जैसे ही वे सर्गरचना में लगे, वैसे ही गणेश्वर ने विघ्न उपस्थित कर दिया। उस समय उन्होंने प्रकट होकर अपना अत्यन्त उग्र रूप दिखाया। उनके उस रूप को देखकर ब्रह्माजी डर के कारण काँपने लगे।

चन्द्रमा ने देखा कि गणपति के उग्ररूप को देखकर ब्रह्माजी भय से काँप रहे हैं, तो उसे हँसी आ गई। उसके साथ ही चन्द्रमा के जो गण उस दृश्य को देख रहे थे, वे भी हँस पड़े। यह देखकर भगवान् गजानन को क्रोध आ गया और वे चन्द्रमा को शाप देते हुए बोले–'मयङ्क ! तूने इस समय मेरी हँसी उड़ाकर जो अभद्रता प्रदर्शित की है, उसका फल तुझे मिलना ही चाहिए। जा तू किसी के भी देखने के योग्य नहीं रहेगा और यदि कोई भूल से भी देख लेगा तो अवश्य ही पाप का भागी होगा।'

इतना कहकर गजमुख अन्तर्धान हो गये। उनका शाप प्राप्त होते ही चन्द्रमा श्रीहत मलिन एवं दीन हो गया। उनके तेज में अत्यन्त न्यूनता आ गई। इससे वह बहुत व्याकुल हुआ और खिन्नतापूर्वक पश्चात्ताप करने लगा–'देखो ! मैं कैसी मूर्खता कर बैठा, उन जगदीश्वर के साथ। वे प्रभु तो अणिमादि गुणों से सम्पन्न, संसार के कारण के भी कारण एवं महाप्रभु हैं। उनके रुष्ट होने से मैं अदर्शनीय एवं कलाहीन हो गया हूँ। अब इससे छुटकारा पाने के लिए क्या करूँ ?'

जब चन्द्रमा की समझ में कोई उपाय नहीं आया तो वह तुरन्त ही देवराज इन्द्र के पास गया। परन्तु इन्द्रादि देवता भी उसे नहीं देखना चाहते थे। उन सभी ने अपनी-अपनी आँखें झुका लीं। तब इन्द्र ने भी उसकी ओर न देखते हुए ही पूछा–'अरे, चन्द्रमा ! तुम्हारी यह दशा कैसे हुई ? क्या गजकर्ण के शाप का ही प्रभाव है यह ? सब बात स्पष्ट कहो।"

चन्द्रमा बोला–'देवराज ! आपसे क्या छिपा है ! सब कुछ जानते हुए

भी अनजान बनकर क्यों पूछ रहे हो ? सहस्त्राक्ष ! अब शीघ्र ही मेरे शाप-मुक्त होने के यत्न करो, अन्यथा समस्त संसार ही मेरे शापित होने से अशुभ फल भोगेगा।'

इन्द्र ने सान्त्वना दी और बोले–'चलो ब्रह्माजी से ही इसका उपाय पूछें। क्योंकि उनके समान ज्ञानी और सर्व लोकोपकारी अन्य कोई भी नहीं है।'

सब देवता उसके साथ ब्रह्मलोक पहुँचे। आगे-आगे चन्द्रमा और पीछे-पीछे इन्द्र के नेतृत्व में सब देवगण। ब्रह्माजी ने जब यह जाना कि चन्द्रमा आ रहा है तो पाप लगने के भय से उन्होंने भी दृष्टि नीची कर ली और बोले–'कहो सुधांशु ! यहाँ किस अभिप्राय से आना हुआ ? अरे, तुम्हारे पीछे तो देवराज इन्द्र और समस्त सुरगण ही चले आ रहे हैं !'

ब्रह्माजी के प्रश्न का उत्तर सुरपति ने ही दिया। वे बोले–'ब्रह्मन् ! भगवान् गणेश्वर आप पर कुपित हुए थे और शाप दे बैठे चन्द्रमा को। इसलिए अब आप ही इसे छुड़ाने का कुछ उपाय कीजिए। हम सभी देवता इसी प्रयोजन से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं।'

चतुरानन ने कुछ विचार कर कहा–'उन्हीं गणेश्वर प्रभु की शरण लेनी होगी, देवराज ! चन्द्रमा को आगे रखकर उन्हीं का पूजन एवं स्तवन करो।'

चन्द्रमा के ऊपर गणेश्वर की कृपा

ब्रह्माजी की बात सुनकर भगवान् गजानन के पूजन की तैयारी की गई। गणेश्वर की प्रतिमा बनाकर षोड़शोपचार पूजन एवं भावनापूर्वक स्तुति कर निवेदन किया गया–'प्रभो ! इस चन्द्रमा पर कृपा कीजिए, उस समय यह अज्ञानवश हँस पड़ा था, किन्तु अब इसे अपनी मूर्खता का ज्ञान हो गया है नाथ !'

देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् गणेश्वर प्रकट हो गए। सभी ने उनका अद्भुत रूप देखकर उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। तब गणपति प्रसन्न होकर बोले—'देवगण ! मैं सन्तुष्ट हूँ, अतएव जो चाहो वह अभीष्ट वर माँग लो।'

चन्द्रमा ने उनके चरणों में मस्तक रख दिया और अश्रुजल से पदारविन्दों को धोने लगा। गणेश्वर बोले—'उठ, उठ ! चन्द्रमा ! अब संताप न कर, मैं तुझपर प्रसन्न हूँ।'

चन्द्रमा ने कहा—'प्रभो ! मुझे शाप-मुक्त कीजिए। मेरी कांति नष्ट हो गई है उसे लौटा दीजिए। मैं अदर्शनीय से दर्शनीय हो जाऊँ नाथ ! मेरे अपराध को क्षमा कर दीजिए भक्तवत्सल।'

गजकर्ण बोले—'अच्छा, बोल तुझे एक वर्ष, छः मास अथवा तीन मास के लिए अदर्शनीय रहने दिया जाय अथवा कुछ और चाहता है ? शीघ्र ही स्पष्ट बता।'

चन्द्रमा ने कहा—'प्रभो ! मुझे बहुत दण्ड मिल गया है। अब तो क्षमा कर दीजिए।' यह कहकर उसने पुनः दण्डवत् प्रणाम किया तथा सब देवता भी उनके चरणों में झुक गये।

गणेश्वर ने मुस्कराते हुए कहा—'मैं अपने वचन को मिथ्या कैसे करूँ ? चाहे सूर्य और सुमेरु अपना स्थान त्याग दें, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे अथवा अग्नि शीतल हो जाये, किन्तु मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता। फिर भी मैं तुम्हें वर्ष में एक ही दिन के लिए शापित रखूँगा तथा—

"भाद्रशुक्लचतुर्थ्यां यो ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।
अभिशापो भवेच्चन्द्र-दर्शनाद् भृशदुःखभाक् ॥"

'जाने या अनजाने में भी जो कोई भाद्रपदशुक्ल चतुर्थी को चन्द्रमा को देखेगा वही अभिशप्त होगा और वही अधिक दुःख का भागी होगा इसमें कोई सन्देह नहीं।'

भगवान् हेरम्ब के इन कृपापूर्ण वचनों को सुनकर चन्द्रमा बहुत प्रसन्न हुआ तथा समस्त देवगण भी उनका जय-जयकार करने लगे। चन्द्रमा ने पुनः निवेदन किया–'प्रभो ! भविष्य में मुझसे इस प्रकार की मूर्खता न हो और मेरा चित्त आपके चरण-कमलों के स्मरण में लगा रहे, ऐसा वर मुझे प्रदान करें।'

गणेश्वर ने प्रसन्न होकर कहा–'ऐसा ही होगा। परन्तु मेरे एकाक्षरी मन्त्र 'गं' का जप करते रहना। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और तब समस्त देवता स्वर्गलोक को गये तथा चन्द्रमा भी अपने लोक में जा पहुँचा।

चन्द्रमा ने बारह वर्ष तक तपश्चर्या की और गणेश्वर के एकाक्षरी मन्त्र 'गं' का निरन्तर जप करते रहे। पवित्र जाह्नवी के तट पर भक्तिपूर्वक, एकाग्र मन से उनका यह तप चलता रहा था। तभी सहसा एक दिन वे परम प्रभु चन्द्रमा के समक्ष प्रकट हो गए। इस समय उनकी रूप-छटा देखकर निशापति अवाक् रह गया। उसके चित्त में आश्चर्य मिश्रित भय की अवतारणा हुई। किन्तु शीघ्र ही उसे निश्चय हो गया कि वह साक्षात् आदिदेव भगवान् गजानन ही हैं, तो वह हाथ जोड़कर प्रणाम करता हुआ उनकी स्तुति करने लगा–

"नमामि देवं द्विरदाननं तं यः सर्वविघ्नं हरते जनानाम्।
धर्मार्थकामांस्तनुतेऽखिलानां तस्मै नमो विघ्नविनाशनाय॥"

'मैं उन दो दाँतों से युक्त परमेश्वर को नमस्कार करता हूँ, जो अपने भक्तों के सभी विघ्नों का हरण करते तथा सभी के लिए धर्म, अर्थ और काम को प्रशस्त करते हैं। उन विघ्न-विनाशक परमात्मा गजानन को नमस्कार है। हे प्रभो ! मैंने अज्ञानवश जो अपराध किया था, उसे क्षमा करके मुझे मेरा पूर्व रूप प्रदान कीजिए। हे नाथ ! आप ही मुझे मेरा यह रूप प्राप्त करा सकते हैं। हे दयानिधान! आप सभी देवताओं के

अधीश्वर, नित्य बोध स्वरूप एवं सत्य हैं। समस्त वेद आपके ही स्वरूप हैं तथा आपके द्वारा ही उनका प्रतिपादन हुआ है। हे देव! यह ज.त् आपका ही स्वरूप है तथा आप ही साक्षात् परब्रह्म हैं।'

हे कृपानिधि! विश्व की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के भी आप ही एकमात्र कारण हैं। आपका तिरस्कार कोई नहीं कर सकता।'

भगवान् गजकर्ण ने चन्द्रमा की ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देखा और मधुर मुस्कान बिखेरते हुए बोले—'सुधांशु! यह तो मैं पहिले ही कह चुका था कि तुम प्रत्येक वर्ष केवल एक दिन के लिए ही अदर्शनीय रहोगे। उस दिन तुम्हें जो कोई भी जाने-अनजाने देख लेगा वही बस अभिशाप का भागी बनेगा। इस प्रकार तुम्हारी निस्तेजस्विता को ऐसे ही लोग बाँट लेंगे।

'कृष्णपक्ष की चतुर्थी में जो व्रत किया जाय, उसमें तुम्हारा उदय होने पर व्रत करने वाले वे लोग यदि मेरी और तुम्हारी यत्नपूर्वक पूजा करेंगे तो भी उस व्रत का फल लाभ होगा। उस दिन तुम्हारा दर्शन अवश्य करना चाहिए, अन्यथा व्रत का फल नहीं होगा।'

'चन्द्रदेव! तुम अब भविष्य में अपने एक अंश से मेरे मस्तक में विद्यमान हो जाओ। इससे मुझे तो प्रसन्नता होगी ही, तुम्हारी भी शोभा होगी। प्रत्येक मास की शुक्लपक्ष की द्वितीया में तुम्हारे दर्शन का बड़ा महत्त्व रहेगा तथा उस दिन अधिकांश स्त्री-पुरुष तुम्हारे दर्शन का पुण्य-लाभ करते हुए तुम्हें नमस्कार किया करेंगे। मैं वर देता हूँ कि अब तुम पूर्ववत् तेजस्वी, सुन्दर एवं वन्दनीय हो जाओ।'

'शौनक! इस प्रकार वर देकर भगवान् गजानन अन्तर्हित हो गये तथा चन्द्रमा अपना पूर्व तेज प्राप्त करके प्रसन्न हो गया। इस प्रकार भगवान् गजकर्ण का यह अत्यन्त महिमायुक्त उपाख्यान मैंने तुम्हें सुना दिया। बोलो, अब और क्या सुनना चाहते हो?'

❀❀❀

द्वितीय खण्ड

१. प्रथम अध्याय

१९

गणपति का चरित्र कथन कल्पभेद से

शौनक जी ने निवेदन किया–'भगवान् सूतजी ! कल्पभेद से श्रीगणेश्वर के अनेकानेक चरित्र कहे जाते हैं। आप उन सभी के पूर्ण ज्ञाता एवं वर्णन करने में समर्थ हैं। हे प्रभो ! मैं उन चरित्रों को विस्तार सहित सुनना चाहता हूँ। इसलिए ऐसी कृपा कीजिए कि मैं उनका श्रवणानन्द प्राप्त कर सकूँ।'

सूतजी बोले–'शौनक ! तुम धन्य हो, जो भगवान् विनायक के चरित्र श्रवण में इतने उत्सुक हो रहे हो। मैं तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा। अब मैं श्वेतकल्प में हुई गणेशोत्पत्ति की कथा तुम्हें सुनाता हूँ–ध्यान से सुनो।'

'भगवती पार्वती की दो सखियाँ थीं : जया और विजया। वे दोनों अत्यन्त रूपवती, गुणवती, विवेकमयी और मधुरहासिनी थीं, पार्वती उनका बहुत आदर करती थीं। एक दिन उन सखियों ने उनसे निवेदन किया–'सखि ! अपना कोई गण नहीं है, इसलिए एक गण तो अवश्य होना ही चाहिए।'

उमा ने आश्चर्यपूर्वक कहा–'क्या कह रही हो सखियो ? हमारे पास करोड़ों गण हैं, जो तुरन्त आज्ञा पालन में तत्पर रहते हैं। फिर किसी अन्य गण की क्या आवश्यकता है ?'

सखियों ने कहा–'सभी गण आशुतोष भगवान् के हैं। उन्हीं की आज्ञा उनके लिए प्रमुख है। नन्दी, भृङ्गी आदि गण जो हमारे कहलाते हैं, वे भी भगवान् की आज्ञा ही सर्वोपरि मानते हैं। यदि आप कोई आदेश

दें और शिवजी उसकी उपेक्षा करें तो आपके आदेश को कोई भी गण नहीं मानेगा। आप पूछेंगी तो अवश्य ही कोई बहाना बना दिया जायेगा।'

पार्वती ने कुछ सोचा और फिर कहा–'और यह असंख्य प्रमथगण, क्या इनमें भी कोई मेरी आज्ञा की उपेक्षा कर सकता है?'

सखियाँ बोलीं–'प्रमथगण में तो कोई हमारा है ही नहीं, वे सभी भगवान् रुद्र के व्यक्तिगत सैनिक हैं। शिवजी की अनन्यता के कारण ही वे शिवजी की आज्ञा से हमारी रक्षा करने और हमारे कार्यकलापों पर दृष्टि रखने के उद्देश्य से ही नियुक्त हैं इसलिए कृपा कर अपने लिए भी एक व्यक्तिगत गण की रचना अवश्य कीजिए।'

पार्वती ने उनका सुझाव स्वीकार तो कर लिया, किन्तु कार्यरूप में अभी परिणत नहीं किया था। बात वहीं की वहीं रह गयी और कुछ दिन बीतते वे उसे भूल गयीं।

एक दिन प्रातःकाल का समय था। पार्वती जी स्नानागार में स्नान करने जा रही थीं, उन्होंने नन्दी को आदेश दिया–'कोई आवे तो उसे रोक देना।' और तब वे भीतर चली गईं।

तभी भगवान् शङ्कर कहीं से आकर भीतर प्रविष्ट होने लगे। नन्दीश्वर ने उन्हें रोकते हुए निवेदन किया–'अभी माता जी स्नान कर रही हैं, इसलिए यहीं ठहरने की कृपा करें।'

शिवजी बोले–'अरे, करने दे स्नान, मुझे एक आवश्यक कार्य है तो यहाँ कैसे रुका रहूँ?' यह कहते हुए लीलावपु परम-शिव नन्दी के वचनों की उपेक्षा कर सीधे स्नानागार में जा पहुँचे।

गणेश्वर गणपति की प्राकट्य-कथा

भगवान् आशुतोष को शीघ्रता से आये देखकर स्नान करती हुई जगज्जननी लज्जावश अत्यन्त सिमट गईं। शिवजी भी बिना कुछ कहे

चले गये। इधर पार्वतीजी स्नानोपरान्त वस्त्र धारण करती हुई सोचने लगीं—जया-विजया का सुझाव उचित ही था। मैंने व्यर्थ ही उसकी उपेक्षा की। यदि द्वार पर मेरा कोई निजी गण उपस्थित होता तो शिवजी को स्नानागार में सहज ही नहीं आने देता!

नन्दी ने मेरे वचनों की उपेक्षा की। इससे प्रतीत होता है कि इन गणों पर मेरा पूरा अधिकार नहीं है। इसलिए मेरा निजी गण अवश्य होना चाहिए। क्योंकि वह पूर्ण रूप से मेरी आज्ञा में रहेगा। अब जो गण हैं, वे शिवजी की आज्ञा से ही मेरी आज्ञा मानते हैं, किन्तु मेरा निजीगण मेरी आज्ञा से ही उनकी आज्ञा मानेगा।

ऐसा विचार कर उन्होंने अपने अत्यन्त पवित्र देह की मैल उतारीं और उससे एक चेतन पुरुष की रचना कर डालीं—

"सर्वावयवनिर्दोषं सर्वावयव-सुन्दरम्।
विशालं सर्वशोभाढ्यं महाबलपराक्रमम्॥"

'वह पुरुष सभी शुभ लक्षणों से सम्पन्न, समस्त अवयवों से दोष रहित, अत्यन्त सुन्दर अङ्ग वाला, विशालकाय, अद्भुत शोभामय और महाबली एवं पराक्रमी था।'

पार्वती जी ने तुरन्त ही अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्राभूषण धारण कराये और शुभ आशीर्वाद देती हुई बोलीं—

'वत्स! तू मेरा ही पुत्र है, मेरा हृदय-रूप होने के कारण मेरा ही है। तुझसे अधिक प्रिय अन्य कोई नहीं है।'

तब उस पुरुष ने अत्यन्त आदरपूर्वक जगज्जननी के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर बोला—'जननी! मैं आपका ही हूँ, आपका ही रहूँगा। सदैव आपकी आज्ञा पालन करूँगा। अब आपकी क्या इच्छा है, उस विषय में आदेश दीजिए। आपके द्वारा निर्दिष्ट प्रत्येक कार्य करने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ।'

पार्वती बोलीं—'पुत्र ! तुम्हें मेरी आज्ञा से भिन्न किसी की भी आज्ञा नहीं माननी है । तुम मेरे द्वारपाल रूप में रहो और कोई भी कहीं से भी आया हो, उसे मेरे अन्तःपुर में तब तक न आने दो जब तक मेरा आदेश प्राप्त न कर लो । इस विषय में तुम्हें सदैव सतर्क रहना होगा ।'

२. द्वितीय अध्याय

गणपति का शिवगण से युद्ध वर्णन

यह कहकर पार्वती जी ने अपने पुत्र के मस्तक पर हाथ फेरा और उसके हाथ में एक दिव्य छड़ी दे दी । इस समय वह अत्यन्त सुन्दर और शोभा सम्पन्न प्रतीत हो रहा था, इसलिए पार्वती जी उसे देखकर आनन्द में अत्यन्त निमग्न हो गयीं । फिर उसको दुलारकर द्वार पर नियुक्त कर दिया ।

बालक गणेश छड़ी लिये हुए द्वार पर डट गये । इधर पार्वती जी अपनी सखियों सहित स्नानागार में जाकर स्नान करने लगीं । इसी समय द्वार पर उनका निजी द्वारपाल नियुक्त था, इसलिए किसी के आने की उन्हें चिन्ता नहीं थी ।

तभी भगवान् भूतभावन द्वार पर पधारे और शीघ्रता से भीतर प्रविष्ट होने लगे । उन्हें यह भी ध्यान नहीं था कि द्वार पर कोई शिवगण नहीं, पार्वती-पुत्र खड़ा है । वे उनसे परिचित भी नहीं थे, इसलिए समझा—अपने गणों में कोई खड़ा होगा ।

शिवजी को गृह में प्रविष्ट होने की चेष्टा करते देखकर गणपति ने उन्हें रोकते हुए पूछा—'देव, यह माता पार्वती जी का निजी भवन है । इसमें

प्रवेश के लिए उनकी आज्ञा लेना अनिवार्य है। आप बिना आज्ञा कहाँ जा रहे हैं ?'

तब चन्द्रमौलि का ध्यान उसकी ओर गया और वे बोले–'मूर्ख! तू कौन है ? किसे रोकने की चेष्टा करता है ? हट आगे से, मुझे भीतर जाने दे।'

गणेश ने कहा–'माताजी स्नान कर रही हैं, जब वे वस्त्रादि धारण कर लें तभी उनसे आपके भीतर जाने सम्बन्धी आज्ञा ली जा सकेगी। तब तक आप यहीं कहीं ठहर जायें अथवा पुनः आने का कष्ट करें।'

त्रिलोचन को व्यवधान अच्छा न लगा, बोले–'अरे, तू मुझे जानता नहीं, पार्वती का स्वामी और तीनों लोकों का ईश्वर साक्षात् शिव हूँ। अतएव मार्ग छोड़कर खड़ा हो।'

गणपति ने मार्ग पूर्णरूप से रोक लिया और बोले–'देव ! आप कोई भी क्यों न हों, जब तक माताजी की आज्ञा न होगी तब तक आपको भीतर नहीं जाने दूँगा।'

यह कहकर बालक ने हाथ की छड़ी आड़ी कर ली। शिवजी को उसकी दृढ़ता देखकर आश्चर्य हुआ, बोले–'तू तो अत्यन्त बुद्धिहीन प्रतीत होता है रे! तू कौन है जो मुझे मेरे ही घर में जाने से रोकता है ? अब तू तुरन्त ही मार्ग छोड़कर दूर हो जा।'

यह कहते हुए शिवजी ने पुनः भीतर जाने का उपक्रम किया। किन्तु मातृभक्त गणेश ने उन्हें पुनः छड़ी से रोक दिया। यह देखकर शिवजी को बड़ा क्रोध आया, किन्तु अपने क्रोध को दबाकर वे वहाँ से एक ओर हटकर सोचने लगे–यह है कौन जो मेरे मार्ग को रोके हुए खड़ा है ? इस जानकारी के लिए गणों को इसके पास भेजना चाहिए।

उन्होंने गणों को आज्ञा दी–'तुम लोग उस बालक से पूछो कि वह कौन है ? कब कहाँ से आ गया और किसके आदेश से द्वार-रक्षक के रूप में खड़ा है ?'

शिवगणों ने पार्वती-पुत्र के पास जाकर वही प्रश्न दुहरा दिये। साथ ही बोले–'देखने में तुम बहुत ही सुन्दर और कोमल शरीर के बालक हो। बड़ों की आज्ञा मानने में ही बालक का कल्याण निहित है। अतः यहाँ से तुरन्त चले जाओ।'

पार्वतीनन्दन ने भी वही प्रश्न किया–तुम लोग कौन हो? कहाँ से आये हो और मुझे अकारण ही छेड़ने का प्रयोजन क्या है? अधिकारी पुरुषों की आज्ञा मानने में ही सेवकों का कल्याण निहित है। इसलिए तुम अविलम्ब यहाँ से चले जाने की कृपा करो।'

गणपति की बात सुनकर शिवगणों को हँसी आ गई, बोले–'तुम बड़े विचित्र जीव हो, हमने जो कहा वही तुमने कह दिया।' फिर कुछ कठोर होकर बोले–'तुम्हारा भला इसी में है कि यहाँ से अन्यत्र चले जाओ। पार्वतीपति भगवान् शङ्कर की यही आज्ञा है। अभी तक तुम्हें अपने ही समान गण समझकर हमने कोई कठोर व्यवहार तुम्हारे साथ नहीं किया है, यदि नहीं मानोगे तो तुम्हें मारने के लिए विवश होना पड़ेगा।'

गणेश भी हँस पड़े, बोले–'मैं माता पार्वती का पुत्र हूँ, उन्हीं ने मुझे इस स्थान पर नियुक्त किया है और आदेश दिया है कि मेरी आज्ञा के बिना किसी को भी भीतर न आने देना। यदि तुम अपने स्वामी की आज्ञा से मुझे हटाना चाहते हो तो मैं अपनी माता की आज्ञा के कारण यहाँ से नहीं हट सकता। तुम और तुम्हारे स्वामी चाहें तो यहाँ खड़े रह सकते हैं, किन्तु भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकते।'

शिवगण समझ गये कि यह महाशक्ति का अत्यन्त शक्तिमान् पुत्र है, इसलिए यह अपने स्थान से विचलित नहीं होगा। अतएव शिवगण लौटकर अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए और प्रणाम कर बोले–'भूतनाथ! यह बालक तो माता पार्वतीजी का पुत्र है और उन्हीं की आज्ञा से द्वार रोककर खड़ा है। हमने अधिक कहा तो वह युद्ध के लिए प्रस्तुत-सा प्रतीत हुआ।'

शिवजी कुपित हो गये, बोले–'अरे, कहाँ एक छोटा बालक और कहाँ तुम अत्यन्त शक्तिशाली गण ! फिर भी तुम उसकी हठ का निवारण न कर सके ? यदि वह इतना दुराग्रही है तो उसे बल प्रयोग द्वारा द्वार से हटा दो। यदि युद्ध भी करना पड़े तो कर सकते हो।'

गणों ने शिवजी को प्रणाम किया और पुनः भवन-द्वार की ओर चले। इस बार उन सबने अपने हाथों में विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र ले रखे थे। उन्हें अपनी ओर आते देखकर गणेशजी उनकी ओर तनकर खड़े हो गए।

शिवगणों ने उन्हें पुनः चेतावनी दी–'बालक ! तुम कोई भी हो, अब तुम्हें तुरन्त हटना होगा, अन्यथा तुम अकारण ही मृत्युमुख में जा पहुँचोगे। क्योंकि हमें भगवान् शिव की आज्ञा का पालन करना अनिवार्य है।'

गणपति ने भी निर्भीकता से उत्तर दिया–'शिवाज्ञा-पालक गणो ! तुम बहुत हो और मैं अकेला ही शिवा की आज्ञा के पालन में तत्पर हूँ, फिर भी माता पार्वती जी अपने पुत्र की और भूतभावन भगवान् शङ्कर अपने गणों की शक्ति को स्वयं देख लें। अब शिव-शिवा के पृथक्-पृथक् पक्ष से क्रमशः निर्बल अकेले बालक का और बलवान् शिवगणों का युद्ध आरम्भ होने को है। हे शिवगणो ! आपने तो पहिले ही अनेक बार युद्ध किया होगा, इसलिए युद्ध में दक्ष होंगे, किन्तु मैं तो अभी युद्ध-कला से ही अनभिज्ञ हूँ। इसपर भी शिव-शिवा के इस विवाद में तुम्हें पराजय का सामना करना पड़ेगा। परन्तु ध्यान रहे कि यह हार-जीत तुम्हारी-हमारी नहीं, वरन् जगदम्बा-जगदीश्वर की होगी।'

बालक की बात सुनकर शिवगणों को क्रोध आ गया और तब नन्दी, भृङ्गी आदि शिवगणों ने उनपर प्रहार आरम्भ कर दिया। गणेश जी भी

क्रुद्ध होकर छड़ी से ही कठोर प्रहार करने लगे। दोनों में घोर युद्ध होने लगा। एक ओर अकेले बाल गणेश और दूसरी ओर अनेकों, दुर्धर्ष वीर शिवगण ! किन्तु, कुछ देर में ही शिवगण व्याकुल हो उठे। महाशक्ति के शक्तिमान् पुत्र इस समय बहुत भयंकर हो उठे–

"कल्पान्तकरणे कालो दृश्यते च भयङ्करः।
यथा तथैव दृष्टः स सर्वेषां प्रलयङ्करः॥"

'जिस प्रकार प्रलय के अन्त में काल अत्यन्त भयंकर दिखाई देता है, उसी प्रकार पार्वतीनन्दन भी उस समय समस्त शिवगण को प्रलयंकारी दिखाई देते थे।'

परास्त होकर शिवगणों का भागना

इस प्रकार रूप देखकर और युद्ध में पूर्ण रूप से परास्त होकर शिवगण प्राण बचाकर भागे। उधर पार्वतीवल्लभ अपने स्थान पर बैठे हुए ही यह सब देख रहे थे। तभी देवर्षि नारद से शिवापुत्र और शिवगणों के युद्ध का समाचार पाकर ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता वहाँ आकर शिवजी की स्तुति करते हुए बोले–'भूतभावन ! भूतनाथ ! इस समय यह कौन लीला चल रही है ? यदि हमारे करने योग्य कोई कार्य हो तो आज्ञा कीजिए।'

शिवजी बोले–'क्या कहूँ ? मेरे भवन के द्वार पर छड़ी हाथ में लिये एक बालक मार्ग रोके हुए स्थित है। वह मुझे घर में नहीं घुसने देता। उसके प्रहारों से पीड़ित हुए मेरे सभी पार्षद और गण वहाँ से भाग खड़े हुए हैं। उनमें से अनेक के अङ्ग भङ्ग हो गये, अनेक वहीं गिरकर ढेर हो गये तथा अनेकों के शरीर से रक्त प्रवाहित हो रहा है। अब आप लोग स्वयं सोचें कि इस स्थिति में क्या कर्त्तव्य हो सकता है ?'

भगवान् विष्णु को उधर जाते देखकर शिवगणों ने उन्हें प्रणाम

किया—'कमलासन ! भगवती उमा के प्रबल प्रतापी पुत्र ने हमारी यह दुर्दशा कर डाली है। उसे वश में करना सरल कार्य नहीं है।'

किन्तु विष्णु ने विप्रवेश बनाया और ब्रह्माजी को साथ लेकर पार्वतीनन्दन के पास गये। उन्हें देखते ही गणपति ने अपनी छड़ी उठा ली तो भगवान् विष्णु बोले—'मैं तो शान्त ब्राह्मण हूँ, मेरे पास कोई शस्त्र नहीं है। इसी से समझ लो कि मैं युद्ध करने के उद्देश्य से नहीं आया हूँ।'

तभी ब्रह्माजी बोले—'मैं तो साक्षात् कमलोद्भव हूँ। मेरे साथ तो कृपापूर्ण व्यवहार ही होना चाहिए।'

गणेश बोले—'बस, यही कृपा है कि आपको चुपचाप चले जाने दे रहा हूँ। आप शान्तप्रिय लोग, इस समय बने हुए इस रणक्षेत्र से तुरन्त चले जायें।'

और ब्रह्मा-विष्णु चुपचाप वहाँ से हट गये। तभी गणों ने भगवान् शंकर के चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया—'प्रभो ! वह बालक तो हमें प्रलयाग्नि के समान भस्म करने को तत्पर प्रतीत होता है। उससे युद्ध करना कोई सरल कार्य नहीं है।'

शिवजी के नेत्र लाल हो गये, उन्होंने इन्द्रादि देवताओं और षडाननादि प्रमुख गणों तथा भूत-प्रेत-पिशाच को बुलाकर क्रोध-पूर्वक आज्ञा दी—'जैसे भी हो उस बालक को वश में करो। मेरे ही घर के द्वार पर बैठ कर वह बालक मुझपर ही शासन करे, यह कैसे सहन हो सकता है ?'

शिवजी का आदेश मिलते ही समस्त देवता, वीरवर कार्तिकेय, सभी शिवगण और भूत-प्रेत-पिशाचादि ने विभिन्न प्रकार के तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र हाथों में लिये और पार्वतीनन्दन के पास जाकर उन्हें घेर लिया। उनके चारों ओर दुर्धर्ष दिव्यकर्मा देवगण और अन्यान्य पराक्रमी वीर खड़े थे। गणपति उनके मध्य में अकेले थे।

किन्तु वे उस महाशक्ति के पुत्र थे, जिसकी समता अन्य कोई शक्ति

कर नहीं सकती थी। चारों ओर एक साथ होने वाले प्रहार से भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने शत्रुओं के सभी प्रहारों को देखते-देखते निष्फल कर दिया। कोई भी आयुध उनका कुछ भी बिगाड़ने में सफल नहीं था। महावीर गणपति ने सभी देवताओं, शिवगणों, भूत-प्रेत-पिशाचों को अपने प्रहारों से पीछे हटा दिया और सभी को विह्वल कर दिया।

समस्त शत्रुसेना भाग खड़ी हुई। उनकी वही दशा हुई जो पहिले भेजे हुए शिवगणों की हुई थी। गणेशजी जिधर भी प्रहार कर बैठते उधर ही काई-सी फट जाती। उधर ही रक्त की नदी-सी बहने लगती। उधर ही कटे अङ्ग के ढेर सारे रक्त की धार में बहते हुए अवयव दिखाई देने लगते।

देवराज इन्द्र का वज्र व्यर्थ हो गया, तारकासुर का वध करने वाले कार्तिक के आयुध निष्फल हो चुके! अकेले बालक ने ऐसा भीषण संहार कर डाला, यह एक अनहोनी घटना थी! सभी देवगणादि आश्चर्यचकित हो गये थे!

३. तृतीय अध्याय

शिवा द्वारा महाशक्तियों का प्राकट्य वर्णन

महाशक्तिमयी शिवा ने सुना कि अकेले शिवानन्दन पर असंख्य वीरों ने शस्त्र प्रहार किए और वह बालक अकेला ही अविचल भाव से उन सबका सामना कर रहा है तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठीं।

उन्होंने सोचा–'एक छोटे से बालक पर ऐसा अत्याचार? उस निष्ठावान् वीर-पुत्र की मुझे अवश्य ही सहायता करनी चाहिए।'

ऐसा निश्चय कर उन्होंने तुरन्त ही दो महाशक्तियों को प्रकट किया। उनमें से एक काजल के पर्वत जैसी विशालकाय भयंकर एवं खुले हुए मुख विवर वाली तथा दूसरी विद्युत के समान जाज्वल्यमयी थी। उनकी अनेक भुजाएँ थीं। शिवा ने उन्हें आज्ञा दी-'जाओ, द्वार पर गणेश की सहायता करो।'

महाशक्तियाँ चल पड़ीं। उस समय तक देवगणादि पुनः संगठित होकर पुनः आ डटे थे। यह देखकर दोनों शक्तियाँ सक्रिय हो गईं तथा प्रथम शक्ति देवगणादि द्वारा छोड़े गये आयुधों को अपने मुख में लेती और फिर उन सब पर भीषण अस्त्रों की वर्षा करने लगती। दूसरी शक्ति विपक्षियों पर प्रहार करती हुई उन्हें भयंकर यातना देती हुई त्रस्त करती।

इस प्रकार दोनों महाशक्तियाँ अपने अमोघ प्रहारों और भयंकर कर्मों से अद्भुत लीला करने लगीं। किन्तु वे देवियाँ कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रहीं तथा पार्वतीनन्दन ने निरन्तर अकेले रहकर ही विपक्ष की असंख्य सेना को रौंद डाला। जैसे मंदराचल द्वारा समुद्र का मन्थन किया था, वैसे ही अकेले शिवापुत्र ने शिवजी की दुस्तर विशाल सेना का मन्थन कर डाला। अकेले बालक के हाथ से इन्द्रादि सब देवगण एवं शिवगण क्षत-विक्षत एवं अत्यन्त व्याकुल हो गये और परस्पर विचार करने लगे-

"किं कर्तव्यं क्व गन्तव्यं न ज्ञायन्ते दिशो दश।
परिघं भ्रामयत्येष सव्यापसव्यमेव च॥"

कहो! क्या करना चाहिए? किधर जायें? दशों दिशाओं में से कोई भी तो नहीं दिखाई देती। और यह बालक भी इतना अद्भुत कर्मा है कि अपने परिघ को दाएँ-बाएँ दोनों ही ओर सरलता से घुमा रहा है। इस प्रकार किसी को भी कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। सभी भागने के लिए दिशा खोज रहे थे।

उस समय नारदादि ऋषिगण तथा अप्सराएँ आदि अपने हाथों में पुष्प

और चन्दन लिये हुए उस अत्यन्त भयंकर युद्ध को देख रहे थे। वे सब भी आश्चर्य-चकित थे कि ऐसा युद्ध कभी नहीं देखा।

शिवापुत्र के समक्ष विपक्षी सेनाएँ अब अधिक न टिक सकीं। समस्त वीर अपने-अपने प्राण लेकर जिधर मार्ग मिला उधर ही भाग निकले। किन्तु, उस स्थिति में भी स्वामी कार्तिकेय रणक्षेत्र से न हटे। वे धैर्यपूर्वक युद्ध में डटे रहे। किन्तु उनके सभी आयुध कट-कट कर गिरते जा रहे थे। अन्त में अपने समस्त शस्त्रास्त्रों को निष्फल देखकर उन्होंने भी वहाँ खड़े रहना निरर्थक समझा और युद्ध-क्षेत्र से हट गये।

सभी आहत एवं भयभीत देवगण आदि भगवान् नीलकण्ठ की शरण में पहुँचे और उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम करते हुए बोले–'त्रिलोचन ! सर्प विभूषण ! रक्षा कीजिए। अब तक अनेकानेक युद्ध हमने देखे, किन्तु ऐसा तो कहीं देखा न सुना कि अकेला बालक ही असंख्य देवगणों, प्रमथों और शिवगणों को पराजित कर दे। उसके महान् पराक्रम की तो थाह ही नहीं है। अब आप ही कोई उपाय कीजिए, जिससे उसपर विजय प्राप्त की जा सके।'

शिवजी का युद्ध के लिए गणेश की ओर जाना

भगवान् शंकर ने देवताओं और अपने गणों की आर्त्त पुकार सुनी तो क्रोध में भर गये। उनके नेत्र लाल हो गये, भौंहें चढ़ गयीं और भुजाएँ फड़क उठीं। वे तुरन्त ही गणेश की ओर चल दिए। यह देखकर समस्त देवता और शिवगण भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े।

देवताओं ने शिवजी को युद्ध के लिए तत्पर देखा तो उनके पावन चरणों में प्रणाम करके पुनः युद्ध में कूद पड़े। इस बार भगवान् विष्णु भी गणेशजी के सम्मुख जा पहुँचे। युद्ध आरम्भ हुआ तो गणपति के दण्ड-प्रहार से व्याकुल होकर युद्ध से हट गए।

शिवजी ने देखा कि भगवान् श्रीहरि को भी पराजय का मुख देखना पड़ा और देवराज इन्द्र पहिले ही साहस छोड़ चुके हैं, तो वे सोचने लगे कि इस बालक पर कैसे विजय प्राप्त की जाये ? धर्मयुद्ध द्वारा तो इसका वश में आना कठिन ही है। इसलिए इसके साथ कोई चाल चलनी पड़ेगी। यदि यह मारा जा सकता है तो केवल छल से ही, अन्य कोई उपाय सम्भव नहीं है।

ऐसा निश्चय कर शिवजी अपनी विशाल सेना के मध्य जा खड़े हुए। उनके संकेत से भगवान् विष्णु भी वहीं आ गये। संगीत का वातावरण बना, जिसमें शिवगणों ने नृत्य आरम्भ कर दिया। तभी विष्णु बोले–'नीलकण्ठ ! आप यह तो मानते ही हैं कि इसे छल किये बिना मारना सम्भव नहीं है तो मैं इसे मोहित किये देता हूँ। बस, तभी आप इसका वध कर देना।'

शिवजी ने विष्णु का सुझाव स्वीकार कर लिया। त्रिलोकीनाथ श्रीहरि के विचार को पार्वतीजी की दोनों महाशक्तियों ने जान लिया और वे गणेशजी को अपना पराक्रम प्रदान कर वहीं अन्तर्धान हो गईं। इधर भगवान् विष्णु शिवजी का स्मरण करते हुए गणेशजी को मोहित करने लगे।

तभी शिवजी ने अपने हाथ में त्रिशूल उठाया और प्रहार करने को हुए। तभी गणेशजी ने अपनी महिमामयी माता पार्वती जी का स्मरण कर शक्ति प्रहार किया। वह शक्ति प्रबल वेग से जाकर लगी, जिससे उनके हाथ से त्रिशूल छूटकर दूर धरती पर जा पड़ा।

अपने त्रिशूल की यह दुर्दशा देखकर दशभुज शिवजी अत्यन्त क्रोध में भर गये। उन्होंने अपना धनुष सँभालने का प्रयत्न किया, जब तक शरसंधान का प्रयत्न किया गया, तब तक तो गणेशजी ने अपने परिघ का तीव्र प्रहार किया। इस प्रकार उनका वह धनुष भी दूर जा गिरा।

गणेश्वर का मस्तक छेदन वर्णन

इस प्रहार में उनके एक ओर से पाँच हाथ आहत हो चुके थे, इसलिए अन्य पाँच हाथों में उन्होंने पाँच त्रिशूल सँभाले। किन्तु उनके प्रहार से पूर्व ही गणपति के परिघ प्रहार द्वारा वे निष्फल हो गये। इससे शिवजी बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा—'इस बालक ने जब मेरी ही ऐसी दशा कर दी तो अन्य देवताओं और गणों की तो बात ही क्या है ?'

शिवजी इस प्रकार विचार करते हुए खड़े थे। इसी समय गणेशजी ने अपने परिघ प्रहार से देवताओं और शिवगणों को पुनः विचलित कर दिया। इस कारण शिवजी के समीप रहकर युद्ध के लिए प्रस्तुत देवसेना और शिवसेना अपने-अपने प्राण लेकर विभिन्न दिशाओं में भागने लगी।

"विष्णुस्तं च गणं दृष्ट्वा धन्योऽयमिति चाब्रवीत्।
महाबलो महावीरो महाशूरो रणप्रियः ॥"

गणेशजी को उस प्रकार से अत्यन्त उग्र और अजेय देखकर भगवान् विष्णु कह उठे—'यह बालक धन्य है! अत्यन्त शूर-वीर महाबली और युद्ध-प्रिय है। इसकी समता कोई भी देवता, दैत्य, राक्षस, गन्धर्वादि नहीं कर सकता। तीनों लोकों में यह अनुपम तेज, रूप, शौर्य एवं गुणों से सम्पन्न है।'

भगवान् विष्णु इस प्रकार कह ही रहे थे कि गणेशजी ने अपना परिघ उठाकर उनपर प्रहार किया, जिससे कुपित हुए श्रीहरि ने अपने चक्र को प्रेरित कर परिघ के दो खण्ड कर दिये। तब गणेश ने टूटे हुए परिघ को उठाकर विष्णु पर प्रहार किया, किन्तु गरुड़ ने उनका वह प्रहार निष्फल कर दिया।

अब विष्णु ने गणेश पर प्रहार किया तो उन्होंने भी उनके प्रहार को विफल करके अपनी माता प्रदत्त दिव्य छड़ी से प्रहार किया। किन्तु वह भी गरुड़ ने व्यर्थ कर दिया। इस प्रकार अवसर का लाभ उठाने के लिए

शिवजी ने गणेश पर अपने तीव्रतम त्रिशूल का प्रहार किया। उस समय गणेशजी उनकी ओर से असावधान थे, इसलिए प्रहार को बचा न सके। त्रिशूल उनके कण्ठ पर जाकर लगा, जिससे उनका मस्तक कटकर जा गिरा।

गणेश का मस्तक कटते ही देवता हर्षित हो गये। शिवगण भी उल्लास में झूम उठे। भगवान् शंकर का जय-जयकार होने लगा। धरती पर वाद्यों के साथ नृत्य-संगीत चलने लगा।

२२

४. चतुर्थ अध्याय

पार्वती का क्रोध, महाशक्तियों का प्राकट्य

माता पार्वती को जब पता चला कि उन्हीं के प्राणनाथ ने गणेशजी का मस्तक काट डाला है और उसी उपलक्ष्य में देवगण और शिवगण विजयोत्सव मनाते हुए नृत्य-गान आदि करने लगे हैं, तो वे अत्यन्त व्याकुल और अधीर हो गयीं। उन्होंने सोचा, 'देखो, इन सबने मिलकर मेरे प्राणप्रिय पुत्र की हत्या कर दी! अब उस निरपराध बालक का वियोग मैं कैसे सह पाऊँगी? इनके इस अकर्म का फल तो मिलना चाहिए। मैं भी ऐसी प्रलय मचा दूँगी कि यह सब देवता और शिवगण स्वयं मृत्युमुख में जाने लगेंगे।'

उमा ने अत्यन्त कुपित होकर हजारों महाशक्तियों को उत्पन्न किया। वे शक्तियाँ शक्तिमयी माता के समक्ष हाथ जोड़ती और प्रणाम करती हुई बोलीं—'मातेश्वरि! आज्ञा कीजिए कि हमें क्या करना है?'

उमा ने ओजपूर्ण शब्दों और तीव्र स्वर में कहा—'मेरी शक्तियो! तुम

तुरन्त ही संसार में प्रलयकाल उपस्थित कर दो। देवता, दैत्य, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, ऋषि आदि जो भी मिलें उनका तुरन्त भक्षण करो। स्वजन-परिजन का भेद भी न करो।'

आज्ञा मिलते ही विविध रूपवाली वे सहस्त्रों भयङ्कर शक्तियाँ 'माता पार्वती की जय' बोलती हुई वहाँ से चल पड़ीं। उन्होंने जहाँ जिसे देखा, उसी को उठाकर मुख में रख लिया। वे देवता, राक्षस, मनुष्य, शिवगण आदि किसी को भी नहीं छोड़ती थीं। उनके तेज में ही ऐसा आकर्षण था जो निकट होता, वह स्वयं ही खिंचा चला आता। इस आकस्मिक संकट के कारण सर्वत्र हाहाकार मच गया है, देवता, ऋषि आदि सभी ने समझा कि प्रलयकाल उपस्थित हो गया है, इसलिए सभी ने जीवन की आशा छोड़ दी थी।

अब तो संसारभर में भय व्याप्त हो गया। देवता परस्पर मिल-बैठकर सोचने लगे कि यह सब क्या हो रहा है? समस्त संसार धीरे-धीरे मृत्यु मुख में स्वतः ही पहुँचता जा रहा है। इसका कारण क्या है? कुछ समझ में नहीं आता।

कुछ कहने लगे—'प्रलय काल उपस्थित है तो प्राणों का मोह छोड़ना ही होगा। उसमें किसी का क्या वश चलेगा? ब्रह्माजी को भी तो कलेवर बदलना होता है प्रत्येक कल्पान्त में।'

तभी किसी ने कहा—'किन्तु कल्प का अन्त कहाँ है अभी इसलिए प्रलय भी नहीं हो सकती। यह तो कोई अन्य कारण ही है, जिससे समस्त प्राणी मृत्युमुख की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। अच्छा हो कि ब्रह्माजी इसका कारण ज्ञात करने की कृपा करें।'

ब्रह्माजी ने समाधि लगायी और कारण जान लिया। उनकी समाधि भंग होते ही देवगण उत्सुकता से उनकी ओर बैठ गये। चतुरानन ने धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया—'देवगण! शक्तिमान कामारि की प्राणप्रिया

एवं महाशक्ति उमा ने अपनी देह की मैल से गणेश नामक एक पुत्र उत्पन्न किया था, और उसकी नियुक्ति द्वार पर करके आज्ञा दी थी कि किसी को भी भीतर न आने देना। वह द्वार पर खड़ा था तभी स्वयं उमानाथ आए और भीतर जाने लगे। गणेश ने उन्हें रोका तो वे भीतर जाने की हठ करने लगे। उन्हीं के आदेश से घोर युद्ध हुआ, जिसमें तुम सबको अपने-अपने प्राण बचाने दुर्लभ थे। उसी युद्ध में उमानाथ ने ही उमापुत्र गणेश का मस्तक छिन्न कर दिया। बस, तभी से भगवती उमा का भयंकर कोप आरम्भ हो गया।'

सभी एक-दूसरे का मुख देखने लगे। कुपित हुई महाशक्ति को कौन रोके और कौन मनाए ? तभी ब्रह्माजी ने कहा–गिरिराजकुमारी के प्रसन्न हुए बिना यह संसार रुक नहीं सकता, इसलिए भगवान् विष्णु के पास चलकर उनसे परामर्श करना चाहिए।'

सभी भगवान् विष्णु के पास गए। उन्हें प्रलय के समान भीषण संहार की बात सुनाते हुए उसका कारण भगवती पार्वती का कोप बताया और पूछने लगे–'त्रिलोकीनाथ ! उपस्थित संकट से आप ही उबार सकते हैं। इसलिए शीघ्र कोई उपाय कीजिए, अन्यथा समस्त, विश्व ही मृत्यु के गर्भ में जा छिपेगा।'

श्रीहरि बोले–'देवगण ! इस विषय में तो हमें भगवान् उमानाथ के पास ही चलना चाहिए। वे ही कालकूट-भक्षक शिव इस उपस्थित संकट से पार लगा सकेंगे।'

रुद्राणी के तेज से रुद्र का दुखित होना

सभी वहाँ से उठकर और विष्णु को साथ लेकर शिवजी के पास पहुँचे और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे–गिरिजानाथ ! आपने गिरिजासुत गणेश का मस्तक काट दिया उसी से कुपित हुई वे महाशक्ति विश्व में

प्रलय करना चाहती हैं। समस्त संसार भीषण विभीषिका से भयभीत है। अब आप ही इस सङ्कट से रक्षा करने में समर्थ हैं।

शिव बोले—'देवगण ! तुम सबका कहना यथार्थ है। मेरा विचार है कि सभी लोग उस देवी को समझा-बुझाकर शांत करें तो कार्य बन सकता है। चलो, मैं भी साथ चलता हूँ।'

देवगण आगे-आगे और शिवजी पीछे-पीछे चले। भवानी के द्वार पर पहुँचते-पहुँचते न जाने कितने देवता शक्तियों द्वारा खींच-खींचकर निगल लिये। उस समूह में देवता, दैत्य, राक्षस, ऋषि, यक्ष, किन्नर, दिक्पालादि सभी थे। वे सभी अपने-अपने प्राण बचाकर भाग खड़े हुए। इस प्रकार देवतादि में से किसी का भी साहस अब और आगे बढ़ने का न हुआ। ब्रह्मा, विष्णु की भी क्या, स्वयं रुद्र भी रुद्राणी के तेज से व्याकुल होकर पीछे की ओर भागे।

पुनः देवताओं ने एकत्र होकर विचार किया—अब क्या किया जाये ? रुष्टा रुद्राणी के सम्मुख कौन पहुँचे ? इस प्रकार कहते हुए वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच रहे थे। जिसका नाम लिया जाता वही अपनी असमर्थता प्रकट कर देता। तभी देवर्षि नारदजी का वहाँ आगमन हुआ।

देवताओं ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और फिर रुद्राणी के रुष्ट होने का सब प्रसंग सुनाकर बोले—'महर्षे ! आप त्रिकालज्ञ और सभी उपायों के ज्ञाता हैं, जब तक भगवती गिरिजा प्रसन्न न होंगी, तब तक यह संहार रुकेगा नहीं, वरन् बढ़ता ही जायेगा। इसलिए इसका कोई उपाय करने की कृपा कीजिए।

नारदजी हँसे, बोले—'महाशक्ति की महिमा शक्तिमान से भी सिमटने में नहीं आई ? अब इसका उपाय एक ही है कि आप सब लोग रुद्राणी के समीप चलकर स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करें।'

नारदजी का परामर्श सभी को हितकर प्रतीत हुआ और तुरन्त ही देवर्षि को आगे करके पार्वती जी के भवन की ओर चल दिए। यद्यपि रुद्राणी अत्यन्त कुपित थीं, तो भी नारदजी को सबसे आगे देखकर मौन हो गईं। तभी देवताओं ने अत्यन्त श्रद्धाभावपूर्वक उनकी स्तुति आरम्भ की। देवगण बोले–'हे जगज्जननि ! हे शिवे ! हे परमेश्वरि ! आपको बारम्बार नमस्कार है। हे कल्याणि ! हे अम्बे ! आप ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की कारणभूता हैं। भगवान् रुद्र की आदिशक्ति रुद्राणी आप ही हैं। हे मातः ! आपके कोप से त्रैलोक्य व्याकुल है, न जाने कितने जीव आपकी शक्तियों के मुख में जा पहुँचे हैं। बड़ा भीषण संहार हो रहा है देवेशि ! अब आप क्रोध को छोड़कर प्रसन्न हो जाइए। हे गिरिजानन्दिनि ! हम सभी आपके चरणों में प्रणाम करते हैं।'

इस प्रकार बारम्बार प्रणाम करने और अनेक प्रकार से स्तवन करने पर भी जगदम्बा का क्रोध शान्त न हुआ। वरन् वे मौन रहती हुई भी उन सबको क्रोधपूर्ण नेत्रों से देखने लगीं। उन नेत्रों से चिंगारियाँ निकल रही थीं। देवगण भय के कारण नेत्र झुकाकर पीछे हट गये।

नारदजी द्वारा शिवा का स्तवन करना

यह देखकर नारदजी के साथ समस्त ऋषिगण आगे हुए और उन्होंने भगवती के चरणों में प्रणाम कर स्तवन आरम्भ किया–'देवि ! सभी प्राणियों का संहार समुपस्थित है। दोषी देवताओं के अतिरिक्त निर्दोष ऋषिमुनि भी काल-कवलित होते जा रहे हैं। इसलिए इस व्याकुल हुए विश्व की ओर देखिए। जगदम्बे ! आपके प्राणनाथ शिवजी भी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि देवताओं एवं समस्त प्रजाओं के सहित यहाँ आपके सामने उपस्थित हैं। परमेश्वरि ! यह सभी आपके ही उपासक हैं। देवेशि ! कृपया हम सभी का अपराध क्षमा कर दीजिए। आपकी सेवा में आने पर तो बड़े-बड़े भी कृपा प्राप्त कर लेते हैं। हे शिवे ! अब क्रोध को शान्त

कीजिए और सभी को कृपापूर्ण नेत्रों से देखिए। आपको नमस्कार है, नमस्कार है।'

इस प्रकार स्तवन करते हुए ऋषि-मुनियों ने बारम्बार माता पार्वतीजी के चरणों में प्रणाम किया। उनकी इस प्रकार की प्रार्थना से धीरे-धीरे उनका क्रोध दूर होने लगा तथा वे द्रवीभूत होती हुई उन ऋषियों से कहने लगीं–

"मत्पुत्रो यदि जीवेत तदा संहरणं नहि।
यथा हि भवतां मध्ये पूज्योऽयं च भविष्यति॥
सर्वाध्यक्षो भवेदद्य यूयं कुरुत तद्यदि।
तदा शान्तिर्भवेल्लोके नान्यथा सुखमाप्स्यथ॥"

'हे ऋषिगण! मैं तुम्हारे कष्टों को समझ रही हूँ। किन्तु मेरे अकेले पुत्र को मारकर उसके साथ अन्याय किया गया है। यदि मेरा वह पुत्र जीवित हो जाय और तुम सब उसे अपना पूज्य मान लो तो यह संकट दूर हो सकता है। यदि उसे 'सर्वाध्यक्ष' का पद दिया जाय तभी लोक में शान्ति होगी, अन्यथा कहीं कोई भी सुखी नहीं हो सकता।

ऋषियों ने जगदम्बा को पुनः प्रणाम किया और बोले–'दयामयि! आपने लोकरक्षा के लिए सरल उपाय बता दिया है। आपका कथन उचित ही है। इसे हम देवताओं को बताये देते हैं।'

ऐसा निवेदन कर ऋषिगण देवताओं के पास पहुँचे और माता की इच्छा उन्हें बता दी। वे सभी उन ऋषियों को साथ लेकर भगवान् शंकर के पास पहुँचे। उन्होंने उन्हें प्रणाम कर माता का सन्देश सुनाया, 'प्रभो! जगदम्बा का कथन है कि यदि संसार को सुखी देखना है तो मेरे पुत्र को जीवित कर उसे सर्वाध्यक्ष का पद देना होगा, अन्यथा शान्ति सम्भव नहीं है।'

शिवजी बोले—'देवगण ! हमें उमा का कथन स्वीकार करना ही होगा। उसकी बात मानने से ही संसार का तथा हम सभी का कल्याण निहित है। इसलिए वह करना उचित है।'

देवताओं ने कहा—'प्रभो ! पार्वती-पुत्र जीवित कैसे हो ? उसका तो मुख भी क्षत-विक्षत हो गया है। इसलिए अब आप ही इस विषय में कुछ उचित उपाय कीजिए।'

५. पञ्चम अध्याय

गजानन का पुनर्जीवन-दान वर्णन

देवताओं की प्रार्थना पर शिवजी ने कुछ देर विचार किया और फिर बोले—'देवताओ ! उत्तर दिशा की ओर जाओ, मार्ग में जो भी प्राणी प्रथम दिखाई दे उसी का सिर काट लाओ और गणेश के कबन्ध पर जड़ दो। पहिले उस कबन्ध को स्वच्छ करके उसका पूजन करो और फिर काट कर लाये गये सिर को तुरन्त ही कबन्ध पर रख दो। इस कार्य में उस समय विलम्ब नहीं होना चाहिए।'

शिवजी के आदेशानुसार देवताओं ने पार्वतीतनय के कबन्ध को भले प्रकार धोया और फिर पोंछकर उसका पूजन किया। तदुपरान्त उत्तर दिशा की ओर चल दिए। मार्ग में सर्वप्रथम एक दाँत का हाथी मिला। उन्होंने उसका सिर काटा और गणेश के कबन्ध पर रख दिया।

फिर उन्होंने शिवजी से निवेदन किया—'त्रिपुरारि ! हमने शिवापुत्र के कबन्ध पर हाथी का मस्तक रख दिया है। अब उसे प्राण प्रदान करने का कार्य ब्रह्मा, विष्णु और आपको करना है।'

कबन्ध पर सिर रखे जाने के समाचार से सभी उपस्थितजन प्रसन्न हो उठे। फिर समस्त देवताओं ने शिवजी के चरणों में प्रणाम करके निवेदन किया–'जगदीश्वर ! आपके जिस दिव्य तेज से हम उत्पन्न हुए हैं, वही तेज वेदमन्त्रों द्वारा इस बालक में प्रविष्ट हो ऐसी कृपा कीजिए।'

शिवजी ने स्वीकारोक्ति की तथा समस्त देवताओं ने वेद मंत्रों के द्वारा जल को अभिमन्त्रित कर उससे बालक को अभिसिंचित किया। उस जल का स्पर्श पाते ही बालक में चेतना लौटने लगी और वह कुछ ही क्षणों में जीवित हो गया। जैसे कोई व्यक्ति सोते से जाग जाता है, वैसे ही उसने नेत्र खोल दिये।

अब उस अत्यन्त सुन्दर बालक का मुख हाथी के समान हो गया। शरीर का वर्ण लाल था तथा मुखमण्डल पर अत्यन्त उल्लास दिखाई देता था। उसकी आकृति कमनीय थी। इस प्रकार शिवापुत्र को पुनर्जीवित हुआ देखकर समस्त देवता और शिवगण अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे। सभी को विश्वास हो गया कि अब विश्व का संकट दूर हो जायेगा।

कुछ देवता भगवती उमा के पास दौड़े गए। उन्होंने माता के चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया–'गणेशजननि ! आपका पुत्र पुनर्जीवित हो गया है। अब आप पूर्ण रूप से प्रसन्न हो जाइये देवेशि !'

पुत्र का पुनर्जीवित होना सुनकर पार्वती जी उधर दौड़ पड़ीं और अपने पुत्र को जीवित देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने पुत्र को दोनों हाथों से पकड़ कर अपनी गोद में लिया और हृदय से चिपका लिया। उधर भगवान् शिव भी अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे। हर्षातिरेक के कारण उनके नेत्र मुंदे जा रहे थे।'

गजानन का अभिषेक तथा वर प्रदान करना

गजानन रूप से उमातनय के पुनर्जीवित होने के उपलक्ष्य में बड़ा भारी

आनन्दोत्सव मनाया गया। सभी देवताओं और गणों के नायकों ने उनका अभिषेक किया। तब समस्त सिद्धियों ने उनका विधिवत् पूजन किया और कल्याणमयी पार्वतीजी ने अपने दुःखनाशक करकमलों से बालक के अंगों का स्नेहसिक्त स्पर्श किया। फिर वे उनको बार-बार प्यार करने लगीं तथा बोलीं—'पुत्र ! तुम्हें बड़ा कष्ट पहुँचाया गया। परन्तु अब सभी को ठीक प्रकार से शिक्षा मिल चुकी है।'

उन्होंने पुनः कहा—'मेरे हृदय ! अब उस कष्ट को भूल जा। अब तो तू पूर्ण रूप से धन्य हो गया। अब यह सभी देवता, ऋषि-मुनि आदि सर्वप्रथम तेरी ही पूजा किया करेंगे। आज से तू सभी शुभ कर्मों में अग्र पूजन का अधिकारी हो गया है। अब भविष्य में तुझे सताने का साहस कोई भी न करेगा।'

तदुपरान्त जगदम्बा ने गजवदन को अमोघ वर प्रदान करते हुए कहा—'पुत्र ! इस समय तेरा मुख सिन्दूर युक्त दिखाई दे रहा है, इसलिए संसार में तेरी पूजा सिन्दूर से की जायेगी। पुष्प, चन्दन, गन्ध, नैवेद्य, नीराजन, ताम्बूल, दान एवं नमस्कारादि के द्वारा तेरा पूजन करने वालों को समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होंगी और समस्त विघ्नों का निःसन्देह ही शमन हो जायेगा।'

फिर भगवती ने उसे अनेक प्रकार की वस्तुएँ प्रदान कर सम्मानित किया। तब निर्भय, निश्चिन्त हुए देवता उन पार्वतीपुत्र को भगवान् शंकर के पास ले गये और उनके अङ्क (गोद) में बिठा दिया। शिवजी ने उनके मस्तक पर वरद-हस्त रखते हुए कहा—'यह मेरा द्वितीय पुत्र है।'

तब गजानन ने भी गोद से उठकर अपने पिता भगवान् शंकर के चरण-कमलों में श्रद्धा-सहित प्रणाम किया। फिर अपनी माता को प्रणाम कर ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं और नारदादि ऋषियों का अभिवादन किया और बोले—'यद्यपि अभिमान करना तो स्वाभाविक है, फिर भी मुझसे अहङ्कारवश जो अपराध हुआ हो उसे आप सब क्षमा कर दें।'

तब ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवताओं ने हर्षित होकर गजानन को इस प्रकार वर दिया–

"त्रैलोक्ये सुरवराः यथा पूज्याः जगत्त्रये।
तथायं गणनाथश्च सकलैः प्रतिपूज्यताम्॥"

'हे देवगण! जैसे त्रैलोक्य में हम तीनों देवता पूजे जाते हैं, वैसे ही तुम इन गणनाथ का भी पूजन करना। मनुष्यों का भी कर्त्तव्य है कि वे इन्हीं का पूजन सर्वप्रथम किया करें। हमारा पूजन इनका पूजन करके ही करें। यदि कोई इनका पूजन पहले न करके हमारा करेगा तो उसके पूजन का फल नहीं होगा।'

त्रिदेवों की घोषणा सुनकर सभी को बड़ा आनन्द हुआ। तभी महिमामयी महाशक्ति उमा की प्रसन्नता के लिए त्रिदेवों और सभी देवताओं ने गणेश्वर को सर्वाध्यक्ष की उपाधि से विभूषित किया। तदुपरान्त उमापति भगवान् शिव ने गजानन को सदैव सुखी करने वाले अनेक वर दिए।

नीलकण्ठ बोले–'गिरिजासुवन! हे पुत्र! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ, इसलिए अब तुम समस्त विश्व को ही प्रसन्न हुआ समझो। क्योंकि मेरी प्रसन्नता में विश्व की प्रसन्नता और मेरे रोष में संसार का रोष निहित है। अब कोई भी देवता, दैत्य, यक्ष, किन्नर, उरग, मनुष्य आदि तुम्हारे विरोध का साहस नहीं कर सकता। तुम महाशक्ति के पुत्र हो, इसलिए स्वयं भी अत्यन्त तेजस्वी हो। तुमने युद्ध में महापराक्रम प्रदर्शित करके स्पष्ट कर दिया है कि तुम्हारा सामना कोई भी नहीं कर सकता, विघ्नों के नाश में तुम सर्वश्रेष्ठ होगे। सभी के पूज्य होने के कारण मैं तुम्हें अपने समस्त गणों का अध्यक्ष बनाता हूँ।'

शिवजी ने कुछ देर बाद पुनः कहा–'गणाध्यक्ष! तुम्हारा जन्म भाद्रपद मास की चतुर्थी को शुभ चन्द्रोदय में हुआ है, इसलिए उस दिन

तुम्हारा व्रत रखना भी कल्याणकारी होगा। यह चतुर्थी व्रत और पूजन सभी वर्ण के मनुष्यों और स्त्रियों को भी करना चाहिए। जो राजा आदि अपने अभ्युदय की कामना करते हों, वे भी इसे करके अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं। तुम्हारा व्रत रखने वाला मनुष्य जिस-जिस पदार्थ की कामना करेगा, उस-उस की भी प्राप्ति उसे अवश्य होगी।'

भगवान् शंकर द्वारा इस प्रकार वर प्रदान करने पर समस्त देवताओं, ऋषियों और गणों ने उनका अनुमोदन किया और फिर समस्त उपचारों से विधि-विधानपूर्वक गणाध्यक्ष का पूजन किया। फिर शिवगणों ने भी उनका पूजन-वन्दन किया और 'गणाध्यक्ष गजानन भगवान् की जय' बोलने लगे। इससे समस्त त्रिलोकी गूँज उठी। अपने प्राणप्रिय पुत्र का इस प्रकार सम्मान हुआ देखकर पार्वती जी बहुत प्रसन्न हुईं।

आनन्दोत्सव का समारोह

अब भारी आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा। देवगण, दुन्दुभियाँ बजाने लगे, अप्सराएँ नाचने लगीं, गन्धर्वों ने मधुर-ध्वनि में गीत गाये और अन्तरिक्ष से दिव्य पुष्पों की वर्षा हुई। प्रकृति में भी उल्लास छा गया। वन और नगर सब वैभव से सम्पन्न हो गये। सर्वत्र वृक्षों पर मनोहर पुष्प और मीठे फल लद गये। हरित तृण एवं पौधों से सम्पन्न हुई पृथिवी ऐसी प्रतीत होती थी, मानो उसने हरी चादर ओढ़ ली हो और उस पर बेल-बूटे आदि का काम हो रहा हो।

देवताओं और अप्सराओं द्वारा किए जाने वाले संगीत एवं नृत्य में समस्त चराचर विश्व तन्मय हो गया। जो सुनता वही नाचने लगता। शिवगण, उमा की सहेलियाँ आदि ने भी उसमें भाग लिया। फिर स्वयं भगवती उमा भी आनन्द में भर कर नृत्य करने लगीं।

तब भगवान् शङ्कर भी कैसे बैठे रहते? वे तो जागृति में सदैव

नर्तनशील रहते हैं। इसलिए डमरू उठाया और नृत्य करने लगे। यह देखकर समस्त विश्व ही नृत्यात्मक हो गया। सभी दिशाओं में विद्यमान देहधारी आनन्दमग्न होकर नृत्यरत थे। लगता था कि सारा विश्व ही नाच रहा है।

इस प्रकार समस्त संसार आनन्दमग्न था। सभी के दुःख दूर हो चुके थे, सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य छा गया।

जब आनन्दोत्सव पूर्ण हुआ तब ब्रह्मा, विष्णु आदि सभी देवताओं ने सर्वानन्द विग्रह भगवान् गणाध्यक्ष का बारम्बार पूजन किया तथा साथ में शिव की भी स्तुति की। तदुपरान्त शिव-शिवा और गणपति से आज्ञा लेकर सभी अपने-अपने धाम को चले गए। श्रीगणेश जी का यह उपाख्यान सब प्रकार से अभीष्ट पूर्ण कराने में समर्थ है–

"इदं सुमङ्गलाख्यानं यः शृणोति सुसंयतः।
सर्वमङ्गलसंयुक्तः स भवेन्मङ्गलायनः॥"

'इस परम मंगलमय आख्यान को जो उपासक सुसंयत मन से सुनता है, वह समस्त मङ्गलों से सम्पन्न होता हुआ स्वयं भी मङ्गलों का घर ही हो जाता है।'

२५

तृतीय खण्ड

१. प्रथम अध्याय

शौनक का पुण्यव्रत-विषयक प्रश्न

शौनक बोले–'हे सूतजी ! हे महाभाग ! सुनते हैं कि एक बार भगवान् शंकर ने भगवती पार्वती को किसी सन्तानदाता व्रत का उपदेश दिया था। वह व्रत अमोघ होने के कारण कभी निष्फल नहीं जाता। उस व्रत का अनुष्ठान करके गिरिराजनन्दिनी भी सफल मनोरथ हुई थीं। हे प्रभो ! आप उस उपाख्यान के भी पूर्ण जानकार हैं। अतः उसे मेरे प्रति कहने की कृपा कीजिए।'

सूतजी उस प्रश्न को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कुछ देर मौन रहकर उन उमा का स्मरण करने लगे। तभी शौनक जी ने देखा कि उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु निकल रहे हैं। सूतजी ने अपने नेत्र पोंछते हुए कहा–'धन्य हो शौनक ! जो बार-बार भगवान् के अद्भुत चरित्रों के प्रति जिज्ञासा करते हो। तुमने जो प्रश्न किया है उससे सम्बन्धित गाथा एक बार भगवान् श्रीनारायण ने देवर्षि नारदजी को सुनाई थी। जगज्जननी पार्वती के अङ्क में उस व्रत के प्रभाव से साक्षात् अव्यक्त परब्रह्म ही व्यक्त हुए थे।

'प्राचीन काल की बात है जब शैलपुत्री के साथ भगवान् शंकर का विवाह हुए कुछ ही काल व्यतीत हुआ था, भगवान् वृषध्वज उनके साथ निर्जन वन में निवास कर रहे थे तथा वहाँ उनका विहार दीर्घकाल तक चलता रहा था। तभी एक दिन शैलनन्दिनी ने उनसे निवेदन किया–'प्रभो ! मुझे एक अत्यन्त श्रेष्ठ पुत्र की कामना है। क्योंकि पुत्र के बिना घर तो सूना रहता ही है, कहते हैं कि पुत्रहीन गृहस्थ को परम पुरुषार्थ की भी प्राप्ति नहीं होती।'

शिवजी ने गिरिराजपुत्री का अभिप्राय समझ लिया और बोले–'प्रिये ! परम पुरुषार्थ की प्राप्ति तो हमें सदैव रहती है, उससे वञ्चित तो हम कभी, किसी भी स्थिति में नहीं हैं, फिर भी तुम्हें पुत्र की अभिलाषा है, उसकी प्राप्ति के लिए मैं तुम्हें एक अमोघ उपाय बतलाऊँगा।

'देखो, एक ऐसा व्रत है, जो सभी में श्रेष्ठ तथा अभीष्टसिद्धि का बीज रूप है। उसके द्वारा परम बल और हर्ष की प्राप्ति होती है। यदि तुम उस व्रत को करो तो अवश्य ही अभीष्टपूर्ति होगी। उस परम शुभदायक व्रत को 'पुण्यक' कहते हैं। इसका अनुष्ठान एक वर्ष में पूर्ण होता है।'

"हरेराराधनं कृत्वा व्रतं कुरु वरानने।
व्रतञ्च पुण्यकं नाम वर्षमेकं करिष्यति॥"

पार्वती जी उस व्रत के विषय में सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने देवाधिदेव शिवजी से पूछा, 'नाथ ! यह व्रत पहिले भी किसी ने किया है क्या ? यदि किया हो तो उसका उपाख्यान मुझे सुनाने की कृपा कीजिए, जिससे मुझे व्रत की विधि का भी ज्ञान हो जाय और अनुमान लगा सकूँ कि मैं उसे कर सकूँगी या नहीं।'

शिवजी बोले–'देवि! यह व्रत कुछ कठिन नहीं है। पूर्व काल में इसे मनु-पत्नी शतरूपा ने किया था। वह अधिक आयु होने पर भी सन्तान न होने के कारण बहुत दुःखी थी। जब उसे कोई भी उपाय दिखाई न दिया तो वह पति की अनुमति से लोकपितामह के पास ब्रह्मलोक में जा पहुँची और वहाँ उनके चरणों में प्रणाम करके बोली–

'हे प्रभो ! आप समस्त संसार के कर्त्ता तथा विजय के कारणों के भी कारण हैं। आपकी इच्छा के बिना सर्गोत्पत्ति नहीं हो सकती। हे दयालो ! मेरी इतनी आयु हो गई, किन्तु पुत्र नहीं हुआ और पुत्र के बिना गृहस्थजीवन सर्वथा नीरस एवं व्यर्थ ही रहता है। विद्वानों का कहना है कि

पुत्रहीन दम्पति का जन्म एवं वैभव किसी भी काम का नहीं होता। यद्यपि जप, तप, दान, धर्म का पुण्य जन्मान्तर में श्रेष्ठ फल देने वाला कहा है, फिर भी इस लोक और परलोक, दोनों में ही सुख, प्रसन्नता और मोक्ष की प्राप्ति का साधन पुत्र ही है।

'हे लोकपितामह ! पुत्र के द्वारा 'पुम्' नामक नरक से रक्षा होती है, इसलिए वह परलोक में भी आनन्द का होने वाला कहा है। हे देव ! कृपया मुझे यह बताने का कष्ट करें कि मुझ जैसी पुत्रहीन स्त्रियों को पुत्र की प्राप्ति किस उपाय से हो ? हे दीनबन्धो ! मैं पुत्र के अभाव में अत्यन्त दुःखी हूँ। अतएव कोई अमोघ उपाय बताकर मेरी अभीष्ट सिद्ध कीजिए।'

ब्रह्माजी मौन रहते हुए उसकी बात सुन रहे थे। उसने समझा कि पितामह कुछ उत्तर नहीं दे रहे हैं तो निराश-सी होती हुई बोली–'प्रभो ! यदि कोई उपाय नहीं हुआ तो मैं पतिदेव के साथ वन में जाना ही उचित समझूँगी। उस स्थिति में हमारे लिए पृथ्वी के राज्य, वैभव, सुयश आदि की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहेगी। इसलिए उस सबको चाहे आप स्वयं सँभालें अथवा किसी अन्य को दे दें।'

पुण्यक-व्रत का विधान

यह कहकर शतरूपा अत्यन्त दुःखावेग के कारण चतुरानन के समक्ष फूट-फूट कर रोने लगी। यह देखकर दयामय पितामह ने शतरूपा को आश्वासन देते हुए कहा– 'देवि ! रोओ मत, शान्त होकर मेरी बात सुनो। मैं तुम्हें एक ऐसा उपाय बताता हूँ जो सभी कामनाओं की सिद्धि करने वाला है। उसके द्वारा धन, सन्तान, सत्कीर्ति, स्त्री को पति और पुरुष को पत्नी की प्राप्ति होती है। उसका अनुष्ठान करने पर निश्चय ही भगवान् श्रीहरि के समान पराक्रमी, ऐश्वर्य सम्पन्न एवं महिमाशाली पुत्र की प्राप्ति होती है।'

शतरूपा ने पूछा—'पितामह ! इस व्रत का नाम क्या है तथा कब से आरम्भ करना चाहिए ? इसके अनुष्ठान में किस देवता की उपासना की जाती है ? सो सब मुझसे कहने की कृपा करें ।'

चतुर्मुख ने बताया—'इस व्रत को 'पुण्यक' कहते हैं । इसका अनुष्ठान माघ मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी से आरम्भ करना चाहिए । इसमें समस्त भोग और मोक्ष के देने वाले परब्रह्म श्रीकृष्ण की आराधना की जाती है । व्रतारम्भ के प्रथम दिन उपवास करना चाहिए तथा दूसरे दिन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर शौचादि से निवृत्त होकर शुद्ध स्वच्छ जल में स्नान करे । तदनन्तर आचमनादि करके भगवान् श्रीकृष्ण को अर्घ्य प्रदान करे । उसके पश्चात् नित्यकर्म करे और फिर पुरोहित का वरण करके स्वस्तिवाचन, कलश-स्थापन एवं व्रत का संकल्प करे । फिर प्रथमपूजा के अधिकारी गणेश्वर का पूजन कर गोलोकधाम-निवासी भगवान् श्रीकृष्ण का षोड्शोपचार पूजन कर इस महान् व्रत का अनुष्ठान आरम्भ करे ।'

तदुपरान्त सौन्दर्य, नेत्र-ज्योति, पति सौभाग्य आदि की अक्षुण्णता के लिए विभिन्न वस्तुओं के समर्पण का निर्देश करते हुए पुत्र-प्राप्ति के लिए समर्पण का इस प्रकार उपदेश किया—'देवि ! पुत्र की कामना से किए जाने वाले अनुष्ठान में कूष्माण्ड, नारियल, जम्बीर और श्रीफल का समर्पण किया जाता है । अनुष्ठान काल में प्रभु की प्रसन्नता के लिए अनेक प्रकार के संगीत-वाद्यादि के साथ भगवान् श्रीहरि का गुण कीर्तन करना चाहिए । उनकी विशेष कृपा प्राप्त करने के लिए सुगन्धित पुष्पों की एक लाख मालाएँ अर्पण करें । उसके पुष्प सुन्दर, स्वच्छ एवं बिना टूटे हुए हों । प्रभु को भोग रूप में अनेक प्रकार के मधुर एवं सुस्वादु व्यञ्जन समर्पित करने चाहिए । भगवान् की परम प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए तुलसीदल युक्त शुभ गन्ध से समन्वित पुष्प भेंट करे । यदि जन्म-जन्मान्तर में धन-धान्य की समृद्धि की कामना हो तो नित्य-प्रति एक सहस्त्र ब्राह्मणों को तृप्तिकर भोजन करावे और दक्षिणा दे ।

'नित्य-प्रति पूजा-काल में प्रभु-विग्रह के चरण-कमलों में सुगन्धित पुष्पों की सौ अंजुलियाँ समर्पण करके प्रणाम करना चाहिए, व्रतारम्भ से छः मास तक अंगहीन धान, मूँग, मटर, जौ, तिल, साठी चावल, तिन्नी, दूध, घृत, शर्करा, घी में पकाया हुआ अन्न, लौंग, पीपल, जीरा, सैंधव, समुद्र लवण, मूली, बथुआ, इमली, आम, सन्तरा, कटहल, केला, हरड़, आमला इत्यादि हविष्यान्न का सेवन करे। फिर पाँच मास तक मधुर फलों का आहार और एक पक्ष तक हविष्य का आहार करे। शेष पन्द्रह दिन तक निराहार रहे, केवल जल का ही सेवन करे। रात्रि में भी कुश के आसन पर जागरण करे तो अधिक फल होगा। व्रती को संयम से रहते हुए केवल श्रीहरि में ही ध्यान लगाए रखना चाहिए।

'व्रत पूर्ण होने पर उसका उद्यापन करे। उसमें तीन सौ आठ डलियों में उत्तम उपहार रखकर उन सबको सुन्दर वस्त्रों से ढक कर दान करे। भोजन के पदार्थ और यज्ञोपवीत भी दे तथा एक हजार तीन सौ आठ ब्राह्मणों को भोजन करावे और घृत की इतनी ही आहुतियों से हवन करे। कार्य की सम्पन्नता होने पर दक्षिणा में एक हजार तीन सौ आठ सोने की मुद्राएँ तथा अन्य प्रकार की भी दक्षिणा देनी चाहिए।'

लोकपितामह से पुण्यक-व्रत एवं उसकी विधि सुनकर शतरूपा बहुत प्रसन्न हुई और उन्हें प्रणाम करके अपने स्थान पर लौट आई। उसने उस परम शुभदायक पुण्यक-व्रत का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया।

उसी व्रत के प्रभाव से उसे प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो सुन्दर, यशस्वी और अत्यन्त पराक्रमी पुत्रों की प्राप्ति हुई। इससे राजा मनु को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके दोनों बालक आनन्द से परिपूर्ण हो गए।

शिवजी बोले—'हे शिवे ! महाभागा देवहूति ने भी इस अत्यन्त पुण्य-फल-दायक पुण्यक-व्रत का अनुष्ठान किया था। उसके फलस्वरूप उन्हें भगवान् श्रीहरि के अंशावतार एवं सिद्धों में श्रेष्ठ कपिल देव की पुत्र रूप

में प्राप्ति हुई थी। उन्हीं कपिल भगवान् ने सांख्य-शास्त्र की रचना कर अज्ञानान्धकार में पड़े हुए प्राणियों को ज्ञान का प्रकाश कराया था।'

'हे पार्वती ! इसी महा पुण्यक-व्रत को परम सती अरुन्धती ने भी अत्यन्त उल्लासपूर्वक एवं विधि सहित करते हुए भक्ति-मुक्ति दायक भगवान् श्रीहरि की उपासना की थी, जिसके प्रभाव से उन्हें पुत्र रूप में शक्ति की प्राप्ति हुई थी।

'देवमाता अदिति ने भी परम भक्तिभावपूर्वक इसी पुण्यक नामक महा अनुष्ठान का आश्रय लिया था। उनकी आराधना से प्रसन्न हुए भगवान् श्रीहरि ने उनके अंक में साक्षात् पुत्र रूप से भगवान् वामनदेव का अवतार धारण किया था, जिन्होंने अपने तीन पदों में तीनों लोकों को नाप लिया था।

'इन्द्राणी शची ने भी इसी पुण्यक-व्रत का अनुष्ठान करके जयन्त नामक पुत्र प्राप्त किया था। मनु-पुत्र राजा उत्तानपाद की पत्नी ने भी पुण्यक-व्रत द्वारा श्रीकृष्ण की आराधना करके परम भगवद्भक्त ध्रुव को उत्पन्न किया था।

'हे पार्वती ! धनेश्वर कुबेर की पत्नी ने नलकूवर को जन्म दिया था, उसमें भी इसी व्रत का प्रभाव था। सूर्य-पत्नी ने मनु को तथा महर्षि अत्रि की पत्नी ने चन्द्रमा को पुत्र रूप में उत्पन्न किया था। हे शुभे ! महर्षि अङ्गिरा को परम विद्वान् एवं महिमामय देवगुरु बृहस्पति की पुत्र रूप में प्राप्ति भी इसी व्रत के प्रभाव से हुई थी।

'शैलनन्दिनी ! भृगुपत्नी को भगवान् नारायण के अंशभूत परम तेजस्वी दैत्यगुरु शुक्राचार्य की जो प्राप्ति हुई थी, उसमें भी इसी पुण्यक-व्रत का प्रभाव निहित था।

'राज-राजेन्द्रों की महारानियों और देव-पत्नियों को यह व्रत अत्यन्त आनन्द देने वाला एवं सुख-साध्य है। अन्य साध्वी स्त्रियों के लिए भी

प्राणों से अधिक प्रिय, सौभाग्य-वर्द्धक एवं समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है।'

पुण्यक-व्रत की फल-श्रुति

'हे शिवे! इस व्रत का अनन्त फल है। अब तक जो बताया जा चुका है, उससे असंख्य गुना शुभ प्रदान करने वाला है। इसके द्वारा समस्त अभीष्टों की सिद्धि होती है। इसका अनुष्ठान करने वाले के सभी विघ्नों का इसके प्रभाव से निवारण हो जाता है। त्रिभुवन-विख्यात पुत्र एवं सतत सौभाग्य की प्राप्ति होती है। असुन्दर स्त्री-पुरुष इसके द्वारा सौन्दर्य प्राप्त कर सकते हैं। धनहीनों को धन, भूमिहीनों को भूमि तथा पशु-वाहनादि से वंचितों को इच्छित पशु एवं वाहनादि प्राप्त होते हैं। वस्तुतः ये महान् व्रतानुष्ठान प्रत्येक जन्म में अभीष्ट सिद्धियों की उपलब्धि कराने वाला एवं सभी व्रतों का बीज रूप है।'

भगवान् शशिशेखर द्वारा पुण्यक-व्रत की विधि और माहात्म्य सुनकर देवी पार्वती के मन में उसके अनुष्ठान करने की इच्छा हुई और उन्होंने देवाधिदेव से निवेदन किया–'प्रभो! मैं इस व्रत को करना चाहती हूँ, किन्तु इसकी व्यवस्था किस प्रकार हो?'

शिवजी ने कहा–'शिवे! इस व्रत के साधन-भूत पुष्प और फल लाने के लिए मैं सौ ब्राह्मणों को तथा अन्यान्य सामग्री लाने के लिए सौ भृत्यों और आवश्यक संख्या में अन्य दास-दासियों को नियुक्त किए देता हूँ। पुरोहित पद पर नियुक्ति हेतु सभी व्रत विधियों के जानने वाले वेद-वेदांगों के परम विद्वान् सर्वज्ञ परम ज्ञानी एवं हरिभक्त सनत्कुमार को बुला दूँगा। इस प्रकार तुम इस परम श्रेष्ठ व्रत का श्रद्धाभक्ति एवं विधि सहित पालन करो। इसका अनुष्ठान करने से तुम्हें परम दुर्लभ पुत्ररत्न की प्राप्ति अवश्य ही होगी।'

❀❀❀

२६

२. द्वितीय अध्याय

गिरिजा द्वारा पुण्य-व्रत का अनुष्ठान करना

भगवान् शङ्कर की आज्ञा सुनकर गिरिजानन्दिनी अत्यन्त आनन्द में मग्न हो गईं और पुण्यक-व्रत का अनुष्ठान आरम्भ करने के लिए आवश्यक सामग्री एकत्र करने लगीं।

तभी भगवान् आशुतोष की आज्ञा से अनेकानेक ब्राह्मण, भृत्य एवं गण वहाँ आ उपस्थित हुए। माघ मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी आने पर उन्होंने शुभ मुहूर्त में व्रत का आरम्भ किया।

उसी अवसर पर ब्रह्मपुत्र सनत्कुमार, सपत्नीक चतुरानन एवं पार्वतीपति भगवान् शङ्कर भी वहाँ आ गए। भगवान् विष्णु भी अपनी प्रियतमा लक्ष्मीजी के सहित वहाँ पधारे। साथ में उनके पार्षदगण भी थे। तदनन्तर सनक, सनन्दन, सनातन, कपिलदेव, धर्मपुत्र नर-नारायण तथा समस्त प्रसिद्ध एवं दिव्य ऋषि-मुनि भी वहाँ समुपस्थित हो गये।

समस्त प्रमुख देवता, यक्ष, नाग, किन्नर आदि तथा सभी दिक्पाल एवं पर्वतराज हिमालय भी अपनी पत्नी, पुत्रादि के साथ वहाँ आ गए। उनके साथ धरती में उत्पन्न होने वाले रत्न, मणि आदि अनेक दुर्लभ पदार्थ थे। एक लाख गज-रत्न, तीन लाख वरद-रत्न, दस लाख गो-रत्न, एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ, चार लाख मोती, एक हजार कौस्तुभ-मणियाँ तथा अत्यन्त स्वादिष्ट मिष्ठान्नों एवं पक्वान्नों के एक लाख भाग भी उनमें सम्मिलित थे। साथ ही, अन्यान्य व्रतोपयोगी वस्तुएँ भी वे शैलराज ले आये थे।

मनु, मुनि, ब्राह्मण, विद्याधर आदि के भी अनेकानेक समुदाय उस व्रतायोजन के आरम्भ में ही वहाँ आकर ठहर गये। संन्यासी, भिक्षुक एवं वन्दीगणों की संख्या भी कम नहीं थी। संसार में विद्यमान प्रमुख योनियों

के करोड़ों प्राणी उस उत्सव को देखने के लिए वहाँ आ उपस्थित हुए थे।

कैलास पर्वत की उस समय की शोभा देखने योग्य थी। राजमार्ग को झाड़-बुहार कर स्वच्छ किया गया था और उसपर चन्दन मिश्रित द्रव्य का छिड़काव किया गया था।

भगवान् शङ्कर का भवन पद्मराग मणियों द्वारा बना था, जिसमें सर्वत्र बन्दनवार बँधे थे और वह अनेक प्रकार से सजाया गया था। उसमें धान्य, लाजा, फल, दूर्वा, पुष्प एवं कदली वृक्ष की अद्‌भुत चित्रकारी की गई थी। उस विचित्र शोभा को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो रहे थे।

सर्वत्र प्रसन्नता का वातावरण व्याप्त था। जन-जन में आनन्द और उल्लास भरा था। लगता था, जैसे परमानन्द मूर्तिमान होकर साक्षात् नृत्य कर रहा है। भगवान् शङ्कर स्वयं भी समागत व्यक्तियों का अभिनन्दन और समर्चन कर रहे थे। जो जिस योग्य था, उसके लिए उसी के अनुरूप निवास और परिचर्या आदि की व्यवस्था की गई। भोजनादि का प्रबन्ध भी सर्वोत्तम था। शिवजी के समस्त गण उस उत्सव को अत्यन्त शोभनीय बनाने में तत्पर थे।

सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी जगदम्बा पार्वती जी के व्रतानुष्ठान में दीक्षित होने के अवसर पर देवराज इन्द्र दानाध्यक्ष, धनेश्वर कुबेर धनाध्यक्ष तथा भगवान् भास्कर कार्याध्यक्ष के पद पर विराजमान हुए। वरुणदेव को भोजनाध्यक्ष बनाया गया, जिनका कार्य पाकशाला और भोजनशाला दोनों पर निगरानी रखना था।

सामग्री-भण्डार में गेहूँ, चावल, दाल, जौ, तिल आदि अनाज समा नहीं रहे थे। बाहर अनेक स्थानों पर उनके ढेर लग गये तथा दूध, दही, घृत, तैल आदि की तो मानो नदियाँ ही प्रवाहित होने लगीं। गुड़, शर्करा आदि के पर्वत तुल्य अनहित ढेर लगे थे। रजत और स्वर्ण से धरती लिप गई, जिस पर मणि, रत्न आदि के अनेकानेक ढेर लगते जा रहे थे। तैयार

भोजन-सामग्री भी गिरि-शिखर के समान ऊँचे-ऊँचे ढेरों में रखी थी। जिसे, जब, जिस वस्तु की आवश्यकता हो, वह तभी बिना किसी रोक-टोक के स्वयं ही प्राप्त कर सकता था।

उस सामग्री के अतिरिक्त विशिष्ट समागतों के लिए रसोई तैयार कराने का कार्य-भार सिन्धुतनया लक्ष्मीजी ने अपने हाथ में लिया तथा अनेक प्रकार के सुन्दर, सुस्वादु व्यञ्जन तैयार किए गये। उस भोजन को परोसने का कार्य एक लाख ब्राह्मण कर रहे थे। अनेक प्रमुख देवताओं तथा देवराज इन्द्र आदि के साथ उस समय स्वयं भगवान् नारायण रुचिपूर्वक भोजन कर रहे थे।

देवता दिव्य ऋषि-मुनि आदि के भोजन से निवृत्त होने पर सभी एक विशाल वितान के नीचे बैठे। वहाँ बैठने के लिए सुन्दर, कोमल मखमली गद्दे बिछाये गये थे। पदानुसार बैठने की व्यवस्था थी। भगवान् नारायण के लिए एक सुन्दर, दर्शनीय भव्य रत्न-सिंहासन था, जिसपर वे विराजमान थे।

उनके सब ओर प्रमुख देवता एवं ऋषिगण स्थित थे। उनके तेजस्वी पार्षदगण उनपर चँवर डुला रहे थे, उस समय सिद्ध, चारणादि उनका स्तवन करने लगे। गन्धर्वों ने श्रुतिमधुर गीतों का आरम्भ किया। चतुर ब्राह्मणों ने भगवान् को सुगन्धित ताम्बूल दिया।

उसी समय चतुरानन की प्रेरणा पर भगवान् शंकर ने हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया—'हे जगदीश ! भक्तों की कामना के कल्पतरु नाथ ! मेरी प्रार्थना श्रवण कीजिए। हे प्रभो ! गिरिराजनन्दिनी आज उत्तम व्रत का आरम्भ करना चाहती है। उसे श्रेष्ठ पुत्र एवं पति-सौभाग्य की कामना है। आप सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी एवं समस्त कर्म फलों के देने वाले हैं, अतएव परम मंगलकारिणी आज्ञा प्रदान करने की कृपा करें।'

तदुपरान्त पार्वतीपति ने उनका अनेक प्रकार से स्तवन किया और

फिर ब्रह्माजी के मुख की ओर देखते हुए मौन खड़े हो गये। यह देखकर भगवान् लक्ष्मीनाथ ने गम्भीर वाणी में कहा–'गिरिजानाथ! आपकी धर्मपत्नी पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से जिस पुण्यक-व्रत का आरम्भ करना चाहती है, वह व्रतराज समस्त व्रतों का सारभूत एवं समस्त अभीष्ट फलों के प्रदान करने में समर्थ, समस्त सुखों और कल्याणों को देने वाला तथा अन्त में मोक्ष का दाता है। इसके अनुष्ठान से हजारों राजसूय यज्ञों का पुण्य सहज में ही प्राप्त हो जाता है।

'त्रिनेत्र ! इस व्रत के अनुष्ठान में हजारों राजसूय यज्ञों के समान ही साधन जुटाने में धन का व्यय होता है। इसलिए इसे सामान्य साध्वी स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं। परन्तु साध्वी शिवा इसके करने में सहज समर्थ हैं, इसलिए उन्हें यह अवश्य करना चाहिए। इसके प्रभाव से उनके अङ्क में भगवान् गोलोकनाथ साक्षात् क्रीड़ा करेंगे। वे 'गणेश' नाम से अवतार लेंगे, जिनके स्मरण मात्र से ही समस्त विघ्नों का नाश हो जायेगा।'

भगवान् रमानाथ के कृपापूर्ण वचन सुनकर भगवान् वृषभध्वज प्रसन्न हो गए। उनका हृदय गद्गद हो गया। तदुपरान्त वे वहाँ से उठकर अन्तःपुर में गए और गिरिराजनन्दिनी को भगवान् नारायण के कहे हुए वचन सुनाये। इससे शैलपुत्री भी अत्यन्त प्रसन्न हुईं। तभी व्रतारम्भ का शुभ मुहूर्त आ गया।

पार्वती जी के व्रतारम्भ काल में भगवान् शिव की प्रेरणा से अनेक प्रकार के दिव्य बाजे बजने लगे। तभी शैलनन्दिनी ने पवित्र गङ्गाजल से स्नान कर शुद्ध वस्त्र धारण किए और विप्रों ने पूजा-विधि का आरम्भ किया। चावलों पर विधिपूर्वक रत्न मणि-मण्डित स्वर्ण कलश स्थापित किया गया और तब श्रेष्ठ मुनियों एवं पुरोहित को रत्नमय सिंहासनों पर बैठाकर उनका पूजन किया गया। फिर आदिदेव गणेश्वर की पूजा के पश्चात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश का पूजन किया गया।

तदुपरान्त स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन, मातृका-पूजन आदि के साथ

ही व्रत का आरम्भ किया। मङ्गल-कलश पर गोलोकनाथ परब्रह्म श्रीकृष्ण का आवाहन कर षोड़शोपचार से उनका अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजन में त्रैलोक्यदुर्लभ पदार्थ अर्पण किये गये। तदुपरान्त पुष्पांजलि एवं भावाञ्जलि समर्पण के साथ स्तवन किया।

तदनन्तर तिल-घृत की तीन लाख आहुतियों से शिवप्रिया ने हवन किया और फिर ब्राह्मणों, मुनियों, देवगणों एवं अतिथियों आदि को विविध प्रकार सुस्वादु दिव्य व्यञ्जनों से भोजन कराया और विप्रों को स्वर्णादि की दक्षिणाएँ दीं। सभी पार्वती जी की प्रशंसा करने लगे। चारणादि ने शिव-शिवा का यशोगान किया तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं।

व्रत की समाप्ति, पुरोहित का दक्षिणा याचना

इस प्रकार परम साध्वी गिरिराजनन्दिनी ने पुण्यक-व्रत का आरम्भ किया और एक वर्ष तक जब-जब जिस-जिस नियम का पालन करने का विधान था, तब-तब उस-उस नियम का निष्ठापूर्वक पालन करती रहीं। धीरे-धीरे दिन खिसकते गये और व्रत पूर्ण होने के दिन निकट आते गये। अन्तिम पन्द्रह दिनों में निराहार रहने के पश्चात् व्रत पूर्ण रूप से सम्पन्न हो गया।

व्रत समाप्त होने पर पुरोहित ने कहा—'सुव्रते ! आपका व्रत पूर्ण हो गया। अब मुझे दक्षिणा दीजिए।'

पार्वती जी ने कहा—'द्विजवर ! आज्ञा कीजिए कि आपको दक्षिणा में क्या दूँ ? मैं आपको इच्छित दक्षिणा दूँगी। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपको न दी जा सके।'

'देवि !' पुरोहित ने कुछ हिचकते हुए कहा—'मेरी माँग आपको कुछ अटपटी-सी लगेगी, इसलिए सोचता हूँ कि दक्षिणा लूँ ही नहीं। किन्तु,

एक द्विविधा यह भी है कि दक्षिणा न लेने से व्रतानुष्ठान का जो फल मिलना चाहिए, वह मिलेगा या नहीं ?'

गौरी ने कहा—'पुरोहितजी ! कार्य की सम्पन्नता-स्वरूप दक्षिणा का दिया जाना आवश्यक होता है। फिर जो लोग देने में समर्थ न हों, उनकी बात दूसरी है, मैं तो अभीष्ट दक्षिणा देने में समर्थ हूँ, तब न देने से कार्य की पूर्ति कैसे होगी ?'

पुरोहित बोले—'देवि ! मैं इसीलिए नहीं माँगना चाहता कि कहीं आप दक्षिणा दे ही न सकें। फिर भी आपका आग्रह है तो निवेदन करता हूँ—मैं आपके पति भगवान् वृषभध्वज को दक्षिणा स्वरूप चाहता हूँ। आप उन्हीं को दक्षिणा में दे दें।'

पार्वतीजी को ऐसी दक्षिणा माँगने की आशा नहीं थी। भगवान् त्रिलोचन उनके प्राणाधार हैं, भला वह उन्हें किसी को कैसे दे सकती हैं ? फिर पुरोहित उन्हें लेकर करेंगे भी क्या ? नहीं, ये पागल तो नहीं हो गये हैं वह ?

शैलपुत्री पुरोहित की माँग पर रह-रहकर विचार करती हुई व्याकुल हो रही थीं। उनका समस्त आनन्द-उल्लास लुप्त हो गया और वे रोती-रोती मूर्च्छित होकर वहीं गिर गईं।

मोहनाशिनी पराम्बा को मोह-विवश एवं मूर्च्छित हुई देखकर समस्त उपस्थित समाज हँसने लगा। भगवान् विष्णु, कमलासन ब्रह्मा एवं दिव्य ऋषिमुनियों को भी हँसी आ गयी। तभी भगवान् श्रीहरि की प्रेरणा से उमानाथ अपनी प्राणप्रिया के पास पहुँचकर उन्हें सचेत करते हुए बोले—'गिरिराजनन्दिनि ! उठो, पुरोहित को अभीष्ट दक्षिणा देने से अवश्य ही तुम्हारा मङ्गल होगा। देखो, देवकार्य, पितृकार्य एवं नित्यनैमित्तिक कर्म भी यदि दक्षिणा-रहित होता है तो फल-रहित हो जाता है। उसके कारण कर्म-कर्त्ता को कालसूत्र नामक नरक की प्राप्ति होती है। तदुपरान्त

उसे दीन-हीन अवस्था के साथ शत्रुओं से भी पीड़ित होना पड़ता है। इसलिए, वह सङ्कल्प की हुई दक्षिणा उसी समय दे देनी चाहिए, अन्यथा वह दक्षिणा बढ़ती हुई कई-गुनी हो जाती है।'

पार्वती जी को चेत हो गया और उन्होंने अपने पतिदेव की उक्त बातें भी सुन लीं, किन्तु सोच-विचार करती हुई मौन खड़ी रहीं। यह देखकर भगवान् विष्णु और चतुरानन ब्रह्माजी ने भी उन्हें समझाया और कहा—'देवि ! आपके द्वारा धर्म की रक्षा किया जाना बहुत आवश्यक है।' धर्म ने भी कहा—'शैलनन्दिनि ! आपने पुरोहित को अभीष्ट दक्षिणा देने का वचन दिया है, इसलिए उसे इच्छित प्रदान करके मेरी रक्षा कीजिए। क्योंकि मेरी रक्षा में ही सब प्रकार का मङ्गल होना निहित है।'

पार्वती जी को इन्द्रादि देवताओं ने भी बहुत समझाया। जब उन्होंने कोई उत्तर न दिया तो प्रमुख ऋषि-मुनियों ने उन्हें विश्वास दिलाया—'शिवे ! आप स्वयं ही धर्म को जानने वाली हैं, उसकी रक्षा करना आपका परम कर्त्तव्य है। फिर हम सबके यहाँ उपस्थित रहते हुए आपका किसी भी प्रकार से अकल्याण नहीं हो सकता।' इसपर भी उमा मौन रहीं।

तब ब्रह्मपुत्र सनत्कुमार, जो उस अनुष्ठान में पुरोहित थे, कुछ तीखे स्वर में बोले—'देवि ! या तो मुझे अभीष्ट दक्षिणा दो, अथवा आपको अपनी दीर्घकालीन तपश्चर्या का शुभ फल भी त्याग देना होगा। क्योंकि इस महान् कर्म की दक्षिणा प्राप्त न होने पर मैं इसका फल तो प्राप्त कर ही लूँगा, अन्य सब शुभ कर्मों के फल का भी मैं अधिकारी हो जाऊँगा।'

देवी पार्वती ने व्याकुलतापूर्वक कहा—'अपने सर्व समर्थ पति से वञ्चित करने वाले कर्म के फल से मैं कोई लाभ नहीं देखती, फिर दक्षिणा देने, धर्म की रक्षा करने और पुत्रलाभ होने में भी मेरा कौन-सा हित होगा ? मूल को न सींचकर वृक्ष की शाखा को सींचने से क्या वृक्ष हरा रह सकता है विप्रवर ? यदि प्राण ही जाने लगें तो यह देह की रक्षा से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?'

'देवाधिपो ! महर्षियो ! पति से अधिक पुत्र नहीं हो सकता। साध्वी स्त्रियों के प्राण तो पति ही है। सौ पुत्र एक ओर और अकेला पति एक ओर रहे तो भी पति की ही महिमा अधिक रहेगी। आप ही बतायें कि जब पति को ही दक्षिणा में दे दूँगी तो मेरे पास क्या रहेगा ? फिर पति से वञ्चित होने पर पुत्र मिलता हो तो वह वस्तुतः किसी काम का नहीं। पुत्र का एकमात्र मूल पति ही है, क्योंकि वह उसी के अंश से उत्पन्न होता है। जब मूलधन ही चला जायेगा, तब विश्व में कोई भी व्यापार सम्भव नहीं होगा। इसलिए मैं तो यही समझती हूँ कि पुत्र के लोभ से पति का त्याग कोई गर्हिता नारी ही कर सकती हो तो करे, मैं नहीं कर सकती।'

पार्वती इस प्रकार व्याकुल हुई बैठी थीं। वह पुरोहित की व्रत-समाप्ति की दक्षिणा स्वरूप अपना पति प्रदान करने के लिए प्रस्तुत नहीं हुईं, इससे समस्त समाज में सन्नाटा छा गया था। सभी उपस्थित जन किंकर्त्तव्यविमूढ़ बैठे थे। किसी की भी समझ में यह नहीं आ रहा था कि उपस्थित समस्या को किस प्रकार सुलझाया जाय ?

समस्या का समाधान त्रिलोकीनाथ ने किया

उसी समय अन्तरिक्ष से एक अत्यन्त अद्‌भुत रत्नादि से निर्मित दिव्य रथ उतरता हुआ दिखाई दिया, जो कि घननील वर्ण के पार्षदों से घिरा था। वे सभी पार्षद रत्नालङ्कारों से सुसज्जित एवं दिव्य पुष्पहारों से समन्वित थे। देवताओं, ऋषि-मुनियों, शिवगणों आदि ने देखा कि उस रथ में भगवान् त्रिलोकीनाथ चतुर्भुज रूप में विराजमान हैं, जो कि रथ से उतर उसी स्थान पर समागत हो रहे हैं। उनकी चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म स्थित थे।

इनको समागत देखकर समस्त देवता आदि उठ खड़े हुए। ब्रह्मा, विष्णु, शिव ने उन्हें अर्घ्यादि देकर एक सर्वोत्तम सिंहासन पर विराजमान कराया और फिर सभी ने उनके अभय एवं पाप-ताप नष्ट करने वाले

पदारविन्दों में भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और गद्गद कण्ठ से उनकी स्तुति करने लगे।

भगवान् त्रिलोकीनाथ बोले–'देवगण ! मुझे यहाँ उपस्थित विवाद का समाधान करने के लिए ही आना पड़ा है। गिरिराजनन्दिनी पार्वती का यह व्रत केवल लोकशिक्षा के लिए ही है, अन्यथा यह तो सभी व्रतों और तपश्चर्याओं का फल प्रदान करने में स्वयं ही समर्थ हैं। इनकी माया से समस्त चराचर विश्व मोहित हो रहा है तो यह स्वयं मोह में क्यों पड़तीं ? इसलिए इनके द्वारा किया जाने वाला अनुष्ठान अपने लिए कदापि नहीं है।

'और, व्रतादि की समस्त विधियों के ज्ञाता, वेद-वेदाङ्गों के प्रकाण्ड विद्वान्, ईश्वर और सृष्टि के रहस्य-ज्ञान पूर्ण पारङ्गत तथा परम हरिभक्त और सर्वज्ञ महर्षि सनत्कुमार की भी अद्भुत दक्षिणा याचना का रहस्य भी यही कि व्रतानुष्ठान-कर्त्ता अपना पूर्ण समर्पण कर दे ! वह अपना कुछ भी न समझकर सबकुछ परब्रह्म परमात्मा का ही समझे। अनुष्ठान कराने वाला पुरोहित भी साक्षात् परब्रह्म रूप ही है, ऐसा मानता हुआ ही किसी वस्तु के प्रति मोह न रहे। इसलिए इनके द्वारा दक्षिणा में व्रतानुष्ठान करने वाली साध्वी से उसकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु माँग लेना भी उचित ही है।'

इसके पश्चात् उन्होंने गिरिराजनन्दिनी को सम्बोधित किया–'हे शिवे ! शिवप्रिये ! तुम्हें अपने पति भगवान् नीलकण्ठ को प्रदान कर पुण्यक-व्रत पूर्ण कर लेना चाहिए। नियम यह है कि दक्षिणा में प्रदत्त कोई भी पदार्थ उसका समुचित मूल्य देकर वापस लिया जा सकता है। इसलिए समुचित मूल्य देकर तुम अपने प्राणनाथ को वापस ले लेना। भगवान् त्रिलोकीनाथ के शरीर जैसे शिव हैं, वैसे गौ भी हैं। इसलिए पुरोहित को अपने पति के मूल्य में गौ देकर अपना पति लौटा लेना।'

यह कहकर भगवान् त्रिलोकीनाथ तुरन्त अन्तर्धान हो गए। उनके साथ

ही वह रथ और पार्षद्गण भी अदृश्य हो गये। भगवान् के मुखारविन्द से सुने हुए इन वचनों ने सभी समस्या तथा समस्त विवाद सुलझा दिया, इस कारण समस्त उपस्थित समुदाय हर्ष-विभोर हो गया। शैलनन्दिनी भी हर्षित होती हुई उठीं और अपने प्राणनाथ चन्द्रमौलि को दक्षिणा में देने को तत्पर हो गईं।

पुरोहित ने हवन की पूर्णाहुति कराके दक्षिणा माँगी तो शिवा ने अपने प्राणधन शिव को दक्षिणा रूप में प्रदान कर दिया। उपस्थित जनसमूह की हर्ष-ध्वनि के मध्य महर्षि सनत्कुमार ने 'स्वस्ति' कहकर दक्षिणा ग्रहण कर ली।

पार्वती के अनुपम धैर्य की जाँच

समस्त कार्य पूर्ण हो चुका। देवी पार्वती ने पुरोहित से निवेदन किया—'विप्रवर ! मेरे पति में और गौ में समानता है। फिर भी मैं आपको एक लाख अत्यन्त सुन्दर, श्रेष्ठ, दुधारू गौएँ दूँगी, जो कि साक्षात् कामधेनु के समान हैं। इनके बदले में आप मेरे प्राणधन को मुझे लौटा दीजिए।'

सनत्कुमार बोले—'देवि ! मैं तो ब्राह्मण हूँ कोई व्यापारी नहीं। इसलिए मैं आपके द्वारा दी जाने वाली एक लाख गौओं का क्या करूँगा ? उल्टे उनके पालन की समस्या मेरे समक्ष आ खड़ी होगी और उस स्थिति में मैं अपने नित्य नैमित्तिक कर्म भी ठीक प्रकार से करने में असमर्थ रहूँगा। इसलिए मैं अपना भला इसी में समझता हूँ कि इन अहिभूषण भगवान् को ही अपने साथ रखता हुआ इन्हें आगे करके तीनों लोकों का भ्रमण करूँ। उस समय इनके अद्भुत रूप को देखकर बालक—बालिकाएँ प्रसन्न हो-होकर ताली बजाएँगे और अट्टहासपूर्वक हो-हो करते चलेंगे।'

यह कहकर महर्षि ने उमानाथ से कहा—'आशुतोष ! अब आप मेरे

अधिकार में हैं, इसलिए यहाँ आकर बैठिए।' यह सुनकर भगवान् शङ्कर सनत्कुमार के पास जाकर शांत बैठ गए।

अब तो देवी शैलपुत्री को बड़ी व्याकुलता हुई। उन्हें यह आशङ्का न थी कि सीधा-सादा दिखाई देने वाला ब्राह्मण इतना हठ पर उतर आएगा और भगवान् त्रिलोकीनाथ के वचनों पर भी ध्यान नहीं देगा। और फिर यह भी दुर्भाग्य की ही बात है कि मुझे न तो अभीष्टदेव का दर्शन ही मिला और न व्रत का फल ही। तब क्या किया जाए?

'परन्तु समस्या का समाधान था ही नहीं तो उन्होंने सोचा-इससे तो प्राण त्याग करना ही श्रेष्ठ है। जब कोई उपाय दिखाई न दे तो यही अन्तिम अस्त्र रह जाता है। किन्तु, कहते हैं कि आत्मघात पाप है, तो उसका भी जो फल मिलेगा भोग लूँगी।' ऐसा निश्चय कर गिरिजा प्राण त्याग के लिए प्रस्तुत हुईं।

उनका निश्चय समझने में ब्रह्मा-विष्णु को देर न लगी। उन्होंने समझाया-'देवि! विपत्ति के समय धैर्य का त्याग ही विनाश का प्रमुख कारण होता है। किसी भी संकट से मुक्ति पाने का उपाय आत्मघात नहीं है, वरन् विवेक बुद्धि से काम लेना है।'

३. तृतीय अध्याय

पार्वती का आत्मघात के लिए तैयार होना

गिरिराजपुत्री ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया और वह अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने को ही थीं कि अन्तरिक्ष के शून्य में सहसा करोड़ों सूर्यों के सम्मिलित समूह के समान एक परम-उत्कृष्ट

तेजपुञ्ज प्रकट हो गया, जिसके कारण समूचा कैलास पर्वत और समस्त दिशाएँ प्रकाशमान हो उठीं। वह तेज-मण्डल असीमित अनन्त था। यह देखकर समस्त देवता और ऋषि-मुनि समझ गए कि भगवान् हैं, इसलिए सभी भक्तिभाव से प्रणाम करके गद्‌गद कण्ठ से उनकी स्तुति करने लगे।

देवताओं ने कहा–'हे प्रभो ! आप असीमित और अनन्त की यथार्थ रूप से स्तुति करने में तो हम पूर्णरूपेण असमर्थ हैं, क्योंकि आप समस्त विश्व के परमाश्रय, मायामय और माया से परे भी हैं। हे नाथ ! यह दृश्यमान जगत् आपका ही महिमामय स्वरूप है। कोई भी दृश्यमान या अदृश्य पदार्थ किसी भी अवस्था में आपसे भिन्न नहीं हो हो सकता। प्रभो ! हे जगदीश्वर ! इस समय जो विकट परिस्थिति उत्पन्न हुई, उससे आप ही उबार सकते हैं।'

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने कहा–'प्रभो ! आप समस्त देवता, ऋषि-मुनि एवं हम त्रिदेवों के भी उत्पत्तिकर्त्ता हैं। हम सब आपके ही संकेतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और प्रलय किया करते हैं। हे प्रभो ! हे नाथ ! हे जगदीश्वर ! आप हमपर कृपा कीजिए।'

धर्म ने निवेदन किया–'त्रिलोकीनाथ ! आपकी आज्ञा से ही समस्त धार्मिक और न्यायवान् पुरुष मेरी रक्षा में तत्पर रहते हैं। हे प्रभो ! यह सब आपकी महिमा का प्रभाव है।

अन्य देवताओं ने कहा–'हे नाथ ! आप वाणी से परे होने के कारण अकथनीय, स्वेच्छामय, ज्ञानमय एवं ज्ञानातीत हैं, तब आप समस्त वेदों के कारण स्वच्छ ज्ञानमूर्ति का स्तवन किस प्रकार किया जाय ? हे प्रभो ! हम सब आपके कलांश होने के कारण आपकी सम्पूर्ण कलाकारी को ठीक प्रकार से जानने में भी समर्थ नहीं हैं।'

ऋषियों ने कहा–'मोक्षप्रद प्रभो ! आप समस्त कल्याणों के आश्रय, सिद्धियों के प्रदाता तथा बुद्धि के प्रेरक हैं। आपकी ही प्रेरणा से हम सब केवल आपके ध्यान में अहर्निश तल्लीन रहते हैं। फिर भी आप करुणामूर्ति के साक्षात् दर्शन नहीं कर पाते। हे प्रभो ! हम आपको

नमस्कार करते हैं। आपकी जय हो, जय हो।'

तभी सर्वत्र जयघोष होने लगा। सभी दिशाएँ भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्ण के जय-जयकार से गूँज उठीं। तभी जगज्जननी पार्वतीजी ने परमात्मा के स्वरूप का गुणगान करते हुए निवेदन किया–'सर्वान्तर्यामी ! आपका अद्भुत तेज करोड़ों सूर्यों को लजाने में समर्थ है। आपके स्वरूप का वर्णन कोई भी नहीं कर सकता। आप अणु-अणु में व्याप्त एवं परम महिमामय हैं। आप इच्छा मात्र से ही सभी कुछ करने में समर्थ हैं, इसलिए आप तो मुझे जानते हैं, किन्तु मैं आपको यथार्थ रूप में कैसे जान सकती हूँ ? हे प्रभो ! मैंने पुत्र की कामना से पुण्यक-व्रत का अनुष्ठान किया है, किन्तु इस अनुष्ठान की समाप्ति पर विधानानुसार अपने प्राणपति को दक्षिणा रूप में दिया जाता है, यह कार्य अत्यन्त दुष्कर है। कोई साध्वी नारी पुत्र के लिए अपने पति का त्याग कैसे कर सकती है ? हे करुणामय ! हे गोलोकनाथ ! आप मेरी इस शोचनीय स्थिति को समझकर मुझपर दया कीजिए।'

श्रीकृष्ण के ध्यान में पार्वती का मग्न होना

गर्भवती गिरिजा भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में मग्न हो गईं। उन्हें उस समय अपने तन-मन की सुधि नहीं थी। उनकी दृष्टि अन्तरिक्ष में उभरे हुए तेजपुञ्ज पर टिकी थी।

तभी उन्हें उस अनन्त तेज-राशि के मध्य अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त अत्यन्त मनोहर स्वरूप के दर्शन हुए। मुख-मण्डल पर अवर्णनीय तेज, अधरों पर सरल मुसकान, हाथ में अमृत की वर्षा करने वाली मुरली, कण्ठ में मणियों और वनपुष्पों के हार, मस्तक पर स्वर्ण-रत्नमय किरीट, कानों में दिव्य कुण्डल, विशाल भाल पर तिलक, नीलवर्ण देह पर पीताम्बर, विभिन्न अङ्गों में रत्नाभरण, कटि में कञ्चन मेखला, चरणों में क्वणित किङ्किणी और किरीट पर मोर का पङ्ख सुशोभित था। वे भगवान्

दिव्य एवं भव्य रत्न-सिंहासन पर विराजमान थे। उनके पीछे सखाजन चँवर डुला रहे थे।

शैलनन्दिनी ने उस भुवनमोहन स्वरूप को देखा तो एकटक देखती ही रह गईं। उनके मन में हुआ कि पुत्र मिले तो इसी रूप के समान सुन्दर हो। उन्होंने सुना—'गिरिजे ! तुम्हारा व्रत सफल हो गया। तुमने जैसे पुत्र की कामना की है, वैसा ही प्राप्त होगा।'

गिरिराजनन्दिनी के हर्ष की सीमा न रही, उन्होंने निवेदन किया—'प्रभो ! आपने व्रत की सफलता स्वरूप अपने समान पुत्र प्राप्ति का वर तो दे दिया, किन्तु जो मूल समस्या है, उसका तो समाधान ही नहीं हुआ। हे परमात्मदेव ! मुझपर कृपा कीजिए।'

पार्वती को लगा कि भगवान् त्रिभुवन हँसते हुए कह रहे हैं—'पार्वती ! यह समस्या तो सामयिक है। स्थायी नहीं। इसका प्रतिकार तो स्वतः ही हो जायेगा। तुम कोई चिन्ता न करो, तुम्हारी जो भी कामनाएँ हैं, वे सभी पूर्ण हो गईं समझो। निश्चय ही तुम पूर्ण काम हो गई हो गिरिराजनन्दिनी।

और तब शैलजा ने उन परम प्रभु को प्रणाम किया और वे परमात्मदेव सबके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गए। सहसा अन्तरिक्ष में प्रकट वह तेजपुञ्ज तिरोहित हो गया।

अब महर्षि सनत्कुमार ने भगवान् विष्णु की प्रेरणा से शैलनन्दिनी के प्रति कहा—'जगज्जननी ! तुम्हारे पति तो निरे औघड़ बाबा हैं, यह मेरे किसी काम के नहीं। मैंने विचार करके देखा कि इन्हें लिये-लिये मैं कहाँ—कहाँ फिरूँगा ? इसलिए तुम इन्हें अपने ही पास रखो।'

देवी पार्वती की प्रसन्नता की सीमा न थी। उन्होंने पुरोहित से निवेदन किया—'विप्रश्रेष्ठ ! आप बड़े कृपालु हैं। मैं आपकी महानता को नहीं समझ सकी थी। अब आप मुझे आज्ञा दीजिए कि इनके बदले में क्या वस्तु प्रदान करूँ ?'

सनत्कुमार बोले–'देवि ! ब्राह्मण को वैसे तो कुछ भी अभीष्ट नहीं है, फिर भी व्रत की सम्पन्नता-स्वरूप और उसे फलवान् बनाने के लिए दक्षिणा लेना आवश्यक ही है। इसलिए कपिला गौ ही दे दीजिए।'

शैलनन्दिनी ने सनत्कुमार को कपिला गौओं का दान किया और अनेक बहुमूल्य रत्नाभूषण तथा दिव्य वस्तुएँ प्रदान कीं तथा अन्य समस्त ब्राह्मणों, ऋषि-मुनियों, बन्दीजनों एवं भिक्षुकों आदि को उनकी अभीष्ट वस्तुएँ दीं और सुस्वादु पदार्थों से भोजन कराया। सभी सब प्रकार से सन्तुष्ट होकर उनकी प्रशंसा करते हुए आशीर्वाद देने लगे।

तदुपरान्त देवी पार्वती ने अपने प्राणपति का अत्यन्त प्रीतिपूर्वक पूजन किया। उस समय दिव्य वाद्य बजने लगे, गन्धर्व गाने लगे और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। सुमुखियाँ मङ्गल गीत गाने लगीं। सर्वत्र आनन्द-उल्लास छा गया।

इस प्रकार भगवती गिरिराजनन्दिनी का पुण्यक-व्रत समाप्त हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने शिवजी के साथ स्वयं भी भोजन किया। तदुपरान्त समस्त उपस्थित जनों को मुख-शुद्धि के लिए ताम्बूल दिये गये और शिव-शिवा ने भी ताम्बूलों का सेवन किया। इसके पश्चात् उत्सव समाप्त हुआ और सभी आगजतन अपने-अपने स्थानों को लौट गये।'

२९

४. चतुर्थ अध्याय

विप्रवेश धारण कर प्रभु का आना

उत्सव समाप्त होने पर शिव-शिवा अन्तःपुर में चले गये। तभी उनके द्वार पर दीन-हीन, कुत्सित ब्राह्मण आकर पुकारने लगा–'शम्भो !

हे सर्वकामनादायक प्रभो ! हे दीनबन्धो ! मैं भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल एक दीन-हीन, दुर्बल ब्राह्मण हूँ। भोजन की इच्छा से ही बहुत दूर से चलकर यहाँ आया हूँ।'

उसके सिर के केश रुक्ष, उलझे हुए, नये वस्त्र मैले-कुचैले थे। किन्तु दाँत स्वच्छ और ललाट पर उज्ज्वल तिलक लगा था। उसके हाथ में एक डण्डा था, जिसके सहारे खड़ा हुआ पुकार लगा रहा था–'अरे शिवजी ! क्या कर रहे हो प्रभो ! हे गिरिराजनन्दिनी ! तुम्हारे द्वार पर याचक ब्राह्मण भूखा पुकार रहे हैं और तुम सुनतीं ही नहीं। भला सर्वसम्पत्ति-सम्पन्न माता के रहते हुए उसका बालक भूख से व्याकुल पुकारता रहे, यह कैसी विचित्र बात है !'

ब्राह्मण की पुकार सुनकर शिव-शिवा बाहर निकले। उन्हें देखते ही उस दीन ब्राह्मण ने उनके चरणों में प्रणाम किया और स्तुति करने लगा–'आशुतोष प्रभो ! मैं भूख से अत्यन्त व्याकुल हूँ तथा आप समस्त धन-धान्यों से सम्पन्न एवं समर्थ हैं। हे दीनबन्धो ! मेरी इस दशा को देखकर मुझपर कृपा कीजिए। हे नाथ ! आपके समान कोई दाता नहीं है। हे माता ! आपके समान कोई दयावती माता नहीं हो सकती।'

विप्र के दीनतायुक्त वचन सुनकर भगवान् आशुतोष प्रसन्न हो गए। उन्होंने पूछा–'द्विजवर ! आप कहाँ से आ रहे हैं ? आपका शुभ नाम क्या है। कृपया सभी बातें बताने का कष्ट करें।' करुणामयी शैलनन्दिनी ने भी पूछा–'वेदपारंगत विप्रश्रेष्ठ ! मेरा अत्यन्त सौभाग्य है जो आप मेरे यहाँ इतना कष्ट करके पधारे हैं। वस्तुतः आप जैसे अतिथि के स्वागत-सत्कार एवं सेवा की बड़ी महिमा कही गई है।'

ब्राह्मण ने कहा–'हे माता ! आप तो साक्षात् वेदमयी हैं। आप मुझ क्षुधार्त्त को अन्न प्रदान कीजिए। क्योंकि मैं बहुत दूर से चलकर यहाँ आने के कारण अत्यन्त थका हुआ हूँ। वैसे भी मैं उपवास-व्रती एवं रोग से पीड़ित हूँ। बस, यही मेरा स्वागत-सत्कार एवं पूजन है।'

भगवती शैलजा ने कहा–'विप्रवर ! मुझे आज्ञा कीजिए कि आपको कौन-सा पदार्थ प्रस्तुत करूँ? आपकी जो इच्छा होगी, वही पदार्थ आपकी सेवा में उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगी। आप कुछ बताइए तो सही।'

ब्राह्मण ने कहा–'क्या बताऊँ जगज्जननि ! मैं आप पुत्रविहीना माता का ही अनाथ पुत्र हूँ। मुझे ज्ञात हुआ है कि आपने अभी ही व्रतों में सर्वश्रेष्ठ एवं महान् पुण्यक-व्रत का अनुष्ठान पूर्ण किया है। उसके समायोजनार्थ अनेक दुर्लभ सामग्रियाँ इकट्ठी की गई होंगी। अद्भुत पक्वान्न और मिष्ठान्न बनाये गये होंगे तथा स्वच्छ सुवासित शीतल जल भी पीने के लिए मँगाया गया होगा। मुख-शुद्धि के लिए ताम्बूल भी प्रस्तुत किये गये होंगे। माता ! उन-उन समस्त वस्तुओं से मेरा पूजन कीजिए और वे सब पदार्थ मुझे इतने खिलाइए, इतने खिलाइए कि मेरा पेट तन जाये। उन पदार्थों को खाकर मैं लम्बोदर हो जाऊँ।'

पार्वती जी उस ब्राह्मण की बात सुनती हुई कुछ आश्चर्य से उसका मुख देखने लगीं। तभी ब्राह्मण ने भगवान् चन्द्रमौलि की ओर देखते हुए शैलजा से कहा–'जननि ! सम्भवतः आप मेरे वचनों पर विश्वास नहीं कर रही हैं, किन्तु मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह अक्षरशः सत्य है। आपके प्राणप्रिय पति सब पर शीघ्र ही प्रसन्न हो जाने के कारण आशुतोष कहलाते हैं। वे विश्व में विद्यमान समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी होने के कारण सभी कुछ प्रदान करने में समर्थ हैं और आप भी समस्त धनों और यशों की स्वामिनी तथा साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपिणी होने के कारण समस्त सत्कीर्तियों को प्रदान करने में समर्थ हैं। इसलिए आप मुझे अत्यन्त रमणीय सिंहासन पर विराजमान कराइए, मुझे बहुमूल्य एवं दिव्य रत्नालंकार पहिनाइये, शुद्ध सुन्दर वस्त्र धारण कराकर भगवान् श्रीहरि का देव-दुर्लभ मन्त्र प्रदान कीजिए। भगवान् त्रिलोकीनाथ की भक्ति तथा

मृत्युञ्जय संज्ञक ज्ञान दीजिए। इसके अतिरिक्त हे जननि ! सुख देने वाली दान-शक्ति और समस्त सिद्धियों की भी प्राप्ति कराइये।'

पार्वती उसे इस प्रकार देख रही थीं जैसे उसकी बातों को समझ ही न रही हों। विप्र भी उनकी भाव-भंगी को देखता-समझता हुआ कहता चला जा रहा था–'माता ! मैं तपश्चर्या में रत रहने और उत्तम धर्म का पालन करने वाला हूँ। मुझे जन्म-मरण और रोग-जरा आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते और न मैं उस प्रकार के कर्मों को करूँगा ही, जिनके करने से जन्म-जरा-व्याधि और मृत्यु का प्रकोप हो सकता हो।'

अब ब्राह्मण ने जगत् की असारता पर प्रकाश डाला–'जगदीश्वरि ! यह जगत् आपके आश्रय में रहता हुआ भी असार ही है। जो इसकी असारता को जान लेता है, वह व्यामोह में नहीं पड़ता। मैंने जगत् की यथार्थता का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसलिए मुझे इसके कारण भूख, काम-क्रोध, लोभ-मोह व्याप्त नहीं कर सकते। फिर आपकी कृपा होने पर तो जगत् के कारण रूप इन विकारों का अस्तित्व रह नहीं सकता।'

'हे माता ! आप समस्त कर्मों का फल प्रदान करने वाली हैं। आपने स्वयं नित्या, सत्या और सनातनी होते हुए भी लोक-शिक्षा के लिए तपश्चर्या, व्रतोपवास और पूजनादि कार्य सम्पन्न किए हैं और यही कारण है कि आपके अंक में गोलोकवासी परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण प्रत्येक कल्प में प्रकट होकर क्रीड़ा किया करते हैं।'

विप्र का अन्तर्धान होना शिशुरूप में प्राकट्य

शिव-प्रिया भवानी कुछ कहना ही चाहती थीं कि तभी वे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तेजोमय मुख-मण्डल वाले, किन्तु कृशकाय ब्राह्मणदेवता देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। पार्वतीजी आश्चर्य से सोच ही रही थीं कि यह क्या हुआ ? कहाँ गये वे श्रेष्ठ विप्र ?

उधर वह ब्राह्मण अन्य कोई नहीं गोलोकपति जनार्दन ही थे जो अदृश्य रूप से अन्तःपुर में प्रविष्ट होकर माता पार्वतीजी की शय्या पर नवजात शिशु रूप में जा लेटे, जो अद्वितीय सुन्दर एवं दिव्य तेज से सम्पन्न थे। सभी दिशाएँ उनसे प्रकाश प्राप्त करके जगमगा रही थीं तथा उनकी रूप-छटा भी अद्भुत थी–

"शुद्धचम्पकवर्णाभः कोटिचन्द्रसमप्रभः।
मुग्धदृश्यः सर्वजनैश्चक्षूरश्मिविवर्द्धकः।
अतीवसुन्दरतनुः कामदेवविमोहनः।
मुखं निरुपमं विभ्रच्छारदेन्दुविनिन्दकम्॥"

'उसका वर्ण चम्पक के समान और तेज करोड़ों चन्द्रमाओं के समान था! वह सुखपूर्वक देखने के योग्य और सभी की नेत्र-ज्योति बढ़ाने वाला था। उसका शरीर कामदेव को भी मोहित करता था तथा मुख अनुपम और शरद् के पूर्णचन्द्र को भी निन्दित करने में समर्थ था। उसके सुन्दरतम नेत्रों की शोभा के समक्ष मनोहर कमल भी तिरस्कृत हो रहा था। लाल-ओष्ठ पक्व बिम्बफल को लज्जित कर रहे थे!'

इधर तो उनकी शय्या में विद्यमान त्रैलोक्य भर में अनुपम शिशु अपने हाथ-पाँव उछाल रहा था, उधर पार्वती जी को उस ब्राह्मण के सहसा अदृश्य हो जाने से बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने त्रिलोचन प्रभु से कहा–'प्राणनाथ! उस अतिथि ब्राह्मण को तो देखिए, वह कहाँ चला गया! घर के द्वार पर आये हुए अतिथि का द्वार से निराश होकर लौट जाना शुभ नहीं होता। वह भूख से पीड़ित हुआ अतिथि बिना कुछ प्राप्त किये चला गया!'

१० तभी आकाशवाणी सुनाई दी–'जगज्जननि! व्याकुल न हो। वे तो स्वयं परात्पर ब्रह्म ही थे, जो तुम्हारे पुत्र रूप से पर्यंक में क्रीड़ा कर रहे हैं। देखो, तुम्हारे द्वार पर कोई अतिथि ब्राह्मण नहीं, वरन् साक्षात् जनार्दन ही पधारे थे। यह सब तुम्हारे द्वारा किए गये महान् पुण्यक-व्रत का ही

प्रभाव था। अतएव तुम तुरन्त अपने घर जाकर करोड़ों कामदेवों का तिरस्कार करने वाले रूप-लावण्य युक्त राशि अपने पुत्र को देखो।'

आकाशवाणी सुनकर पार्वती स्वस्थ-चित्त हुईं और उन्होंने भीतर जाकर अपने पुत्र को देखा। वह अत्यन्त सुन्दर एवं तेजस्वी था। उसके दिव्य अंगों से जो अनुपम तेज निकल रहा था, उससे समस्त अन्तःपुर प्रकाशमान हो रहा था।

उन्होंने उस सुन्दरतम नवजात शिशु को देखा तो हर्ष-विभोर हो उठीं और तुरन्त ही शिवजी के पास जाकर बोलीं-'प्राणेश्वर! कृपा कर घर के भीतर चलकर देखने का कष्ट कीजिए। हे नाथ! आप जिस सद्यःफलदायक स्वरूप का ध्यान किया करते हैं, उसी के पुत्र रूप में दर्शन कीजिए।'

पार्वती से पुत्र के प्राकट्य का संवाद सुनकर समस्त हर्षों के आश्रय-स्थान भगवान् आशुतोष अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने शय्या पर लेटे हुए अपने पुत्र को देखा जो छत की ओर इकटक निहार रहा था। शशिभूषण उस अत्यन्त अद्‌भुत रूप को देखकर आश्चर्य से सोचने लगे-'अरे! यह शिशु तो उसी मूर्ति का प्रतिरूप है, जिसका मैं सदैव ध्यान किया करता हूँ। अवश्य ही वे परात्पर परमात्मा मेरे पुत्र में व्यक्त हुआ है।'

उन्होंने पार्वती से कहा-'प्रिये! तुम्हारा सौभाग्य है, जो ऐसे अद्‌भुत पुत्र की तुम्हें प्राप्ति हुई है।' जगज्जननी ने अपने प्राणनाथ की बात के अनुमोदन स्वरूप शिशु को तुरन्त ही गोद में उठा लिया और वह उसका मुख चूमती हुई बोलीं-

"सम्प्राप्यामूल्यरत्नं त्वां पूर्णमेव सनातनम्।
यथा मनो दरिद्रस्य सहसा प्राप्य सद्धनम्॥
कन्ते सुमिरमायाते प्रोषिते योषितो यथा।
मानसं परिपूर्णं च बभूव च तथा मम॥"

'हे पुत्र ! जैसे सहसा अमूल्य रत्नादि शुभ धन प्राप्त होने पर दरिद्र का मन प्रसन्न हो उठता है, उसी प्रकार तुम सनातन पुरुष रूप अमूल्य रत्न के पुत्र रूप में प्राप्त होने से मेरी भी कामना पूर्ण हो गई है। जैसे चिरकाल से परदेश में निवास करने वाले प्रियतम के सहसा घर लौट आने पर स्त्री का मन उल्लास से भर जाता है, वैसी ही मेरी मन-स्थिति हो रही है।'

इस प्रकार आनन्दमग्न हुई गिरिराजनन्दिनी नवजात शिशु रूप परात्पर ब्रह्म को प्यार से अपनी गोद में खिलाने लगीं तथा पुत्र-स्नेह के कारण उनके स्तनों में दूध उमड़ने लगा और वे शिशु को दूध पिलाने लगीं। तदुपरान्त भगवान् त्रिलोचन ने अत्यन्त मुदित मन से पार्वती से अपने पुत्र को ले लिया और गोद में लिटाकर खेलाने लगे। उन्होंने मन-ही-मन नमस्कार करके निवेदन किया—'प्रभो ! आपने मेरी चिर प्रतीक्षित साधना पूरी कर दी है। आपकी इस कृपा से मैं सब प्रकार से धन्य हो गया हूँ। परन्तु, हे प्रभो ! यह प्रार्थना है कि मैं आपकी माया में विमोहित होकर कहीं आपके यथार्थ रूप को भूल न जाऊँ।'

पुत्रोत्सव तथा जातकर्म वर्णन

अब कैलास-शिखर स्थित शिव-सदन के प्रांगण में पुत्रोत्पत्ति की प्रसन्नता में उत्सव मनाया जाने लगा। देवगण, किन्नरगण और अप्सराओं ने नृत्य-गायनादि आरम्भ किया। सुमधुर बाजे बजने लगे। नारियाँ मंगल गीत गाती हुई उस अद्भुत आयोजन में सम्मिलित हुईं।

भगवान् शंकर ने शिशु का जातकर्म-संस्कार कराया। ब्राह्मणों ने शिशु के महिमाशाली होने का बखान करते हुए चिरायु होने का आशीर्वाद दिया। तदुपरान्त ब्राह्मण भोजन के पश्चात् अभिलषित दक्षिणा दी गई। वन्दीजनों और भिक्षुकों को भी उनकी इच्छानुसार धन-रत्नादि दिए गये।

हिमाचल ने अपने दौहित्र के जातकर्म-संस्कार उत्सव के अवसर पर

ब्राह्मणों को एक लाख विशिष्ट रत्न, एक सहस्त्र श्रेष्ठ गजराज, तीन लाख दिव्य तुरङ्ग, दस लाख कपिला गौएँ, पाँच लाख स्वर्ण-मुद्राएँ एवं बहुत सारे हीरे-मोती-जवाहरात, बहुमूल्य रत्नालंकार एवं वस्त्रादि प्रदान किये।

उस अवसर पर भगवान् विष्णु ने भी हर्षातिरेक में भरकर प्रमुख दिव्य मुनियों का पूजन किया और कौस्तुभ मणि दान में दे दी। फिर पार्वती के पुत्र रूप में परब्रह्म के प्रकट होने के उपलक्ष्य में उन्होंने वेद-संहिताओं और पुराणों का पाठ कराया और अनेक मांगलिक कार्य कराये।

ब्रह्माजी ने भी उस उत्सव में भाग लेकर ब्राह्मणों को अत्यन्त दुर्लभ वस्तुएँ दान कीं तथा नवजात शिशु को आशीर्वाद दिया। देवराज इन्द्र ने भी दिव्याभरण दान दिये। फिर अन्यान्य देवताओं, गन्धर्वों, पर्वतों आदि ने भी दान में अद्भुत वस्तुएँ दीं। सूर्य और धर्म ने तथा देवियों ने भी विविध पदार्थों के दान किए। इस प्रकार उस समय ब्राह्मणों को जो-जो वस्तुएँ दी गईं उनके मूल्य का अनुमान किया जाना भी असम्भव था।

भगवती गायत्री, सावित्री, शारदा, रमा, ब्रह्माणी आदि ने भी दुर्लभ वस्तुओं का दान किया था। स्वयं माता पार्वती जी ने असीमित धन और गवादि पशुओं एवं वाहनों का दान कर दिया। कुबेर ने भी ब्राह्मणों को बहुत-सा धन प्रदान किया।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर के यहाँ परब्रह्म परमात्मा के पुत्र रूप में प्रकट होने पर समस्त देवताओं ने आनन्दोत्सव मनाया और बालक के मंगलार्थ जो कुछ दानादि क्रिया की जा सकती थी, वह सब की गई। सभी ने ब्राह्मणों को दान दिये और फिर बालक को चिरायु होने का आशीर्वाद दिया। ब्रह्मा जी बोले—'वत्स! तुम यथाशीघ्र यशस्वी बनो और समस्त देवताओं में प्रथमपूजा के अधिकारी होओ।'

विष्णु ने कहा–'शिशु ! तुम चिरंजीवी रहो। ज्ञान में अपने पिता शिवजी के समान और पराक्रम में मेरे समान होओ। तुम समस्त सिद्धियों के अधीश्वर भी होगे।'

धर्म ने कहा–'तुम सदैव धर्म में स्थित रहो। तुम्हारे द्वारा कभी कोई अधर्म-कार्य न हो वरन् जो अधर्म करने वाले हों, उनके विनाश में सदैव तत्पर रहो।'

इन्द्र ने कहा–'बालक ! तुम देवताओं के सदैव रक्षक रहो। विवाद उपस्थित होने पर देवपक्ष का समर्थन करो और असुरों एवं दुष्कर्मियों को उत्पीड़ित करो।'

इस प्रकार अपनी बुद्धि के अनुसार लक्ष्मी, सरस्वती, सावित्री, शिव, हिमालय, मेनाक, पृथ्वी एवं पार्वती ने भी इस नवजात शिशु को आशीर्वाद दिया तथा उसके ऐश्वर्यवान्, बुद्धि एवं सिद्धिनिधान, विद्वान् एवं पुण्यवान् होने की मंगलकामना की तथा मनोहर रूप-लावण्य सम्पन्न पत्नी, महान् कवित्व-शक्ति धारण एवं स्मरण-शक्ति की प्राप्ति का वर प्रदान किया।

फिर यह कामना व्यक्त की कि वह हरि-भक्तों और सज्जनों का शरणदाता, विघ्ननाशक, धर्म के समान स्थिर, शिव के समान परमयोगी, समस्त प्राणियों पर दया करने वाला, मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करने वाला, सभी कार्यों में परम निपुण, वेद-वेदांगों में पारंगत एवं सिद्धि कामियों को सिद्धिदाता बने।

इस प्रकार देवताओं और देवियों द्वारा शुभ कामनाएँ एवं आशीर्वाद दिये जाने के पश्चात् समागत ऋषियों ने भी अनेक प्रकार के शुभ आशीर्वाद प्रदान किये। फिर सभी ब्राह्मणों ने भी हार्दिक रूप से शुभाशीष दी और वन्दी जनों ने भी अपनी-अपनी ओर से मंगल कामनाएँ व्यक्त कीं।

तदुपरान्त भगवान् श्रीहरि, कमलासन ब्रह्मा, आशुतोष शङ्कर एवं अन्यान्य समस्त देवगण यथोचित स्थानों पर विराजे। मुनिजनों को भी उनके तदनुसार उच्चासन दिये गए। इस प्रकार वहाँ अद्‌भुत समाज जुड़ा और सभी आनन्दपूर्वक सभा की शोभा बढ़ाने लगे।

५. पञ्चम अध्याय

गणपति के दर्शनार्थ शनिश्चर का कैलास जाना

सूतजी बोले—'हे शौनक ! अब मैं एक अन्य उपाख्यान सुनाता हूँ, जिसमें भगवान् महागणेश्वर के दर्शनार्थ शनिश्चर का आगमन हुआ था। शनि ने सोचा—'दीर्घकाल से मैं उनके दर्शन से वञ्चित रहा हूँ इसलिए स्वयं ही कैलास-शिखर पर चलना चाहिए। वहाँ शिव-शिवा के दर्शनों का लाभ सहज में ही हो जायेगा।'

ऐसा निश्चय कर शनिदेव ने कैलास की ओर प्रस्थान किया। शिवजी की सभा लगी थी। इधर-उधर अनेकानेक देवगण, ऋषिगण, सिद्धगण आदि बैठे हुए थे। उस समय भगवान् शिवजी मध्य सिंहासन पर विराजमान थे। साक्षात् भगवान् श्रीहरि और ब्रह्माजी भी उस समाज में उपस्थित थे। ब्रह्माजी के सामने समस्त लोकों का साक्षी धर्म मूर्तिमान खड़ा था।

उसी समाज में देवराज इन्द्र भी एक श्रेष्ठ आसन पर आसीन थे। पार्वती जी के पिता हिमाचल भी पधारे हुए थे और अनेक शिवगण उनके सत्कारादि में लगे हुए थे। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही इधर-उधर बैठे हुए उस समय प्रकाश फैला रहे थे।

"ननर्त्त नर्त्तकश्रेणी जगुर्गन्धर्वकिन्नराः।
श्रुतिसारं श्रुतिसुखं तुष्टुवुः श्रुतयो हरिम् ॥"

नृत्य करने वालों की मण्डलियाँ नृत्य में तत्पर थीं। गन्धर्वगण और किन्नरगण गायन-वादन कर रहे थे। श्रुतियाँ सुनने में सारभूत एवं सुरदायक भगवान् श्रीहरि के स्तवन में निमग्न थीं।

इस प्रकार कैलास-शिखर पर आनन्द-उत्सव मनाया जा रहा था। ऐसे ही समय में भगवान् सूर्यदेव के प्रतापी पुत्र ग्रहेश्वर शनिदेव का वहाँ आगमन हुआ। वह सूर्य-पुत्र सदैव अपने कार्य में निरत, सतत गतिशील एवं महायोगी माने जाते हैं।

हे मुने ! उस समय कैलास पर आते हुए ग्रहेश्वर शनि अत्यन्त विनम्र सात्विक मूर्ति एवं नत मस्तक थे। उनके नेत्र प्रभु के ध्यान में मुँदे हुए थे। मन में भगवान् सर्वेश्वर श्रीहरि का नाम जप चल रहा था। लगता था कि कोई तपस्वी महामुनि चले आ रहे हैं, जिनके शरीर का वर्ण काला होते हुए भी मुखमण्डल अग्नि के समान तेजस्वी प्रतीत होता था। शरीर पर सुन्दर रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे तथा उनकी चाल सीधी और मन्द थी।

धीरे-धीरे शनिदेव भगवान् शङ्कर के समक्ष पहुँचे और सभी उपस्थित देवताओं, प्रमुख मुनियों, सिद्धों, लोकपालों आदि के साथ उन्हें प्रणाम किया तथा आज्ञा पाकर एक ओर बैठ गये। परन्तु वहाँ के नृत्य-गानादि में उनका मन नहीं लगा। सोचा, यहाँ बैठकर मुझे क्या करना है ? आनन्द-उत्सव में भाग लेकर आनन्दित होना मेरा कार्य नहीं। जिस कार्य से आया हूँ, वही किसी प्रकार से पूर्ण होना चाहिए।

शनिदेव ने उठकर भगवान् आशुतोष का स्तवन किया और बोले–'प्रभो ! मैं भगवान् गणेश्वर के दर्शन चाहता हूँ। इसके लिए मुझे आज्ञा दी जाए।'

शनिदेव की इच्छा देखकर प्रमुख मुनियों और विष्णु आदि देवताओं ने भी भगवान् शङ्कर से अनुरोध किया कि 'शनिदेव को गणेशजी के दर्शन की सुविधा अवश्य प्रदान की जाए।'

पार्वतीनाथ मुस्कराये, बोले—'गणेश्वर के दर्शन करने हैं तो गिरिराजनन्दिनी के पास जाओ वत्स ! वह वहीं, उन्हीं के पास खेल रहा होगा।'

शनि ने पूछा—'माता पार्वती जी इस समय कहाँ होंगी चन्द्रशेखर ! मुझे वहाँ भेजने की व्यवस्था कीजिए प्रभो !'

भगवान् शङ्कर ने नन्दी को संकेत किया तो नन्दी ने शनिदेव को अपने पास बुलाकर धीरे से कहा—'शनैश्चर ! समाज की शान्ति भंग मत करो। चुपचाप मन्द गति से पार्वतीजी के भवन पर जा पहुँचो। वहाँ द्वार पर कोई होगा, वह तुम्हें भीतर पहुँचा देगा। परन्तु देखो, वक्रगति से न जाना वहाँ।' शनैश्चर मन-ही-मन हँसे। सोचा—यहाँ परमधाम में भी मेरा वक्रगति का ऐसा भय समाया हुआ है ? फिर प्रकट में नन्दीश्वर से बोले—'नहीं प्रभो ! यहाँ ऐसी धृष्टता कैसे कर सकता हूँ ? कृपया मुझे यह स्थान तो बताइये जहाँ जगज्जननी का भवन विद्यमान है।'

नन्दीश्वर हँसे, फिर बोले—'शनिदेव ! तुम्हारी दृष्टि से कोई स्थान बचा हो, यह मैं नहीं समझता। घूम-फिरकर तुम सभी स्थानों का निरीक्षण-परीक्षण कर लेते हो, तब जगज्जननी पार्वती जी का भवन तुम्हारी दृष्टि की पहुँच से कैसे बचा रहा ?'

शनिदेव ने भी हँसकर उत्तर दिया—'यहाँ सभी की दृष्टि कुण्ठित हो जाती है नन्दीश्वर ! मायामय एवं मायातीत भगवान् शङ्कर की उस महामाया का पार कौन पा सकता है ? अब आप कृपा करके मुझे वह स्थान बता दें तो मैं वहाँ पहुँचूँ।'

नन्दीश्वर ने कहा–'अरे, वह सामने ही तो माता गिरिजा का भवन दिखाई दे रहा है। देखो, वहाँ वे विशालाक्ष भगवान् द्वारपाल बने हुए द्वार पर खड़े हैं।'

विशालाक्ष का शनिश्चर को रोकना

शनिश्चर ने वहाँ से उठने का उपक्रम किया और भवन की ओर चले। वास्तव में वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर एवं भव्य भवन अवस्थित था। उसके चारों ओर असंख्य प्रमथगण विद्यमान थे। भवन के मुख्य द्वार पर अन्य गणों के अतिरिक्त एक विशाल नेत्र वाला सुन्दर पुरुष हाथ में त्रिशूल लिये हुए खड़ा था। शनिदेव धीरे-धीरे उधर ही चल पड़े। किन्तु भवनादि को न देख सके।

शनिदेव को आते देखकर विशालाक्ष तन कर खड़े हो गये। शनि ने देखा कि शिवजी के ही समान रूप, शील, बल वाला, विशालाक्ष त्रिशूल ताने खड़ा है तो दूर से ही बोले–

"शिवाज्ञया शिशुं द्रष्टुं यामि शङ्करकिङ्कर !।
विष्णुप्रमुखदेवानां मुनीनामनुरोधतः ॥"

'हे शिवजी के सेवक ! विशालाक्ष ! मैं देवताओं में प्रमुख भगवान् विष्णु तथा मुनिगणों के अनुरोध से प्राप्त शिवाज्ञा के अनुसार ही शिशु के दर्शनार्थ यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।'

विशालाक्ष ने शनैश्चर के निवेदन पर ध्यान नहीं दिया। यह देखकर उन्होंने पुनः कहा–'हे बुद्धिमान ! हे वीर ! आप कृपया मुझे जगज्जननी पार्वती जी के पास न जाने दें। मैं केवल बालक के दर्शन करके ही वापस लौट जाऊँगा।'

शनि की विनम्र प्रार्थना सुनकर भी उन्हें भीतर नहीं जाने दिया। वे बोले–'मैं न तो देवताओं की आज्ञा का वहन करने वाला हूँ और न

शिवजी का ही सेवक हूँ। जो देवताओं का दास, विष्णु का पार्षद या शिव का किङ्कर हो, उससे कहो।'

शनिदेव बड़े असमञ्जस में पड़े। उन्होंने सोचा—'अब क्या किया जाए ? कोई सामान्य पुरुष होता तो मैं उसे दृष्टिमात्र से तुरन्त पीड़ित कर एक ओर डाल देता। परन्तु, यह तो अद्वितीय पुरुष जान पड़ता है, जो शिवजी और बैकुण्ठनाथ विष्णु को भी कुछ नहीं समझता। इसलिए इसके प्रति अधिक विनम्रता का व्यवहार करना होगा।'

ऐसा निश्चय कर शनैश्चर ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोले—'प्रभो ! मैं आपके पद, पराक्रम और अधिकार से अनभिज्ञ था। इसी से ऐसा कह बैठा। अब आप मेरे अपराध को क्षमा कर दें अन्यथा मेरा यहाँ तक आने का परिश्रम तो विफल होगा ही, आशा पर भी तुषार-पात हो जाएगा। अतएव कृपा कीजिए प्रभो ! प्रसन्न हो जाइए नाथ !

विशालाक्ष प्रसन्न हो गये। उन्होंने पूछा—'तुम कौन हो ? बालक के दर्शन की इतनी उत्कण्ठा क्यों है तुम्हारे मन में ? इन प्रश्नों का उत्तर मिलने पर ही कुछ प्रयास किया जा सकता है।'

शनैश्चर ने कुछ विचार कर कहा—'नाथ ! मैं सूर्य-पुत्र शनि हूँ। अपनी कल्याण-कामना से भगवान् शङ्कर के दर्शनार्थ आया था, साथ ही जगज्जननी और बालक के दर्शन की भी परम अभिलाषा थी। भगवान् के दर्शन तो हो गये, माता और बालक के दर्शन शेष हैं, जो आपकी कृपा से ही हो सकते हैं।'

विशालाक्ष बोले—'ग्रहेश्वर ! माता की आज्ञा के बिना तुम्हें भीतर जाने देना मेरे लिए सम्भव नहीं है।'

'तो प्रभो !' शनिदेव ने गिड़गिड़ाते हुए निवेदन किया—'मैं यहाँ खड़ा हूँ, आप जगज्जननी गिरिराजनन्दिनी के पास जाकर आज्ञा ले आने की कृपा कीजिए।'

विशालाक्ष ने कुछ दृढ़ता से कहा–'तुम्हारा अनुरोध मानकर मैं भीतर जाता हूँ, पर कहीं तुम भी मेरे पीछे-पीछे न चले आना। जब तक मैं न लौटूँ तब तक यहीं खड़े मिलना।'

उन्होंने विश्वास दिलाया–'निश्चिन्त रहें प्रभो ! मैं यहीं खड़ा हुआ आपकी प्रतीक्षा करूँगा। भला आप जैसे उपकारी देव की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर सकता हूँ ?'

विशालाक्ष उन्हें द्वार पर खड़ा करके भीतर चले गये और जगज्जननी को प्रणाम कर बोले–'माता ! आपके और शिशु के दर्शन की इच्छा से ग्रहेश्वर शनि सेवा में उपस्थित होना चाहते हैं।'

पार्वती की आज्ञा से शनि का अन्तःपुर में प्रवेश वर्णन

पार्वती जी ने कहा–'उसे आने दो वत्स ! वह भी सदैव आज्ञा में चलने वाला श्रेष्ठ अनुचर है।'

विशालाक्ष ने द्वार पर लौटकर कहा–'ग्रहेश्वर ! तुम माता की सेवा में उपस्थित हो सकते हो।'

यह कहकर उन्होंने मुख्य द्वार को कुछ खोल दिया। आज्ञा मिलने से हर्षित हुए शनिदेव भीतर पहुँचे और जगज्जननी उमा को देखते ही उन्हें प्रणाम कर स्तुति करने लगे।

माता एक अत्युच्च रत्नमणि जटित स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके चारों ओर असंख्य देवियाँ खड़ी थीं। पाँच प्रमुख सखियाँ श्वेत चामरों द्वारा निरन्तर उनकी सेवा कर रही थीं। कुछ अन्य सखियाँ ताम्बूल भेंट कर रही थीं तो कुछ सुगन्धित द्रव्य अर्पण कर रही थीं।

माता ने अपनी देह पर अग्नि के समान तेजस्वी वस्त्र धारण किए हुए थे। गले में स्वर्ण-रत्नादि के दिव्य हार, हाथों में कङ्कणादि आभूषण,

भुजदण्ड पर बाजूबन्द, कमर में रत्नजटित शृंखला, चरणों में नूपुर सुशोभित थे। अद्‌भुत रूप-राशिमयी वे माता अपने तेज से ही समस्त भवन को प्रकाशित किए हुए थीं।

उनकी गोद में अद्वितीय शिशु विद्यमान था। उनके समक्ष अप्सराएँ और देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं। किन्नरियाँ और गन्धर्वनियाँ गायन-वादन में तल्लीन थीं। इस प्रकार भवन में अद्वितीय आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। वातावरण सर्वत्र शान्त था। समस्त नारी-समाज रस-विभोर हो रहा था। परन्तु, सिर नीचा किए रहने के कारण वह कुछ भी न देख सके।

सूर्यपुत्र शनि को अपने चरणों में दण्डवत् करते देखकर माता प्रसन्न होती हुई बोलीं–'शनैश्चर ! वत्स ! मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम निरन्तर लोक-कल्याणार्थ गतिशील रहते हो, अतः आयुष्मान् रहकर अपने कार्य का निर्वाह करते रहो। बोलो, और क्या चाहते हो ? मैं तुम्हारी अभिलाषा सुनना चाहती हूँ। यदि कुछ इच्छा हो तो वर माँग सकते हो।'

शनिदेव ने कहा–'जगज्जननी ! मैं आपके शिशु-दर्शन की कामना से यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। आप मेरी यह इच्छा पूर्ण करने की कृपा करें।'

उमा ने कहा–'वत्स ! शिशु तो मेरी गोद में ही है, मेरे दर्शन के साथ उसके दर्शन भी सहज रूप से हो रहे हैं। अब और जो कुछ चाहते हो वह भी कहो।!'

शनैश्चर ने निवेदन किया–'मातेश्वरी ! संसार में तप ही प्रधान कर्म है। सभी प्राणी अपने-अपने कर्म रूप तप का ही फल भोगते हैं। शुभ या अशुभ कोई भी कर्म किसी भी कल्प में लुप्त नहीं होता। अपने ही कर्म-फल रूप में उसे देवता, दैत्य, गन्धर्व, किन्नर आदि योनियों की प्राप्ति होती है। कर्मफल से ही जीव इन्द्रादि की पदवी प्राप्त कर लेता अथवा ब्रह्मा प्रभृति रूप ग्रहण कर लेता है। कर्म ही उसे पशु, पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि का जन्म धारण कराते हैं।'

'कर्म ही मनुष्य-देहधारी को राजा, राज-मन्त्री, सेनापति, आचार्य आदि बना देता है। उसी से राजा के घर में जन्म की प्राप्ति होती है। कर्म ही नीच-ऊँच जाति, व्याधि, विपत्ति आदि में कारण होता है। कर्म ही तिर्यक् योनियों में डालता है, वही जीव को वृक्षादि के रूप में डाल देता है। कर्म ही अल्प आयु या दीर्घ आयु में भी कारण है। वही जीव को चिन्ता में डालता और वही सभी चिन्ताओं से उबारने में समर्थ होता है।'

'कर्म का फल ही मनुष्य को धनवान् बनाता और उसी से अपनी गाँठ का धन भी निकल जाता है। कर्म से ही मनुष्य को भाई, सन्तान एवं स्त्री आदि की प्राप्ति होती है। विषयों में आसक्ति अथवा अनासक्ति भी कर्म का ही फल समझो। यश-अपयश, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि की प्राप्ति भी किए हुए कर्मों से ही होती है। सभी जानते हैं कि शुभ कर्म से शुभ फल की जीव को जो कुछ भी प्राप्ति, अप्राप्ति या कुप्राप्ति होती है, उस सबका कारण पूर्वकृत कर्म ही अधिक मान्य है।

वर्तमान में किए जाने वाले कर्मों का फल शीघ्र मिल सकता है, किन्तु उनमें जो अधिक गर्हित होते हैं, उनका फल देर से ही अधिक मिलता है। यदि वर्तमान जीवन में उनका भोग किसी कारणवश प्राप्त नहीं होता तो वह अगले जन्म में भोगना होता है।

'हे शिवबल्लभे ! यह सब तो मैंने प्राक्कथन रूप में संक्षेप में ही कह दिया है। वस्तुतः आप स्वयं ही कर्मफलादि के विषय में सब कुछ जानती हैं। इसलिए मेरी उक्त बातों का आपके समक्ष कोई अर्थ नहीं है। फिर भी, किसी प्रसंग को प्रस्तुत करने के लिए उसका पूर्व रूप भी कहना होता है।'

६. षष्ठ अध्याय

शनि को पत्नी द्वारा शाप की प्राप्ति

अब आप एक अत्यन्त गोपनीय और महत्त्वपूर्ण इतिहास सुनिए। यद्यपि वह न कहने योग्य इतिहास माता के समक्ष लज्जाजनक भी है तो भी उसे कहना होगा। 'मातेश्वरि ! मैं आरम्भ से ही भगवान् श्रीकृष्ण का भक्त रहा हूँ तथा मेरा मन सदैव उन्हीं भगवान् के चरणारविन्दों में लगा रहता था। विषयों से विरक्त रहता हुआ मैं पूर्ण रूप से तपस्वी बन गया। किन्तु, उस समय वह तपस्या समाप्त हो गई जब मेरा विवाह हो गया।'

तभी एक सखी बीच में ही बोल उठी–'विवाह होने पर तो तपस्या का भंग होना स्वाभाविक ही था। सभी की यही दशा होती है, तब तुम्हारी बात में क्या विशेषता है ?'

शनि ने कहा–'विशेषता है तभी तो कह रहा हूँ। उस विशेषता पर भी ध्यान दो। मेरा विवाह चित्ररथ की अत्यन्त सुन्दरी, तेजस्विनी कन्या से हुआ था। वह सती भी निरन्तर तपस्या में लगी रहती। एक बार जब वह ऋतुस्नाता हुई तब उसने सोलहो शृंगार किए। उस समय वह दिव्य अलंकारों से विभूषित और अत्यन्त शोभामयी लग रही थी। उसके रूप और शृंगार दोनों ने मिलकर सोने में सुहागे का ही कार्य किया था। उस समय उसका रूप मुनियों को भी मोहित कर लेने वाला बन गया।'

'रात्रि होने पर वह मेरे पास उपस्थित हुई। मैं भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में तल्लीन था, इसलिए उसके आगमन पर भी मैंने ध्यान न दिया। किन्तु, वह तो मदान्वित हो रही थी, कुछ तीखे स्वर में बोली–'स्वामिन्! मेरी ओर देखो तो सही।' किन्तु मैंने उसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया।'

'वह अपने चञ्चल नेत्रों से देख रही थी, किन्तु मेरी तल्लीनता भंग न हो पाई। उसने अपने को असफल प्रयास देखा तो क्रोधित हो गई।

क्योंकि उसका ऋतुकाल व्यर्थ हो रहा था। क्रोध में भी उसने मुझे चैतन्य करने का भरसक प्रयत्न किया था।'

'जब वह मेरा ध्यान भंग करने में सफल नहीं हो सकी तब सहसा कामवती कह बैठी–

"न दृष्टाहं त्वया येन न कृतमृतुरक्षणम्।
त्वया दृष्टञ्च यद्वस्तु मूढ ! सर्वं विनश्यति॥"

'अरे मूढ़ ! तूने मेरी ओर देखा तक नहीं, इस कारण मेरे ऋतुकाल की रक्षा नहीं हो सकी अर्थात् मेरा ऋतुकाल व्यर्थ ही जा रहा है। इस कारण अब तू जिस किसी को भी देखेगा, वह अवश्य ही नष्ट हो जायेगा।'

'उसका शाप मेरे कानों में पड़ा जिससे मेरा ध्यान भंग हो गया। नेत्र खोलकर देखा तो मेरी पत्नी ही खड़ी है। वह उस समय अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रही थी। सोचने लगा, यह तो मेरी पत्नी है, इसने मुझे ऐसा शाप क्यों दे दिया ? वस्तुतः यह मेरी भूल भी है कि विवाह करके भार्या को सन्तुष्ट करने के अपने कर्त्तव्य से विमुख ही रहा।'

फिर सोचा–'यदि अब भी सन्तुष्ट कर लूँ तो शाप से बच सकता हूँ।' ऐसा विचार दृढ़ करके मैंने शान्त करने का प्रयत्न किया–'देवि ! प्राणप्रिये ! मैं ध्यानावस्थित था। इसी से तुम्हारी याचना नहीं सुन सका, अन्यथा तुम्हारी उपेक्षा कभी नहीं करता। अब मुझे जो आज्ञा हो करने को तैयार हूँ।'

'इसी प्रकार मैंने उसे अनेक बार मनाया और जब वह शांत हो गई तब उसे काम्य प्रदान कर उससे शाप मिथ्या करने का आग्रह करने लगा। परन्तु, अब ऐसी कोई शक्ति न रह गई थी, जो अपने शाप को वह नष्ट कर सकती। शाप देने के कारण उसका पातिव्रत धर्म अशक्त हो गया था। उसने बहुत पश्चात्ताप करते हुए कहा भी था कि 'मुझसे बड़ी भूल

हो गई, मैं चाहती हूँ कि मेरे द्वारा दिया गया शाप नष्ट हो जाये।'

'किन्तु शाप नष्ट नहीं हुआ। ऐसा ही समझता हुआ मैं उस दिन से किसी की भी ओर आँख उठाकर नहीं देखता। क्योंकि आँख उठाकर देखने से न जाने किसका अहित हो जाये। लोक-कल्याणार्थ ही मैं सब समय अपना मस्तक झुकाए रखता हूँ। इसी कारण हे जगज्जननि! मैं आपको या आपके शिशु को नहीं देख सका था।

शनि को प्राप्त शाप और उसके कारण सदैव मुख को नीचे किये रहने की बात सुनकर पार्वतीजी हँस पड़ीं। उनके साथ उनकी सभी सखियाँ, सभी दासियाँ, सभी अप्सराएँ सभी देवकन्याएँ भी हँस पड़ीं। वह हँसी बहुत देर तक चलती रही। बेचारे शनिदेव अपना मुख नीचे किये खड़े रहे।

यह कथा कहकर सूतजी कुछ देर के लिए चुप हो गये। यह देखकर शौनक ने विनीत भाव से प्रश्न किया—'फिर क्या हुआ सूतजी! यह उपाख्यान तो हमने आज तक नहीं सुना था। इस प्रकार के गोपनीय रहस्यों को बताने में आप ही सक्षम हैं। कृपा कर इसको पूर्ण करने का कष्ट करें।'

पार्वती ने शनि को पुत्र-दर्शन की आज्ञा दी

सूतजी कुछ देर तक मौन रहने के पश्चात् बोले—'शौनक! बहुत देर तक हँसने के बाद माता पार्वती ने भगवान् श्रीहरि का स्मरण किया और फिर बोलीं—'ग्रहेश्वर! तुम्हें जो शाप मिला है, उसका नाश तो हो नहीं सकता, इसलिए जो परिणाम मिलता हो, उसके लिए तैयार रहना आवश्यक है। परन्तु, मेरा विचार है कि उस शाप का प्रभाव हमपर नहीं होगा। इसलिए तू मुझे अथवा मेरे पुत्र को देख।'

शनैश्चर बड़े असमञ्जस में पड़ गए—इनमें से किसको देखूँ? अथवा

किसी को देखूँ ही नहीं ? यदि देखूँ तो कहीं कोई अनिष्ट न हो जाये ? परन्तु न देखने पर भी अनिष्ट होना सम्भव है। इसलिए शिशु को देख लेना चाहिए।

शनिदेव ने धर्म को साक्षी करके पार्वती-पुत्र को देखने का निश्चय किया। परन्तु पार्वतीजी की ओर न देखना ही उचित होगा। ऐसा निश्चय करके भी आशंका के कारण खिन्न मन वाले शनि के कण्ठ, ओष्ठ व तालु शुष्क हो गये। फिर उन्होंने अपने मन को संयत करके अपने दायें नेत्र के कोने से शिशु के मुख की ओर देखा !

शनि की दृष्टि पड़ते ही शिशु का मस्तक छिन्न हो गया !

शनिदेव का उस शिशु को देखना था कि आशंका साकार हो उठी। उनकी दृष्टि पड़ते ही शिशु का मस्तक छिन्न हो गया ! यद्यपि शनि ने दाएँ नेत्र के कोण से शिशु की एक झलक ही देखी थी, तथापि शाप का फल न मिट सका।

बालक के मस्तकीय भाग से रक्त की अविरल धारा बह निकली। पार्वती की गोद में रक्त-ही-रक्त दिखाई देता था। परन्तु, वह छिन्न हुआ मस्तक अपने अभीष्ट गोलोक धाम में जाकर भगवान् कृष्ण के शरीर में प्रविष्ट हो गया।

उस विचित्र घटना से सभी व्याकुल हो गये। देवी गिरिराजनन्दिनी तो अत्यन्त शोकाकुल हो गईं और रोते-रोते उन्हें मूर्च्छा ही आ गई। जो महिलाएँ उनसे दूर स्थित थीं, वे उधर दौड़ पड़ीं। अनेक स्त्रियाँ चित्र में बनाई जाने वाली के समान स्तम्भित-सी हुई सखियों ने पार्वती जी को जगाने का बहुत प्रयास किया, किन्तु कोई सुपरिणाम न निकला।

ॐ भवन में होने वाले घोर कोलाहल को सुनकर नन्दीश्वर पता लगाने

के लिए दौड़े और फिर लौटकर कहने लगे–'हे प्रभो ! हे चन्द्रमौलि ! भवन में बड़ी विचित्र दुर्घटना घट गई है । शिशु के दर्शनार्थ आए हुए शनि ने ज्योंही बालक के दर्शन किए, त्योंही उसका मस्तक छिन्न होकर उड़ गया ! बेचारा शनैश्चर दीन-हीन हुआ शिर झुकाए वहीं खड़ा है ।'

नन्दी की बात सुनकर सभी उपस्थित समाज शोकग्रस्त हो गया। भगवान् शंकर तो इतने व्याकुल हो गए कि उन्हें मूर्च्छा-सी आ गई। गिरिराज हिमाचल, देवराज इन्द्र एवं सभी देव, ऋषि, गन्धर्व, किन्नरादि रोने लगे। परन्तु भगवान् श्रीहरि ने तुरन्त ही गरुड़ का स्मरण किया और कुछ ही देर में गरुड़ आ उपस्थित हुए। भगवान् श्रीहरि उसपर आरूढ़ होकर उत्तर दिशा की ओर चल पड़े।

श्रीहरि द्वारा गजराज का मस्तक काटना

पुष्पभद्रा नदी के तट के निकट ही भयंकर वन में एक गजराज अपनी सुघड़काय हथिनी के साथ सो रहे थे। भगवान् श्रीहरि उसे देखते ही गरुड़ से उतरे और अपने सुदर्शन चक्र को प्रेरित कर गजराज का मस्तक काट दिया। उस समय इतना भयंकर शब्द हुआ कि दशों दिशाएँ काँप उठीं।

उस शब्द ने सभी को जगा दिया। हथिनी और उसके बच्चे गजराज की वह दशा देखकर चीत्कार करने लगे। इधर भगवान् ने गजराज का रक्ताक्त मस्तक गरुड़ की पीठ पर रख दिया। उसी समय हथिनी ने आकर गरुड़ का पंख पकड़ लिया और फिर श्रीकृष्ण पर वाग्वाणों का प्रहार करने लगी। उसने कहा–'तुमने मेरे पति को क्यों मारा ? अब उसके शिर को कहाँ लिये जाते हो ? मुझे सब वृत्तान्त सत्य-सत्य बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें शाप दूँगी।'

भगवान् बोले–'गजेश्वरि ! शान्त होओ, मैं इसे मारना नहीं चाहता था। अच्छा तो यही होता कि कोई अन्य जीव मारा जाता। किन्तु विवशता

यह थी कि मेरी दृष्टि में आने वाला प्रथम प्राणी यही था और जिस कार्य के लिए यह मारा गया, उसमें प्रथम दृष्टिगत प्राणी का शीश लेने का ही विधान है।'

हथिनी ने उत्कण्ठा से पूछा–'किन्तु, तुम्हें किसी प्रथम प्राणी के मस्तक की आवश्यकता ही क्यों हुई ? यदि इसका कोई यथार्थ कारण न बता सकोगे तो मैं तुम्हें शाप देकर ही नष्ट कर डालूँगी। इसलिए मेरे प्रश्न का उत्तर तुरन्त दो।'

भगवान् बोले–'पार्वतीजी के पुत्र का दर्शन करने के उद्देश्य से ग्रहेश्वर शनि उसके भवन में गये थे। उन्होंने ज्योंही बालक पर एक दृष्टि डाली कि उसका मस्तक छिन्न होकर ऊपर की ओर उड़ गया। इसके फलस्वरूप जगज्जननी पुत्र-वियोग के शोक में मूर्च्छित पड़ी हैं।'

हथिनी बोली–'तो वह कौन-सा न्याय है कि एक शिशु की प्राण-रक्षा के लिए निरपराध गजराज की ही हत्या कर दी गई ? सिर उड़ाना था तो शनैश्चर का ही उड़ाते। क्योंकि वह दुष्ट सदैव ही लोक-विरुद्ध कार्य ही करता रहता है।'

विष्णु बोले–'देवि ! शनैश्चर भगवान् श्रीकृष्ण का परम भक्त, अमर और अजेय है। उसका मारा जाना किसी प्रकार सम्भव ही नहीं था। फिर वह तो संसार के कल्याणार्थ सदैव गतिशील रहता है। बेचारा एक क्षण को भी तो कहीं विश्राम नहीं कर पाता।'

हथिनी बोली–'सम्भव है ऐसा हो, पर तुम मेरे पति को किसी भी प्रकार से जीवित कर दो, यदि ऐसा न करोगे तो मैं अब धर्म-अधर्म कुछ भी न देखकर तुम्हें शाप दे दूँगी।'

भगवान् ने कहा–'देवि ! किसी मरे हुए जीव को मैं कैसे जीवनदान दे सकता हूँ ? तुम अपनी हठ छोड़कर इसके बदले में मुझसे चाहे जो कुछ माँग लो, वही दूँगा।'

हथिनी को इस तर्क में सत्यता न लगी। उसने कहा—'देव ! तुमने ही उसे मारा है तो तुम ही उसे जीवनदान दे सकते हो। यदि तुम किसी को जीवन प्रदान नहीं कर सकते तो उसके प्राण लेने का ही तुम्हें क्या अधिकार था ? कहते हैं कि देवतागण तो किसी का सिर काटने पर अन्य का सिर लगाकर जीवित कर देते हैं। मैं समझती हूँ कि मेरे पति का सिर भी तुम इसी कार्य के लिए ले जा रहे होगे।'

श्रीहरि बोले—'तुम यथार्थ कहती हो देवि ! वस्तुतः किसी के प्राण लेने का अधिकार उसी को होना चाहिए जो उसे पुनः जीवन भी प्रदान कर सके। अच्छा, तो मैं भी तुम्हें निराश नहीं होने दूँगा। किसी अन्य देहधारी के मस्तक की खोज करता हूँ, उसे तुम्हारे पति के धड़ पर लगा दूँगा।'

हथिनी ने हठ किया—'तो मेरे पति का मस्तक ही इस धड़ पर लगा दो, पार्वती के पुत्र के लिए अन्य किसी का मस्तक लगा देना। मैं समझती हूँ कि तुम मेरे साथ अन्याय न करोगे।'

भगवान् ने उसे समझाते हुए कहा—'देवि ! यह मस्तक तो हमें नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रथम दृष्टिगत जीव का मस्तक लगाने से मृतक की जीवन-रक्षा हो सकती है। तुम धैर्य रखो, मैं अभी किसी जीव को लाकर इसे पुनर्जीवित करता हूँ।'

गजराज को पुनः जीवन-दान देना

हथिनी चुप हो गई। भगवान् गरुड़ पर सवार हुए और कुछ ही दूर पर अन्य हाथी को देखकर उसका मस्तक काट लाये। वह मस्तक गजराज के धड़ पर रख जोड़ दिया और अनुग्रह पूर्वक जीवनदान देकर बोले—'उठो, गजराज ! बहुत देर सो लिये। अब निद्रा का समय निकल चुका है।'

गजराज ने आँखें खोल कर सोते से जागते हुए के समान देखा। भगवान् को देखकर उनके चरणों पर मस्तक रख दिया और स्तुति करने लगा—'प्रभो! आज मैं अत्यन्त धन्य हो गया। जिन भगवान् श्रीहरि के दर्शन करोड़ों जन्म तपस्या करने पर भी नहीं होते, उनका सौभाग्य मुझे सहज में ही प्राप्त हो गया है—

"शङ्खचक्रधरं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम्।
सर्वदिव्यायुधैर्युक्तं गरुडोपरि संस्थितम्॥"

'हे नाथ! आप चतुर्भुज, किरीटधारी, शंख-चक्र आदि से समन्वित, समस्त दिव्य आयुधों से सुसज्जित तथा गरुड़ पर आरूढ़ होकर गमन करने वाले हैं। आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है। हे प्रभो! आपने मेरा मस्तक छिन्न किया, यह बड़े सौभाग्य की बात हुई। साक्षात् आपके द्वारा मारा जाना तो निश्चय ही मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ का कारण होता है। उससे निश्चय ही मुझे मोक्ष की प्राप्ति होती। किन्तु अब पुनर्जीवन होने से मैं उस दुर्लभ मोक्ष से वञ्चित ही रह जाऊँगा।'

भगवान् ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'भक्तराज! तुम्हारा इच्छित अवश्य प्राप्त होगा। तुम्हारी पत्नी पतिव्रता है। इसी के अनुरोध से तुम्हें पुनर्जीवन की प्राप्ति हुई है।'

हथिनी ने भगवान् की स्तुति की—'प्रभो! उस शोकग्रस्त अवस्था में मुझसे जो भूल बन गई हो, उसे क्षमा करें। उस समय आवेश में आकर मैं आप परमेश्वर के प्रति अनेक दुर्वचन प्रयोग में ला बैठी थी।'

भगवान् ने उसे भी मीठी वाणी से परितुष्ट किया और गरुड़ पर चढ़कर गजराज के काटे हुए मस्तक सहित कैलास की ओर मन के वेग समान चल दिए और शीघ्र ही जगज्जननी पार्वती जी के भव्य भवन में जा पहुँचे।

❀❀❀

७. सप्तम अध्याय

शिशु के धड़ पर हाथी का मस्तक जोड़ना

भगवान् श्रीहरि को हाथी के मस्तक सहित आते देखकर सब उपस्थित समुदाय ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। जब पार्वती जी को यह ज्ञात हुआ कि शिशु के धड़ पर हाथी का मस्तक जोड़ा जाएगा, तब वे अधिक व्याकुल होती हुई बोलीं–'जनार्दन ! तुम मेरे पुत्र को निरा पशु ही बना देना चाहते हो ? अवश्य ही इसके वध में तुम्हारा ही हाथ रहा होगा, क्योंकि तुम किसी को सुखी नहीं देखना चाहते। मेरे शिशु होने के समाचार से तुम्हें यह भय हुआ होगा कि कहीं बड़ा होकर मेरी पदवी न छीन ले। इसीलिए शनैश्चर को साथ लेकर यहाँ आ गये। फिर हमें अनुग्रहीता बनाने की दृष्टि से हाथी का मस्तक ले आये जिससे कि मेरा पुत्र पशु और महामूर्ख बना रहे। कहो, तुम्हारी चाल यही थी न, जो प्रायः सफल हो गई ?'

भगवान् मुस्कराए, तभी वहाँ खड़े हुए शनैश्चर ने कहा–'माता ! आपका अनुमान यथार्थ नहीं है। भगवान् श्रीहरि तो शिव-सभा में बहुत पहले से विराजमान थे। उनसे मेरी भेंट भी कभी नहीं हुई। फिर, यह तो जो कुछ भी करते हैं, उसमें लोकहित ही निहित होता है। तब यह किसी भय, आशंका, पक्ष अथवा प्रमादवश भी ऐसा कर सकते थे ?'

उमा बोलीं–'तू भी मिथ्या कह रहा है शनैश्चर ! जब तू नीची दृष्टि किए रहने के कारण किसी की ओर देखता ही नहीं, तब तूने भगवान् श्रीहरि को वहाँ बैठे हुए किसी प्रकार देख लिया ? इससे यही प्रतीत होता है कि मेरे पुत्र की हत्या के षड्यन्त्र में तुम भी सम्मिलित रहे हो और तुमने जान-बूझकर ही मेरे पुत्र को मार डाला है।'

शनिदेव ने अत्यन्त विनयपूर्वक कहा–'जगज्जननी ! आप शंका मत

करिए, चाहे मैं किसी ओर नहीं देखता, तो भी बोलचाल को सुनकर किसी को भी सरलता से पहिचान सकता हूँ। आँखों से काम नहीं लेता तो क्या ? मेरे कान ही समूचे दृश्य को मस्तिष्क तक पहुँचा देते हैं।

फिर भी पार्वतीजी को सन्तोष न हुआ जानकर भगवान् श्रीहरि ने समझाते हुए कहा–'देवि ! मेरे बल-पराक्रम से अनभिज्ञ हो, इसलिए इस प्रकार की बातें कर रही हो। यदि मैं तुम्हारे बालक की हत्या करना चाहता तो प्रथम तो उसे प्रकट ही न होने देता और प्रकट हो भी जाता तो सभी के सामने सुदर्शन चक्र द्वारा ही सिर कटवा लेता। विश्वास करो पार्वती ! ऐसा गर्हित कार्य कभी मैं नहीं कर सकता।'

'फिर मेरा पद अक्षय है, उसका न कभी नाश होता है, न वह पराए हाथों में जा सकता है। मेरे ही समान ब्रह्माजी और महादेवजी के भी पद में जिनके अधिकारी निरन्तर वही रहते हैं, कोई अन्य नहीं होता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश यह तीनों ही परम शक्तिमान हैं जिनका कार्य क्रमशः सर्गोत्पत्ति, पालन और प्रलय है। भला इन कार्यों को अन्य कोई करेगा भी तो कैसे ?'

'तुम्हारी अन्य आशंका यह है कि पुत्र के धड़ पर हाथी का मस्तक लग गया तो उसकी सुन्दरता नष्ट हो जायेगी, वह कुरूप और मूर्ख बन जायेगा। इसलिए सभी उसका तिरस्कार करेंगे तो तुम्हारी शंका निर्मूल-सी है। जब तुम्हारे पुत्र के धड़ पर हाथी का मस्तक लग जायेगा, तब तो वह अत्यन्त दिव्य और भव्य प्रतीत होगा। उसकी सुन्दरता अद्वितीय एवं दर्शनीय होगी। बस, ऐसा लगेगा कि कभी यह रूप देखा ही नहीं।'

'उसका रूप अत्यन्त मनोहर रहने के साथ ही, उसमें अद्भुत बुद्धि रहेगी। सुर, असुर, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग एवं मनुष्यादि में कोई भी इसके जैसा बुद्धिमान् न होगा। इसमें लोकोपकार करने की भी प्रबल शक्ति और सुमति होगी। जब लोक इनकी महिमा को समझ जायेगा, तब इससे विद्या-बुद्धि की याचना करेगा। यह अपने भक्तों को सदैव सन्तुष्ट करेगा और प्रथमपूजा का अधिकारी होगा।'

भगवान् श्रीहरि के तर्कसंगत वचन सुनकर देवी पार्वती चुप हो गईं, उन्होंने उत्तर नहीं दिया, क्योंकि उनका मन अभी शान्त नहीं हुआ था। भगवान् ने उनका उत्तर प्राप्त हुए बिना ही हाथी के मस्तक को शुद्ध जल से स्वच्छ करके शिशु के धड़ पर रख दिया। इसमें प्राणों का संचार हुआ और नेत्र खुल गये। गजमुख हुआ बालक चारों ओर आँखें चलाता हुआ देखने लगा। सभी उपस्थित नर-नारी प्रसन्न होकर "गजानन भगवान् की जय" बोलने लगे।

श्रीहरि द्वारा पार्वती को समझाना वर्णन

मन से या बेमन से माता को भी हर्ष व्यक्त करना पड़ा। उनके स्तनों में दूध उतर आया तो वे गजमुख को गोद में लेकर स्तन-पान कराने लगीं। परन्तु पार्वती के चित्त में उसके प्रति अधिक स्नेह जाग्रत न हुआ जानकर भगवान् श्रीहरि उन्हें पुनः समझाने लगे–

"ब्रह्मादिकीटपर्यन्तं जगद्भुङ्क्ते स्वकर्मणा।
जगद्बुद्धिस्वरूपासि त्वं न जानासि किं शिवे॥"

'चतुरानन ब्रह्माजी से कीट पर्यन्त यह सम्पूर्ण विश्व अपने ही कर्मानुसार भोगों को प्राप्त होता है। हे शिवे ! आप तो स्वयं ही इस जगत् के लिए बुद्धिस्वरूपा हो, अतः आप किस तथ्य से अनभिज्ञ हैं, अर्थात् सभी कुछ जानती हैं।'

'अपने-अपने कर्मानुसार प्राणियों को सैकड़ों कल्प पर्यन्त भोग भोगना पड़ सकता है। और इसी कारण शुभ-अशुभ कर्मों के वशीभूत हुए प्राणी प्रत्येक योनि में भोगों को निरन्तर प्राप्त करते रहते हैं। हे सति ! यह कर्म-फल का भोग ही है कि इन्द्र को भी कभी-कभी कीट-योनि में जन्म लेना होता है तथा कभी-कभी अत्यन्त तपस्वी पुरुष भी अपने शुभ कर्मों के कारण इन्द्रपद प्राप्त कर लेता है।'

'गिरिजे ! प्राक्कृत कर्म के बिना सिंह किसी मक्खी को भी नहीं मार सकता। इसके विपरीत पूर्वजन्म के प्रथम कर्म के फलस्वरूप एक मच्छर भी हाथी को मार डालता है। कर्मों के फल से ही सुख-दुःख, भय, शोक एवं आनन्द की प्राप्ति होती है। शुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख और हर्ष की तथा अशुभ कर्मों के वश स्वरूप दुःख-शोकादि की प्राप्ति होती है। कर्मों के शुभ फल के उपार्जनार्थ भारत देश अत्यन्त योग्य एवं पुण्य क्षेत्र है। अर्थात् इस देश की भूमि पर कर्म करने का फल शीघ्र ही उत्पन्न हो जाता है।'

'गिरिराजनन्दिनि ! भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा के भी विधाता, काल के काल, निषेक के भी निषेककर्त्ता, कर्मफल के प्रदाता, संहारक के भी संहारक, पालनकर्त्ता के भी पालक, पर से परे तथा गोलोक के स्वामी हैं। वही सबके नाथ एवं परिपूर्णतम ब्रह्म हैं।'

'हम ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी जिस पुरुष की एक कला मात्र हैं, उसी का एक अंश यह महाविराट् है। उस महा विराट् के ही लोम-छिद्रों में यह समस्त विश्व समाविष्ट रहता है। उसके कुछ कलांश धर्म में विद्यमान हैं तथा कुछ कलाओं के भी विभिन्न अंश होकर यह सम्पूर्ण जगत् बना है तथा बिना यज्ञ की स्थिति भी उसी में है। इसलिए देवि ! तुम सृष्टि के इस रहस्य को समझने की चेष्टा करो। अपने चित्त में उत्पन्न हुई अशान्ति एवं तर्क-वितर्क को त्याग कर अपने पुत्र को सँभालो। देखो, वह अत्यन्त प्रतापी एवं महिमावन्त है।'

भगवान् के उक्त वचन सुनकर पार्वती का चित्त कुछ स्वस्थ हुआ और तब उन्होंने श्रीहरि की स्तुति की—'प्रभो ! आपकी माया बड़ी अद्भुत है, उसमें मैं तो क्या, शिवजी भी मोहग्रस्त हो जाते हैं। यह मेरी कैसी मूर्खता थी कि आप तो मेरे पुत्र को जीवित करने के प्रयास में लगे थे और मैं मोह में पड़कर आपके प्रति अपशब्द कह रही थी।

'हे जगन्नाथ ! आप विशाल हृदय हैं, मुझ तुच्छ नारी के प्रति रोष को त्यागकर अनुग्रह कीजिए। आपने मेरे पुत्र को जीवित करके मुझपर

अत्यन्त अनुग्रह किया है, उसे मैं कभी भूल नहीं सकती। हे दीनबन्धो! मुझ मूर्ख स्त्री को क्षमा कीजिए, क्षमा कीजिए प्रभो !'

विष्णु बोले–'देवि ! मैं प्रसन्न हूँ तुम्हारी यश-वृद्धि हो और शिशु अमरत्व की प्राप्ति करे। यह सभी देवताओं में अत्यन्त आदरणीय और सदैव प्रथम स्मरण के योग्य रहे।'

८. अष्टम अध्याय

आभूषण स्वरूप शिशु को शक्ति प्रदान करना

तदुपरान्त भगवान् विष्णु ने अपने कण्ठ में धारण की हुई कौस्तुभ-मणि बालक के गले में पहिना दी। फिर ब्रह्माजी ने उसे अपना मुकुट पहिनाया और धर्मराज ने रत्नों का एक दिव्य अलंकार धारण कराया। इसी प्रकार समस्त उपस्थित देवी-देवताओं ने अपने-अपने आभूषण-आभरण, अलंकार आदि प्रदान किए। तब सब प्रकार से सन्तुष्ट हुए शिवजी ने बालक का स्तवन किया। बोले–'गजानन ! आपके यहाँ आने से मैं धन्य हो गया। नरदेह पर गज का मुख कैसा शोभायमान प्रतीत होता है, जिसका वर्णन भी इस वाणी से नहीं हो सकता। इसपर सभी देवताओं ने आभूषणादि के रूप में तुम्हें शक्ति प्रदान की है, इसलिए तुम सदैव विजयी रहोगे। सुर, असुर, दैत्य, राक्षस, मनुष्य, नागादि में ऐसा कोई भी नहीं, जो तुम्हारी समता कर सके।'

तदुपरान्त ब्रह्माजी ने निवेदन किया–'हे देवाधिदेव ! हे गजमुख! तुम सभी शास्त्रों, समस्त विद्याओं, सभी कर्मों में स्वयंसिद्ध निष्णात हो। अन्य तो क्या, मैं भी तुम्हारे पाण्डित्य का सामना करने में समर्थ नहीं हूँ। हमारी प्रार्थना है कि तुम सदैव देवताओं के पक्ष का निर्वाह करते रहना।'

इसके पश्चात् समस्त उपस्थित देवताओं, मुनियों, गन्धर्वों, किन्नरों, यक्षों, अप्सराओं, देवियों आदि ने भी विभिन्न प्रकार से अपने-अपने मतानुसार गजमुख की स्तुति की। तदन्तर शिव-शिवा दोनों ने ब्राह्मणों को करोड़ों रत्न-मणि आदि का दान किया। वन्दीजनों को सैकड़ों-हजारों हाथी-घोड़े प्रदान किये।

तदुपरान्त शिव-शिवा ने मंगलोत्सव मनाते हुए ब्राह्मणों को भोजन कराया तथा वेद-पाठ एवं पुराण-पाठ के भी आयोजन हुए। नृत्य-गीत आदि भी चलने लगे। अप्सराएँ और सुर-वनिताएँ विविध प्रकार के नाच द्वारा उत्सव को और भी अधिक शोभायमान बना रही थीं। इस प्रकार यह उत्सव दीर्घकाल तक निर्बाध रूप से चलता रहा।'

शनिदेव को पार्वती का शाप

बेचारे शनिदेव अब भी उसी प्रकार नीचा मुख किए खड़े थे। वे संकोच के कारण न तो जा सके और न उत्सव में ही भाग ले सके। तभी पार्वतीजी की दृष्टि शनिदेव पर पड़ी तो उन्हें क्रोध हो आया-

"शनिं सलज्जितं दृष्ट्वा पार्वती कोपशालिनी।
शशाप च सभामध्येऽप्यङ्गहीनो भवेति च॥"

शनिदेव को लज्जा से सिकुड़े हुए देखकर क्रोधित हुई पार्वती ने उन्हें शाप दे दिया कि 'तू सभा के मध्य में ही अंगहीन हो जा।'

सूर्यदेव, कश्यप तथा यमराज का पार्वती पर क्रोधित होना

पार्वती के द्वारा सूर्यपुत्र शनि को इस प्रकार शाप दिये जाने पर भगवान् सूर्यदेव कुपित हो गये और लाल नेत्रों से देखते हुए बोले-'सभी

उपस्थित सज्जन देख लें कि गिरिजा ने मेरे पुत्र को व्यर्थ ही शाप दिया है। उस बेचारे का किञ्चित् मात्र भी दोष नहीं था। वह दर्शनार्थ आया था और गिरिजा की अनुज्ञा प्राप्त होने पर ही उसने बालक की केवल झलक ही देखी थी। फिर अब, जबकि बालक पुनर्जीवित हो गया और उसी उपलक्ष्य में उत्सव भी मनाया जा रहा है, तो इस अवस्था में उसे शाप देने का प्रयोजन ही क्या था ?'

कश्यप और यमराज भी क्रुद्ध हो गए और तीव्रता से कहने लगे—'शनि का कोई अपराध नहीं था, जब जो कुछ भवितव्य होता है, वह होकर ही रहता है। फिर शनैश्चर तो लज्जा से सिर झुकाए खड़ा था। इसलिए उसे अभिशप्त करने की अपेक्षा उसपर दया करनी चाहिए थी।'

सूर्यदेव आदि का विष्णु से भी रुष्ट होना

इसी प्रकार कुछ अन्य देवता भी उठ खड़े हुए। क्रोध के कारण उनके नेत्र लाल हो रहे थे, ओष्ठ फड़क रहे थे और आवेग के कारण शरीर काँप रहे थे। तभी वे पुनः बोले—'इस शाप की प्रमुख अपराधिनी गिरिजा और दूसरे अपराधी विष्णु हैं। हम इन दोनों को ही आज ऐसा शाप देंगे कि यह जीवनभर अपने कर्मफल रूप का स्मरण रखें।'

यह कहते हुए वे जगज्जननी पार्वती जी और श्रीहरि को शाप देने को उद्यत हुए देखकर ब्रह्माजी उठे और उन्होंने उन सबको इस प्रकार समझाया—'हे दिनकर ! हे कश्यप ! हे यमराज ! एवं अन्यान्य देवगण ! इस विवाद को शान्त किया जाना ही श्रेयस्कर है।

'जो कुछ होने वाला था वह हो चुका। अब आगे किसी के भी द्वारा शापों का आदान-प्रदान होने से हम सभी की हानि है। क्योंकि उससे दुष्कर्मी असुरादि अधिक प्रबल हो जायेंगे जिसके फलस्वरूप हम सभी

को तिरस्कृत और भयभीत रहना होगा। अतएव, विवेक से काम लेते हुए क्रोध का निवारण करो।'

श्रीहरि और पार्वती का शाप देने को तैयार होना

उधर विष्णु और पार्वती भी उन्हें शाप देने को उद्यत हो रहे थे। ब्रह्माजी ने उनके प्रति भी ऐसा ही निवेदन किया–'भगवन् ! आप सभी के ईश्वर, ज्ञान और बुद्धि के प्रेरक, काल के भी नियन्ता एवं सर्व समर्थ हैं। आपका क्रोध समस्त त्रिलोकी को भस्म करने में समर्थ है तथा हे जगन्निवास ! यह समस्त विश्व आपने ही उत्पन्न किया है तो अब आपके ही शाप से नष्ट नहीं होना चाहिए। हे प्रभो ! यही मेरी प्रार्थना है कि आप क्रोध को त्याग कर शान्त होने की कृपा करें।'

फिर उन्होंने पार्वती से कहा–'देवि! आप भगवान् शंकर की अर्द्धांगिनी हैं। आपके निमेष-उन्मेष में ही संसार का विनाश और प्राकट्य निहित है। इसीलिए आपको 'शिवा' कहते हैं। हे कल्याणि ! आप अन्य किसी की बात पर ध्यान न देकर मेरी बात मानिये। इस जगत् को नष्ट होने से बचाइये परमेश्वरी ! अन्यथा घोर विनाश उपस्थित हो सकता है।'

ब्रह्माजी के इस प्रकार के कोमल एवं सारगर्भित वचन सुनकर महर्षि कश्यप बोले–'पितामह ! यह बेचारा शनैश्चर तो पत्नी के शाप से दृष्टि-दोषी हो ही गया था और वह तथ्य इसने छिपाया भी नहीं। बालक की माता ने इसके दृष्टि-दोष जानते हुए भी बालक को देखने की आज्ञा दे दी और तभी उसे देखा था, तब उसके छिन्न मस्तक होने में इस बेचारे का क्या दोष रहा ?'

तभी सूर्य बोल पड़े–'मेरे पुत्र ने धर्म को साक्षी बनाकर बालक की माता से आज्ञा ली, तभी उसके पुत्र की ओर देखा, फिर उस निरपराध को अंग-भंग होने का शाप दे डाला। इसलिए अंग-भंग को रोका जाने पर ही शान्ति संभव है।'

यमराज बोले–'गिरिराजनन्दिनी ने स्वयं ही देखने की आज्ञा दी थी तब मुझे साक्षी बनाकर शनि ने उस बालक को प्रयत्नपूर्वक स्वल्प ही देखा था और जब बालक का अंग-भंग होने के पश्चात् वह पुनर्जीवित हो गया, तो भी शनि को शापित कर डाला। इसलिए यदि हमलोग किसी बधिक को शाप देना चाहते हैं तो उसमें दोष ही क्या है।'

ब्रह्माजी बोले–'आप लोग शान्त हो जायें। मैं शीघ्र ही वह यत्न करता हूँ कि पार्वती के शाप का विमोचन हो जाये। पार्वती ने सहज चञ्चलतावश शाप दे डाला था। वह उनकी भूल थी, किन्तु सज्जनों द्वारा तो बड़े-से-बड़े अपराधी भी क्षमा कर दिये जाते हैं।' इस प्रकार पितामह ने उन सबको शान्त किया और फिर शनिदेव से बोले–'ग्रहेश्वर! तुम तुरन्त ही देवी पार्वती की शरण में चलो। तुम्हारे शाप का निवारण उन्हीं की कृपा से संभव है। यदि तुम्हारे पिता और उनके पक्ष वाले देवता माता पार्वती को शाप दे भी दें तो उससे तुम्हारे कोई उपकार नहीं हो सकता। इसलिए, आओ मेरे साथ।'

चतुरानन का आदेश मानकर शनि उनके साथ माता के आश्रय में पहुँचे और तब ब्रह्माजी ने पार्वती जी से निवेदन किया, 'जगज्जननि! दुर्गे! आपने अपने पुत्र के दर्शन की आज्ञा दे दी थी तो शनि का क्या दोष था, फिर भी आपने उस निर्दोष को शाप दे डाला। इसलिए अब उस शाप का प्रतिकार होना आवश्यक है।'

पार्वती द्वारा शनैश्चर को वर प्रदान करना

पार्वती जी ने ब्रह्माजी की बात पर कुछ देर विचार किया और बोलीं–'पितामह! मेरा शाप अमोघ है, उसका व्यर्थ होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।'

ब्रह्माजी बोले–'गिरिराजनन्दिनी! इसका कुछ उपाय तो करना ही

होगा। अन्यथा सूर्य, कश्यप, धर्म आदि देवताओं के कोप से तीनों ही लोक भस्म हो जायेंगे।'

पार्वती बोलीं–'चतुरानन ! मैं शाप दे सकती हूँ तो वर भी दे सकती हूँ। इसे और इनके पक्ष के सभी देवताओं को मैं वरदान से सन्तुष्ट कर दूँगी। ब्रह्मन् ! आप उन सभी को यहाँ बुला लीजिए।'

सूर्य आदि सभी वहाँ बुला लिये गए। उन्होंने आकर जगज्जननी के चरणों में प्रणाम किया और जय-जयकार करते हुए बोले–'परमेश्वरी ! कृपा करो। इस निर्दोष शनैश्चर को अपनी अनुग्रहात्मक दृष्टि से निहारिए।'

इस प्रकार से सूर्य, कश्यप आदि द्वारा किए गए स्तवन से शिवा सन्तुष्ट हो गईं और शनि के प्रति कहने लगीं–

"ग्रहराजो भव शने मद्वरेण हरिप्रियः।
चिरजीवी च योगीन्द्रो हरिभक्तस्य का विपत्॥"

'हे शने ! तुम भगवान् श्रीहरि के प्रिय हो। मेरे वरदान से ग्रहों के राजा होगे। योगियों में परम योगी रूप योगीन्द्र और चिरजीवी बनोगे। अरे, हरि-भक्त का विपत्ति क्या कर सकती है ? मेरा यह भी वर है कि भगवान् श्रीहरि के तुम परम भक्त होओ। तुम्हारे हृदय में उनकी दृढ़ भक्ति रहेगी। परन्तु वत्स ! मेरा शाप अमोघ होने के कारण नष्ट तो नहीं हो सकता, किन्तु उसका किञ्चित् प्रभाव पाँव पर ही पड़कर रह जायेगा। तुम कुछ लँगड़े हो जाओगे।'

पार्वतीजी के वचन सुनकर शनिदेव को सन्तोष हुआ। साथ ही, सूर्य, कश्यप, धर्म आदि भी सन्तुष्ट हो गए और गिरिराजनन्दिनी की स्तुति करने लगे–'हे देवि ! आप महान हैं। हम तुच्छ प्राणी आपकी महिमा को कैसे जान सकते हैं ? आप संसार की स्वामिनी हैं। आपके दृष्टिमात्र में ही संसार का उत्थान और पतन निहित है। यदि आप क्रोधपूर्वक हैं तो विनाश और प्रसन्न होकर देखती हैं तो विकास एवं सुख ही सुख है।

'जगज्जननि ! हमपर ऐसी कृपा अवश्य करें कि हम आपके चरणों को सदैव याद रखें और आप मातेश्वरी का अनुग्रह निरन्तर प्राप्त करते रहें। हमपर कभी कोई विपत्ति न आवे और हम किसी प्रकार के दुख में न पड़ें। आपकी ऐसी कृपा में ही हमारा कल्याण निहित है।'

भगवती उमा उक्त स्तुति को सुनकर प्रसन्न होती हुई कहने लगीं—'देवगण ! मैं आपके स्तवन से अत्यन्त सन्तुष्ट हुई, तुमने जो कुछ भी अभिलाषा की है, वह सब पूर्ण होगी। तुमपर प्रथम तो कोई संकट आयेगा ही नहीं और कभी आयेगा भी तो मैं अपने दुर्गा रूप में तुम्हारे स्मरण मात्र से पहुँचकर रक्षा करूँगी। अब आप सभी प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने स्थान को पधारें। निश्चय ही मेरा अनुग्रह तुम सबके साथ है।'

अब पार्वती जी ने बालक को गोद में उठाया और उसे पुचकारती हुई प्रसन्न मन से अपने भव्य सिंहासन पर विश्राम करने लगीं और तब—

"शनिर्जगाम देवानां समीपं हृष्टमानसः।
प्रणम्य भक्त्या तां ब्रह्मन्नम्बिकां जगदम्बिकाम्॥"

प्रसन्न मन हुए शनिदेव माता जगदम्बा को प्रणाम करके अपने पिता सूर्यादि देवताओं के पास चले गये।

९. नवम अध्याय

शिव द्वारा सूर्यदेव का वध

सूतजी द्वारा उक्त उपाख्यान सुनकर शौनकजी ने अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक शङ्का व्यक्त की—'हे महामुने ! इस उपाख्यान में मुझे बड़ी शङ्का हो रही है, उसके निवारण की कृपा कीजिए। प्रभो ! सर्वशक्तिमान् गोलोकवासी

भगवान् श्रीकृष्ण के अंशभूत एवं सर्वभूतभावन भगवान् शंकर द्वारा पार्वतीजी के गर्भ से उत्पन्न शिशु को इस प्रकार के विघ्न की प्राप्ति क्यों हुई थी ? भला शनि को इस प्रकार की शक्ति कहाँ से प्राप्त हो गई, जिसके कारण देवाधिदेव भगवान् का ही मस्तक छिन्न हो गया था ? एक शङ्का यह भी है कि गणेशजी के मस्तक छिन्न होने की कथा अन्य प्रकार से भी मिलती है, जिसमें स्वयं भगवान् शंकर द्वारा ही उनका मस्तक काट लेना और फिर हाथी का मस्तक जोड़ देना कहा गया है । इस कारण इस विषय में मेरा कुतूहल और भी बढ़ गया है कि कथाओं में इस प्रकार की भिन्नता क्यों है ? कृपया इस सबका समाधान कीजिए ।'

सूतजी आनन्दविभोर हो गए और भगवान् का स्मरण करने के पश्चात् बोले–'शौनकजी ! तुम धन्य हो जो ऐसे लोकोपकारी प्रश्नों को पूछते हो । मैं भी अपने को धन्य ही मानता हूँ जो ऐसे हरिभक्त श्रोता की शङ्काओं का समाधान करने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ है ।

'वत्स ! तुमने जो प्रश्न किया है, वैसा ही प्रश्न देवर्षि नारद ने श्रीनारायण से किया था और नारायण ने जो उत्तर दिया था, वही तुम्हें बताऊँगा । देवर्षि नारदजी ने पूछा–

"नारायण महाभाग वेदवेदाङ्गपारग ।
पृच्छामि त्वामहं किञ्चिदतिसन्देहमीश्वर ॥
सुतस्य त्रिदशेशस्य शङ्करस्य महात्मनः ।
विघ्नविघ्नस्य यद्विघ्नमीश्वरस्य कथं प्रभोः ॥"

'हे नारायण ! महाभाग ! हे वेदवेदाङ्गों के पारगामी प्रभो ! हे ईश्वर ! मुझे कुछ सन्देह हुआ है, इसलिए आपसे पूछता हूँ । हे नाथ ! भगवान् शंकर तो महान् हैं, उनके आत्मभूत पुत्र जो स्वयं भी सभी विघ्नों के विघ्न दूर करने में समर्थ हैं, उन परमात्मा को विघ्न की प्राप्ति किस कारण से हुई थी ?'

'हे भगवन् ! गोलोकनाथ तो पर से भी परे, परिपूर्ण परमात्मा हैं तथा पार्वती के यह पुत्र उन्हीं के अंश रूप हैं तो कैसे आश्चर्य का विषय है कि उन परिपूर्ण परमेश्वर का मस्तक भी शनि की दृष्टि मात्र से छिन्न हो गया ?'

कश्यप द्वारा शिवजी को शाप देना

नारायण बोले–'ब्रह्मन् ! तुमने बहुत सुन्दर प्रश्न किया है। तुम सावधान होकर अपने प्रश्न का उत्तर सुनो। यह बहुत प्राचीनकाल की बात है–एक बार भगवान् शंकर ने सूर्यदेव को अपने त्रिशूल से मार गिराया, इस कारण समस्त संसार में अन्धकार छा गया था। महर्षि कश्यप उनके चेतनाहीन शरीर को गोद में लेकर विलाप करने लगे। उस समय त्रिभुवन में अन्धकार के कारण हाहाकार होने लगा, जिससे सब देवता भी अत्यन्त त्रस्त हो गए। महर्षि कश्यप ब्रह्माजी के पौत्र, परम तपस्वी एवं तेज से जाज्वल्यमान थे। उन्होंने अपने पुत्र के संहारकर्त्ता शिवजी को शाप दे डाला–

"मत्पुत्रस्य यथा वक्षश्छिन्नं शूलेन तेऽद्य च।
त्वत्पुत्रस्य शिरश्छिन्नमेवभूतम्भविभष्यिति ॥"

'शंकर! तुमने आज जिस प्रकार से मेरे पुत्र का वक्षःस्थल विदीर्ण किया है, उसी प्रकार तुम्हारे पुत्र का भी किसी दिन मस्तक छिन्न हो जायेगा।'

'इस शाप को सुनकर शिवजी को भी क्रोध आ गया और वे कश्यप को शाप देने के लिए उद्यत हुए तभी ब्रह्माजी ने मध्यस्थता कर उन्हें शांत करने का प्रयत्न किया। ब्रह्माजी बोले–'हे देवाधिदेव ! हे महादेव ! आप तो तीनों लोकों के स्वामी और संहारकर्ता हैं। यह समस्त जीव आपकी ही ओर करुण-दृष्टि से देख रहे हैं। अतएव प्रभो ! आप क्रोध को त्याग

दीजिए और कश्यप से प्रतिशोध मत लीजिए। हे नाथ ! आपके ऐसा करने से विवाद और भी बढ़ जायेगा। हे दयामय ! अब शीघ्र ही प्रसन्न होकर अन्धकार दूर कीजिए जिससे कि समस्त प्राणी भय मुक्त हो सकें।'

शिवजी तो शीघ्र ही प्रसन्न होने में प्रसिद्ध हैं, इसलिए उन्हें 'आशुतोष' कहते हैं। अतः ब्रह्माजी की स्तुति सुनकर तुरन्त प्रसन्न होकर बोले–'ब्रह्मन् ! मैं तुम्हारे स्तवन से प्रसन्न हूँ। जो चाहे वही वर प्राप्त कर लें।'

ब्रह्माजी ने कहा–'प्रभो ! अन्य कोई भी वर अभीष्ट नहीं है। मैं तो केवल यह याचना करता हूँ कि भास्कर को पुनर्जीवन की प्राप्ति हो, जिससे संसार में छाया हुआ घोरतम अन्धकार दूर हो सके। अन्यथा त्रिलोकी ही नष्ट हो जायेगी। क्योंकि सूर्य में मुझ ब्रह्मा, विष्णु और आपका भी अंश विद्यमान है। इस प्रकार सूर्य त्रिगुणात्मक हैं और शिव भी त्रिगुणात्मक हैं। जब उन्हें गुणों की प्राप्ति नहीं होगी, तब उनमें प्राण भी कहाँ रहेंगे?'

सूर्यदेव को पुनर्जीवन की प्राप्ति

ब्रह्माजी के स्तवन को सुनकर शिवजी प्रसन्न हो गए और उन्होंने सूर्य को पुनर्जीवन प्रदान कर दिया। जब सूर्य जीवित हो गए तब अपने पिता कश्यपजी के आगे बैठ गये। किन्तु उन्होंने अपने क्रियाशील रहने से वैराग्य ले लिया। वे बोले–'अब मैं समस्त विषयों का त्याग कर केवल भगवान् जनार्दन का ही भजन करूँगा। क्योंकि यह समस्त विश्व नाशवान् है। इस तुच्छ नश्वर और अकृतज्ञ संसार के हित में सतत गतिमान् रहते हुए परिश्रम करना व्यर्थ है। जब अकारण ही मेरे साथ शत्रुवत् व्यवहार किया गया, तब मैं समझता हूँ कि मैं ही क्यों इन देवताओं, ऋषि-मुनियों, गन्धर्वों, किन्नरों, यक्षों आदि की प्रसन्नता के लिए अहर्निश भाग-दौड़ करता रहूँ?'

तब सभी देवताओं के निवेदन करने पर ब्रह्माजी ने सूर्य को

समझाया–'वत्स ! संसार में जो उत्पन्न हुआ या प्रकट हुआ है, उसे अपने-अपने कर्म को करना होता है। वस्तुतः संसार कर्म-क्षेत्र है, यहाँ कर्म की ही महिमा है। जो प्राणी अपने कर्त्तव्य कर्म को त्याग देता है, वह धर्म से वञ्चित हुआ अत्यन्त दुःख भोगता है। अतः हे दिनकर ! हे अंशुमालिन् ! तुम अपने कर्म में पूर्ववत् लग जाओ। तुम्हारा इसी में कल्याण निहित है।'

सूर्य ने अपना हठ छोड़ दिया। वे लोकहित की दृष्टि से पुनः गतिमान् होने को प्रस्तुत हुए। तभी ब्रह्माजी ने कहा–'वत्स ! भगवान् शंकर समस्त कारणों के कारण, लोकों के स्वामी तथा सर्गान्त में प्रलय किया करते हैं। इस सर्वेश्वर प्रभु की स्तुति और प्रणामादि से प्रसन्न करके ही अपने कर्त्तव्य कर्म में लगो।'

ब्रह्माजी के वचन सुनकर सूर्यदेव ने शिवजी की स्तुति की–'हे आशुतोष ! हे शंकर ! आप समस्त लोकों के नाथ को मैं प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो ! मुझसे जो कुछ भी अपराध हुआ हो, उसे कृपया क्षमा कर दें। मैं आपका अनन्य सेवक और सदैव कृपाभिलाषी हूँ। उमानाथ ! मुझपर कृपा कर प्रसन्न हो जाइए प्रभो !'

आशुतोष तो आशुतोष ही हैं, जब कोई भक्त सच्चे हृदय से उनकी स्तुति करे तो उनके प्रसन्न होने में देर नहीं लगती। उन्होंने भास्कर को भक्तिपूर्वक स्तुति करते देखा तो तुरन्त ही सन्तुष्ट हो गये। उन्होंने कहा–'दिनकर ! तुम्हारा कल्याण हो। अब कोई भय तुम्हारे नहीं आ सकता। जाओ, लोकहित के निमित्त अपने कर्म में पूर्ववत् लग जाओ।'

शिवजी का आदेश मिलने पर सूर्य ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और परिक्रमा करके अपने गतिशील रथ पर जा बैठे। उनके बैठते ही रथ चल पड़ा और विश्व का गहनतम अन्धकार धीरे-धीरे प्रकाश के रूप में बदलने लगा।

शिशु के धड़ में गजमुख जोड़ने के प्रति संदेह

सूतजी बोले–'शौनक ! तुमने जो पूछा, वह मैंने सुना दिया है। अब यदि कुछ पूछना हो वह पूछो, यदि जानता हूँगा तो अवश्य बताऊँगा।'

शौनक बोले–'प्रभो ! इस कथा के सुनने पर एक शंका उत्पन्न हो गई है बालक के छिन्न मस्तक के स्थान पर हाथी का मुख ही क्यों लगाया गया ? और भी तो अनेकानेक सुन्दर मुख के प्राणी संसार में देखे जाते हैं। और कुछ नहीं तो किसी देवता या मनुष्य का ही सिर उसके धड़ में जोड़ा जा सकता था। इसके अतिरिक्त यह शंका भी अभी रह गयी कि शिव-पुत्र के धड़ में गजमुख जोड़े जाने की घटना का विवरण विभिन्न ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा जाता है, तब उनमें से सत्य विवरण कौन-सा माना जाये।'

सूतजी हँसे, उन्होंने कहा–'शौनकजी ! मैं तो समझता था कि अपनी पूरी शंका का समाधान तो तुम स्वयं ही पा गए होगे, इसलिए नहीं कह सका। परन्तु जब तुम पूछते हो तब और भी स्पष्ट करके कहता हूँ, सुनो–एक ही चरित्र के भिन्न-भिन्न प्रकार से पाये जाने में कोई विशेष रहस्य नहीं छिपा है। वे सभी घटनाएँ कल्प-भेद से ज्यों-की-त्यों घटित हुई हैं। भगवान् नारायण ने नारदजी को बताया था, उससे यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। नारदजी ने प्रश्न किया था कि प्रभो ! मेरे मन में कुछ शंका उत्पन्न हो गई है, उसका निवारण कीजिए। भगवान् शंकर के पुत्र के शरीर पर हाथी के मुख की ही योजना क्यों की ? जबकि संसार में एक से बढ़कर सुन्दर जन्तु विद्यमान हैं, क्या गजमुख के योजन का कोई विशेष कारण था ?'

३१

१०. दशम अध्याय

पाद्मकल्प में घटित घटना का वर्णन

नारदजी का प्रश्न सुनकर भगवान् नारायण बोले–'देवर्षे ! तुम्हारा प्रश्न उचित है, स्वाभाविक है। मैं तुम्हें गजमुख लगाने का कारण बताता हूँ। यह विषय सभी वेदों, पुराणों में भी गोपनीय ही है। परन्तु इसे जो कोई कहता या सुनता है, उसके समान कोई भाग्यशाली भी नहीं है, क्योंकि यह सभी को दुःखों से छुड़ाता और ऐश्वर्य प्रदान करता है। इसके सुनने-कहने से समस्त विपत्तियाँ और पाप दूर हो जाते हैं। हे नारद ! अब तुम ध्यान लगाकर सुनो–

"शृणु तात प्रवक्ष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
रहस्यं पाद्मकल्पस्य पुरा तातमुखात् श्रुतम् ॥

'हे तात ! सुनो, मैं इस पुराने इतिहास को तुम्हारे प्रति कहता हूँ। यह रहस्यमय उपाख्यान पाद्मकल्प में घटित हुआ था, तथा इसे मैंने अपने पिता के मुख से सुना था। एक बार की बात है–देवराज इन्द्र पुष्पभद्रा नामक नदी के तट पर ठहरे हुए थे। उस समय वे अपने ऐश्वर्यमद से मदान्वित और राज्यश्री से सम्पन्न थे। नदी तट का वह स्थान अत्यन्त निर्जन और एकान्त था। मनुष्यादि की तो बात ही क्या, कोई जीव-जन्तु भी वहाँ नहीं था।

परन्तु विविध प्रकार के सुन्दर पुष्पों से युक्त वृक्ष वहाँ विद्यमान थे। उन पुष्पों की सुगन्ध से सुवासित हुई वायु अरण्य को ही सुगन्धित बनाये हुए थी। देवराज उस मनोहर स्थान पर घूम ही रहे थे कि उनकी दृष्टि रम्भा नाम की एक स्त्री पर पड़ी जो वहाँ विश्राम के लिए समुपस्थित हुई थी। उसे देखते ही इन्द्र कामासक्त हो गये और निर्निमेष नेत्र से उसी पर दृष्टि लगाये रहे।

रम्भा भी इन्द्र की ओर आकर्षित हुई। उसे अपनी ही ओर आती देखकर इन्द्र ने कहा—'वरारोहे ! तुम कौन हो ? कहाँ से आई और कहाँ जा रही हो ? क्या मेरा भी कुछ प्रिय करोगी ?'

रम्भा बोली—'प्रभो ! मैं तो आपकी दासी हूँ, भला आप आज्ञा दें और अस्वीकार कर दूँ यह कैसे सम्भव है ?' ऐसा कहकर वह लज्जा त्यागकर इन्द्र के पास ही उपस्थित हो गई। तभी महर्षि दुर्वासा अपनी शिष्य-मण्डली के साथ उसी मार्ग से निकले। इन्द्र ने महर्षि को देखा तो तुरन्त उनके समीप जाकर प्रणाम किया। इन्द्र को नत मस्तक देखकर महर्षि ने उन्हें 'सुखी रहो' कहकर आशीर्वाद दिया।'

दुर्वासा का इन्द्र को पारिजात पुष्प देना

महर्षि उस समय बैकुण्ठ से आ रहे थे। भगवान् नारायण ने उन्हें एक दिव्य पारिजात पुष्प भेंट की थी। वही पुष्प महर्षि ने प्रसन्न होकर देवराज को प्रसाद रूप में दे दिया और उसका माहात्म्य बताते हुए कहा—

"सर्वविघ्नहरं पुष्पं नारायणनिवेदितम्।
मूर्ध्नीदं यस्य देवेन्द्र जयस्तस्यैव सर्वतः॥"

'हे देवेन्द्र ! यह पुष्प सभी विघ्नों को नाश करने वाला है। भगवान् नारायण द्वारा प्रदत्त यह पुष्प जिसके मस्तक पर सुशोभित रहेगा, सब प्रकार से उसकी विजय निश्चित है।'

'इस पुष्प को मस्तक पर धारण करने वाले का सर्वत्र पूजन होगा। वह सभी देवताओं में अग्रपूजन का अधिकारी रहेगा। महालक्ष्मीजी भी सदैव उसके साथ रहेंगी। जब तक यह पुष्प रहेगा, लक्ष्मीजी, उसका त्याग नहीं करेंगी। उसे धारण करने वाला व्यक्ति ज्ञान, तेज, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि में साक्षात् भगवान् श्रीहरि के ही समान हो जायेगा। जो परम अहंकार मद के वश में पड़कर भक्तिभावपूर्वक मस्तक पर धारण

नहीं करेगा, वह भ्रष्ट श्रीवाला होगा। यह भगवान् श्रीहरि का नैवेद्य निरभिमान रूप से धारण करना चाहिए।'

पारिजात पुष्प को हाथी के मस्तक पर रखना

'इस प्रकार कहकर महर्षि दुर्वासा अपने शिष्यों के सहित कैलास पर्वत की ओर चले गए। उधर, इन्द्र ने महर्षि से तो पुष्प ले लिया, किन्तु अपने मस्तक पर धारण नहीं किया वरन् रम्भा के निकट ही हाथी के मस्तक पर स्थापित कर दिया। हे शौनक ! पुष्प का वह निरादर इन्द्र के लिए दुर्भाग्य रूप बन गया। अप्सरा रम्भा को इन्द्र से विरक्ति हो गई और वह उन्हें विरह-व्यथा देकर अपने स्थान को चली गई।

'मस्तक पर भगवान् नारायण के नैवेद्य रूप पुष्प को धारण कर इन्द्र का हाथी भी महाबली और महातेजस्वी हो गया था। उसने भी देवराज का साथ छोड़ दिया। इन्द्र ने उसे बहुत रोकना चाहा, किन्तु श्रीहीन होने के कारण उनमें इतनी शक्ति कहाँ रह गई थी जो उसे रोकते। इन्द्र उसपर चढ़ने को हुए तो उसने उन्हें वहाँ धरती पर डाल दिया।

'अब उस हाथी को एक हथिनी भी उसी अरण्य में मिल गई। गजराज के तेज को देखकर वह हथिनी स्वयं ही उसके पास चली आई। दोनों ही स्नेह-बन्धन में ऐसे बँधे कि परस्पर में कोई किसी को नहीं छोड़ना चाहता था। वस्तुतः वह हाथी बड़ा अभिमानी हो गया था। दूर अरण्य में निवास करने वाले जन्तुओं को पीड़ित करने लगा था।

'देवर्षि ! भगवान् किसी का मद नहीं बना रहने देते। जो उनकी शरण में जाता है उसका तो अहंकार ही पहले नष्ट करते हैं और जो शरण में नहीं जाता, उसे भी गर्वहीन बना देते हैं।

'भगवान् ने अत्यन्त मदान्वित हुए उसी गजराज का मस्तक छिन्न करके शिवा-पुत्र के धड़ पर लगाया था। इससे गजराज के गर्व का तो

खण्डन हुआ ही शिवा-शिशु भी जीवित हो गये। वत्स ! यह मस्तक-चरित्र मैंने तुम्हारे प्रति कह दिया है, जो कि सभी पापों का नष्ट करने वाला है, बोलो, अब क्या सुनना चाहते हो ?'

शौनक बोले-'हे सूतजी ! हे महाभाग ! आपने यह बड़ा सुन्दर, सुखद वृत्तान्त सुनाया है। प्रभो ! अब यह बताने की कृपा कीजिए कि श्रीहीन हुए देवराज इन्द्र ने फिर क्या किया ? किस प्रकार उन्हें राज्यश्री की पुनः प्राप्ति हुई ? यह सब मेरे प्रति कहिए।'

सूतजी बोले-'शौनक ! तुम्हारा जो प्रश्न है, वैसा ही प्रश्न महर्षि नारदजी ने श्रीनारायण से किया था। उन्होंने पूछा-'हे जगन्निवास ! हे प्रभो ! अभिशाप को प्राप्त देवराज एवं उनके अनुयायी देवगण खोई हुई श्री को पुनः कब, किस प्रकार प्राप्त कर सके, वह सब मेरे प्रति कहने की कृपा कीजिए।'

११. एकादश अध्याय

राज्य-श्री से इन्द्र का वंचित होना

नारायण बोले-'हे नारदजी ! यह एक बहुत बड़ा रहस्य है, जो कि गोपनीय एवं अत्यन्त दुर्लभ है। तुम्हारी अधिक प्रीति देखकर कहता हूँ, सुनो-जब इन्द्र उस मदमत्त गज से पराभव को प्राप्त हो गए तो भ्रष्ट-श्री होकर अमरावती को चले गए। परन्तु उन्होंने अपनी वह पुरी भी श्रीहीन ही देखी। क्योंकि शत्रुओं ने उसपर आक्रमण करके उन्हें दैन्य अवस्था में डाल दिया था। उस समय उसपर शत्रुओं का अधिकार था तथा देवगण तो वहाँ देखने मात्र को भी नहीं थे।

'इन्द्र को यह समाचार अमरावती के मार्ग से ही मिल गया था, इसलिए पुरी में न जाना ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा और गुरु बृहस्पति के पास जाकर बोले–'गुरुदेव ! यह क्या हो गया ? राज्य, धन, वैभव सब कुछ छिन गया, अब क्या उपाय किया जाये, जिससे शत्रुओं को वहाँ से भगाया जा सके ?' बृहस्पति बोले–'राजन् ! प्रमुख देवताओं को साथ लेकर लोकपितामह के पास चलना चाहिए। सम्भव है–वही इसका कुछ उचित उपाय कर दें।'

ऐसा निश्चय होने पर देवराज गुरु बृहस्पति और सब प्रमुख देवताओं को साथ लेकर ब्रह्मलोक में पहुँचे और उन्हें प्रणाम कर सम्मुख खड़े हुए अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक श्रुति मंत्रों द्वारा उनका स्तवन करने लगे। उन्होंने कहा–'प्रभो ! हमारा राज्य छिन गया, दैत्यों ने हमारा बड़ा अनिष्ट किया है। घर के अभाव में हम सब मारे-मारे फिर रहे हैं। हे दयानिधे ! इसके प्रतिकार का कुछ उपाय कीजिए।'

ब्रह्माजी ने इन्द्र का निवेदन सुनकर भर्त्सना भरे स्वर में कहा, 'देवेन्द्र ! मेरे प्रपौत्र होकर भी गर्हित कर्म कर बैठते हो। तुम अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकने के कारण ही ऐसी विपत्तियों में फँसते हो। ध्यान रखो, जो परस्त्रियों में आसक्ति रखता है, वह कभी भी सुख से नहीं रह सकता। उसकी श्री, यश और सम्पत्ति कभी स्थिर नहीं रह सकती। वह सर्वत्र निन्दा का ही पात्र बना रहता है। वह अपने पाप का फल भोगने के लिए बुरे से बुरा परिणाम भोगता है।'

इन्द्र नत-मस्तक हुए ब्रह्माजी की बात सुनते रहे पितामह ने पुनः कहा–

"नैवेद्यं श्रीहरेरेव दत्तं दुर्वाससा च ते।
गजमूर्ध्नि त्वया न्यस्तं रम्भया हतचेतसा ॥"

'अरे मूढ़ ! तूने महर्षि दुर्वासा द्वारा प्रदत्त भगवान् श्रीहरि के नैवेद्य का

तिरस्कार किया। उसे अपने मस्तक पर धारण न कर हाथी के मस्तक पर रख दिया। उस समय तू रम्भा के मिथ्या प्रेम में फँसा रहने के कारण हतज्ञान हो गया। अब बता, वह रम्भा तुझे गर्त में डालकर कहाँ चली गई और उसके कारण श्रीहीन हुआ तू अब किस दिशा को प्राप्त हो रहा है ? देख, उसने तेरी किञ्चित् भी चिन्ता नहीं की और क्षणभर में तुझसे पृथक् हो गई।'

ब्रह्माजी द्वारा इन्द्र को नारायण-स्तोत्र कथन

इन्द्र ने ब्रह्माजी के चरण पकड़ लिये और उन्हें अपने आँसुओं से धोने लगे। पितामह को उनपर दया आयी और वे बोले–'वत्स ! अब रोने से क्या होगा ? गई हुई लक्ष्मी इस प्रकार से लौटने वाली नहीं है। अब तो श्री की पुनः प्राप्ति के लिए तुम्हें भगवान् श्रीहरि का भजन करना चाहिए।' यह कहकर ब्रह्माजी ने इन्द्र को नारायण मन्त्र, स्तोत्र एवं कवच प्रदान किया। पितामह की आज्ञानुसार इन्द्र ने एकान्त स्थान में जाकर विधिपूर्वक अनुष्ठान किया। उनके भक्तिभाव की दृढ़ता देखकर भगवान् विष्णु प्रकट हुए और बोले–'देवराज ! मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ। अब तुम अपना अभीष्ट वर माँग लो।'

इन्द्र ने हाथ जोड़े हुए कहा–'प्रभो ! मैं श्रीहीन, राजहीन और अत्यन्त दुखित हो रहा हूँ। शत्रुओं ने अमरावती को छीन लिया है। सभी देवगण घर-द्वार से वञ्चित हुए मारे-मारे फिर रहे हैं। हे नाथ ! हमें पुनः अपना वैभव प्राप्त हो सके, वह उपाय करने की कृपा कीजिए।'

भगवान् बोले–'देवेन्द्र ! तुम जो चाहते हो वही होगा। तुम्हारे शत्रु दैत्य शीघ्र ही पराभव को प्राप्त होकर अमरावती छोड़कर भाग जायेंगे। तुम इस स्तोत्र और कवच का अनुष्ठान करो।'

भगवान् विष्णु से वर प्राप्त कर देवराज ने विधि सहित स्तोत्र और

कवच सिद्ध कर समस्त देवताओं को एकत्र किया और दैत्यों पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की। यह सुनकर नारदजी ने पूछा– 'हे भगवन्! श्रीहरि ने इन्द्र को कौन-सा स्तोत्र और कवच प्रदान किया था? वह मेरे प्रति कहिए।' श्रीनारायण ने कहा–'हे नारद! जो कवच इन्द्र को प्रदान किया गया, वह सभी लोकों में विजय प्राप्त कराने वाला एवं अमोघ है। इसे अनधिकारी को नहीं देना।'

"केशान् केशवकान्ता च कपालं कमलालया।
जगत्प्रसूर्गण्डयुग्मं स्कन्धं सम्पत्प्रदा सदा॥"

'मेरे केशों की केशवकान्ता रक्षा करें, कपाल की पद्मालया रक्षा करें, जगत् को उत्पन्न करने वाली देवी गण्डयुग्म की और सम्पत्प्रदा स्कन्ध की रक्षा करें। कमल-वासिनी पीठ की, पद्मालया वक्षःस्थल की ह्रीं, श्रीं कंकाल की, श्रीं नमः दोनों बाहुओं की रक्षा करें। ॐ ह्रीं श्रीं लक्ष्म्यै नमः पाँवों की, ॐ ह्रीं श्रीं नमः पद्मायै नितम्ब भाग की, ॐ श्रीं महालक्ष्म्यै स्वाहा सर्वांग की तथा ॐ क्लीं ह्रीं श्रीं महालक्ष्म्यै स्वाहा मेरी सब ओर से रक्षा करें। यह परम अद्भुत कवच सभी सम्पत्तियों और ऐश्वर्यों को देने वाला है। इसका धारण कण्ठ में या दायीं भुजा में करना चाहिए। भगवान् श्रीहरि ने जो मन्त्र प्रदान किया था, वह यह है–

'ॐ श्रीं क्लीं नमो महालक्ष्म्यै हरिप्रियायै स्वाहा।' 'हे नारद! देवराज इन्द्र ने इसी का अनुष्ठान करके सिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रश्न का समाधान कर दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो, वह मुझे बताओ।'

चतुर्थ खण्ड

५०

१. प्रथम अध्याय

गणेशजी 'एकदन्त' कैसे हो गये ?

सूतजी बोले—'शौनक ! इस प्रकार कहकर भगवान् नारायण मौन हो गए, तब नारदजी ने उनसे पुनः जिज्ञासा की—

प्रभो ! शिवा-सुवन गणेशजी एकदन्त क्यों हुए ? उस विषय में मुझे बताने की कृपा कीजिए।' यह सुनकर श्रीनारायण बोले—

"शृणु नारद वक्ष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
एकदन्तस्य चरितं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥"

'हे नारद ! सुनो, मैं उन एकदन्त गणेशजी के समस्त मंगलों के भी मंगल रूप परम पुरातन चरित्र रूप इतिहास को कहता हूँ। हे मुने ! एक बार की बात है—राजा कार्त्तवीर्य आखेट के लिए वन में गया और बहुत से मृगों का शिकार करके थक गया। इसलिए उसने वह रात्रि वहीं व्यतीत की तथा उसकी विशाल सेना के पड़ाव का फैलाव महर्षि जमदग्नि के आश्रम तक पहुँच गया। जब रात्रि व्यतीत होकर प्रातःकाल हुआ तो सभी शौचादि से निवृत्त हुए। राजा कार्त्तवीर्य ने निकटस्थ सरोवर में स्नान कर श्रीदत्तात्रेय-प्रदत्त मन्त्र का भक्तिभावपूर्वक जप किया। उसके पश्चात् राजा को भूख लगी तो सोचने लगा कि भोजन की व्यवस्था कैसे हो ? जब कोई उपाय न सूझा तो वह महर्षि जमदग्नि के आश्रम में जा पहुँचा।

उसने वहाँ जाकर महर्षि को प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाकर विनीत भाव से सामने की ओर बैठ गया। महर्षि ने देखा—राजा के ओष्ठ और तालु सूख गये हैं, इस कारण वह ठीक प्रकार से बोलने में भी

असमर्थ है तो उन्हें दया आ गई और कुशल-प्रश्न के पश्चात् उन्होंने उसे आशीर्वाद कर उसकी व्यग्रता का कारण पूछा—'राजन् ! तुम्हारे मुख पर थकान के भाव स्पष्ट देखे जा रहे हैं, इसका कारण क्या है ?'

राजा ने कहा—'महर्षे ! मैं कल दिनभर शिकार करते-करते थक गया, उसपर भी कहीं भोजनादि की व्यवस्था नहीं हो सकी। मेरी सेना के सब लोग भी भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे हैं। राजधानी बहुत दूर है और साथ में कोई साधन नहीं, अतः ऐसी स्थिति में क्या किया जाये ?'

जमदग्नि द्वारा कार्त्तवीर्य को निमन्त्रण देना

मुनि ने राजा की व्यथा सुनी तो सम्भ्रमपूर्वक राजा को निमन्त्रण दे बैठे। वस्तुतः मुनि को यह पता नहीं था कि सेना की कितनी संख्या है ? किन्तु बाद में पता चला तो उन्हें अपनी भूल का ज्ञान हुआ। अब वे सोचने लगे—'इतने अधिक जनसमूह की तृप्ति के लिए भोजन-सामग्री कहाँ से आवे ? और सामग्री प्राप्त भी हो जाय तो भोजन बनायेगा कौन ?'

महर्षि के आश्रम में कामधेनु विद्यमान थी। मुनि ने सोचा, 'अब तो यह कामधेनु ही मेरे वचन का निर्वाह कर सकती है। अन्यथा राजा के समक्ष मिथ्यावादी समझा जाऊँगा जिससे क्रुद्ध हुआ राजा कुछ अनिष्ट भी कर सकता है।' ऐसा सोचकर महर्षि ने कामधेनु से प्रार्थना की—'हे सुरभे ! मैंने राजा को उसकी सेना सहित भोजन का निमन्त्रण दे दिया। परन्तु उतने बड़े जन-समूह के आहार योग्य न तो सामग्री है, न बनाने वाला रसोइया ही; इस स्थिति में बताओ कि मैं क्या करूँ ?'

कामधेनु ने महर्षि की बात सुनकर उन्हें आश्वासन दिया—'महर्षि ! आप चिन्ता क्यों करते हैं ? यह राजा और इसकी सेना तो क्या, मैं समस्त विश्व को भोजन कराने में समर्थ हूँ। आप निश्चिन्त होकर राजा को सेना सहित बुला लीजिए। फिर आप जिस-जिस द्रव्य की इच्छा करेंगे,

वही-वही द्रव्य प्राप्त हो जायेगा। चाहे वह त्रैलोक्य में भी दुर्लभ क्यों न हो।'

यह सुनकर महर्षि बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने शिष्य को आदेश दिया कि 'राजा को सेना सहित भोजन के लिए बुला लाओ।' शिष्य ने राजा को मुनि का सन्देश दिया और तब राजा प्रसन्नतापूर्वक अपने समस्त सैनिकों के सहित आश्रम में आ गये। परन्तु छोटा-सा आश्रम, उसमें कोई विशेष सामग्री नहीं, यह देखकर राजा ने सोचा—'मैंने बड़ी भूल की जो इनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। बेचारे इतने बड़े जन-समूह को भोजन कराने के लिए कैसे व्यवस्था करेंगे? अच्छा होता कि मैं अकेला ही यहाँ आता।'

राजा के मन की उथल-पुथल महर्षि से छिपी न रही। उन्होंने कहा—'महाराज! आप चिन्ता न करें। यहाँ सभी को इच्छित पदार्थों से भोजन कराने की व्यवस्था है।'

राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। सभी को भोजन और वह भी इच्छित पदार्थ का? कहीं महर्षि किसी भ्रम में तो नहीं हैं? फिर भी, राजा शान्त होकर बैठ गये। अन्य सबने भी पंक्तियाँ लगा लीं। तभी देखा कि सभी के समक्ष पत्तलें लग गयी हैं और उनपर वे ही पदार्थ हैं, जिनकी इच्छा खाने वालों ने की थी। अर्थात् जिनकी इच्छा मिष्ठान्न की थी उसकी इच्छित मिष्ठान्न और जिसकी इच्छा नमकीन की थी उसकी पत्तल पर इच्छित नमकीन रखी थी। जो रोटी चाहता उसे रोटी, पूड़ी चाहता उसे पूड़ी और मेवा चाहता उसे मेवा की प्राप्ति हुई। एक-एक कर सभी इच्छित पदार्थ पत्तलों पर आते रहे। यह पता नहीं चला कि उन्हें कौन, कब रख गया! थोड़ी देर में ही सेना सहित राजा पूर्ण रूप से तृप्त हो गया।

वस्तुतः भोजन में प्राप्त सभी वस्तुएँ दुर्लभ थीं। राजा जानता था कि उन सबका निर्माण इतने अल्प समय में राजभवन में भी नहीं हो सकता

था। राजा उस अवस्था से अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गया और मुनि के पास से अन्यत्र जाकर उसने अपने सचिव को बुलाकर कहा–

"द्रव्याण्येतानि सचिव दुर्लभान्यश्रुतानि च।
ममासाध्यानि सहसा क्वागतान्यवलोकय॥"

'हे सचिव! भोजन में परोसे हुए सभी पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ हैं। उनमें बहुत से तो ऐसे थे, जिनके विषय में कभी सुना भी नहीं था। ऐसे अद्भुत एवं अत्यन्त स्वादिष्ट पदार्थों को तो मैं भी सहसा साध्य नहीं कर सकता। इसलिए तुम मुनि के आश्रम में जाकर यह पता लगाओ कि यह सब वस्तुएँ यहाँ आईं कहाँ से?'

राजा की आज्ञा सुनकर 'जो आज्ञा' कहता हुआ सचिव मुनि के आश्रम के भीतरी भाग में जा पहुँचा और सर्वत्र देखभाल करने के पश्चात् राजा के पास लौट आया और राजा से निवेदन करने लगा–'महाराज! आपकी आज्ञा से मुनि के आश्रम में भीतर जाकर मैंने एक-एक चप्पा-चप्पा भूमि छान डाली, किन्तु कहीं भी भोजन-सामग्री तो क्या उसके लिए पात्र भी दिखाई नहीं दिया। मुनि के घर में केवल यज्ञीय काष्ठ, कुश, पुष्प, फल, आज्य एवं यज्ञाग्नि के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं मिला। वहाँ कृष्णाजिन, स्रुक्-स्त्रुवा एवं शिष्यों का समूह भी देखा। किन्तु तैजस् आधार रूप शस्यादि कहीं भी दिखाई नहीं दिया। आश्रम के सभी निवासी वृक्षों की छाल के वस्त्र धारण किए हुए एवं जटा-जूट से युक्त पाये गये। आश्रम के एक स्थान में एक सुन्दर गाय बँधी हुई थी, जो कि चन्द्रमा के समान शुभ्र अङ्ग वाली, अरुण नेत्रों से युक्त एवं देखने में अत्यन्त सुन्दर है। सभी आश्रमवासी उसे 'कपिला' नाम से पुकारते हैं। हे राजन्! मुझे तो वह गाय ही समस्त पदार्थों, शस्यों, विभिन्न ऐश्वर्यों से युक्त एवं गुणों की आधार प्रतीत होती है। इसलिए आप चाहें तो मुनि से उस धेनु की ही याचना कीजिए। सम्भव है कि वही इस सिद्धि का मुख्य कारण हो।'

कार्तवीर्य का जमदग्नि से कामधेनु की माँग करना

राजा को सचिव का परामर्श युक्तियुक्त प्रतीत हुआ। उसने सोचा—'अवश्य ही यह गाय ही आहार की सिद्धि में प्रमुख कारण है। इसलिए मुनि से इसी की याचना करनी चाहिए।'

ऐसा विचार कर राजा महर्षि जमदग्नि के पास जाकर बोला—

"भिक्षां देहि कल्पतरो कामधेनुञ्च कामदाम्।
मह्यं भक्ताय भक्तेश भक्तानुग्रहकारक ॥"

'हे भक्तों के स्वामिन्! हे भक्तों पर अनुग्रह करने में सदैव तत्पर रहने वाले मुनीश्वर! मुझ भक्त पर कृपा करके कल्पतरु रूप एवं सर्व कामनाओं के पूर्ण करने वाली कामधेनु की मुझे भिक्षा दीजिए। हे नाथ! आपके समान श्रेष्ठ दाताओं के लिए ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अदेय हो। देखिये, प्राचीनकाल का वृत्तान्त है कि देवताओं की याचना पर महर्षि दधीचि ने अपनी अस्थियाँ तक दान कर दी थीं।'

'हे तपोधन! हे तपस्या की राशि से पूर्ण सम्पन्न मुनिनाथ! आप अपनी भ्रूभंगिमा द्वारा लीला मात्र से सहस्त्रों—लाखों कामधेनुओं के समूह का सृजन करने में समर्थ हैं। हे प्रभो! मुझपर कृपा कीजिए, इस कामधेनु की मेरे जैसे अधिक जनसमूह वाले के लिए बड़ी आवश्यकता है, जबकि वह आपके लिए कोई विशेष महत्त्व की नहीं है।'

मुनि ने राजा की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सोचा, स्वयं ही समझ जायेगा कि नहीं देना चाहते। किन्तु राजा तो काल के वशीभूत हो रहा था। उसे उत्तर प्राप्त हुए बिना चैन कहाँ था? एक महाप्रतापी क्षत्रिय होकर ब्राह्मण से दान माँगते हो? दान लेना तो ब्राह्मण का कार्य है, क्षत्रिय का नहीं। क्षत्रिय तो सदैव दान देते आये हैं। फिर तुम क्यों धर्म-विरुद्ध चेष्टा करते हो?

राजा ने कहा–'मुनीश्वर ! धरती पर विद्यमान सभी वस्तुओं का स्वामी राजा ही होता है। वही सबके प्राणों का भी अधिकारी है। चाहे जिससे इच्छित वस्तु प्राप्त करने का उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसलिए आप मेरे ईश्वरप्रदत्त अधिकार को ध्यान में रखकर कपिला धेनु मुझे सौंप दीजिए। इसी में आपका और आपके समस्त आश्रमवासियों का कल्याण निहित है।'

मुनि द्वारा गौ देने को अस्वीकार करना

मुनि ने कुछ रुष्ट होते हुए कहा–'अरे नृपाधम ! तू तो अत्यन्त दुष्ट और वञ्चक प्रतीत होता है। आज तक किसी भी राजा ने किसी ब्राह्मण की वस्तु पर दृष्टि नहीं लगाई, किन्तु आज तू मेरी प्राणों से भी प्रिय कपिला धेनु को ले जाना चाहता है ? देख, यह कामधेनु भगवान् श्रीकृष्ण ने गोलोक में श्रीब्रह्मा जी को प्रदान की थी। ब्रह्माजी ने इसे महर्षि भृगु को दिया और उन्होंने मुझे। इस प्रकार यह धेनु मेरी पैतृक सम्पत्ति है। इसका प्राकट्य गोलोक में भगवान् के ही द्वारा हुआ है, यह त्रैलोक्य में कहीं भी मिलनी सम्भव नहीं। ऐसी दुर्लभ धेनु का लीला मात्र से ही कैसे उत्पन्न कर सकता हूँ ?'

राजा ने पुनः कहा–'मुनिनाथ ! यह गौ तो मुझे लेनी ही है। उचित यही है कि आप किसी प्रकार की सहमति व्यक्त करते हुए इसे मुझे दे दें। क्योंकि ऐसी गौ आप जैसे मुनियों के काम की नहीं, वरन् राजाओं के ही काम की हो सकती है। हठ करने से आपका कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है।'

जमदग्नि बोले–'अरे मूढ़ नरपाल ! मैं कोई हल चलाने वाला तो हूँ नहीं जो तेरी धमकियों में आ जाऊँगा। मैं तुझे अतिथि समझकर ही, इतनी बातें सहन कर रहा हूँ, अन्यथा एक क्षण में ही समस्त सेना के सहित तुझे भस्म कर सकता हूँ। इसीलिए उचित यही है कि मेरे क्रोध की वृद्धि न कर और शीघ्र ही यहाँ से अपनी राजधानी लौट जा।'

राजा को कुछ क्रोध आ गया, किन्तु क्रोध को रोकता हुआ पुनः बोला–'मुनीश्वर! मैं तुम्हें ब्राह्मण होने के कारण ही छोड़े दे रहा हूँ, अन्यथा मेरी बात न मानने पर मृत्युदण्ड ही दिया जाता है। अब तुम अपनी गाय मुझे तुरन्त दे दो, अन्यथा परिणाम ठीक नहीं निकलेगा।'

इसपर मुनि को भी क्रोध आ गया, किन्तु अप्रिय घटना न घटे, ऐसा विचार करते हुए बोले–

"गृहं गच्छ गृहं गच्छ मत्कोपं नैव वर्द्धय।
पुत्रदारादिकं पश्य देवबाधितपामर॥"

'अरे, देवबाधित ! अरे पामर, मेरे क्रोध को अब और अधिक न बढ़ा, जा, घर जा और वहाँ अपने पुत्र-स्त्री आदि परिवारीजनों को देख। व्यर्थ ही वाद-विवाद करके नष्ट क्यों होना चाहता है ?'

२. द्वितीय अध्याय

राजा द्वारा बलपूर्वक कपिला गाय लाने का सेना को आदेश

महर्षि के वचन उसके हृदय में तीर जैसे लगे और वह अत्यन्त क्रोधित होकर से चल दिया तथा अपनी सेना के मध्य आकर सचिव से बोला–'हे सचिव ! मैं मुनि की कपिला गाय की इच्छा करता हूँ, किन्तु मुनि उसे देना नहीं चाहते। अब क्या किया जाय, जिससे कि वह गाय हमें प्राप्त हो सके ?'

सचिव ने कहा–'महाराज ! उपाय तो बहुत सरल है। अपनी सेना

भेजकर गाय को बलपूर्वक साथ ले चलिए। इसमें बेचारे वनवासी मुनि और उनके शिष्य क्या कर सकते हैं ? परन्तु राजन्! यह सोच लीजिए कि कहीं वे मुनि रुष्ट होकर शाप तो न दे देंगे ?'

राजा ने कहा—'अरे, क्या होता है शाप से ? तुम तुरन्त ही सेना को वहाँ भेजो और कपिला गाय को बलपूर्वक यहाँ मँगवा लो।' यह सुनकर सचिव ने कुछ प्रमुख वीर वहाँ भेज दिए, जिन्होंने जाकर कहा—'मुनीश्वर ! महाराज की आज्ञा है कि कपिला गौ हमारे पास लाई जाये। अतएव आप उस गौ को हमें सौंप दीजिए।'

मुनि कुछ बोले नहीं और तुरन्त ही धेनु के समक्ष जाकर रोने लगे। उन्होंने कहा—'सुरभे ! तुम्हें वह दुष्ट राजा बलपूर्वक ले जाना चाहता है। मैंने तो उसे भूखा-प्यासा देखकर भोजन प्राप्त कराया और वह मुझे ही सन्तप्त कर रहा है। समझ में नहीं आता कि उससे छुटकारा कैसे हो ?'

महर्षि को रुदन करते देखकर कामधेनु ने कहा—'मुनीश्वर ! आप क्यों रुदन करते हैं ? इन्द्र हो अथवा हल जोतने वाला किसान, शासक हो अथवा शासित, सभी कोई अपनी वस्तु का दान स्वेच्छा से कर सकते हैं। संसार में दान की यह प्रथा युगों-युगों से इसी प्रकार चली आई है। हे तपोधन ! यदि आप राजा को स्वेच्छापूर्वक मेरा दान करना चाहते हैं तो अवश्य कर दें, मैं आपकी आज्ञा मानकर बिना किसी विरोध के उनके साथ चली जाऊँगी। परन्तु यदि आप स्वेच्छापूर्वक मेरा दान नहीं करना चाहते तो फिर मुझे बलपूर्वक कोई भी नहीं ले जा सकता। मैं तुम्हें ऐसी सेना दूँगी जो राजा को यहाँ से भगा देगी।'

'हे तपोधन ! आप माया से मोह को प्राप्त न होओ। हे मुने ! रोओ मत। यह संयोग-वियोग तो होता ही रहता है, जो कि काल से साध्य है। देखो महर्षि ! मैं तुम्हारी कौन हूँ अथवा तुम ही मेरे कौन हो ? यह सम्बन्ध केवल काल द्वारा ही योजित हुआ है। जब तक संयोग दृढ़ है, तभी तक आप मेरे और मैं तुम्हारी हूँ। यह मन जिस पदार्थ को अपना मानता है,

उसके विच्छेद से दुःख होना स्वाभाविक है। क्योंकि उस पदार्थ में प्राणी अपना स्वत्व, अपना अधिकार मानता है। अतएव हे मुनीन्द्र ! आपकी जो आज्ञा हो वैसा ही करने को मैं प्रस्तुत हूँ।'

महर्षि ने कहा—'कामधेनु ! मैं स्वेच्छा से तो तुम्हें कभी भी नहीं छोड़ सकता। किन्तु यदि आततायी बलपूर्वक ले जाय तो मेरा वश भी क्या चलेगा ?'

कामधेनु द्वारा करोड़ों सैनिक उत्पन्न करना

कामधेनु बोली—'तो महर्षे ! मुझे बलपूर्वक कोई भी नहीं ले जा सकता।' यह कहकर सूर्य के समान अत्यन्त तेज वाले तीन करोड़ शस्त्रधारी अपने मुख से उत्पन्न कर दिए। तदुपरान्त उसी गौ की नासिका से पाँच करोड़ शूलधारी दिव्य सैनिक और उत्पन्न हो गए। फिर नेत्रों से भी सौ करोड़ धनुर्धारी सैनिक निकल पड़े। कपाल से तीन करोड़ दण्डधारी, वक्षःस्थल से तीन करोड़ शक्तिधारी और पृष्ठ भाग से सौ करोड़ गदाधारी उत्पन्न हुए। चरणतल से सहस्त्रों वाद्य भाण्ड, जंघा से तीन करोड़ राजपुत्र और गुह्य भाग से तीन करोड़ म्लेच्छ वीर उत्पन्न हुए।

इस प्रकार कामधेनु ने देखते-देखते एक विशाल सेना प्रकट कर दी और फिर मुनि से बोले—'मुनीश्वर ! राजा और उनकी सेना को परास्त करने के लिए यह सेना पर्याप्त और पूर्ण समर्थ है। यही उससे युद्ध करेगी। आप उससे युद्ध करने को न जायें।'

उस विशाल सेना को देखकर महर्षि जमदग्नि बहुत प्रसन्न हुए और राजा द्वारा भेजे हुए सैनिकों से बोले—'हे राजसेवको ! अपने राजा से कहना कि मुनि ने गाय देना स्वीकार नहीं किया है। वह चाहे तो युद्ध करके अपनी शक्ति देख ले अथवा चुपचाप अपने घर को लौट जाये।'

राजा के सैनिक लौट गये। उन्होंने राजा को सभी समाचार यथावत् सुना दिया, जिससे राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ, फिर भी उसने सुरभि की सेना से युद्ध किया और हारकर अपनी राजधानी को लौट आया।

ऐसा निश्चय कर राजा कार्त्तवीर्य अपनी राजधानी को लौट गया जहाँ उसने भगवान् श्रीहरि की उपासना-पूजा की और फिर आवश्यक संख्या में सेना एकत्रकर मुनि के आश्रम की ओर चल पड़ा। मार्ग में पड़ाव डालता और वहाँ के मनुष्यों, पशुओं आदि को पीड़ित करता हुआ शीघ्र ही जमदग्नि आश्रम पर पहुँचा और चारों ओर सेना लगाकर आश्रम को घेर लिया।

इस समय उसकी सेना में असंख्य हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि थे। राजा स्वयं युद्ध-वेश में सेना के साथ था। उसके सैनिकादि के शब्दों, पदध्वनियों, वाद्यों एवं शंखों के घोष से आश्रम के चारों ओर की दिशाएँ गूँज उठीं। आश्रम के निवासी मुनिकुमार उस सेना को देखकर भय-विह्वल हो गये।

कार्त्तवीर्य-जमदग्नि-संग्राम

तभी राजा ने सेना सहित मुनि के आश्रम में प्रवेश किया और बलपूर्वक कामधेनु को ग्रहण कर लिया। अब उसने गौ को लेकर घर जाने का विचार किया। उस समय मुनि के पास कोई सेना नहीं थी। इसलिए वे स्वयं ही युद्ध करने के विचार से आगे बढ़े। सर्वप्रथम उन्होंने कामधेनु को नमस्कार किया और फिर हरि का स्मरण करते हुए रणांगण में आ उपस्थित हुए।

मुनि को युद्ध में आये देखकर राजा कुछ असमंजस में हो गया। सोचा—तपस्वी ब्राह्मण पर शस्त्र उठाने से लोक में मेरी निन्दा होगी। इतने में ही मुनीश्वर ने वहाँ मन्त्रपूत शरों का एक जाल-सा खड़ा कर दिया!

उसी प्रकार जैसे कोई वीर पुरुष अपने वक्षःस्थल पर कवच धारण कर वीरवेश में सामने आवे।

उस शर-जाल ने आश्रम को आच्छादित कर दिया, जिससे कि शत्रु का भीतर प्रवेश न हो सके। तदुपरान्त एक अन्य शरजाल के द्वारा उन्होंने राजा की समस्त सेना को इस प्रकार ढक दिया कि उसके सामने क्या है, यह दृश्य दिखाई न पड़े। इस प्रकार मुनि ने समस्त राजसेना को आच्छादित कर दिया।

राजा ने अपने समक्ष महर्षि को देखा तो रथ से उतरकर उनके चरणों में प्रणाम किया और आशीर्वाद प्राप्त कर पुनः अपने रथ पर आ गया। तदुपरान्त उसने महर्षि पर प्रहार आरम्भ किए, किन्तु महर्षि ने उन प्रहारों को लीलापूर्वक व्यर्थ कर दिया।

तब मुनीश्वर ने क्रोधपूर्वक दिव्यास्त्र का क्षेपण किया, जिसे राजा ने काट डाला। इधर राजा ने जिस शूल का क्षेपण किया उसे मुनि ने नष्ट कर दिया। फिर राजा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, जोकि मुनि के ब्रह्मास्त्र ने काट डाला। उस समय सभी देवगण आकाश में उपस्थित होकर उस भयंकर युद्ध को देख रहे थे।

राजा द्वारा शक्ति प्रहार से जमदग्नि की मृत्यु

परस्पर दोनों ओर से भयंकर प्रहार हो रहे थे, किन्तु कोई भी प्रहार सफल नहीं हो रहा था। यह देखकर राजा ने भगवान् श्रीदत्तात्रेय जी का स्मरण कर उन्हें प्रणाम किया और फिर भगवान् नारायण, ब्रह्मा और शिवजी के तेज का आवाहन कर उससे भी दिशाओं को ज्योतित कर दिया।

सभी देवताओं ने देखा कि त्रिदेवों के तेज से समन्वित हुई वह ज्योतिष्मान् महाशक्ति मुनि की ओर बढ़ रही है, तो वे हाहाकार कर उठे।

तभी शक्ति मुनि के वक्षःस्थल में प्रविष्ट हो गई और उससे वह अंग विदीर्ण हो गया। फिर वह शक्ति निकलकर भगवान् श्रीहरि के सान्निध्य में पहुँचकर उपरामता को प्राप्त हुई। यह शक्ति पूर्वकाल में भगवान् श्रीहरि ने दत्तात्रेय जी को और दत्तात्रेय ने राजा कार्त्तवीर्य को प्रदान कर दी थी।

मुनि उस शक्ति के लगते ही मूर्च्छित हो गये। जब कामधेनु ने देखा कि मुनि के प्राण-पखेरू उड़ गये हैं तो वह विलाप करने लगी। उनके मुख से केवल हे तात ! शब्द ही निकल रहा था। फिर वहाँ से गोलोक में जा पहुँची, जहाँ गोप-गोपियों से आवृत हुए भगवान् श्रीकृष्ण एक भव्य सिंहासन पर विराजमान थे।

कामधेनु ने भगवान् को प्रणाम किया और कामधेनुओं के समुदाय में जाकर बैठ गई। उसके नेत्रों से जो आँसू गिरे थे, वे मनुष्य-लोक में रत्नों के ढेर रूप हो गए। उधर राजा ने कामधेनु की खोज की, किन्तु उसका कहीं पता न लगा तो वह निराश हो गया और पश्चात्ताप करने लगा कि मुनि की व्यर्थ ही हत्या हो गई। उसने वहीं प्रायश्चित्त करके अपनी सेना को राजधानी के लिए लौटने का आदेश दिया और स्वयं भी निर्बाध रूप से अपने घर चला गया।

मुनिपत्नी रेणुका ने अपने पति की मृत्यु हुई सुनी तो शीघ्रतापूर्वक वहाँ आई और शव को देखकर अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगी। वह इतनी शोकाकुल हो उठी कि उसे मूर्च्छा-सी आ गई। फिर जब उसकी चेतना लौटी तो परशुराम को पुकारने लगी। उसने कहा–'राम ! तुम कहाँ हो ? इस विपत्ति में तुम ही उबार सकते हो। यहाँ आकर अपने पिता की दशा तो देखो पुत्र ! एक नृशंस हत्यारे राजा ने इस निरपराध एवं राग-द्वेष से रहित मुनि का वध कर डाला है।'

आश्रम में परशुराम का आगमन

इधर माता विलाप कर रही थी उधर परशुराम जी को समाधि में बाधा पड़ी। उन्हें लगा कि माता पुकार रही है तो तुरन्त ही वहाँ से चल दिए। वे मन के समान वेग से पहुँचने में समर्थ थे। उन्होंने शीघ्र ही भक्तिभावपूर्वक माता के चरणों में प्रणाम किया और फिर पिता के शव पर उनकी दृष्टि गई तो वे क्रोध से काँपने लगे। उन्होंने कहा–'मेरे पिता परम तपस्वी और सर्वसमर्थ थे। उनकी मृत्यु सहज रूप में सम्भव नहीं थी। उन्हें किस पापी ने इस दशा में पहुँचाया है, यह बात मुझे स्पष्ट रूप से बताओ।'

आश्रमवासियों ने सब समाचार आदि से अन्त तक सुना दिया। फिर यह भी बताया कि मुनि के प्राण जाने के पश्चात् कपिला धेनु भी यहाँ से चली गई। पिता के शव को देखकर परशुराम जी विलाप करने लगे। यह देखकर माता बोली–'हे पुत्र! हे राम! तू रुदन न कर। मन को स्थित करके पिता का लौकिक कर्म कर! मुझे भी उनके साथ जाना होगा। परन्तु तुझ प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र को अकेला छोड़कर कैसे जाऊँ?' परन्तु पुत्र! संसार में जो आता है, उसे कभी-न-कभी जाना ही होगा। इसलिए तू धैर्य रखकर अपने माता-पिता की समस्त क्रियाओं को कर।'

माता की बात सुनकर परशुरामजी को बड़ा दुःख हुआ, बहुत चाहते हुए भी मन को धैर्य नहीं होता था। उनके रुदन से सभी आश्रमवासी मनुष्य तो दुःखित थे ही, पशु-पक्षी और वृक्षादि तक शोक से पीड़ित हो रहे थे। पृथ्वी भी कुछ कम्पित-सी प्रतीत होने लगी थी, मानो वह भी शोक-विह्वल हुई सुबक रही है।

माता ने पुनः कहा–'पुत्र! धैर्य रखने से ही कार्य चलेगा। विधि का विधान अमिट है। फिर भी मैं तुझे सीख देती हूँ कि राजा से युद्ध मत ठान बैठना। क्योंकि वह बड़ा बलवान् और प्रतापी है। कहाँ हम दुर्बल

ब्राह्मण और कहाँ वह अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न क्षत्रिय राजा ! कहीं भी तो हमारी उसकी समता प्रतीत नहीं होती। इसलिए उससे युद्ध करने से हमारी विजय सम्भव नहीं है। ब्राहाण का कार्य तप करना है, तुम उसी में चित्त लगाये रखना पुत्र !'

३. तृतीय अध्याय

परशुराम का प्रण : पृथ्वी को क्षत्रियविहीन करने का

परशुराम के हृदय में प्रतिशोध की भावना जाग उठी, वे बोले–'परन्तु, माता ! इन नराधम क्षत्रियों को जब तक दण्ड नहीं मिलेगा, तब तक इसी प्रकार अत्याचार करते रहेंगे। मैंने निश्चय कर लिया है कि इन क्षत्रियों को अवश्य दण्ड दूँगा, एक बार नहीं, इक्कीस बार इस पृथिवी को क्षत्रिय-विहीन कर डालूँगा। इन्हीं पुरुषों के रक्त से अपने पितरों को तृप्त करने के लिए मैं कटिबद्ध हो गया हूँ।'

परन्तु परशुराम को संतोष नहीं हो रहा था। वे पितृवियोग में अत्यन्त शोकाकुल थे। माता एवं आश्रमवासियों के समझाने का भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा था। वे कह रहे थे माता ! जो पुत्र पिता के हत्यारे को समर्थ होकर भी नहीं मारता, वह घोर नरक में पड़ता है। शास्त्रों में निम्न ग्यारह प्रकार के पापियों की चर्चा करते हुए उन्हें घोर नरकों का अधिकारी बताया है–

"अग्निदो गरलश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहारी च पितृबन्धुविहिंसकः॥

सततं मन्दकारी च निन्दकः कटुवाचकः।
एकादशैते पापिष्ठाः वधार्हा वेदसम्मताः ॥"

आग लगाने वाला, विष देने वाला, शस्त्र हाथ में धारण कर धन हरने वाला, खेत का हरणकर्त्ता, स्त्री का अपहारक, पिता का हत्यारा, भाई का हत्यारा, निरन्तर निन्द्य कार्य (बुरे कार्य) करने वाला, परनिन्दक और कटुवचन बोलने वाला, यह ग्यारह प्रकार के पापिष्ठों को वेदों ने भी वध के योग्य माने हैं। हे माता ! ब्राह्मणों के धन या स्थान को छीन लेना, दिया हुआ दान वापस ले लेना, ब्राह्मणों को ताड़न करना आदि कर्म भी मनीषियों के मत में वध के ही समान हैं। इसलिए ऐसा कर्म करने वाला चाहे कोई भी क्यों न हो मार देने के योग्य है। इसलिए हे सति ! आप इस विषय में कुतर्क मत करो और मुझे अपने कर्त्तव्य पालन से मत फेरो।'

परशुराम और उनकी माता रेणुका के मध्य यह वार्ता चल ही रही थी कि तभी महर्षि भृगु, पुत्र-शोक में व्याकुल हुए वहाँ आ गए। रेणुका और परशुराम ने उन्हें प्रणाम किया। तब उन दोनों को अधिक विह्वल देखकर महर्षि बोले–'पुत्र परशुराम! तू मेरे वंश में उत्पन्न हुआ और सभी विद्याओं में पारंगत है। फिर तेरा इस प्रकार विलाप करना उचित प्रतीत नहीं होता। वत्स ! संसार में जितने भी चर-अचर प्राणी हैं, वे सब मरणशील हैं। जब ब्रह्माजी को भी अपनी आयु पूर्ण करके विलीन होना पड़ता है तब बेचारे साधारण जीव की तो बात ही क्या हो सकती है ?

'पुत्र ! संसार में सभी कुछ नाशवान् है। यदि अविनाशी है तो केवल भगवान् श्रीकृष्ण का नाम। सत्य का सार और बीजभूत उन्हीं का चिन्तन है। क्योंकि उनकी इच्छा के बिना तो कभी भी कुछ नहीं होता। भूत, भविष्य, वर्तमान सभी के आश्रय वे ही प्रभु हैं। फिर तुम यह भी जानते हो कि जो भवितव्यता है, उसे कोई भी नहीं मिटा सकता। वह तो होकर ही रहता है इसलिए भवितव्य ही सत्य है। वही ईश्वर की इच्छा के रूप में स्थित रहता है।'

'वत्स ! सत्य का निवारण करने में कोई समर्थ नहीं है। भगवान् ने जो कुछ निरूपण कर दिया, वह होकर ही रहेगा। जमदग्नि को इसी प्रकार मरना था, वह मर गया और कार्त्तवीर्य को भी जब जिस प्रकार से मरना होगा, मरेगा ही। चाहे तुम्हारे हाथ से मरे या अन्य प्रकार से। किन्तु मरेगा तभी जब उसका अन्तकाल आ जायेगा।

'देखो पुत्र ! क्षुधा, निद्रा, दया, शान्ति, कान्ति, क्षमा आदि सब एक आत्मा के चले जाने पर फिर नहीं ठहरते। क्योंकि आत्मा के साथ प्राण, ज्ञान और मन भी चले जाते हैं। मायावियों का मायाबीज शरीर पाञ्चभौतिक है तथा संकेतपूर्वक उस प्राणी का जो नाम है, वह प्रातःकालीन स्वप्न के समान ही है। अभिप्राय यह है कि दृश्यमान जगत् स्वप्नवत् ही है, जैसे स्वप्न के दूर होने पर उसमें देखे हुए पदार्थों का स्वतः लोप हो जाता है, वैसे होते ही अन्तकाल आने पर वह जगत् भी विलीन हो जाता है। विलीनीकरण वाली वह अवस्था सुषुप्ति कहलाती है। देह के नष्ट हो जाने पर जीवात्मा भी उसी सुषुप्ति में विद्यमान हो जाती है। वह भी कभी नष्ट नहीं होती। देह मरती है, जीव नहीं मरता। तुम स्वयं ज्ञानी हो, यह तथ्य तुमसे छिपा नहीं है।'

'अतएव, हे पुत्र ! अब शोक को त्याग दो और वेदों ने जो पारलौकिक कर्म निर्दिष्ट किए हैं, उनका अनुष्ठान करो। क्योंकि मृतक के परलोक की भलाई के लिए जो कर्म करता है, वही उसका पुत्र या बन्धु हो सकता है। अपने पिता का पारलौकिक कर्म करने के पश्चात् ही अन्य कर्म का निश्चय करना उचित होगा।'

परशुराम का शिवजी की आराधना वर्णन

अपने पितामह की आज्ञा मानकर परशुरामजी ने समस्त पारलौकिक कर्मों को विधिपूर्वक सम्पन्न किया और फिर सोचने लगे कि इन

आततायी पामर क्षत्रियों को किस प्रकार दण्डित किया जाये ? जब कोई उपाय समझ में न आया तो उन्होंने भगवान् शंकर की कामना आरम्भ की।

भगवान् शंकर शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं, यह तथ्य संसारभर में प्रसिद्ध है। परशुराम जी की घोर तपस्या से सन्तुष्ट होकर उन्होंने इन्हें दर्शन दिया और बोले--'मुनिकुमार ! मैं तुम्हारी उपासना से प्रसन्न हूँ। बोलो, क्या चाहते हो ? जो इच्छा हो वही माँग लो।'

परशुराम ने भगवान् आशुतोष को सम्मुख देखकर दण्डवत् प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर बोले--'प्रभो ! आप प्रसन्न हैं तो मेरे पिता के वधिक को परास्त करने का उपाय बताइये। हे नाथ ! मैंने इस पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय-विहीन करने का प्रण किया है, उसे पूर्ण कीजिए।'

शिवजी बोले-'वत्स ! तुम्हारी प्रतिज्ञा पूर्ण होगी। यह भगवान् श्रीहरि का मन्त्र और कवच है, इसका अनुष्ठान कर लो तो शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जायेगी।'

परशुरामजी ने मन्त्र और कवच प्राप्त कर शिवजी को पुनः प्रणाम किया और जब वे अन्तर्धान हो गये, तब समतल एवं सुखद पुण्यभूमि पर नर्मदा तट पर स्थित होकर अनुष्ठान करने लगे। अनुष्ठान की पूर्ति पर हवन एवं ब्राह्मण भोजन कराकर निश्चिन्त हुए।

फिर दूसरे दिन प्रातःकाल आह्निक कर्म करके परशुरामजी ने महर्षि भृगु आदि गुरुजनों और हितैषियों से विचार-विमर्श करके निश्चय किया कि राजा कार्त्तवीर्य के पास दूत भेजा जाये जो उसे युद्ध का निमन्त्रण दे। तदुपरान्त एक मुनि को दूत बनाकर वहाँ भेज दिया गया।

❀❀❀

43 ४. चतुर्थ अध्याय

परशुराम द्वारा राजसभा में दूत का भेजना

दूत की भूमिका निर्वाह करने के लिए वे मुनि शीघ्र ही राजसभा में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक भव्य सिंहासन पर राजा कार्त्तवीर्य विराजमान हैं। उनके निकट ही अमात्य-मण्डल, न्यायाधीशों के समूह, सेनापतियों और समस्त सांसद बैठे हुए हैं, सेवकगण राजा की और सभासदों की सेवा में लगे हैं। प्रतिहारीगण आज्ञा की प्रतीक्षा में आदरपूर्वक खड़े हैं। मुनिवेश के दूत के पहुँचने पर राजा ने उनका सम्मान कर यथोचित स्थान दिया और फिर आगमन का कारण पूछा–

'मुनिवर ! आप कहाँ से पधारे हैं ? कहाँ जा रहे हैं ? आने का प्रयोजन क्या है ? यह सब कहने की कृपा करें।'

दूत ने कहा–'राजन् ! मुझे जामदग्नेय परशुराम जी ने आपके पास भेजा है। उनका कहना है कि आपने उनके पिता का वध कर दिया, वह भी निरपराध। उनके वध से आपका कोई प्रयोजन भी तो सिद्ध नहीं हुआ। आपका यह कार्य वस्तुतः दण्डनीय है, इसलिए आप अपने सब भाइयों के सहित युद्ध के लिए तैयार हो जाइए। अपने समस्त सजातियों को भी साथ ले लीजिए, जिससे कि आपके मन में यह न रहे कि मैं अकेला ही मारा गया। महाराज ! यहाँ नर्मदा तट पर अक्षयवट विद्यमान है, वहीं भृगु ऋषि विद्यमान हैं, आपको वहीं जाकर युद्ध करना चाहिए।'

कार्त्तवीर्य ने दूत की बात शान्तिपूर्वक सुनी और बोला–'मुनिनाथ ! वस्तुतः उस समय मैं कुछ भ्रमित-सा हो गया था, फिर भी क्षत्रियों का स्वभाव ही युद्ध करने का है। जब महर्षि भृगु या परशुराम जी युद्ध को बुलाते हैं तो टाल भी कैसे सकता हूँ ? किन्तु, एक विचार बाधक बना है–क्षत्रिय और ब्राह्मण में युद्ध कैसा ?'

दूत ने कहा—'नरेश्वर ! ब्राह्मण से युद्ध का आरम्भ तो तुम्हीं ने किया था ? तुम्हीं ने निरपराध महर्षि जमदग्नि की नृशंस हत्या की थी। उनके प्रतिशोध में परशुरामजी का निश्चय है कि इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन कर देंगे। उन्होंने जो कहा है, वह मैंने तुमसे कह दिया है। अब तुम्हारी इच्छा—'युद्ध करो या न करो।'

यह कहकर मुनि रूप दूत चले गये। इधर राजा ने मन्त्रियों और सेनापतियों से परामर्श किया कि 'अब क्या किया जाये ? परशुराम ने युद्ध करने का निश्चय किया है तो करना ही होगा। यदि हम स्वयं निश्चित स्थान पर नहीं पहुँचेंगे तो धर्म की हानि होगी और सम्भव है कि फिर वह यहीं आकर युद्ध करने लगें।'

अमात्यों ने कहा—'महाराज ! वैसे तो हमारी सेना अत्यन्त प्रबल है। यदि देवराज इन्द्र भी आकर युद्ध करने लगें तो हमसे जीत नहीं सकते। तब वह बेचारा मुनिकुमार हमसे क्या लोहा ले सकेगा ?'

सेनापतियों ने भी अमात्यों की बात का अनुमोदन किया। इससे राजा को कुछ सान्त्वना तो मिली, किन्तु वह परशुराम के हठी स्वभाव और मन्त्र-सिद्धि से अपरिचित नहीं था, इसलिए भय, आशंका और चिन्ता के कारण अस्थिर चित्त ही रहा।

कार्त्तवीर्य और उसकी रानी का संवाद कथन

राजा की आज्ञा पाकर सेनाएँ तैयार की जाने लगीं और जब राजा ने युद्ध के लिए जाने का विचार किया, तब उनकी भार्या ने उनसे कहा—'प्राणनाथ ! आप मुनिकुमार से युद्ध करने के लिए न जाइये। वह बड़ा दुर्द्धर्ष और तप-सिद्ध है। सुना है कि उसने भगवान् आशुतोष को प्रसन्न करके क्षत्रियों को नष्ट करने की योजना बनाई है। इसलिए ऐसे व्यक्ति से युद्ध करना उचित नहीं है।'

राजा ने कहा—'प्रिये ! यदि मैं नहीं जाऊँगा तो वही यहाँ आ जायेगा। उस स्थिति में भी युद्ध करना ही होगा। इसलिए अच्छा हो अपनी भूमि पर युद्ध न हो।'

रानी ने कहा—'स्वामिन् ! आप उससे अपने अपराध की क्षमा माँग लीजिए। शरण में जाने पर भगवान् भी अपने अपराधी को क्षमा कर देते हैं। फिर ब्राह्मण चाहे कैसा भी क्रोधी हो, अपने सात्विक गुणों के कारण क्षमाशील भी होता है। सम्भव है—वह भी आपको क्षमा कर दें।'

राजा कार्त्तवीर्य बोला—'कान्ते ! तुम्हारा कथन ठीक भी तो हो सकता है। किन्तु मुझे वैसी आशा नहीं है। परशुराम बड़ा हठी है, वह कभी क्षमा नहीं करेगा। फिर मेरे मन और प्राण में भी इस समय क्षोभ हो रहा है, मेरा अंग-अंग फड़क रहा है युद्ध के लिए। किन्तु, मुझे आज बहुत अशुभ स्वप्न दिखाई दिया है। मैं अपने समस्त शरीर पर तेल लगाये हुए गधे पर सवार हूँ और पुष्प की माला गले में पड़ी है, मस्तक पर लाल चन्दन लगा है। शरीर पर लाल रंग के ही वस्त्र हैं। लोहे के अलंकारों से विभूषित हूँ तथा निर्वाण-अंगारों के समूह से क्रीड़ा करता हुआ हँस रहा हूँ। समस्त शरीर पर भस्म रमी हुई है, लाल जपा पुष्पों से सजा हुआ हूँ। नेत्रों पर ऐसा आकाश-मण्डल दिखाई दिया, जिसमें न सूर्य है, न चन्द्रमा। इस स्वप्न में समझ लो कि क्या होने वाला है ?

'परन्तु शूर-वीरों के लिए ऐसे स्वप्न कुछ महत्त्व नहीं रखते। उन्हें तो वीरोचित कार्य द्वारा अपने धर्म का निर्वाह करना ही होता है। वीरों की सभा में बैठकर शोक से युक्त आर्त्तवचन कभी भी प्रशंसा के योग्य नहीं हो सकते।'

हे सुन्दरि ! सुख-दुःख, भय-शोक, कलह एवं प्रीति आदि की प्राप्ति कर्मों के भोग के योग्य काल के द्वारा ही होती है। काल द्वारा ही जन्म-मरण, यश-अपयश, हानि-लाभ की प्राप्ति होती है। काल ही पुनर्जन्म

और मोक्ष का भी दाता है। काल से ही राजपद मिलता है, काल ही उस पद को छीन लेता है।'

'हे प्रिये! संसार की रचना, पालन और संहार भी काल के अधीन है। कालस्वरूप भगवान् जनार्दन ही सृष्टि की सब क्रियाओं के एकमात्र कारण हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण काल के भी काल हैं। विधाता को भी उन्होंने जन्म दिया है।'

'हे सति! बिना उन भगवान् की इच्छा के एक भी पत्ता नहीं हिल सकता। वे चाहें, जब चाहें जो कुछ कर सकते हैं। वे संहार करने वाले के भी संहारकर्ता हैं। इसलिए उनका तिरस्कार कोई भी नहीं कर सकता है। वे ही कर्म वालों को उनके भले-बुरे कर्मों के फल दिया करते हैं। जिसे मरना है, वह मरेगा ही और जिसका मरणकाल नहीं आया उसे कोई मार नहीं सकता। इसलिए भगवान् को जो करना होगा, वह अवश्य होकर रहेगा, ऐसा विश्वास कर सभी चिन्ताओं को छोड़ो और उन्हीं भगवान् का चिन्तन करो।'

यह कहकर राजा कार्त्तवीर्य ने अपनी प्रियतमा रानी मनोरमा को सान्त्वना दी तथा अमात्यों को आदेश दिया कि युद्धकाल में वे राज्य की ठीक प्रकार से देखभाल और प्रजापालन का कार्य करते रहें और फिर सेनापतियों को आज्ञा दी कि सेना को नर्मदा-तट की ओर प्रस्थान करने के लिए कूच का डंका बजा दिया जाये।

५. पञ्चम अध्याय

कार्त्तवीर्य-परशुराम-युद्ध

राजा कार्त्तवीर्य ने अनेक बांधवों और राजाओं को भी युद्ध का निमन्त्रण दिया था, इस कारण अनेक राजागण उसके साथ रणक्षेत्र में जा

पहुँचे। वे सभी रत्न-मणिजटित अलंकारों से अलंकृत एवं श्रेष्ठ मुकुट, कुण्डलादि से सुशोभित थे। महर्षि परशुरामजी को जैसे ही सूचना मिली कि राजा कार्त्तवीर्य अनेक सेनाओं और बान्धवों के साथ युद्ध की इच्छा से समुपस्थित हो गया है, तो उन्होंने अपने शिष्यों को उनका सामना करने का आदेश दिया। परशुरामजी के वे शिष्य भी महान् पराक्रमी और मन्त्रविद् एवं शस्त्राभ्यासी थे।

समस्त मुनि-समुदाय युद्ध-भूमि में समुपस्थित हो गया। राजा कार्त्तवीर्य ने परशुराम जी को देखा तो तुरन्त रथ से उतरकर उन्हें प्रणाम करने को जा पहुँचा। परशुराम ने राजा को चरणों में पड़े देखा तो समयोचित आशीर्वाद देते हुए बोले–'राजन्! तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हें युद्ध में मरने पर तुरन्त ही स्वर्ग की प्राप्ति हो।'

राजा प्रणाम करके लौटा और अपने रथ पर जा बैठा। अब दोनों सेनाओं में युद्ध आरम्भ हो गया। इधर राजागण अपनी-अपनी प्रबल सेनाओं के साथ और उधर ऋषियों का समुदाय। अभूतपूर्व दृश्य दिखाई दे रहा था। रणोन्मत्त क्षत्रियों के समक्ष ब्राह्मणों की वह सेना अपनी विजय का दृढ़ विश्वास लिये लड़ रही थी।

उस युद्ध को आकाशचारी देवगण भी देख रहे थे। उनकी भी इतनी भीड़ थी, मानो कोई मेला लग रहा हो। वे सभी उन अद्भुत युद्ध की बात सुनकर ही वहाँ एकत्र हो रहे थे। कोई नहीं जानता था कि विजय किस पक्ष की होगी। क्योंकि दोनों ओर की सेनाएँ एक-दूसरे पर भीषण प्रहार कर रही थीं।

यह कथा सुनते हुए नारदजी ने पूछा–'प्रभो! यह तो आपने अद्भुत उपाख्यान सुनाया है। उस समय क्षत्रियों से युद्ध करने वाले ब्राह्मणों की संख्या क्षत्रियों से कम थी या अधिक?' नारायण ने कहा–'ब्राह्मणों की संख्या क्षत्रियों से तो बहुत कम थी, फिर भी वह प्राणपण से युद्ध-रत थे और क्षत्रिय वीरों का मान मर्दन करते जा रहे थे।'

सूतजी बोले– 'हे शौनक ! इतनी कथा कहने के पश्चात् श्रीनारायण ने नारद जी को बताया कि फिर भी, क्षत्रिय तो क्षत्रिय ही थे। उन्हें युद्ध का बड़ा भारी अभ्यास था। वे सभी दाँव-पेंचों के जानकार थे तथा संख्या में अधिक होने के कारण भी उनका साहस बढ़ा हुआ था। इस कारण उन्होंने कुछ ऐसी युक्ति से युद्ध किया कि परशुराम जी के समस्त बान्धव और शिष्यगण उनसे हल्के पड़ने लगे और कुछ समय बाद ही रणांगण छोड़कर भाग खड़े हुए। उनमें से अधिकांश के अंग-भंग हो गए अथवा अनेक आहत हो गए और सभी अपने-अपने प्राण बचाकर भागे।

परशुरामजी को उस समय यह ध्यान नहीं था कि कहाँ क्या हो रहा है ? वे न तो राज-सेनाओं को देख रहे थे, न अपने बान्धवों और शिष्यों को। उन्होंने परिपूर्ण आग्नेयास्त्र का संधान कर राजा पर छोड़ा; किन्तु राजा ने भी वारुणास्त्र के द्वारा उनके उस भयंकर अस्त्र का लीलापूर्वक ही शमन कर दिया।

परशुराम का शूल से मूर्च्छित होना

फिर राजा ने परशुराम जी पर अमोघ शूल से प्रहार किया। इस कारण परशुराम अत्यन्त पीड़ित और मूर्च्छित हो गये। जब उन्हें चेत हुआ तब वे भगवान् शंकर का और श्रीहरि का स्मरण करते हुए उठ खड़े हुए।

जब वे मूर्च्छित हुए थे, तब राजा को बड़ा खेद हुआ था। वे दुखित हृदय से एक ओर बैठ गये और मुनिवर के सचेत होने की प्रतीक्षा करने लगे। जब परशुराम जी को चेत हो गया तो उन्होंने राजा से कहा–

"राजेन्द्रोत्तिष्ठ समरं कुरु साहसपूर्वकम्।
कालभेदे जयो नृणां कालभेदे पराजयः ॥"

'हे राजेन्द्र ! उठो, साहसपूर्वक युद्ध में तत्पर होओ। मनुष्यों को काल

के भेद से विजय की और काल के भेद से ही पराजय की प्राप्ति होती है। भूपाल ! आपने श्रीदत्तात्रेय जी से विधिपूर्वक शास्त्रशस्त्र का अध्ययन किया और समस्त पृथ्वी पर भले प्रकार शासन किया है, जिनसे आपको सर्वत्र सुयश की भी प्राप्ति हुई है। आप अपने ही बाहुबल से चक्रवर्ती राजा बने हुए हैं। सभी राजाओं को, यहाँ तक कि रावण को भी आपने जीत लिया है। मुझे भी श्रीदत्तात्रेय-प्रदत्त शूल के द्वारा आपने जीता है। क्योंकि उसी शूल से मुझे मूर्च्छा की प्राप्ति हुई थी। किन्तु, भगवान् शंकर ने मुझे पुनः जीवित कर दिया है।'

परशुराम के वचन सुनकर उस धार्मिक राजा ने उनके चरणों में मस्तक नवाकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोला–

"किमधीतं किंवा दत्तं का पृथिवी सुशासिता।
गताः कतिविधाः भूपाः मादृशाः धरणीतले॥"

'मुनिनाथ ! मैंने क्या पढ़ा, क्या दिया और क्या पृथ्वी का शासन किया ? अर्थात् यह जो कुछ भी किया सब तुच्छ ही था। क्योंकि मेरे समान न जाने कितने भूपाल पृथिवीतल पर उत्पन्न हुए और न जाने किधर चले गये ?'

उसके अनन्तर उसने पुनः परशुराम जी को प्रणाम किया और बोला–'मुझे क्या आज्ञा है मुनिप्रवर ?' उन्होंने उत्तर दिया–'उठ कर युद्ध करो। रणांगण में उपस्थित होने पर क्षत्रिय का युद्ध ही कर्त्तव्य है। युद्ध उसका धर्म और जीवन है। इसलिए राजन् ! युद्ध के अतिरिक्त तुम्हारे लिए कोई अन्य गति है ही नहीं।'

राजा उठकर अपने रथ पर आरूढ़ हो गया। पुनः घोर संग्राम आरम्भ हुआ। राजा ने अपने धनुष-बाण चढ़ाकर छोड़ा, जिसे परशुराम जी ने बीच में ही काट दिया। इधर राजा प्रहार कर रहा था और उधर राजाओं के दल उनपर प्रहार करने में लगे थे। यह देखकर मुनिवर ने राजा की

ओर से हटकर पहिले उसके सहायक राजाओं और सेनाओं से युद्ध आरम्भ कर दिया।

इस बार उनके प्रहार बहुत तीव्र थे। सेनाएँ उनके उन प्रहारों को सहन करने में समर्थ न थीं। अनेकों वीर धराशायी होने लगे। अनेकों को भीषण आघात पहुँचा और व्याकुल होकर भागे। उन्हें भागते देखकर अन्य सैनिकों ने भी विभिन्न दिशाओं में भागना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार रणभूमि में भगदड़ मच गई।

परशुराम का पृथ्वी को २१ बार क्षत्रिय-विहीन करना

अब परशुराम जी कार्त्तवीर्य के मित्रों और बन्धुओं पर प्रहार करने लगे। घोर संग्राम छिड़ा था। उस युद्ध-यज्ञ में अनेक राजागण हत हुए जा रहे थे। यह देखकर कार्त्तवीर्य ने भी भगवान् श्रीहरि का एवं शंकर का स्मरण करते हुए पाशुपतास्त्र का सन्धान किया जिसके लगने से मुनि को बहुत पीड़ा हुई और वे पुनः मूर्च्छित हो गये।

परन्तु शीघ्र ही उन्हें चेतना लौट आई और पुनः युद्ध करने लगे। कभी राजा पीड़ित होता तो कभी परशुराम पीड़ित होते। अन्त में परशुराम ने राजा पर विजय प्राप्त कर ली।

इस प्रकार हे शौनक! परशुराम ने इस वसुन्धरा को इक्कीस बार राजाओं से विहीन कर दिया था। राजा कार्त्तवीर्य भगवान् श्रीकृष्ण के गोलोकधाम में उनके सान्निध्य को प्राप्त हुआ तथा परशुराम भी उन्हीं भगवान् का स्मरण करते हुए अपने आश्रम को लौट गये।

जब उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को अपने परशु (फरसा) मात्र से क्षत्रिय-विहीन किया था, तभी भगवान् शंकर ने उनका नाम 'परशुराम' रख दिया था। उस समय उनके ऊपर देवता, मुनि, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर एवं देवियाँ आदि ने पुष्प-वर्षा कीं।

हर्ष के कारण स्वर्ग में दुन्दुभियाँ बजने लगीं और सर्वत्र हरिनाम का कीर्तन होने लगा। तदुपरान्त परशुराम कृत यज्ञों से यह समस्त धरतीतल पूर्ण रूप से तृप्त एवं सम्पन्न हो गयी।

६. षष्ठ अध्याय

परशुराम का कैलास पर जाना तथा गणेश्वर का भीतर जाने से रोकना

तदन्तर परशुरामजी ने भगवान् आशुतोष एवं जगज्जननी पार्वती जी के दर्शन की इच्छा की और वे शीघ्र ही कैलास-शिखर पर पहुँचे। उस समय स्वयं श्रीगणेश्वर द्वार पर विद्यमान थे। परशुराम ने उनके पास जाकर कहा—'हे भ्राता ! मैं इस समय परम प्रभु और मातेश्वरी उमा के दर्शन करना चाहता हूँ। मैंने वसुन्धरा को लीलापूर्वक ही क्षत्रिय-विहीन कर दिया है। उसमें कार्त्तवीर्य और सुचन्द्र जैसे महापराक्रमी और समर-सिद्ध भूपाल मारे जा चुके हैं। यह सब कार्य शिव-शिवा की कृपा से ही पूर्ण हुआ है। इसलिए भी उनके दर्शन करना बहुत आवश्यक है।'

'हे भ्राता ! हे गणेश्वर ! आप मुझे उत्तर क्यों नहीं देते ? देखो, मैंने उन्हीं परमपिता शिवजी से विविध विद्याओं को प्राप्त किया है तथा दुर्लभ शास्त्रों को अध्ययन करता हुआ उन्हीं के सान्निध्य में पारंगत हुआ हूँ। उन्हीं जगत्नाथ और अपने गुरुदेव भगवान् शंकर के दर्शनार्थ मैं अन्तःपुर में जाना चाहता हूँ। अतः आप मुझे वहाँ जाने की आज्ञा दीजिए।'

परशुराम जी की बात सुनकर गणेश्वर ने कहा—'आपको अभी यहीं ठहरना चाहिए। शीघ्रता में कभी कोई कार्य नहीं बनता। फिर नीति भी

यही कहती है कि देवता, गुरु और राजा के सान्निध्य में जाने से पूर्व उनकी अनुमति अवश्य प्राप्त कर ले जब वे दर्शन देना स्वीकार कर लें, तभी वहाँ जायें।'

'और, मुनिनाथ ! आप तो स्वयं नीतिज्ञ और धर्मज्ञ हैं, आपको तो अभी द्वार पर रुकना ही चाहिए। देखो, मेरे नीतियुक्त वचन सुनो, रहस्यस्थल में अपनी पत्नी के सहित विद्यमान हुए पुरुष के दर्शन कभी नहीं करने चाहिए। क्योंकि पत्नी के साथ एकान्त में स्थित व्यक्ति को देखना अत्यन्त पाप का भागी होना है। इस दोष के कारण कालसूत्र नामक नरक की प्राप्ति होती है।'

'द्विजश्रेष्ठ ! यदि उस नरक में अल्पकाल ही रहना पड़े, तब भी, कुछ ठीक रहे, परन्तु वहाँ पहुँचने वाला पापी तो जब तक विश्व में सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति रहती है, तब तक उसे उसी नरक में पड़ा रहना होता है। परन्तु यह फल उस स्थिति में और भी दृढ़ हो जाता है, जब वह अपने पिता, गुरु अथवा स्वामी आदि की ओर देखता है तब अधिक पतित हो उठता है। ऐसा पुरुष अपने सात जन्म पर्यन्त स्त्री से विच्छेद न करने के लिए बाध्य रहता है। यही तथ्य बहुचर्चित हो जाता है तो लोग उसे और पापी कहने लगते हैं।'

'हे द्विज ! यह ऐसे पाप हैं, जिनके कारण प्राणी को चन्द्र-सूर्य की स्थिति रहने तक नरक में निवास करना होता है विशेषकर जो अपने गुरुजनों आदि के रहस्य स्थान में बिना आज्ञा जाता है, उसे वे पाप अधिक दुखदायी होते हैं।'

गणेश्वर के यह वचन सुनकर भृगुनन्दन को हँसी आ गयी और क्रोध दोनों हुए। वह कुछ गम्भीर एवं निष्ठुर वचन कहने लगे—'गणेश्वर ! तुम्हारे द्वारा तो आज मैं अत्यन्त अद्‌भुत और अपूर्व वचन सुन रहा हूँ। पाप की ऐसी परिभाषा तो मैंने कभी भी नहीं सुनी। हे भ्राता ! काम-विकार का दोष हो चाहे न हो, किन्तु शिशु का, शिशुतुल्य व्यक्ति जिसे कभी

कोई विकार व्याप्त नहीं करता, उसे कभी कोई दोष नहीं लगता। फिर यदि कोई पाप होगा भी तो उससे मैं ही तो प्रभावित हूँगा, आपका उससे क्या प्रयोजन हो सकता है ? इसलिए मुझे तुरन्त ही प्रभु के अन्तःपुर में जाने दो, रोको मत।'

गणेश्वर बोले–'मुनिनाथ ! जो पुरुष अज्ञानान्धकार से आच्छन्न होता है, उसे ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुआ करती। यद्यपि आपमें भी ज्ञानियों के लिए भी दुर्लभ विशिष्ट ज्ञान की सम्पन्नता है, तो मुझ मन्दमति वाले का भी निवेदन मानने की कृपा करो।'

'हे मुनिनाथ ! निर्गुण एवं निर्लिप्त पुरुष में शक्तियों का अभाव रहता है, किन्तु जब उसे सृजन की इच्छा होती है तब वह स्वयं ही शक्ति में आश्रय लेकर सगुण हो जाता है। हे महामुने ! संसार में उत्पन्न समस्त देहधारी भोग के योग्य एवं प्राकृत तो केवल भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। उनके दर्शन भी तुरन्त ही नहीं हो जाते।'

परशुराम का गणेश्वर से युद्ध

सूतजी बोले–'हे शौनक ! उस समय गणेश जी ने परशुराम को रुकने के लिए कहते हुए अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। परन्तु परशुराम जी तो भीतर जाने के लिए ऐसे उतावले हो रहे थे कि उनकी बात भी नहीं सुनना चाहते थे। इसलिए गणेश्वर की बात अनसुनी करके भीतर प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया। यह देखकर गणेशजी ने उन्हें पुनः रोका।

परशुराम बोले–'अब तुम बिना कुछ बाधा डाले द्वार के मध्य से हट जाओ और मुझे जाने दो, अन्यथा परिणाम ठीक नहीं होगा। देखो, अभी तुम बालक हो, तुम्हें अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं है। तुम इससे भी अनजान हो कि मुझमें कितनी शक्ति है।'

गणेश बोले–'आप कैसे भी शक्तिशाली क्यों न हों, मैं आपको

भीतर नहीं जाने दूँगा। जब तक मुझे माता-पिता का इस विषय में कोई आदेश नहीं मिलता, तब तक आपको यहीं रोके रखना मेरा कर्त्तव्य है। यदि यहाँ नहीं रुकना चाहते तो लौट जाओ, बाद में दर्शन करने आ जाना।'

परशुराम ने इसे अपना अपमान समझा, इसलिए गणेश्वर को धक्का देकर भीतर जाने लगे, तभी गणेश ने उन्हें पकड़कर पीछे की ओर धकेल दिया। इससे परशुराम अत्यन्त क्रोधित हो उठे और उन्होंने प्रहार करने के लिए परशु को सँभाला।

तभी वहाँ स्वामी कार्तिकेय आ गये। उन्होंने कहा—'मुनिवर ! यह क्या कर रहे हो ? गणेश्वर तुम्हारे गुरु भगवान् शंकर का पुत्र है, इसलिए गुरु के ही समान है। यदि तुम इसका वध कर बैठते तो क्या शिव-शिवा की प्रसन्नता प्राप्त कर सकोगे ?' परशुराम कुछ बोले नहीं, उन्होंने फरसा हाथ से फेंक दिया और बोले—'मुझे वहाँ जाने से कोई नहीं रोक सकता, नहीं रोक सकता। अरे मूढ़ बालक ! मैं अब तक तुझे गुरुपुत्र का सम्मान देता रहा हूँ, किन्तु एक तू है कि अपना हठ ही नहीं छोड़ना चाहता।'

गणेश बोले—'मुनिनाथ ! इस समय आप भीतर नहीं जा सकते। इस क्रोधावस्था में तो तुम्हें शिव-शिवा के समक्ष जाने का अधिकार है भी नहीं। देखो, इस प्रकार वहाँ जाने से अनिष्ट की भी सम्भावना हो सकती है। मेरे विचार में तो तुम्हारा इस समय यहाँ से लौट जाना ही श्रेयस्कर है।'

गणेश्वर का पराक्रम

परन्तु परशुराम मानते ही न थे। उन्होंने क्रोधपूर्वक गजानन को धक्का देकर हटाया। उसके फलस्वरूप गजानन गिर पड़े और शीघ्र ही सँभलकर उठ बैठे। उन्होंने फिर भी अपने-आपको क्रोध-रहित और शान्त

बनाये रखा तथा परशुराम को पुनः रोककर कहा—'मुनिवर ! भलाई इसी में है कि तुम तुरन्त यहाँ से लौट जाओ। हे प्रभो ! बिना परमेश्वर शिव की आज्ञा के उनके अन्तःपुर में प्रवेश करने की आप में क्या शक्ति है ? आप मेरे पिता के शिष्य होने के सम्बन्ध में मेरे भाई होते हैं और इस समय अतिथि भी हैं, इसलिए आपकी यह हठधर्मी सहन कर रहा हूँ, अन्यथा—

"नह्यहं कार्त्तवीर्यश्च भूपास्ते क्षुद्रजन्तवः।
अतो विप्र न जानासि मां च विश्वेश्वरात्मजम् ॥"

"मैं कार्त्तवीर्य नहीं हूँ और न क्षुद्र जन्तु रूप राजाओं का समूह ही हूँ, जिन्हें आपने मार डाला था। हे विप्र ! क्या तुम नहीं जानते कि मैं विश्वेश्वर भगवान् शंकर का पुत्र हूँ ? हे विप्र ! अतिथि ! क्षणभर ठहरो और युद्ध से निवृत्त होओ, क्षणभर व्यतीत होने पर मैं तुम्हारे साथ उन परमपिता के समीप चलूँगा।"

सूतजी बोले—'हे शौनक ! भगवान् श्रीनारायण ने यहाँ तक का उपाख्यान सुनाकर महर्षि नारद से कहा—'गणेश्वर के वचन सुनकर परशुराम अट्टहास करने लगे और तब भगवान् शंकर का ध्यान करके पुनः अस्त्र प्रहार करने का विचार किया। तभी गणेश जी ने धर्म को साक्षी करके योग-विधि के द्वारा अपनी सूँड़ को करोड़ों योजन लम्बी करके परशुराम को उसमें लपेट लिया और फिर उन्हें चारों ओर घुमाने लगे।'

अब परशुराम निरुपाय थे। उनका क्रोध न जाने कहाँ लुप्त हो गया ! योगिराज गणेश्वर की सूँड़ में लिपटकर चक्र के समान घूमते हुए परशुराम स्तम्भित और असहाय हो गये थे। उनकी समझ में न आया कि वह सब क्या और कैसे हो रहा है ?

अनन्त शक्ति-निधान गणेश्वर ने परशुराम जी को सप्तद्वीप, सप्त पर्वत, सप्तसिन्धु तथा भूलोक, भुवर्लोक, जनलोक, तपोलोक, ध्रुवलोक,

गौरीलोक और शम्भुलोक के दर्शन कराये और फिर गहन समुद्र में फेंक दिया, जहाँ वे प्राणरक्षार्थ जल में तैरने लगे।

यह देखकर गणेश्वर ने उन्हें पुनः अपनी सूँड़ में लपेटकर घुमाया और भगवान् विष्णु के बैकुण्ठ तथा भगवान् श्रीकृष्ण के गोलोकधाम के दर्शन कराये। वहाँ परशुराम ने रासेश्वरी श्रीराधा जी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन किए।

७. सप्तम अध्याय

गणेश्वर के 'एकदन्त' होने का वर्णन

इस प्रकार जामदग्नेय परशुराम जी गणेश्वर की सूँड़ में घूमते हुए अन्त में पृथ्वी के अङ्क में आ गिरे। उस समय उनको चेत हो गया तथा गणेश्वरकृत स्तम्भन से भी वे मुक्त हो गए।

तभी उन्होंने जगद्गुरु शंकर-प्रदत्त भगवान् श्रीकृष्ण के देव-दुर्लभ स्तोत्र और कवच का स्मरण किया तथा समस्त शक्ति से सम्पन्न होकर अपने परशु से उन्होंने समस्त विघ्ननाशक गणाधिराज पर प्रहार कर दिया। किन्तु गणराज ने अपने पूज्य पिताजी के अमोघ अस्त्र का सम्मान करने की दृष्टि से उसे अपने ही बाँये दाँत से पकड़ लिया जिसके फलस्वरूप उस तेजस्वी परशु ने गणेशजी का दाँत मूल-सहित काट दिया और वह परशु भृगुनन्दन के हाथ में पुनः जा पहुँचा।

गणेश्वर का दाँत टूटते ही अत्यन्त भयंकर शब्द हुआ। धरती, आकाश के साथ समस्त दिशाएँ काँप उठीं। पर्वत हिल गये और समुद्र में ज्वार आ गया। गणेश्वर के मुख से रक्त का फव्वारा छूट निकला। लोहित धार के साथ टूटा हुआ दाँत धरती पर आ गिरा।

उससे समूचे कैलास-शिखर पर कोलाहल होने लगा। कार्तिकेय, वीरभद्र, भैरव, नन्दीश्वर एवं समस्त प्रमथगण 'क्या हुआ ? क्या हुआ ?' करते हुए दौड़ पड़े। शून्य में देवता अत्यन्त भयभीत हो रहे थे। भगवान् शंकर उस समय निद्रित अवस्था में थे। उस शब्द से उनकी निद्रा भंग हो गई।

गिरिराजनन्दिनी ने वह शब्द सुना तो तुरन्त दौड़ी आईं और द्वार-लोहित देखकर क्षुब्ध होती हुई बोलीं–पुत्र ! यह क्या हुआ ? तेरे मुख से रक्त बह रहा है और धरा भी रक्तमयी हो रही है ?' परन्तु गणेश्वर जी कुछ लज्जित-से, कुछ रुआँसे-से, मौन एवं शान्त सिर झुकाये खड़े रहे, उन्होंने माता को कुछ उत्तर न दिया।

तब पार्वती जी ने कुमार कार्तिकेय से पूछा–'पुत्र ! तुम्हीं बताओ, यह क्या हुआ ? इसका दाँत कैसे टूट गया ?' कार्तिकेय वहाँ उपस्थित थे ही, उन्होंने सब कुछ स्वयं देखा ही था, इसलिए सब विवरण आद्योपान्त सुनाते हुए बोले–'क्षण भर में ही ऋषि ने परशु-प्रहार कर दिया, अन्यथा मैं ऐसा कदापि न होने देता।'

इसी समय शिवजी भी वहाँ आ गये। पार्वती जी ने दुःखित मन से इनसे निवेदन किया–'स्वामिन् ! आप समदर्शी हैं, मेरे पुत्र गणेश्वर और आपके शिष्य परशुराम में से दोष किसका है, यह निर्णय आप स्वयं ही कर सकते हैं। हे प्रभो ! श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न नारी तो अपने निन्दित, पतित, मूर्ख, दरिद्र, रोगी एवं जड़ पति को भी सदैव भगवान् के ही समान समझती है। पतिव्रता नारी के तेज की समानता तेजस्वियों में श्रेष्ठ अग्नि और भगवान् भास्कर भी नहीं कर सकते। इसलिए मेरे लिए भी आपके समान कोई नहीं है। तब आपके अतिरिक्त इसका निर्णय भी अन्य कौन कर सकता है ?'

उमा का परशुराम पर क्रोध करना

उधर परशुराम ने भगवान् शंकर को देखा तो उनके चरणों में प्रणत हो, भय-रहित रूप से उनकी सेवा करने लगे। यह देखकर पार्वतीजी ने परशुराम से कहा–

'महाभाग ! हे राम ! तुम महर्षि जमदग्नि के अंश से उत्पन्न परम सती देवी रेणुका के पुत्र तथा देवाधिदेव परमात्मा त्रिपुरारि के शिष्य हो। तुम्हारा मन शुद्ध है, इसलिए अशुद्धता का कोई कारण नहीं समझ रही हूँ। वत्स ! तुमने जगद्गुरु सर्वेश्वर से जो अमोघ परशु प्राप्त किया था उसकी प्रथम परीक्षा क्षत्रियों पर की और अब दूसरी परीक्षा गुरुपुत्र पर ही कर बैठे !'

'पुत्र ! श्रुतियों का निर्देश है कि गुरु को गुरु-दक्षिणा देनी चाहिए, किन्तु तुमने तो गुरुपुत्र का ही एक दाँत निर्दयतापूर्वक समूल काट डाला ! यदि यही अभीष्ट था तो फिर इसका मस्तक ही क्यों नहीं काट दिया ? चराचर विश्व के आत्मा रूप भगवान् शंकर का अमोघ अस्त्र पाकर तो एक शृगाल भी वनराज सिंह का वध करने में समर्थ हो जायेगा।'

'देखो परशुराम ! गणेश साक्षात् श्रीकृष्ण का ही अंश है, वह जितेन्द्रिय पुरुषों में श्रेष्ठ होने के कारण तुम्हारे समान लाखों-करोड़ों जीवों का वध करने में समर्थ है। किन्तु वह हिंसा में विश्वास न करने के कारण कभी किसी पर हाथ नहीं उठाता। यही सभी देवताओं में प्रमुख होने के कारण ही प्रथमपूजा का अधिकारी बना है।'

परशुराम को निरुत्तर देखकर गिरिराजनन्दिनी को क्रोध आ गया और वे मुनिवर को मारने के लिए प्रस्तुत हुईं। यह देखकर भयभीत हुए परशुराम ने मन-ही-मन अपने गुरुदेव भगवान् शंकर को प्रणाम किया और फिर गोलोकनाथ भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण करने लगे।

वामन भगवान् का प्रकट होना वर्णन

तभी भगवती पार्वतीजी ने अपने समक्ष करोड़ों सूर्यों के समान तेज वाले एक ब्राह्मण बालक को आता हुआ देखा। उसके परिधान, छत्र, दण्ड, यज्ञोपवीत आदि सभी उज्ज्वल थे। मस्तक पर भी चन्द्रमा की कान्ति के समान चमकता हुआ तिलक लगा था। कण्ठ में तुलसी की माला, माथे पर शुभ रत्नजटित मुकुट और कानों में कुण्डल सुशोभित थे। उसके अंगों पर रत्नाभरण थे तथा वह मन्द-मन्द मुसकाता हुआ माता पार्वती जी की ओर ही देख रहा था।

वह ब्राह्मण बालक अत्यन्त तेजस्वी था। उसके व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण था। कैलासवासी आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी उसकी ओर टकटकी लगाये-निर्निमेष नेत्रों से देख रहे थे। भगवान् शंकर ने उसे देखते ही मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। यह देखकर भगवती गिरिजा भी उसे प्रणाम किए बिना न रह सकीं। वस्तुतः वे साक्षात् श्रीहरि थे।

भगवान् शंकर ने उनके विराजमान होने को रत्नमय सिंहासन प्रस्तुत किया। उनके स्थित होने पर विविध उपचारों से पूजन एवं स्तवन किया।

उस पूजन से सन्तुष्ट हुए भगवान् श्रीहरि ने गम्भीर स्वर में कहना आरम्भ किया—'चन्द्रमौलि ! यहाँ की वर्तमान परिस्थिति के कारण मुझे यहाँ आना पड़ा है। मैं नहीं चाहता कि मेरे किसी भक्त का कहीं कुछ अमंगल हो और इसीलिए मेरा सहस्त्रार सुदर्शन उनकी रक्षा में सदैव उपस्थित रहता है।'

'परन्तु यदि कोई गुरु की अवहेलना करे तो वह चाहे जो हो, मेरा कृपा-पात्र नहीं रहता और उसके प्रतिकार के लिए मैं विवश हो जाता हूँ। गुरु विद्या और मन्त्र का देने वाला होने के कारण इष्टदेव से भी सौ गुना श्रेष्ठ है। इसी कारण गुरु से अधिक कोई देवता नहीं माना गया है। वैसे भी भगवान् शंकर महादेव हैं, इनसे बड़ा कोई देव नहीं और न

गिरिराजनन्दिनी से बढ़कर कोई पतिव्रता ही है। गणेश्वर से अधिक कोई जितेन्द्रिय नहीं और परशुराम के समान कोई गुरु-भक्त शिष्य नहीं है। किन्तु, परशुराम द्वारा आज गुरुपुत्र की जो अवहेलना हुई है, उसका मार्जन करने के विचार से मुझे यहाँ आना पड़ा है।'

'हे शिवे ! शिवप्रिये ! आप जगज्जननी हैं। गणेश्वर, कार्तिकेय और परशुराम भी आपके पुत्र के समान हैं। आपके और शिवजी के मन में परशुराम के प्रति कोई भेदभाव नहीं है इसलिए बालकों के इस विवाद में आप जो कुछ करेंगी, वह किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं होगा। इन बालकों के मध्य जो विवाद उठ खड़ा हुआ है, उसमें किसी का दोष नहीं है। दैव सर्वत्र ही बहुत प्रबल है और प्रस्तुत विवाद भी दैव-योग का ही प्रतिफल है। इसलिए दोष भी किसे दिया जाये ? यह भी एक प्रबल विवाद का ही विषय बन जायेगा।'

८. अष्टम अध्याय

गणेश्वर के वेद-प्रसिद्ध अष्ट नाम

'हिमगिरिनन्दिनि ! तुम्हारे पुत्र गणेश्वर तो वेदों में भी प्रसिद्ध हैं। इनके आठ नामों में एक नाम 'एकदन्त' तो बहुत ही प्रसिद्ध है। वे आठ नाम यह हैं–

"गणेशमेकदन्तं च हेरम्बं विघ्ननाशकम्।
लम्बोदरं शूर्पकर्णं गजवक्त्रं गुहाग्रजम्॥"

'गणेश, एकदन्त, हेरम्ब, विघ्ननाशक, लम्बोदर, शूर्पकर्ण, गजवक्त्र और गुहाग्रज। ये नाम सर्वत्र मंगल को करने वाले और सर्वत्र संकटों का

नाश करने वाले होते हैं। यह गणेश जी के नामाष्टक-स्तोत्र अपने अर्थों में संयुक्त एवं शुभ करने वाला होता है। जो भक्त इसका तीनों सन्ध्याओं में पाठ करता है वह सभी प्रकार से सुखी होता और सर्वत्र विजय प्राप्त करता है।'

'उस स्तोत्र के पाठ से विघ्नों का नाश उसी प्रकार से हो जाता है, जैसे गरुड़ के द्वारा सर्पों का नाश होता है। हे दुर्गे ! इस स्तोत्र का परायण करने वाला गणेश्वर की कृपा से महान् ज्ञानी और बुद्धिमान् हो जाता है। इसके प्रभाव से पुत्र की कामना वाले को पुत्र, पत्नी की अभिलाषा वाले को पत्नी और महामूर्ख को भी श्रेष्ठ विद्या की प्राप्ति होती है। वह निश्चय ही विद्वान् और श्रेष्ठ कवि हो जाता है।'

शौनकजी ने पूछा–'हे सूतजी ! आपने जिस नामाष्टक-स्तोत्र की इतनी महिमा कही है, वह कौन-सा है ? उसे आप मेरे प्रति कहने की कृपा करें। उसे सुनने की मुझे अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है। प्रभो ! मैं भी उसका अनुष्ठान करके अपने को पवित्र बनाता हुआ धन्य हो जाऊँगा।'

सूतजी बोले–'हे शौनक ! तुम्हारा प्रश्न उचित ही है, भला कौन-सा बुद्धिमान् पुरुष सहज प्राप्त उस स्तोत्र की कामना न करेगा ? स्वयं भगवान् नारायण ने ही नारद जी को वह स्तोत्र भी बताया था। नारायण ने कहा–'उन वामन भगवान् ने जगज्जननी उमा को वह नामाष्टक-स्तोत्र इस प्रकार बतलाया था–

"ज्ञानार्थवाचको गश्च णश्च निर्वाणवाचकः।
तयोरीशं परंब्रह्म गणेशं प्रणमाम्यहम् ॥१॥
एकशब्दः प्रधानार्थो दन्तश्च बलवाचकः।
बलं प्रधानं सर्वस्मादेकन्दन्तं नमाम्यहम् ॥२॥
दीनार्थवाचको हेश्च रम्बः पालकवाचकः।
दीनानां परिपालकं हेरम्बं प्रणमाम्यहम् ॥३॥

विपत्तिवाचको विघ्नो नायकः खण्डनार्थकः ।
विपत्खण्डनकारकं नमामि विघ्ननायकम् ॥४॥
विष्णुदत्तैश्च नैवेद्यैर्यस्य लम्बोदरं पुरा ।
पित्रा दत्तैश्च विविधैर्वन्दे लम्बोदरं च तम् ॥५॥
शूर्पाकारौ च यत्कर्णौ विघ्नवारणकारणौ ।
सम्पदौ ज्ञानरूपौ च शूर्पकर्णं नमाम्यहम् ॥६॥
विष्णुप्रसादपुष्पं च यन्मूर्ध्नि मुनिदत्तकम् ।
तद्गजेन्द्र-वक्त्रयुक्तं गजवक्त्रं नमाम्यहम् ॥७॥
गुहस्याग्रे च जातोऽयमाविर्भूतो हरालये ।
वन्दे गुहाग्रजं देवं सर्वदेवाग्रपूजितम् ॥८॥

अर्थात्–'ग' ज्ञानार्थवाचक और 'ण' निर्वाणवाचक है । इन दोनों (ग और ण) अक्षरों के जो ईश्वर हैं, उन गणेश्वर रूप परब्रह्म को मैं नमस्कार करता हूँ। 'एक' शब्द प्रधानार्थक और 'दन्त' शब्द बल वाचक है । इस प्रकार जो 'एकदन्त' भगवान् सबसे अधिक बल-प्रधान हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। 'हे' दीनार्थवाचक और 'अम्ब' शब्द पालक का वाचक है । इस प्रकार दोनों का परिपालन करने वाले 'हेरम्ब' को मैं नमस्कार करता हूँ। 'विघ्न' शब्द विपत्ति वाचक और 'नायक' शब्द खण्डनार्थक है । अतः जो विपत्तियों के नाशक हैं, उन 'विघ्ननायक' को मैं नमस्कार करता हूँ। प्राचीनकाल में भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त नैवेद्यों और पिता द्वारा समर्पित विविध प्रकार के मिष्ठान्नों के सेवन से जिनका उदर लम्बा हो गया है, उन 'लम्बोदर' को नमस्कार है। जिनके कान 'शूर्प' के समान हैं, तथा जो विघ्नों के निवारण में कारण, समस्त सम्पदाओं के दाता तथा ज्ञान स्वरूप हैं, उन 'शूर्पकर्ण' गणेशजी को नमस्कार करता हूँ। जिनके मस्तक पर मुनिप्रदत्त भगवान् विष्णु का नैवेद्य

रूप पुष्प विद्यमान है और जो गजेन्द्र के मुख से सम्पन्न हैं, उन भगवान् 'गजवक्त्र' को मैं नमस्कार करता हूँ।

परशुराम का श्री उमा को प्रसन्न करना

गणेश के इस नामाष्टक-स्तोत्र का उपदेश करने के पश्चात् भगवान् श्रीहरि ने परशुराम से कहा–'भृगुनन्दन ! तुमने गणेश्वर का एक दाँत तोड़कर अनुचित कार्य किया है, इसलिए तुम इस दोष से तब तक मुक्त नहीं हो सकते, जब तक जगज्जननी पार्वती जी को सन्तुष्ट न कर लो। यह गिरिराजनन्दिनी सर्व शक्ति-स्वरूपिणी, प्रकृति से परे एवं निर्गुण हैं। इन्हीं की शक्ति से गोलोकनाथ श्रीकृष्ण भी शक्ति-सम्पन्न हुए हैं। यह समस्त देवताओं की भी माता हैं, अतः स्तवन द्वारा उन्हें प्रसन्न करो।'

परशुराम ने भगवान् श्रीहरि की आज्ञा शिरोधार्य मानकर उन्हें प्रणाम किया। तदनन्तर भगवान् अपने धाम को जाने के लिए प्रस्तुत होते हुए अन्तर्धान हो गये। उसके पश्चात् परशुराम ने पवित्र जल में स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिने और फिर जगन्माता पार्वती जी का स्तवन करने लगे।

उन्होंने माता पार्वती के चरणों में अपना मस्तक रख दिया और नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित करते करुण प्रार्थना के अन्त में सहसा बोल उठे–

"रक्ष रक्ष जगन्मातः अपराधं क्षमस्व मे।
शिशूनामपराधेन कुतो माता हि कुप्यति॥"

'हे जगज्जननि ! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए, मेरा अपराध क्षमा कर दीजिए माता। शिशुओं से जो अपराध हो जाता है उसपर माता कहीं क्रोध करती है ? अर्थात् नहीं करती।'

इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् रेणुकानन्दन ने गिरिराजनन्दिनी के चरण पकड़ लिये और बालक के समान फूट-फूटकर रोने लगे। यह देखकर माता पार्वतीजी से न रहा गया। उनका वात्सल्य भाव उमड़

आया। वे बोलीं–'वत्स ! तुम चिरजीवी होओ, तुम्हें अमरत्व की प्राप्ति हो। तुम्हें गुरुदेव परमात्मा शिव की कृपा से सुदृढ़ भक्ति प्राप्त हो तथा तुम सर्वत्र विजयी हो। सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि तुमपर सदैव प्रसन्न रहें।'

माता पार्वती जी से आशीर्वाद प्राप्त होने पर भृगुनन्दन परशुराम जी को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसी समय उन्होंने सुना सभी दिशाएँ भगवन्नाम से व्याप्त हो रही हैं। सर्वत्र उन्हीं का जयघोष सुनाई दे रहा है। ममतामयी पार्वती जी परम सन्तुष्ट होकर अन्तःपुर में चली गईं।

अब परशुरामजी ने भगवान् एकदन्त गणेश्वर का विविध उपचारों से पूजन किया और फिर प्रीतिपूर्वक उनका स्तवन करने लगे। इस प्रकार गणराज की प्रसन्नता प्राप्त कर परमगुरु भगवान् शंकर को नमस्कार किया और उनसे आज्ञा लेकर तप करने के लिए तपोवन में चले गये।

९. नवम अध्याय

तुलसी का गणपति को शाप

श्रीनारायण बोले–'हे नारद ! इस प्रकार एकदन्त गणेश्वर का उपाख्यान मैंने तुम्हारे प्रति कह दिया है। अब और सुनना चाहते हो, वह बताओ।'

नारदजी ने निवेदन किया–'प्रभो ! यह तो आपने अत्यन्त अनुपम कथा कही है। श्रीगणेश्वर के ऐसे ऐसे गोपनीय चरित्रों के कथन में आप ही समर्थ हैं। हे नाथ ! अभी अनेक चरित्र-श्रवण से मेरा मन भरा नहीं है। अतः आप और भी कोई चरित्र उनसे सम्बन्धित हो तो कहने की कृपा करें।'

भगवान् नारायण बोले—'धन्य हो नारद ! जो तुम्हारा मन गणपति की पवित्र कथाओं में लगा है । तुम्हारा आग्रह है तो मैं भी उनकी पावन कथा अवश्य ही कहूँगा ।'

सूतजी बोले—'हे शौनक ! इस प्रकार नारदजी का आग्रह देखकर श्रीनारायण ने कहना आरम्भ किया—'नारद ! मैं तुम्हें गणेशजी का एक अन्य उपाख्यान सुनाता हूँ, जो कि ब्रह्मकल्प में घटित हुआ था । एक बार गणेश्वर श्रीगंगाजी के पावन तट पर तपस्या कर रहे थे। उनके अर्द्ध उन्मीलित नेत्र थे तथा मन भगवान् श्रीहरि में लगा था । वे सदैव उन्हीं के चरण-कमलों का ध्यान किया करते थे ।

'उस समय वे एक रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान थे । समस्त अंगों पर चन्दन लगा हुआ था। गले में पारिजात पुष्पों के साथ स्वर्ण-मणि रत्नों के अनेक हार पड़े थे। कमर में अत्यन्त कोमल रेशम का पीताम्बर लिपटा हुआ था। भुजाओं में स्वर्णाभरण, मस्तक पर देदीप्यमान मुकुट और कानों में कुण्डल सुशोभित थे। उनका मुखमण्डल करोड़ों सूर्यों की आभा को भी लजाता हुआ दमक रहा था। उनकी सुन्दर सूँड़ एवं विद्युतोपम श्वेत दन्त भी अद्भुत शोभा के कारण थे । इस प्रकार अद्भुत एवं दिव्य सौंदर्यावतार गणेशजी कुछ-कुछ योग झपकी लेते हुए और कुछ जागते हुए-से अत्यन्त शोभायमान लग रहे थे ।

'इसी अवसर पर धर्मात्मज की नवयौवना कन्या तुलसी देवी श्री भगवान् श्रीहरि का स्मरण करती हुई विभिन्न तीर्थों में भ्रमण करने को निकली थी । वह विभिन्न स्थानों पर होती हुई उसी गंगातट पर जा पहुँची जहाँ पार्वतीनन्दन एकदन्त भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में ध्यान में रत थे ।

तुलसी ने उमासुवन को देखा तो कुछ विमोहित-सी हो गई । उसने सोचा—कितना अद्भुत और अलौकिक रूप है, गिरिजानन्दन का ? इनसे

वार्तालाप करके विचार जानने चाहिए। सम्भव है इनके द्वारा की जाने वाली उपासना कुछ इस प्रकार की हो, जो मेरा प्रयोजन है।'

ऐसा विचार कर तुलसी ने उनके समीप जाकर कहा—'हे गजानन ! हे शूर्पकर्ण ! हे एकदन्त ! हे घटोदर ! मुझे यह तो बताओ कि संसारभर के समस्त आश्चर्य एकमात्र तुम्हारे ही विग्रह में किस प्रकार एकत्र हो गये हैं ? क्या इसके लिए तुमने कोई तपस्या की है ? यदि की है तो वह किस देवता की थी ?'

गणेश्वर तुलसी को देखकर कुछ अचकचाये। सोचा—यह कौन है ? मेरे पास आने का क्या प्रयोजन है इसका ? जब कोई समाधान न हुआ तो बोले—'वत्से ! मैंने तुम्हें अब से पहिले कभी नहीं देखा। इसलिए तुम कौन हो ? यहाँ किस प्रयोजन से आई हो ? मेरी तपश्चर्या में विघ्न डालने का क्या कारण है ?'

तुलसी बोली—'गणेश्वर ! मैं धर्मपुत्र की कन्या तुलसी हूँ। तुम्हें यहाँ तपस्या करते देखकर उपस्थित हो गई।' यह सुनकर पार्वतीनन्दन ने कहा—'माता ! तपस्या में विघ्न कभी भी उपस्थित नहीं करना चाहिए। इसमें सर्वथा अकल्याण ही होता है। मंगलमय भगवान् तुम्हारा मंगल करें। अब तुम यहाँ से चली जाओ।' यह सुनकर तुलसी ने अपनी व्यथा कही—'पार्वती-तनय ! मेरी बात सुनो। मैं मनोऽनुकूल वर की खोज में ही इस समय तीर्थाटन कर रही हूँ। अनेक वर देखे, किन्तु आप पसन्द आये हो मुझे। अतएव आप मुझे भार्या रूप में स्वीकार कर मेरे साथ विवाह कर लीजिए।'

गणेश्वर बोले—'माता ! विवाह कर लेना जितना सरल है, उतना ही कठिन उसके दायित्व का निर्वाह करना है। इसलिए विवाह तो दुःख का ही कारण होता है। उसमें सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। विवाह में काम-वासना की प्रधानता रहती है, जो कि तत्त्वज्ञान का उच्छेद करने वाली तथा समस्त संशयों को उत्पन्न करने वाली है। अतएव हे माता ! तुम

मेरी ओर से चित्त हटा लो। यदि ठीक प्रकार से खोज करोगी तो मुझसे अच्छे अनेक वर तुम्हें मिल जायेंगे।'

तुलसी बोली–'एकदन्त ! मैं तो तुमको ही अपने मनोनुऽकूल देखती हूँ इसलिए मेरी याचना को ठुकराकर निराश करने का प्रयत्न न करो। मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लो प्रभो !' गणेश बोले–'परन्तु, मुझे तो विवाह ही नहीं करना है तब तुम्हारा प्रस्ताव कैसे स्वीकार कर लूँ ? माता ! तुम कोई और वर देखो और मुझे क्षमा करते हुए मेरी ओर से अपना चित्त पूर्ण रूप से हटा लो, इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है।'

तुलसी को गणेशजी की बात बहुत अप्रिय लगी और उसने कुछ रोषपूर्वक कहा–'उमानन्दन ! मैं कहती हूँ कि तुम्हारा विवाह तो अवश्य होगा। मेरा यह वचन मिथ्या नहीं हो सकता।'

गणपति का तुलसी को शाप वर्णन

तुलसी-प्रदत्त शाप को सुनकर गणपति भी शाप दिये बिना न रह सके। उन्होंने तुरन्त कहा–'देवि ! तुमने मुझे व्यर्थ ही शाप दे डाला है, इसलिए मैं भी कहता हूँ कि तुम्हें भी जो पति प्राप्त होगा वह असुर होगा तथा उसके पश्चात् महापुरुषों के शापवश तुम्हें वृक्ष होना पड़ेगा।'

शाप सुनकर तुलसी भयभीत हो गई। उसने गणेश्वर की स्तुति की–'हे गणराज ! हे एकदन्त ! हे हेरम्ब ! मुझपर कृपा कीजिए। मेरे अपराध को क्षमा करके दया-दृष्टि से देखिये। हे प्रभो ! आप तो सभी विघ्नों का नाश करने वाले हैं। मुझे भी जिन विघ्नों की प्राप्ति होने का शाप आपने दिया है, उनका निवारण भी आप कर सकते हैं। हे दुःखनाशक ! दुःखों को दूर कर दीजिए।'

तुलसी की विनय सुनकर गणेश्वर प्रसन्न हो गये। उन्होंने उसे आश्वासन दिया–'देवि ! तुम समस्त सौरभवन्त पुष्पों की सारभूता बनोगी।

कलांश से भगवान् श्रीनारायण की प्रिया बनने का सौभाग्य भी तुम्हें प्राप्त होगा। यद्यपि समस्त देवगण तुमसे प्रसन्न रहेंगे, तथापि भगवान् श्रीहरि को तुम्हारे प्रति विशेष प्रीति रहेगी। नरलोक में मनुष्यों को तुम्हारे माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने पर उनके स्वधाम की अथवा मोक्ष की प्राप्ति होगी। किन्तु मेरे द्वारा तुम सदैव त्याज्य ही रहोगी।' गणपति से उक्त वर प्राप्त कर तुलसी अपने गन्तव्य स्थान को गई और इधर गणेश्वर भी वहाँ से बदरीनाथ के समीप तपश्चर्या के लिए चले गये। यह सुनकर शौनक जी ने प्रश्न किया–'हे सूतजी ! तुलसी को फिर किस वर की प्राप्ति हुई तथा वृक्षभाव में वह कब स्थित हुई, यह भी बताने की कृपा करें।'

सूतजी बोले–'हे शौनक ! कालान्तर में वही तुलसी वृन्दा हुई और दानवराज शंखचूड़ की भार्या बनी। यह शंखचूड़ पूर्व जन्म में भगवान् श्रीकृष्ण का पार्षद सुदामा था जो रासेश्वरी राधा के शापवश असुर-योनि को प्राप्त हुआ था। वह शंखचूड़-भार्या भगवान् के कलांश से वृक्षभाव को प्राप्त होती हुई श्रीहरि की परमप्रिया हुई।'

पञ्चम खण्ड

१. प्रथम अध्याय

५१

देवान्तक-नरान्तक के जन्म-वृत्तान्त

अंगदेश के किसी नगर में एक वेद-शास्त्रों के ज्ञाता रुद्रदेव नामक ब्राह्मण हुए। वे समस्त निगमागम में पूर्ण पारंगत, देवता, ब्राह्मण और गौओं की पूजा करने वाले तथा भगवत्-भक्त थे। उनकी पत्नी शारदा अनुपम रूप-लावण्यमयी एवं पतिव्रता थी। पति की भी पत्नी के प्रति अत्यन्त प्रीति थी, इसलिए वे उसकी सभी इच्छाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करते रहते।

शारदा गर्भवती हुई और नौ मास पूर्ण होने पर उसने दो यमज पुत्रों को जन्म दिया, जिन्हें देखकर रुद्रदेव बहुत प्रसन्न हुए और सोचने लगे कि आज मेरा मनुष्य-जीवन और तपश्चर्या सफल है। इन अलौकिक दो पुत्र-रत्नों की प्राप्ति से मेरा वंश धन्य हो गया।

रुद्रदेव ने अत्यन्त उल्लासपूर्वक पुत्रों के जातकर्मादि संस्कार कराये। अर्घ्यादि के द्वारा ब्राह्मणों का सत्कार कर मंगलमूर्ति श्रीगणेश का पूजन, स्वस्तिवाचन, मातृका-पूजन, आभ्युदयिकश्राद्ध आदि सभी कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न किये गए।

संस्कार सम्पन्न होने पर उन्होंने अत्यन्त भक्तिभाव से ब्राह्मणों का पूजन कर, उन्हें रत्नादि धन प्रदान किए। घर-घर शर्करा बँटवाई और धूमधाम से उत्सवार्थ सुखद ध्वनि वाले बाजे बजवाये गये। फिर नामकरणार्थ ज्योतिषियों को बुलवाकर उनका भी अर्घ्यादि से सत्कार कर निवेदन किया— 'दैवज्ञगण ! कृपया इन बालकों का नाम निर्देश कीजिए।'

ज्योतिषियों ने गणना आदि के द्वारा निष्कर्ष निकाला—'विप्रश्रेष्ठ ! यह दौनों बालक निस्संदेह बड़े पराक्रमी और प्रबल प्रतापी होंगे। इनका नाम देवान्तक और नरान्तक रहेगा।'

रत्नादि दक्षिणा से सन्तुष्ट कर रुद्रदेव ने ज्योतिषियों को विदा किया। उनके दोनों बालक अत्यन्त सुन्दर थे और वे जो बालक्रीड़ा करने लगे, उससे माता-पिता को बड़ा आनन्द होता। धीरे-धीरे उनकी क्रीड़ाओं में साहस का भी समावेश होने लगा। इस कारण जो भी उनकी क्रीड़ाओं को देखता वही आश्चर्यचकित रह जाता। सभी उन बालकों के साहस की प्रशंसा करते हुए रुद्रदेव को भाग्यवान् बताते।

एक बार विप्रवर रुद्रदेव के घर देवर्षि नारदजी पधारे। विप्र-दम्पति ने अर्घ्य-पाद्यादि द्वारा सत्कार कर श्रद्धापूर्वक श्रेष्ठ आसन दिया। देवर्षि विराजमान हो गये। तब उनकी सेवा में दोनों बालक उपस्थित किये गये तथा बालक से उन्हें प्रणाम कराया गया।

महामुनि नारदजी ने उन बालकों को देखकर कहा—'रुद्रदेव ! तुम्हारे दोनों पुत्र बहुत शूर-वीर, प्रबल प्रतापी तथा तीनों लोकों के विजेता होंगे। वस्तुतः ऐसे यशस्वी पुत्र उत्पन्न होने के कारण तुम बधाई के पात्र हो।'

नारदजी के वचन सुनकर रुद्रदेव और शारदा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने देवर्षि से निवेदन किया—'मुनिवर ! आप इन बालकों पर कृपा कर दीर्घजीवी होने का आशीर्वाद दें तथा यह भी अनुग्रह करें कि यह शत्रुओं को पराजित करके तीनों लोकों में प्रसिद्धि पावें।'

प्रार्थना सुनकर नारदजी ने बालकों के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'यदि यह शिवजी को प्रसन्न कर लें तो सभी कामनाएँ पूर्ण होंगी।' तदुपरान्त देवर्षि ने बालकों को शिवजी के पंचाक्षरी मन्त्र (नमः शिवाय) का उपदेश दिया और वीणा पर हरिगुण-गान करते हुए ब्रह्मलोक के लिए चल पड़े।'

देवान्तक और नरान्तक को वर प्रदान करना

दोनों बालक शीघ्र ही बड़े हो गये और उन्होंने माता-पिता के चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया–'पूज्य पिताजी ! आदरणीया माताजी ! हम भगवान् शिवजी को प्रसन्न करने के लिए तप करना चाहते हैं, इसलिए आज्ञा दीजिए।'

रुद्रदेव तो यह चाहते ही थे, क्योंकि नारदजी ने शिवजी की प्रसन्नता में ही बालकों का अभ्यदुय बताया था। अतः उन्होंने पत्नी से परामर्श कर दोनों को वन में जाने की अनुमति दी। तब प्रसन्न मन से दोनों भाई वहाँ से चल दिए।

घोर वन में घूमते हुए उन्हें एक ऐसा स्थान मिला, जहाँ अनेक विशाल कन्दराएँ थीं तथा सर्वत्र सुन्दर फल-फूलों से लदे हुए वृक्षों के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य बिखरा पड़ा था। निकट ही एक झरना था, जिससे जल सदैव प्रवाहित होता रहता। उस स्थान को ही उन्होंने अपनी तपश्चर्या के लिए उपयुक्त समझा।

दोनों ने तपस्या आरम्भ की। आहार छोड़कर केवल कुछ पत्ते खाकर और पानी पीकर रह जाते। फिर केवल पानी पीकर ही बहुत दिनों तक तप करते रहे। तदुपरान्त पानी भी छोड़ दिया। अब केवल शिवजी का ध्यान करते हुए एक पाँव के अँगूठे से खड़े हुए। उस समय उनका चित्त एकाग्र था और जिह्वा पर केवल पंचाक्षरी मन्त्र चल रहा था।

इस प्रकार एक पाँव के अँगूठे से खड़े हुए तथा केवल वायुपान करते हुए उन्हें दो हजार वर्ष व्यतीत हो गए। ज्यों-ज्यों समय बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनकी तपस्या उग्र होती गई। सभी प्रकार की तपश्चर्या को मिलाकर दस हजार वर्ष व्यतीत हो गए। उनका शरीर कृश होता जा रहा था, किन्तु मुख पर तेज बढ़ता गया। उनके तेज से वह वन प्रायः अँधेरी रातों में भी जगमगाया रहता।

भक्तों की अविचल भक्ति देखकर भगवान् उमानाथ का आसन डगमगाने लगा। उन्होंने समझ लिया कि अब अधिक विलम्ब करना उचित नहीं है, इसलिए भारी-भरकम वृषभ पर आरूढ़ हुए और उसी वन-प्रान्त की ओर चल पड़े। परन्तु उनका इस प्रकार जाना कोई देख नहीं सकता था।

भगवान् शंकर देवान्तक-नरान्तक के समक्ष प्रकट हुए तो वे दोनों उन्हें एकटक देखने लगे। उनके पंचमुख, त्रिलोचन, दशभुज एवं शीश पर गंगा तथा माथे पर अर्द्धचन्द्र युक्त रूप को देखकर दोनों को विश्वास हो गया कि यही हमारे उपास्यदेव हैं और तब उन्होंने आनन्दातिरेक में भरकर पहिले तो नृत्य किया और फिर प्रणाम करने के लिए शिवजी के समक्ष धरती पर लेट गये। तदुपरान्त कुछ स्वस्थ होकर भक्तिभावपूर्वक शिवजी की स्तुति करने लगे–

'हे देवाधिदेव महादेव ! आपके अलभ्य दर्शन प्राप्त करके हम दोनों अत्यन्त धन्य हो गए। हे प्रभो ! सनकादि मुनिगण एवं सहस्त्रमुख वाले शेष भगवान् भी आपकी ठीक प्रकार से स्तुति करने में असमर्थ हैं, तो हम अज्ञानी बालक ही आपकी स्तुति कैसे कर सकते हैं ? हे नाथ ! आप सर्व समर्थ हैं। आपकी कृपा प्राप्त करके ही सर्वथा दीन-हीन व्यक्ति भी सर्वांग सुन्दर बन जाते हैं। न जाने कितने रंकों को आपने राजा बना दिया है। हे भक्तवत्सल ! आपके लिए कहीं, कुछ भी तो असम्भव नहीं है।'

कहते-कहते दोनों तपस्वियों के कण्ठ गद्‌गद हो गए। उनके मुख से शब्द भी नहीं निकल रहे थे। यह देखकर प्रसन्न हुए भगवान् वृषभध्वज ने उनसे कहा–'विप्रतनयो ! तपस्वियो ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, अतएव अपना अभीष्ट वर माँगो।'

देवान्तक-नरान्तक ने भगवान् आशुतोष को अपने ऊपर प्रसन्न जानकर निवेदन किया–'देवाधिदेव ! जगदीश्वर ! यदि आप प्रसन्न हैं और वर देना चाहते हैं तो हमें यह वर दीजिए कि कोई भी मनुष्य, यक्ष, राक्षस,

देवता, देवाधिपति इन्द्र, गन्धर्व, किन्नर, भूत-पिशाच आदि हमें मार न सकें। हम किसी से भी पराजित न हों। पशु, ग्रह, नक्षत्र, सर्प, कृमि, कीट आदि के द्वारा भी हमारी मृत्यु न हो। हम किसी शस्त्र-अस्त्रादि से न मारे जायें। वन, ग्राम या नगर आदि में कहीं भी हमारी हिंसा न हो सकें। इसके साथ ही हे सर्वेश्वर! हमें तीनों लोकों का राज्य और चरणारविन्दों की सुदृढ़ भक्ति प्रदान कीजिए।'

भगवान् शंकर ने अपना कर-कमल उनके मस्तकों पर फिराते हुए कहा—'भक्तो!' तुम्हारे सभी अभीष्ट पूर्ण होंगे। तीनों लोकों पर तुम भय-रहित रूप से शासन करोगे।'

दोनों भाइयों ने हर्ष-विभोर होकर भगवान् भूतनाथ के चरणों में पुनः प्रणाम किया और तभी उनके देखते-देखते वे अन्तर्धान हो गये। वरदान की प्राप्ति से सन्तुष्ट एवं सफल मनोरथ हुए दोनों विप्रपुत्र घर लौटे और माता-पिता के चरणों में साष्टांग प्रणामकर भगवान् आशुतोष से वर प्राप्ति का समाचार उन्हें सुनाया।

पुत्रों की तपस्या सफल हुई सुनकर रुद्रदेव और उनकी पत्नी शारदा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने पुत्रों को गोद में भरकर उनके मस्तक सूँघते हुए कहा—'पुत्रो! तुमने अपना जीवन पवित्र बना लिया तथा कुल को भी यशस्वी बना डाला।'

तदुपरान्त उन विप्र-श्रेष्ठ ने अनेक ब्राह्मणों और तपस्वियों को बुलाकर उनका विधिवत् पूजन किया तथा अनेक प्रकार के सुस्वादु भोजन कराकर रत्नादि युक्त दक्षिणा दी। तब वे ब्राह्मण और तपस्वी उनकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने स्थानों को गये।

२. द्वितीय अध्याय

देवान्तक-नरान्तक द्वारा त्रैलोक्य विजय-प्रस्थान

इस प्रकार कुछ दिन माता-पिता को प्रसन्न करते हुए दोनों भाई सुखपूर्वक रहे। तदुपरान्त एक दिन नरान्तक की सहमति से देवान्तक ने भक्तिपूर्वक ब्राह्मणों को भोजन कराया और पुष्कल दक्षिणा से सन्तुष्ट किया। जब वे पूजित हुए ब्राह्मण आशीर्वाद देकर चले गये, तब देवान्तक ने नरान्तक से कहा—'बन्धुवर! अब हमें तीनों लोकों को अपने अधीन कर लेना चाहिए।'

नरान्तक बोला—'अवश्य, हमें भगवान् शंकर के वरदान का लाभ उठाना चाहिए, अन्यथा तपस्या में किया गया घोर कष्ट व्यर्थ हो जायेगा।'

देवान्तक ने कहा—'तो तुम मर्त्यलोक और पाताललोक पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करो। मैं स्वर्गलोक में जाकर सब देवताओं को अपने अधीन किये लेता हूँ।'

देवान्तक का स्वर्ग पर आधिपत्य

बात निश्चित हो गई। देवान्तक ने शुभ दिन-मुहूर्तादि देखकर स्वर्ग पर चढ़ाई कर दी। उसने वहाँ पहुँचते ही नन्दनकानन को उजाड़ना आरम्भ कर दिया। यह देखकर रक्षकों ने उसे रोका तो उसने उनको मार भगाया। नन्दनकानन को नष्ट हुआ जानकर देवराज इन्द्र की सुर-सेना उनके समक्ष आई, उसे भी पराजित होकर भागना पड़ा। भगवान् शंकर के वरदान से प्रबल हुए देवान्तक के समक्ष सुरेन्द्र भी न टिक सके। बहुत प्रयत्न-पूर्वक युद्ध करने पर भी जब उनको अपनी विजय न दिखाई दी तो अपना खण्डित वज्र लिये वे भी प्राण बचाकर भाग खड़े हुए। सभी देवता स्वर्ग

से भागकर सुमेरु पर्वत की गुफाओं में जा छिपे और कन्द-मूल के आहार पर सन्तोष करते हुए दुःखपूर्वक जीवन-यापन करने लगे।

देवान्तक की अमरावती पर विजय हुई सुनकर अनेकों असुर वहाँ जा पहुँचे। जिन देवताओं ने अधीनता स्वीकार कर ली थी वे भी वहीं रह गए। सभी ने देवान्तक से धन और अलंकार पाकर उसे स्वर्ग का राजा बना दिया। अनेक तीर्थों से जल लाये गये और ऋषियों ने मन्त्रपाठ-पूर्वक स्वर्ग के राज्यपद पर उसका अभिषेक किया। उस समय सुखद सुमधुर वाद्य बज रहे थे।

नरान्तक की विजय मर्त्यलोक और पाताल पर

इधर नरान्तक ने भी अपने भाई का अनुसरण किया। उसने बहुत-सी असुर-सेना एकत्र कर मर्त्यलोक में विद्यमान राज्यों पर आक्रमण कर दिया। उनके अधिपतियों ने उस भारी सेना को देखा तो कुछ ने विनाश से बचने के लिए सन्धि कर ली और कुछ ने सम्मुख आकर युद्ध किया।

परन्तु नरान्तक के सामने कोई नहीं ठहर सकता था। वह शिव जी द्वारा प्राप्त वर से प्रबल हो रहा था, इसलिए बहुतों को उसने मार डाला और बहुतों को पराजित कर अधीन बना लिया। बहुत से स्वाभिमानी राजा राज्य छोड़कर पहिले ही पलायन कर गये। इस प्रकार नरान्तक ने समुद्र- पर्यन्त समस्त भूमण्डल पर विजय प्राप्त कर ली।

उसने यज्ञादि कर्म बन्द कर देने की घोषणा की, जिससे क्षुब्ध हुए अनेकों ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने स्थान छोड़कर गिरि-गुहाओं में अपना स्थान बनाया। प्रजावर्ग में भी धर्म-कर्म के निषेध से आतंक फैलने लगा, किन्तु भगवान् की इच्छा प्रबल जानकर सभी मौन थे।

पृथिवी-मण्डल पर विजय प्राप्त करने के बाद उसने पाताल-लोक को अधीन करने की योजना बनाई और असुरों की असंख्य सेनाएँ एकत्र कर वह नागलोक की ओर चल पड़ा।

नरान्तक द्वारा नागलोक की पराजय वर्णन

मायावी असुरों की कुछ सेनाएँ गरुड़ों का रूप धारण कर नागलोक के द्वार पर जा पहुँचीं। उनके प्रतिकारार्थ नागों के दल-के-दल नगर से बाहर निकलने लगे। परन्तु धूर्त असुरों ने उन्हें युद्ध का अवसर दिये बिना ही मारना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार असंख्य नाग वीर मारे गये।

बाद में नागों ने भी एकत्र होकर सामना किया, किन्तु वे असुरों के समक्ष अधिक न ठहर सके। न जाने कितने प्रमुख नागों को अपने प्राण गँवाने पड़े। जो शेष रहे, उनके समक्ष भागने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं था।

इस प्रकार समस्त नागलोक संत्रस्त हो उठा, नाग-वनिताएँ करुण-क्रन्दन करने लगीं। प्रमुख नागों में परस्पर मन्त्रणा आरम्भ हुई और अन्त में निश्चय हुआ कि असुरों से सन्धि कर ली जाये। इस प्रकार विवश हुए नागों ने नरान्तक के समक्ष आत्म-समर्पण करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

नरान्तक ने फिर भी वहाँ का आधिपत्य नागों के पास ही रहने दिया। उनके एक प्रबल असुर को वहाँ का शासनाधिकारी एवं सर्वेसर्वा नियुक्त किया, जिसने कुटिलतापूर्वक नागलोक में यह घोषणा की कि—"अब यहाँ असुरों का शासन है। कोई भी नाग शान्ति भङ्ग न करे, अन्यथा समस्त नागजाति को दण्ड भोगना होगा।"

इस प्रकार पृथ्वी और पाताल दोनों लोक नरान्तक के अधीन हो गए। यह समाचार देवान्तक ने सुना तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवान् शङ्कर की कृपा से दोनों भाई तीनों लोकों के अधिपति बन गए। अब उन्हें किसी भी प्रकार का भय नहीं था।

स्वर्ग से पृथ्वी की और पृथ्वी से स्वर्ग की विभिन्न दुर्लभ वस्तुओं का आयात-निर्यात होने लगा। दोनों भाई परस्पर इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं

का आदान-प्रदान करने लगे। धरती पर दिव्य वस्तुओं की और स्वर्ग में भौतिक वस्तुओं की कमी नहीं रही। परन्तु उनका उपभोग उन दोनों भाइयों तक ही सीमित था।

इस प्रकार इन बन्धुद्वय का तीनों पर एकच्छत्र राज्य था। इस कारण देवता, मनुष्य, ऋषि-मुनि आदि सभी बहुत कष्टपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। इसके फलस्वरूप सर्वत्र अशांति का साम्राज्य छाया हुआ था।

अदिति द्वारा घोर तपश्चर्या का प्रारम्भ

ब्रह्माजी के मानसपुत्र महात्मा कश्यप जी त्रिकालज्ञ, तपस्वी, ज्ञानी, पुण्यात्मा, सत्येन्द्रिय एवं अत्यन्त बुद्धिमान् थे। समस्त निगमागम शास्त्र के ज्ञाता और मनोनिग्रही होने के कारण उनमें अद्वितीय सामर्थ्य विद्यमान थी। उसकी पत्नी अदिति परम सुशील होने के कारण पति की अत्यन्त प्रियतमा थीं। उनपर महर्षि की बहुत कृपा रहती थी।

देवराज इन्द्र एवं अन्य देवगण उन्हीं की कोख से उत्पन्न हुए थे। इसलिए देवान्तक द्वारा पराभूत हुए देवताओं की उन्हें बड़ी चिन्ता थी। उन्हें कुछ उपाय नहीं सूझता था कि उसका निराकरण किस प्रकार किया जाये।

जब उन्हें कोई उपाय दिखाई न दिया तो वे सोचने लगीं कि क्यों न पतिदेव से ही इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जाये? यदि किसी प्रकार मैं भगवान् श्रीहरि को पुत्र रूप में प्राप्त कर सकूँ तो समस्त संकट का निवारण सहज में ही सम्भव है।

अदिति महर्षि के पास जाकर उनके चरणों में बैठ गईं। उस समय तक महर्षि अग्निहोत्र-कार्य सम्पन्न कर चुके थे। यज्ञ का सुगन्धित धुआँ वातावरण में फैलता हुआ आकाश तक जा पहुँचा था। महर्षि ने अदिति को देखा तो स्नेहपूर्वक बोले—'प्रियतमे! क्या कामना लेकर आई हो?'

अदिति बोलीं–'स्वामिन् ! साध्वी नारियों की गति तो पति ही है । मैं कुछ प्रार्थना करने के लिए ही इस समय सेवा में उपस्थित हुई हूँ ।'

महर्षि बोले–'कल्याणि ! तुम क्या चाहती हो, वह संकोच छोड़कर स्पष्ट कहो ।'

अदिति ने कहा–'प्राणनाथ ! इन्द्रादि प्रतापी देवताओं को तो मैं पुत्र रूप में प्राप्त कर चुकी हूँ, किन्तु मेरे मन में सच्चिदानन्द परात्पर प्रभु को अपने पुत्र रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा हो रही है । जिस प्रकार उन्हें पुत्र रूप में पाकर मैं उनकी सेवा कर सकूँ, वह उपाय बताकर मुझे अनुगृहीत कीजिए ।'

महर्षि कश्यप ने कुछ विचार कर कहा–'प्रियतमे ! वे परब्रह्म प्रभु तो ब्रह्मादि देवताओं एवं श्रुतियों के लिए भी अगम्य हैं । वे माया से परे एवं माया का विस्तार करने वाले निर्गुण एवं निराकार परमात्मा बिना कठिन तपस्या के साकार-विग्रह रूप में कदापि प्राप्त नहीं हो सकते ।' महर्षि की बात सुनकर अदिति के मन में आशा का संचार हुआ । उन्होंने उल्लासपूर्वक पूछा–'नाथ ! मुझे वह पवित्रतम अनुष्ठान की विधि का निर्देश कीजिए । उसमें किसका ध्यान और कौन से मन्त्र का जप करना होगा ?'

पत्नी की अत्यन्त जिज्ञासा देखकर महर्षि ने उन्हें भगवान् विनायक का ध्यान, मन्त्र एवं न्यास-सहित पुरश्चरण की पूर्ण विधि का निर्देश दिया और कहा–'साध्वि ! एकाग्रचित्त से भगवान् विनायक की उपासना करने पर तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो सकता है ।'

पति का निर्देश सुनकर अदिति ने प्रसन्न मन से उनका पूजन किया और फिर उनकी आज्ञा लेकर कठोर तपश्चर्या करने के लिए एकान्त वन-प्रदेश में जा पहुँचीं । वहाँ एक जलाशय में स्नान करके उन्होंने पवित्र वस्त्र पहने तथा शुद्ध सुखद आसन पर बैठकर विधिपूर्वक न्यासादि के

सहित पूजन कर मन और इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया तथा भगवान् विनायक के मन्त्र का जप और ध्यान करने लगीं।

इस प्रकार देवमाता अदिति घोर तपश्चर्यारत थीं। उन्होंने आहार त्याग दिया, केवल पानी पर ही निर्भर रहीं। फिर पानी भी त्याग कर वायु के सहारे ही जीवन धारण किए हुए भगवान् विनायक का ध्यान और जप करती रहीं। इस प्रकार तप करते हुए दिव्य सौ वर्ष व्यतीत हो गए।

उनके उस घोर तप से उनके पुत्रगण देवता भी भयभीत हो गए। उनकी समझ में न आता था कि माता अदिति किस कामना से ऐसा कर रही हैं?

माता अदिति को विनायक के दर्शन

इधर भगवान् विनायक माता अदिति की घोर तपश्चर्या देखकर द्रवित हो गए। वे तुरन्त ही उनके समक्ष प्रकट हो गए। उस समय उनका अद्भुत रूप था–

तेजोराशिः वपुस्तस्य सूर्यकोटिसमप्रभः।
गजाननो दशभुजः कुण्डलाभ्यां विराजितः॥१॥
कामातिसुन्दरतनुः सिद्धिबुद्धि-समायुतः।
मुक्तामालां च परशुं बिभ्रद्यो मेघपुष्पजम्॥२॥
काञ्चनं कटिसूत्रं च तिलकं मृगनाभिजम्।
उरगं नाभिदेशे तु दिव्याम्बरविराजितम्॥३॥

करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान अत्यन्त तेजस्वी, कामदेव से भी अधिक सुन्दर शरीर, दश भुजाओं और कानों में विशिष्ट प्रकार के कुण्डलों से सुशोभित, अपनी दोनों पत्नियों–सिद्धि और ऋद्धि के सहित, कण्ठ में मोतियों की माला, हाथों में कमल और परशु लिये हुए, कमर

में सोने का कटिसूत्र, मस्तक पर कस्तूरीयुक्त तिलक और नाभिदेश में सर्प धारण किए हुए तथा दिव्याम्बर से सुशोभित थे।

परन्तु भगवान् विनायक का परशुयुक्त दशभुजी रूप देखकर माता अदिति भयभीत हो गईं। उनके नेत्र बन्द हो गए, शरीर कम्पायमान हुआ तथा वे मूर्च्छित होकर गिर गयीं।

विनायकदेव ने अदिति की यह दशा देखी तो मधुर स्वरों में आश्वस्त करने लगे—'तपस्विनी ! मैं वही हूँ, जिसका ध्यान तुम दिन-रात्रि करती रहती हो। उठो ! उठो ! मैं तुम्हारी कठोर तपश्चर्या से प्रसन्न होकर वर देने के लिए आया हूँ।'

अदिति को कुछ सान्त्वना मिली, तो उनकी मूर्च्छा दूर हो गई। तभी उनके कानों में यह अमृतवाणी निनादित हुई—'उठो देवमाता ! अपना अभीष्ट वर माँग लो मुझसे। मैं साक्षात् रूप में तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ।'

देवमाता अदिति को वर-प्राप्ति वर्णन

अदिति तुरन्त उठ पड़ीं। उन्होंने चरणों में प्रणाम करते हुए निवेदन किया—'प्रभो ! आप जगत् के रचयिता, पालनकर्ता और संहारक हैं। नित्य, निरंजन, निर्गुण, निरंकार, ज्योतिस्वरूप, नाना प्रकार के रूप धारण करने में समर्थ, सर्वप्रदाता एवं सर्वेश्वर हैं। हे देवेश ! यदि आप सन्तुष्ट हैं और मेरी कामना पूर्ण करना चाहते हैं तो मेरे पुत्र रूप में प्रकट होने की कृपा कीजिए। हे प्रभो ! मेरी कामना है कि आप मुझे इस प्रकार कृतार्थ करके दुष्टों का संहार और साधुजनों का परित्राण करें, जिससे सभी जन-साधारण को कृतकृत्यता की प्राप्ति हो सके।'

भगवान् विनायक ने अदिति को तुरन्त ही वर दिया—'तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। मैं तुम्हारे पुत्र रूप से प्रकट होकर साधुजनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करूँगा। इस प्रकार तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जायेगी।'

माता अदिति धन्य हो गईं। उनको प्रणाम करते-करते भगवान् विनायकदेव अन्तर्धान हो गए। अदिति भी अपने पतिदेव की सेवा में उपस्थित हुईं। उन्होंने महर्षि के चरणारविन्द में प्रणाम करके भगवान् विनायकदेव के दर्शन और उनसे वर-प्राप्ति का वृत्तान्त कहा, जिसे सुनकर महर्षि आनन्द-विभोर हो गये।

३. तृतीय अध्याय

पृथ्वी की व्यग्रता एवं देव-समूहों द्वारा आदिदेव का स्तवन करना

त्रैलोक्य विजयी देवान्तक-नरान्तक के शासनकाल में प्रजा अत्यन्त आतंकित और भयभीत थी। विशेषकर देवगण और ऋषिगण बहुत दुःखित हो रहे थे। गृहस्थी विद्वान् विप्रगण भी प्रसन्न नहीं थे। असुरों की स्वच्छन्दता और अत्याचारों के सभी शिकार एवं पीड़ित थे।

जब संसार में सर्वत्र अत्याचार हो रहे हों, धर्म-कर्म नष्ट हो रहा हो, साध्वी नारियों का सतीत्व लुट रहा हो, अबोध बालकों की हत्या की जा रही हो, निरपराधों को दण्ड दिया जा रहा हो, तब धरतीमाता को भी चैन कैसे मिल सकता है ? वह अत्यन्त त्रस्त हुई भगवान् चतुरानन के पास पहुँचकर बोलीं–

'महा-महिमामय कमलासन ! आपसे छिपा नहीं है कि संसार में असुरों द्वारा घोर अत्याचार किये जा रहे हैं। सभी देवताओं सहित देवराज इन्द्र भी मारे-मारे फिर रहे हैं। ऋषि, ब्राह्मण और गौ असह्य यन्त्रणा से सन्तप्त हैं। प्रजावर्ग में घोर भय व्याप्त है। स्त्री और बालक भी उन

अत्याचारों के घेरे में घिरकर छटपटा रहे हैं। यह सब मुझसे सहन नहीं होता, इसीलिए आपकी शरण में आई हूँ। अतः शीघ्र ही असुरों को विनष्ट कीजिए, अन्यथा मुझे विवश होकर सभी जीवों सहित रसातल में चला जाना होगा।'

ब्रह्माजी ने गम्भीर वाणी में कहा–'धरित्रि ! मैं भी तो उनके अत्याचारों से अछूता नहीं हूँ। क्योंकि मैं, सब लोकपाल, देवता एवं ऋषि-मुनिगण, स्वधा-स्वाहा से वंचित कर दिये गये हैं।'

'इसलिए स्थान, मन्त्र और आचार से भी हीन हो रहे हैं। इस विपत्ति से बचने का एक ही उपाय है–आदिदेव भगवान् विनायक को प्रसन्न करना। अतएव उन्हीं से प्रार्थना करनी चाहिए।'

चतुरानन का आदेश होने पर वहाँ उपस्थित देवता, ऋषिगण आदि सब समूह में बैठ गये और उन्होंने पृथ्वी सहित विनायक देव की प्रार्थना आरम्भ की–

"नमो नमस्तेऽखिल-लोकनाथ
नमो नमस्तेऽखिल-लोकधामन्।
नमो नमस्तेऽखिल-लोककारिन्
नमो नमस्तेऽखिल-लोकहारिन्॥"

'हे समस्त लोकों के नाथ ! आपको नमस्कार है। हे सब लोकों के आश्रय ! आपको नमस्कार है। हे समस्त सृष्टि के रचयिता और संहारकर्त्ता ! आपको बारम्बार नमस्कार है। हे देवताओं के शत्रुओं का नाश करनेवाले एवं भक्तजनों के पाप दूर करने वाले विनायकदेव ! आपको नमस्कार है। हे प्रभो ! आप अपने भक्त द्वारा की गई थोड़ी-सी भक्ति से ही प्रसन्न होकर उनका पोषण करते हैं, आपको नमस्कार है। आप निराकार, परे से भी परे, ब्रह्मरूप, क्षराक्षर से अतीत, सत्वादि गुणों से अनुग्रह किया करते हैं, आपको नमस्कार है। आप निरामय, निरञ्जन,

दैत्यों का मर्दन करने वाले, पूर्णकाम, नित्य, सत्य, सदैव परोपकार रत तथा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त रहने वाले हैं। ऐसे आपको हमारा बारम्बार नमस्कार है।'

इस प्रकार प्रार्थना करने के पश्चात् उन्होंने लोकव्यापी समस्या से अवगत कराने की चेष्टा की–'हे प्रभो! समस्त विश्व हाहाकार से व्याप्त तथा स्वधा-स्वाहा से वंचित हो रहा है तथा हम सभी देवगण सुमेरु-गिरि-कन्दराओं में पशुओं के समान रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसलिए हे विश्व का भरण-पोषण करने वाले प्रभो! आप कृपा करके इन महादैत्यों का संहार कीजिए।'

देवताओं द्वारा इस प्रकार करुणा प्रार्थना की जाने पर उन्हें आकाशवाणी सुनाई दी–'देवगण! धैर्य धारण करो। देवदेव विनायक महर्षि कश्यप की पत्नी महाभागा अदिति के गर्भ से प्रकट होकर अद्भुत कर्म करेंगे। उन्हीं से तुम्हारा गया हुआ राज्य मिलेगा। क्योंकि वे साक्षात् अवतार लेकर दुष्टों का दमन और साधुजनों का पालन करेंगे।'

आकाशवाणी सुनकर आश्वस्त हुए ब्रह्माजी ने पृथ्वी को समझाया, 'देवि! अब तुम्हें धैर्य धारण करना चाहिए। क्योंकि महाप्रभु विनायकदेव अवतार लेकर तुम्हारा कष्ट दूर करेंगे और उस समय सभी देवता पृथ्वी पर प्रकट होंगे।'

चतुरानन से उक्त आश्वासन पाकर पृथ्वी अपने स्थान पर स्थिर हुई और सब देवगण एवं मुनिगण भी अपने-अपने स्थानों को लौट गए।

महोत्कट का प्रकट होना

कुछ कालोपरान्त देवमाता अदिति गर्भवती हुईं और उनका तेज दिनों-दिन बढ़ने लगा और नवम मास पूर्ण होने पर शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में एक परम तेजस्वी बालक रूप भगवान् का प्राकट्य हुआ, जिनके

दस भुजाएँ, कानों में कुण्डल, मस्तक पर मुकुट और ललाट पर कस्तूरी का तिलक शोभा पा रहा था। वक्षःस्थल पर चिन्तामणि तथा कण्ठ में रत्नों की माला पड़ी थी। सिद्धि-बुद्धि उनके साथ थीं। अधरोष्ठ जपा-पुष्प के समान अरुण, दीप्तमान-धवल दाँत, अन्धकार को नष्ट करने वाली अनुपम देह-कान्ति एवं शरीर पर दिव्य वस्त्रालंकार धारण किए हुए थे।

माता अदिति ने उनका वह अलौकिक स्वरूप देखा तो आनन्द-विभोर हो उठीं। उनके मुख की कोई सीमा नहीं थी। तभी उन्होंने सुना, वह तेजस्वी बाल रूप भगवान् कह रहे थे–'माता ! तुम्हारा तप सफल हो गया। उसी के प्रभाव से मैं तुम्हारे पुत्र रूप में आविर्भूत हुआ हूँ। मैं दुष्ट दैत्यों को मारकर साधुजनों का हित सिद्ध करूँगा। उसी से तुम्हारी भी कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी।'

बालक विनायकदेव के वचन सुनकर माता अदिति ने विनत वाणी से कहा–'अवश्य ही आज मेरे पुण्यों का उदय हुआ है, जिनके कारण साक्षात् भगवान् गजानन ने मेरी कोख पवित्र की है। वस्तुतः यह मेरा परम सौभाग्य ही है कि नित्य आनन्दस्वरूप, निराकार परब्रह्म परमेश्वर ने मेरे पुत्र रूप में अवतार लेकर मुझे धन्य बना दिया। परन्तु प्रभो ! मेरी प्रार्थना है कि–

"इदं रूपं परं दिव्यं उपसंहर साम्प्रतम्।
प्राकृतं रूपमास्थाय कीडस्व कुहको यथा॥"

'अपने इस परम दिव्य रूप को छिपाकर प्राकृत शिशु के समान क्रीड़ा करते हुए मुझे पुत्र-सुख से सुखी कीजिए।' अदिति की प्रार्थना व्यावहारिक थी।

भगवान् गजानन ने तुरन्त ही शिशु रूप धारण कर लिया। अब देवमाता के समीप एक अत्यन्त तेजस्वी, हृष्ट-पुष्ट एवं दिव्य सौन्दर्य से

सम्पन्न नवजात शिशु जोर-जोर से रो रहा था। उसके रोने का शब्द तीनों लोकों और दशों दिशाओं में व्याप्त हो गया, जिसे सुनकर धरती काँप उठी, दिशाएँ भी थरथराने लगीं, बन्ध्या स्त्रियों का बन्ध्यात्व दोष मिट गया, किन्तु असुर-नारियों के गर्भ गिर गये। इससे देवताओं में उल्लास और दैत्यों में शोक छा गया।'

महोत्कट का जातकर्म संस्कार

महर्षि कश्यप के हर्ष का पारावार न था। उन्होंने शास्त्र-विधिपूर्वक बालरूप भगवान् का जातकर्म संस्कार आदि किये तथा विप्रों द्वारा ऋषि-मुनियों को पुष्कल दान-दक्षिणाएँ दीं तथा घर-घर में मिष्ठान्न युक्त बायन प्रेषित किये। बालक का नाम 'महोत्कट' रखा गया।

माता अदिति के गर्भ से भगवान् विनायकदेव को अवतरित होना सुनकर दूर-दूर से ऋषि-मुनि, ब्रह्मचारी एवं साधु तथा भक्तजन आ-आकर दर्शन करने लगे। महर्षि कश्यप के आश्रम पर दर्शनाभिलाषियों का ताँता लग गया।

दर्शनार्थियों में नारद, वशिष्ठ, वामदेव आदि अनेक स्वनामधन्य महर्षि भी थे। कश्यप ने सभी का समुचित रूप से स्वागत-सत्कार किया तथा गौ आदि प्रदान करके सबका आभार माना।

नारदादि ने ऋषियों से कहा—'महर्षि ! हम आपके पुत्र के दर्शनार्थ आये हैं। हमें उनके दर्शन कराओ।' कश्यप का संकेत पाकर अदिति अपने विलक्षण पुत्र को ले आईं, जिसे देखते ही उन ऋषियों ने कहा—'महर्षे ! तुम्हारे इस शिशु के शरीर में बत्तीस शुभ गुण दिखाई दे रहे हैं। आपने इसका 'महोत्कट' नाम गुणानुसार ही रखा है। विश्व के मंगलार्थ यह अत्यन्त भीषणकर्मा होगा।'

'ऋषिश्रेष्ठ ! आपके घर में आदि, मध्य और अन्त से रहित भगवान्

विनायकदेव ने ही अवतार लिया है। यद्यपि बालक के जीवन में अनेक संकट आयेंगे, तथापि वे सब स्वतः दूर हो जायेंगे। फिर भी यह जब तक स्वयं सशक्त न हो जायें, तब तक आपको सावधानी से इनकी रक्षा करनी चाहिए।'

तदुपरान्त महर्षि वशिष्ठ ने उन कश्यप-पुत्र भगवान् के ध्वज-वज्रांकुश चिह्नित चरणारविन्दों का भक्तिभावपूर्वक पूजन करके प्रार्थना की। उनके साथ–

"प्रार्थयामास सर्वस्त्वं भूभारहरणं कुरु।
साधूनां पालनं देव दुष्टदानवघातनम्॥"

'अन्य सभी ऋषियों ने भी निवेदन किया कि हे प्रभो! धरती का भार हरण कीजिए। साधुओं का पालन और दुष्ट दानवों का विनाश कीजिए नाथ!'

इस प्रकार प्रार्थना और प्रणामादि करके ऋषिगण अपने-अपने आश्रमों को चले गये। सभी के चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित थे। उन्हें विश्वास था कि यही महोत्कट भगवान् पृथ्वी को भार-मुक्त करेंगे, जिससे साधुजनों की रक्षा होगी तथा दैत्यों के अत्याचारी शासन का अन्त हो जायेगा।

४. चतुर्थ अध्याय

भगवान् महोत्कट की बाल-लीलाएँ

महोत्कट के जन्म का समाचार सुनकर असुरों में चिन्ता व्याप्त हो गई। वे जान गए कि यह अदितिपुत्र अवश्य ही हमारे अनिष्ट में तत्पर

होगा। उन्हें अब यह समझने में देर न लगी कि अदिति ने इसलिए कठोर तपस्या की थी। शंकित असुरगण भविष्य में उपस्थित होने वाले इस घोर संकट के प्रतिकार का उपाय सोचने लगे।

अनेकों प्रमुख असुरों ने एक स्थान पर बैठकर परस्पर परामर्श किया। उस समय स्पष्ट निर्णय लिया गया कि 'घातक वृक्ष अंकुर से विशाल न हो सके, इस उद्देश्य से उसे पहिले ही नष्ट कर डालना चाहिए। इस निर्णय को कार्यान्वित करने का भार सौंपा गया 'विरजा' नाम की एक अत्यन्त कुटिला एवं क्रूर कर्मा राक्षसी पर।

राक्षसी विरजा अपने कार्य में तुरन्त लग गई। वह बिना कुछ विचार किए हुए, अपनी चतुरता के अहंकार में मत्त हुई कश्यप जी के आश्रम में जा पहुँची। वह बालक को देखने का उपक्रम करती हुई जैसे ही महोत्कट के पास गई, वैसे ही उन्होंने झपटकर उसे मृत्यु मुख में पहुँचा दिया। इस प्रकार बेचारी विरजा अपनी ही चतुरता पर बलिदान हो गई।

असुरों ने सुना कि विरजा मारी गई तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। सोचने लगे कि वह तो बहुत ही चतुर और बलशालिनी थी, एक छोटे से बालक के हाथों कैसे मारी गई! अन्त में निश्चय हुआ कि 'उद्धत' और 'धुन्धुर' नामक वीरों को वहाँ भेजा जाये। वे अवश्य ही उस बालक को मारने में सफल रहेंगे।

आदेश मिलते ही दोनों असुर-वीर चल पड़े। उन्होंने तोते का मनोहर रूप बनाया और कश्यपाश्रम में जा पहुँचे, उस समय अदिति महोत्कट को दुग्ध पान करा रही थीं। तभी दो तोते सुमधुर वाणी में बोलने लगे।

सुन्दर तोतों को देखकर महोत्कट ने दूध पीना छोड़ दिया और माता से बोले—'माता! उन तोतों को ला दो।' माता ने समझाया—'पुत्र! पहिले दूध पीकर पेट भर लो, तब उन्हें देखना। यह तो आकाश में उड़ने वाले पक्षी हैं, इन्हें पकड़ना भी कोई सहज कार्य नहीं है।'

महोत्कट बोले–'अरे ! इन्हें पकड़ना भी कोई बड़ी बात है ? लो देखो, मैं पकड़ता हूँ इन्हें ।'

यह कहकर महोत्कट वेगपूर्वक उछले और बाज के समान झपट्टा मारकर एक-एक हाथ में दोनों को पकड़ लाये। पक्षी उनके हाथों में दबाव में फड़फड़ाये और चोंच मार-मारकर महोत्कट को घायल करने लगे। यह देखकर मुनिकुमार ने उन तोतों को तुरन्त ही मार डाला। तब उनका छद्मवेश दूर हो गया और उनका राक्षस रूप प्रत्यक्ष हो गया।

यह देखकर भयभीत हुई माता ने अपने बालक को उठाकर गोद में ले लिया। महर्षि ने शान्ति कर्म करके बाधा शान्त की और पत्नी से बोले–'आज परमात्मा ने ही इसकी रक्षा की है, तुमने यह जानते हुए भी कि यहाँ अनेकों असुर रहते हैं, बालक को अकेला कैसे छोड़ दिया ?'

अदिति ने कहा, 'मैंने अकेला तो नहीं छोड़ा था, वरन् बालक ही उनके मायावी रूप पर मोहित होकर उन्हें पकड़ लाया । अब और सावधानी रखूँगी ।'

धीरे-धीरे चार वर्ष व्यतीत हो गए। उनकी बाल-क्रीड़ाएँ माता-पिता और बनवासी स्त्री, पुरुष, बालकों के लिए मनोरञ्जन और चर्चा का विषय बनी हुई थीं। सभी के लिए महोत्कट भगवान् प्राणों से भी अधिक प्रिय हो रहे थे।

आश्रम के निकट, ताल-तमाल, देवदारु, जामुन, आम, कटहल आदि के अनेकों सघन वृक्ष थे, जिनके मध्य में एक गहरे मीठे और स्वच्छ जल का सरोवर विद्यमान था। उसमें अनेकों मत्स्य-मकर आदि जल-जीव भी थे, जो आश्रमवासियों के लिए बहुत कष्टकर सिद्ध होते थे। क्योंकि उनके कारण कोई निःशङ्क रूप से स्नान तो क्या, तट पर बैठकर सन्ध्या-वन्दन करने या पानी भरने में भी भयभीत रहता था।

चित्र नामक गन्धर्व को अपने स्वरूप की प्राप्ति

एक बार सोमवती अमावस के साथ व्यतीपात योग पड़ा। उस दिन माता अदिति भी स्नान करने के लिए उस सरोवर पर जा पहुँचीं। उनके साथ महोत्कट भी थे। बालक को तट पर बैठाया और स्वयं स्नान करने के लिए सरोवर में उतर गयीं। तभी बालक ने भी माता के पास पहुँचने की चेष्टा की, परन्तु पास न पहुँचकर प्रथम सीढ़ी पर ही गिर पड़ा और फिर सँभल कर वहीं खेलने लगा। तभी उसे एक मगर ने पकड़ लिया।

यह देखकर माता उधर दौड़ी हुई चिल्लाई–'अरे, कोई इसे बचाओ। हाय! मेरे लाल को मगर ने पकड़ लिया है।' निकट में ही कुछ मुनिकुमार स्नान कर रहे थे, वे बालक को छुड़ाने के लिए दौड़ पड़े, किन्तु वे उसे मगर से न छुड़ा सके। बालक को पकड़े हुए मगर पानी के भीतर ले जाने के लिए खींच रहा था। उसके साथ माता भी खिंचती जा रही थीं।'

उसी समय बालक उछला और उसने मगर से अपने को छुड़ाकर तुरन्त ही उस जल में से उठाकर बाहर तट से भी दूर फेंक दिया। इससे उसका शरीर फटकर चूर-चूर हो गया और उसके प्राणों ने शरीर का साथ छोड़ दिया। यह देखकर माता सहित सभी उपस्थित व्यक्तियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

तभी सबने देखा कि मगर-देह के समीप ही एक सुन्दर वस्त्रालङ्कार-धारी तेजस्वी पुरुष प्रकट होकर महोत्कट की ओर हाथ जोड़कर कह रहा है–'प्रभो! मेरा नाम चित्र गन्धर्व है। मैं सभी गन्धर्वों का अधिपति था। मेरे विवाहोत्सव में समस्त गन्धर्व और बहुत से ऋषि-मुनि भी सम्मिलित हुए थे। मैंने सभी का स्वागत-सत्कार किया था। किन्तु भ्रमित बुद्धि के कारण महर्षि भृगु का सत्कार करने में भूल हो गई।

यह देखकर महर्षि क्रोधित होकर बोले–'दुष्ट! तूने मेरा अपमान किया है, इसके फलस्वरूप एक सरोवर में जाकर मगर बनेगा।'

ऋषि का शाप सुनकर मैं थर-थर काँपने लगा। फिर मैंने उन महर्षि की बहुत अनुनय-विनय की, तो वे कुछ द्रवित होकर बोले–'गन्धर्वराज ! मेरा शाप तो मिथ्या नहीं हो सकता। किन्तु जब भगवान् गजानन कश्यप-पुत्र होंगे, तब उनके स्पर्श से तुम उस योनि से छूटकर निज स्वरूप प्राप्त करोगे।'

इतना कहकर गन्धर्व ने भगवान् गजानन की स्तुति आरम्भ की–

"त्वमेव जगतां नाथ ! कर्ता पापापहारकः।
निर्गुणो निरहंकारः सदसत्कारणं परम्॥"

"हे प्रभो ! आप ही जगत् स्वामी एवं रचयिता हैं। आप ही पापों का नाश करने वाले गुण रहित, अहङ्कार रहित एवं सत्-असत् रूप तथा सभी के परम कारण हैं, आपकी कृपा से ही मुझे अपने पूर्व रूप की पुनः प्राप्ति हुई है।'

इस प्रकार प्रार्थना करके गन्धर्व अपने लोक को गया, इधर माता अदिति के आश्चर्य की सीमा न थी। वह सोचती, यह सब क्या है ? यह दिव्य पुरुष कौन था ? मनुष्य, राक्षस अथवा देवता ? मेरे पुत्र की ओर मुख करके न जाने क्या-क्या करता रहा और अन्त में प्रणाम करके चला गया। परन्तु, मेरा अबोध बालक क्या समझता उनकी बातों को ? अवश्य वह कोई आसुरी माया रही होगी।' ऐसा विचार कर उन्होंने पुत्र को गोद में उठा लिया और उसे मरा हुआ जानकर स्तन-पान कराने लगीं।

महोत्कट के मुख में विश्वरूप दर्शन कथन

एक समय महर्षि कश्यप के आश्रम पर सङ्गीत-विशारद हाहा, हूहू और तुम्बुरू नामक गन्धर्व आये। वे शरीर पर पीताम्बर धारण किए, माथे पर गोपीचन्दन का तिलक लगाये, वीणा पर हरिगुण कीर्तन कर रहे थे।

अपने-अपने स्थान से कैलास-यात्रा के लिए चले थे, वहाँ से होते हुए यहाँ आ पहुँचे।

महर्षि कश्यप ने उनका स्वागत-सत्कार कर, भोजन स्वीकार करने का निवेदन किया। तब तीनों ने स्नानादि कर्मों द्वारा पवित्र होकर भगवती उमा, शिव, विष्णु, विनायकदेव और भास्कर का पूजन किया तथा अपने इष्टदेव का ध्यान कर रहे थे, तभी महोत्कट भी खेलते हुए वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने पाँच देवताओं की मूर्तियाँ वहाँ देखीं तो खेल-खेल में उठाकर अन्यत्र फेंक दीं और चुपचाप वहाँ से हट गये।

ध्यान समाप्त होने पर गन्धर्वों ने देखा कि वहाँ मूर्तियाँ नहीं हैं, तो बहुत व्याकुल हुए। उन्होंने इधर-उधर मूर्तियों को खोजा और जब वे न मिलीं तो महर्षि कश्यप से कहा, 'हे भगवन्! हम उमा, शिव, विष्णु, विनायक और सूर्य की पूजा करके इष्टदेव का ध्यान कर रहे थे, तभी उनकी पाँच मूर्तियाँ अदृश्य हो गयीं। पता नहीं, कौन उठाकर ले गया?'

कश्यप जी को मूर्तियों के चले जाने की बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। सोचा—'अब तक तो कभी कोई वस्तु आश्रम से चोरी नहीं गई, तब आज ही यह कैसे हुआ? कहीं महोत्कट ने तो वे प्रतिमाएँ नहीं उड़ा दीं। खेल-खेल में ले गया हो कहीं।'

ऐसा सन्देह होने पर उन्होंने महोत्कट को बुलाकर पुचकारते हुए पूछा—'पुत्र! तुमने अतिथियों की देवी मूर्तियाँ देखी थीं क्या?' पुत्र ने स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया।

महर्षि ने कुछ कठोर होकर कहा—'तेरे अतिरिक्त वहाँ एकान्त में अन्य कौन जा सकता था? अवश्य ही तू वहाँ गया और प्रतिमाओं को खिलौने समझकर उठा लाया।' महोत्कट ने विनम्रता से कहा—'परन्तु मैंने प्रतिमाएँ नहीं उठायीं।'

कश्यप बोले—'तू वहाँ गया था ही फिर प्रतिमाएँ कौन उठा ले

गया ?' पुत्र ने कुछ उत्तर न दिया तो उसे डराने के लिए महर्षि ने छड़ी दिखाते हुए कहा—'बताओ, मूर्तियाँ कहाँ फेंक दीं ? यदि नहीं बतायेगा तो मैं तुझे मारूँगा।'

महोत्कट भयभीत के समान खड़े हो गए। महर्षि की कठोर वाणी सुनकर अदिति भी वहाँ आ गईं। तभी पुत्र ने पिता को उत्तर दिया—'मूर्तियाँ उठाकर कहीं फेंक देता तो भी यहीं कहीं मिल जातीं। यदि आपको यह सन्देह हो कि मैं उन्हें खा गया हूँ तो मेरा मुख देख लीजिए।'

यह कहकर पुत्र ने अपना मुख खोल दिया। भीतर का दृश्य देखकर अदिति मूर्च्छित हो गईं और अन्य सभी आश्चर्य चकित रह गए ! सबने बालक के मुख में कैलास सहित शंकर, बैकुण्ठ सहित विष्णु, सत्यलोक, स्वर्गलोक सहित समस्त पृथ्वी, चौदहों भुवन, सभी लोकपाल एवं दसों दिशाओं में विद्यमान अद्‌भुत सृष्टि देखी।

सभी मौन थे। कश्यप जी सोचने लगे—'अरे, मैं यह तो भूल ही गया कि यह मेरे पुत्र रूप में साक्षात् जगदीश्वर ही अवतरित हुए हैं, मैंने इन्हें छड़ी दिखाकर कैसा अपराध कर डाला !' फिर उन्होंने गन्धर्वों से कहा—'अब आप ही बताइए कि मैं क्या करूँ ? बालक को दण्ड देना भी मेरे वश की बात नहीं है।' इतने में अदिति की मूर्च्छा दूर हो चुकी थी। वे बालक को गोद में उठाकर भीतर ले गईं और उसे दूध पिलाने लगीं। इधर गन्धर्वों ने महर्षि से कहा—'महर्षे ! यद्यपि मूर्तियाँ चोरी होने में आपका कोई दोष नहीं है, तो भी जब तक वे मिलेंगी नहीं, तब तक हम आपके द्वारा प्रदत्त अन्न-फल एवं कन्दमूलादि कुछ भी पदार्थ ग्रहण करने में असमर्थ होंगे।'

महोत्कट के विविध रूपों के दर्शन

महर्षि देख रहे थे कि गन्धर्व बहुत दुखित हो रहे हैं, तो भी प्रतिमाएँ प्राप्त कराना उनके वश की बात नहीं थी। इतने में ही कुछ ऐसा चमत्कार

हुआ कि सभी उपस्थित व्यक्ति अत्यन्त आश्चर्य में भर गए। सभी ने, विशेषकर गन्धर्वों ने देखा कि महोत्कट वहाँ आ खड़े हुए, वे कभी भगवती उमा, कभी विष्णु, कभी विनायक और कभी सूर्यरूप में दिखाई दे रहे हैं। वह एक ही बालक क्षण-क्षण में पञ्चदेव के रूप में साकार दर्शन दे रहा था।

"क्षणं ते ददृशुर्बालं क्षणं पञ्चस्वरूपिणम्।
क्षणं महाभीतिकरं क्षणं तं विश्वरूपिणम्॥"

उनके पश्चात् गन्धर्वों ने बालक के और भी अनेक रूप देखे। 'कभी पञ्चदेव तो कभी विश्वरूप और कभी अत्यन्त भयङ्कर रूप दिखाई देता।' इस प्रकार उन्हें विनायक तत्त्व का पूर्ण रूपेण साक्षात्कार हो गया। महर्षि कश्यप के यहाँ आकर वे धन्य हो गए। उन्हें सहज में ही परमात्मा के दर्शन प्राप्त हो गए। तब तो उन्होंने महोत्कट की भक्तिभाव से स्तुति की और महर्षि को धन्यवाद देकर सहर्ष उनका भोजन ग्रहण किया। तदुपरान्त बारम्बार भगवान् महोत्कट के चरणों में प्रणाम करते और महर्षि कश्यप और देवमाता अदिति की प्रशंसा करते हुए गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

55

५. पञ्चम अध्याय

महोत्कट का उपनयन-संस्कार वर्णन

एक वर्ष और बीत गया। बालक महोत्कट की आयु पाँच वर्ष की हुई। महर्षि ने उनका उपनयन कराने का विचार किया, उस अवसर पर निगमागम शास्त्रों के पारंगत विप्रगण तो आये ही थे, सभी देवता, राक्षस,

यक्ष, नाग, ऋषि-मुनि, राजर्षि, व्यवसायी एवं चारों वर्णों का जन-समूह उपस्थित हुआ।

असुरगण प्रत्यक्ष रूप में तो वहाँ बड़ी श्रद्धा के साथ उपस्थित हुए थे, किन्तु मन में यही था कि ऐसा अवसर हाथ आये, जब महोत्कट का वध किया जा सके। जो असुर महर्षि के प्रति श्रद्धाभाव रखते थे और जिन्हें इस अवसर पर पहुँचने का निमन्त्रण था वे प्रत्यक्ष रूप में और जिन्हें निमन्त्रण नहीं था, वे अप्रत्यक्ष रूप में, छिपकर वहाँ पहुँचे थे। उनमें विघात, पिंगाक्ष, विशाल, पिंगल और चपल नामक पाँच महाबली असुर भी थे, जिन्होंने माथे पर त्रिपुण्ड्र और गले में रुद्राक्ष माला धारण कर विप्र वेश बना रखा था।

ब्राह्मण के छद्मवेश को धारण किये हुए वे असुर हाथों में कमण्डलु लिये हुए थे, जिनमें छोटे-छोटे शस्त्रास्त्र छुपाये हुए थे। उन्होंने अपने बैठने के लिए ऐसा स्थान चुना, जो अन्य कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के मध्य में था और जहाँ से महोत्कट पर अचूक प्रहार किया जा सकता था।

उत्सव आरम्भ हो रहा था। सभी प्रियजन, परिचित जन एवं विशिष्ट जन आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करते जा रहे थे। अनेक प्रकार के सुखद बाजे बज रहे थे। तभी मण्डप में गणेश-पूजन और उसके पश्चात् स्वस्तिवाचन हुआ और फिर व्रतबन्ध की विधियों का आरम्भ हुआ। हवन के पश्चात् यमराज द्वारा ब्राह्मणों का पूजन किया गया।

जिस समय अग्नि-स्थापन के पश्चात् सौभाग्यवती नारियों और ब्राह्मणगण द्वारा आशीर्वाद पाठ के साथ महोत्कट पर अक्षत छोड़े जा रहे थे, तभी उन विप्रवेशधारी असुरों ने उपयुक्त अवसर जानकर कमण्डलु से अस्त्र निकालकर प्रहार करना उचित समझा। जैसे वे सभी अस्त्र-प्रहार के लिए उद्यत हुए, वैसे ही उनका मन्तव्य समझकर महोत्कट ने उनपर कुछ अभिमन्त्रित अक्षत फेंके और इसके साथ ही वे असुर निष्प्राण होकर धरती पर गिर गए और उनका वास्तविक रूप प्रकट हो गया।

पाँच भयङ्कर असुरों के निष्प्राण शरीर देखकर सभी उपस्थित अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक कहने लगे–'इस बालक के द्वारा थोड़े से चावल फेंके जाने पर ही इन भयङ्कर राक्षसों का मर जाना, अवश्य ही सामान्य बात नहीं है। तब यह बालक किसी विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न तो है ही।'

देवगण, ऋषि-मुनि आदि ने उन्हें परात्पर परमेश्वर का अवतार मानते हुए उनपर पुष्प-वर्षा की और सभी उनके जन्म-कर्म का गुणगान करने लगे। उसके बाद महोत्कट भगवान् को यज्ञोपवीत दिया गया। महर्षि कश्यप ने स्वयं ही उन्हें गुरु-मन्त्र रूप में गायत्री मन्त्र दिया। देवमाता अदिति ने सबसे पहिले अपने पुत्र को भिक्षा दी। तदुपरान्त यहाँ उपस्थित अन्य स्त्री-पुरुषों ने अपने-अपने पदानुसार क्रमशः भिक्षा दी और साथ ही सदाचार का उपदेश दिया। महोत्कट की प्राण-रक्षा होने के उपलक्ष्य में महर्षि ने पुनः ब्राह्मणों का पूजन किया तथा अनेक प्रकार के स्वर्णालङ्कार, वस्त्र, अन्न एवं गौओं आदि का दान किया।

देवताओं द्वारा अनेक प्रकार की वस्तुएँ प्रदान करना

तदुपरान्त महर्षि कश्यप ने सभी का आभार माना। महर्षि वशिष्ठ ने बालक का हाथ स्नेहपूर्वक पकड़ा और आशीर्वाद दिलाने के लिए चतुरानन की सेवा में ले गए।

ब्रह्माजी ने इस प्रकार उपनीत बालक को आया देखा तो तुरन्त अपने कमण्डलु के जल से तीर्थ ग्रहण कर एक ऐसा कमल पुष्प प्रदान किया, जो सदैव खिला रहता था। उस समय ब्रह्माजी ने बालक को 'ब्रह्मणस्पति' नाम दिया। तदुपरान्त देवगुरु बृहस्पति जी ने बालक का पूजन कर उसका नाम, 'भारभूति' बताया।

अब कुबेर ने पूजन करके 'सुरानन्द' नाम रखा और अपनी गलमाल

उतारकर पहनाई। वरुण ने 'सर्वप्रिय' नाम देकर अपना पाश प्रदान किया। तदुपरान्त भगवान् शङ्कर ने उसे 'विरूपाक्ष' कहकर त्रिशूल और डमरू दिया तथा 'भालचन्द्र' कहकर चन्द्रकला प्रदान की।

महर्षि परशुराम की माता रेणुका देवमाता अदिति की सखी थीं। उन्होंने परशु देकर 'परशुहस्त' नाम दिया, फिर पूजन करके एक सिंह पर बैठाया और 'सिंहवाहन' नाम से सम्बोधित किया। इसके पश्चात् रेणुकादेवी ने उपदेश दिया–'विनायक ! तुम शीघ्र ही असुरों का मर्दन करो।'

उस उत्सव में समुद्र भी ब्राह्मण के वेश में आया था। उसने बालक को मुक्तामाला देकर 'मालाधर' नाम प्रदान किया। सभी नागों के अधिपति शेषनाग ने बालक के आसनार्थ अपनी देह अर्पित करते हुए, 'फणिराजासन' नाम से सम्बोधन किया।

इन्द्र का अहंकार-भंजन

अग्निदेव ने महोत्कट को अपनी दाहिका शक्ति देते हुए 'धनञ्जय' नाम दिया। वासुदेव ने 'प्रभञ्जन' नाम से सम्बोधन कर अपनी प्रवाहिनी शक्ति प्रदान की। इस प्रकार सभी ने अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार बालक को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तुएँ भेंट कीं और उपयुक्त नाम दिया। किन्तु इन्द्र ने सोचा कि 'मैं तो समस्त देवताओं का अधीश्वर हूँ, मेरे समक्ष तो सभी मस्तक झुकाते हैं, इसलिए इस छोटे से बालक के समक्ष मुझे मस्तक क्यों झुकाना चाहिए ?' ऐसा तर्क कर इन्द्र ने बालरूप भगवान् को प्रणाम नहीं किया।

महर्षि कश्यप ने इन्द्र की बात जानी तो वे बोले–'पुत्र ! इस बालक के रूप में कोई अवतारी पुरुष ही प्रकट हुए हैं, इसलिए ऐसी विभूति को छोटा मानकर असम्मान नहीं करना चाहिए। देखो, इस छोटे से बालक ने

अब तक अनेक अद्‌भुत कर्म किये। विरजा नाम की राक्षसी और शुक्र रूप असुरद्वय को इसने खेल-खेल में ही मार डाला। सरोवर में भृगु शाप से मगर बना हुआ चित्र नामक गन्धर्व भी इसी का स्पर्श पाकर पुनः अपने लोक को गया। हाहा, हूहू और तुम्बुरू नामक प्रसिद्ध गन्धर्वों ने इसी के शरीर में पञ्चदेवों के दर्शन किए थे और अब भी पाँच असुरों को इसने अक्षत फेंककर ही मार डाला। इसलिए तुम्हें भी इसका सम्मान अवश्य करना चाहिए।'

परन्तु पुरन्दर तो राज्यहीन होकर भी अपने अहङ्कार को नहीं छोड़ सके। उन्होंने ने कहा–'पिताजी ! यद्यपि आपका कथन सत्य ही होगा, फिर भी मैंने स्वयं ऐसा कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं देखा–जिससे मैं इसे सम्मान के योग्य मान सकूँ।'

इन्द्र इतना कह चुके थे कि तभी महोत्कट के इङ्गित पर प्रलय काल के समान प्रचण्ड झंझावात चल पड़ा। बड़े-बड़े वृक्ष और गिरि-खण्ड टूट-टूटकर गिरने लगे। धरती कम्पित होकर डोलने लगी। भयङ्कर विनाश उपस्थित था, सर्वत्र त्राहि-त्राहि की पुकार हो रही थी। इन्द्र ने घबराकर महोत्कट की ओर दृष्टि उठाई तो इनके नेत्रों से अग्नि की लपटें निकलती दिखाई दीं। उस समय उनका शरीर बहुत विस्तृत हो गया था। हजारों से अधिक मस्तक, नेत्र, नाक, कान, हाथ और चरण थे। प्रमुख नेत्रों का स्थान सूर्य और चन्द्रमा ने ले रखा था तथा रोम-रोम में अनन्त ब्रह्माण्ड समाये हुए थे।

इन्द्र ने महोत्कट के शरीर में विराट् रूप के दर्शन किये। अब वे भय से व्याकुल होकर उनकी स्तुति करने और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगे। तब वह भयङ्कर रूप छिप गया और शान्त बालक के रूप में महोत्कट के दर्शन हुए। सभी उपस्थित जन उनका जय घोष करने लगे। इन्द्र ने अपना अंकुर और कल्पवृक्ष भेंट कर 'विनायक' नाम से उन्हें भक्तिपूर्वक सम्बोधन किया। तदुपरान्त सभी लोग अपने-अपने स्थानों को प्रस्थित हुए।

विद्या का अध्ययन तथा शूरता

अब महोत्कट का विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। वस्तुतः वे स्वयं ही सभी विद्याओं के आश्रय-स्थान थे, इसलिए कोई भी विद्या उनसे भिन्न हो, यह सम्भव नहीं, तो भी लोकाचार की दृष्टि से उन्होंने शिक्षा ग्रहण में रुचि ली तथा थोड़े ही समय में समस्त वेद-वेदांग, व्याकरण, गणित, ज्योतिष एवं धनुर्विद्या आदि में निष्णात हो गये। कोई भी विद्या ऐसी नहीं थी, जो उन्होंने प्राप्त न की हो।

महोत्कट की शास्त्रीय सिद्धान्तों पर जो बुद्धि थी, उसपर सभी विद्वानों को आश्चर्य होता था। उनके द्वारा की गई व्याख्या को सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह जाते। इससे सभी को यह विश्वास हो रहा था कि साक्षात् भगवान् के बिना इतनी अल्प आयु में अन्य कौन ऐसा धुरन्धर हो सकता है?

अभी बालक ने सातवें वर्ष में ही प्रवेश किया था कि सभी विद्याओं में पूर्ण पारंगत होकर पिता के कार्यों में सहायक होते थे। कभी-कभी भुजाओं में अंकुश, परशु और पद्म धारण कर सिंह पर सवार हो जाते। उस समय उनका रूप बहुत शोभायमान, किन्तु भयानक भी लगता। जब वे सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, ललाट में कस्तूरी का तिलक और चन्द्रकला, गले में मोतियों की माला एवं नाभि पर शेषनाग को धारण करके घूमते थे, तब उनकी शोभा की तुलना अन्य किसी से भी नहीं की जा सकती थी।

जब अपने वीरवेश में सजकर और सिंह पर सवार होकर घोर गर्जन करते, तब धरती-आकाश भी काँप उठते। किसी बली से बली राक्षस का भी साहस नहीं होता था कि उनके सामने आ सके। इस कारण आश्रम के चारों ओर पूर्ण शान्ति का वातावरण बन गया और आश्रम में तो सदैव हर्षोल्लास का ही साम्राज्य छाया रहता।

उनकी इस प्रकार की सुचारु रक्षा-व्यवस्था देखकर महर्षि और उनकी पत्नी अदिति बहुत ही सुखी हुईं। उन्होंने अपने को धन्य मानते हुए पूर्वजों की भी प्रशस्ति की, जिनके पुण्य फल से उन्हें ऐसे सर्वगुण सम्पन्न एवं सर्व समर्थ पुत्र की प्राप्ति हुई। इस प्रकार सभी के लिए महोत्कट अत्यन्त आनन्द के देने वाले बने हुए थे।

६. षष्ठ अध्याय

महोत्कट का काशी जाना

एक दिन महर्षि कश्यप सन्ध्या-वन्दनादि से निवृत हुए ही थे कि उनके आश्रम पर काशीनरेश समागत हुए। उन्होंने आश्रम में प्रवेश कर महर्षि को भक्तिभाव से प्रणाम किया। उन्हें देखकर महर्षि भी स्नेहातिरेक के कारण उठ खड़े हुए और उन्होंने काशिराज को हृदय से लगा लिया। तदुपरान्त राजा ने महर्षि की आज्ञा से आश्रम में ही भोजन किया और विश्राम करने लगे।

उसके बाद राजा पुनः महर्षि की सेवा में उपस्थित हुए और महर्षि से विनयपूर्वक बोले—'भगवन्! मैंने अपने पुत्र का सम्बन्ध निश्चित कर दिया और शीघ्र ही उसका विवाह करना चाहता हूँ। इसलिए आप कृपया काशी चलकर युवराज का विवाह-कार्य सम्पन्न कराने का कष्ट करें।'

महर्षि बोले—'राजन्! इस समय तो मैं एक अनुष्ठान कर रहा हूँ, इसलिए चलना सम्भव नहीं है। यदि पहिले से कहा होता तो अनुष्ठान बाद में किया जा सकता था।'

राजा ने निवेदन किया—'यह मेरी भूल हुई है महर्षे! वस्तुतः मुझे

आपकी सेवा में बहुत पहिले उपस्थित हो जाना चाहिए था। परन्तु राजा-कार्य में इतना व्यस्त रहा कि चाहते हुए भी यहाँ न आ सका। आप हमारे कुल-पुरोहित हैं, इसलिए आपके बिना विवाह की सम्पन्नता भी कैसे होगी ?'

कश्यप जी ने पूछा, देर में विचार किया और तब बोले–'नरेश ! यदि आप चाहें तो मेरे पुत्र महोत्कट को साथ ले जा सकते हैं। यह समस्त शास्त्रों का मर्मज्ञ और कर्मकाण्ड में भी अद्वितीय विद्वान् है। यद्यपि यह अभी बालक ही है, इसलिए माता और सब आश्रमवासी इसके चले जाने से खिन्न होंगे, क्योंकि सभी के लिए यह प्राणों से भी अधिक प्रिय है। इस प्रकार इसका आश्रम में अनुपस्थित रहना भी सभी के लिए कष्टकारी होगा, तो भी आप इसे ले जा सकते हैं। मुझे विश्वास है कि यह युवराज के विवाह-संस्कार का सभी कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करा देगा। कार्य पूर्ण होने पर आप इसे यहाँ भेज देना।'

राजा ने महर्षि का आदेश सहर्ष स्वीकार किया और तब महर्षि ने अपने पुत्र को पास बुलाकर कहा–'महोत्कट ! यह काशीनरेश हमारे अत्यन्त प्रीति-पात्र हैं। इनके यहाँ युवराज का विवाह होने को है। इनके कुल-पुरोहित हमीं हैं, इसलिए इनके यहाँ के विभिन्न संस्कार विधिवत् सम्पन्न कराना हमारा कर्त्तव्य है। यद्यपि तुम्हें यहाँ से भेजना हमारे लिए कष्टकर है तो भी इनका कार्य करना ही होगा। अतएव तुम इनके साथ जाओ और युवराज का विवाह-कार्य सम्पन्न कराकर शीघ्र यहाँ लौट आओ।'

महोत्कट ने पिता की आज्ञा शिरोधार्य की और राजा के साथ काशी जाने के लिए प्रस्तुत हुए। फिर अपने माता-पिता को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम कर राजा द्वारा उपस्थित रथ पर जा बैठे। उस समय पुत्र के वियोग में माता अदिति और सभी आश्रमवासी आँसू बहाने लगे। अदिति ने राजा से विनयपूर्वक कहा–'महाराज ! यह बालक बहुत चंचल और अपरिपक्व

बुद्धि है। कुटिल राक्षसगण सदैव इसे मारने का अवसर खोजते रहते हैं। यह कभी इस कुटी से बाहर नहीं गया है। इसलिए इसकी रक्षा का पूरा भार आप पर है। आप जिस प्रकार इसे अपने साथ लिये जा रहे हैं, वैसे ही कुशलपूर्वक यहाँ पहुँचा देने की शीघ्र कृपा करें।'

काशिनरेश ने वचन दिया–'माता ! आप चिन्ता न करें। मैं अपने प्राण देकर भी आपके पुत्र की रक्षा करूँगा और कार्य सम्पन्न होने पर सुरक्षित रूप से यहाँ पहुँचा दूँगा।'

तदुपरान्त काशिपति ने महर्षि और उनकी पत्नी के चरणों में प्रणाम किया और रथ पर जा बैठे। तभी रथ के घोड़े वायु के समान वेग से दौड़ पड़े। जब तक रथ की ध्वजा दिखाई दी, तब तक माता अदिति अश्रुपूर्ण नेत्रों से उधर ही देखती रहीं। उसके बाद पुत्र-वियोग की पीड़ा लिये आश्रम में पड़ गईं। उस समय उन्हें कुछ भी अच्छा न लगता था।

धूम्राक्ष-वध महोत्कट द्वारा

काशिराज अपने रथ एवं घुड़सवार दल के साथ आश्रम से चलकर एक भयंकर वन में पहुँचे। उस वन में एक स्थान पर विप्रवर रुद्रदेव का छोटा भाई धूम्राक्ष घोर तप कर रहा था। नरान्तक का चाचा धूम्राक्ष भगवान् भास्कर को प्रसन्न करना चाहता था। उसकी अभिलाषा थी कि तीनों लोकों पर भय रहित शासन के लिए सभी को मारने में समर्थ बनाने वाला दुर्लभ दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त हो जाय।

उसकी तपश्चर्या का ढंग अद्भुत था : अपने दोनों पाँव एक वृक्ष की शाखा से बाँधे हुए वह अधोमुख लटका हुआ था। आहार भी कुछ न करता, पानी भी त्याग दिया, केवल धूम्रपान करता हुआ जीवनचर्या चला रहा था।

भगवान् भास्कर उसके दारुण तप से द्रवित हुए। उन्होंने अत्यन्त

प्रकाशपुञ्जमय एक ऐसा शस्त्र उसके पास भेजा जो अपनी प्रभा से समस्त विश्व को उद्दीप्त कर सकता था। वह शस्त्र ज्योंही आकाश से उतरता हुआ धूम्राक्ष को प्राप्त होने वाला था, त्योंही महोत्कट ने ऊपर की ओर उछलकर उस शस्त्र को मार्ग में ही ग्रहण कर लिया।

महोत्कट ने उस शस्त्र को परीक्षणार्थ धूम्राक्ष की ओर वेग से फेंका। उसी समय वज्रपात जैसा एक भीषण शब्द हुआ और उसी के साथ धूम्राक्ष के शरीर के दो खण्ड होकर दूर-दूर जा गिरे। उन विशाल शरीर-खण्डों के गिरने से अनेकों वृक्ष टूटकर धरती पर गिर गए। यह सब देखकर काशीनरेश को बड़ा आश्चर्य हुआ!

जघन और मनु नाम के दैत्यों का संहार

धूम्राक्ष के दो वीर पुत्र थे—जघन और मनु। उसका पराक्रम और प्रभाव प्रसिद्ध था। उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का यह दृश्य देखा तो अत्यंत क्रोध में भर गए। उनके नेत्र तपे हुए लौह के समान लाल हो रहे थे। उन्होंने हाथों में शस्त्र ग्रहण किये और काशिराज के रथ को आकर घेर लिया तथा साथ के सैनिकों को बात ही बात में मार गिराया।

अब उन्होंने अत्यन्त गर्जन करते हुए कहा—'काशिराज! तूने षड्यन्त्र पूर्वक इस मुनिकुमार द्वारा हमारे पिता की हत्या करा डाली। अरे कृतघ्न! तू उस बात को भूल गया जब हमारे पिता ने ही राक्षसराज नरान्तक के कोप से तेरी प्राणरक्षा की थी। अब तक तू काशी का राजा उन्हीं की कृपा से बना हुआ था, परन्तु अब अपने ही रक्षक की हत्या कराने पर तू भी कैसे जीवित रहेगा?'

काशीनरेश काँप उठे। उन्हें क्या पता था कि क्षणभर में ही ऐसी दुर्घटना घट जायेगी। वे सोचने लगे कि इस बालक की माता ने सही कहा था कि बहुत चंचल है। यदि मैं इसे न लाता तो ठीक ही था। अब

ज्योंही नरान्तक को धूम्राक्ष के मरने का संवाद मिलेगा, त्योंही वह आधे क्षण में ही मेरे राज्य को धूल में मिला देगा।'

ऐसा विचार कर उन्होंने धूम्राक्ष के महाबली पुत्रों को शान्त करने की चेष्टा की–'वीरो ! मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है। मैं तो इस मुनि-बालक को अपने पुत्र का विवाह-कार्य सम्पन्न कराने के लिए ही लाया हूँ। भला मैं ऐसा षड्यन्त्र क्यों करता ?'

वे बोले–'कुछ भी सही, तुम इस हत्या के अपराध से बच नहीं सकते। हम तुम्हें और तुम्हारे राज्य को नष्ट करके ही रहेंगे।'

भयाक्रान्त राजा गिड़गिड़ाया–'असुरयोद्धाओ ! इस कार्य में मेरा किंचित् भी भाग नहीं था। मुझे पता भी नहीं था कि मेरा यह पुरोहित-पुत्र क्या करने जा रहा है। आप मुझपर कृपा कीजिए और अपने पुत्र के विवाहार्थ मुझे जाने दीजिए। अपने पिता की हत्या करने वाले इस पुरोहित-पुत्र को आप ले जा सकते हैं।'

महोत्कट को काशिराज के वचन भंग पर आश्चर्य हुआ। वे बोले–'राजन् ! आपने मेरी माता को जो वचन दिया था, उसे भंग करके और इस वन में लाकर मुझ अल्पवयस्क बालक को शत्रुओं के हाथ में दे रहे हैं, क्या क्षत्रियों का यही धर्म है ? जब मेरे पिता आपकी इस करतूत को सुनेंगे तो क्या वे आपको शाप देकर राज्य सहित भस्म नहीं कर देंगे ?'

राजा को उनकी बात का कोई उत्तर नहीं सूझा, तभी धूम्राक्ष-पुत्रों ने प्रहार आरम्भ कर दिए। यह देखकर महोत्कट अत्यन्त कुपित होकर जोर-जोर से श्वास छोड़ने लगे, जिससे अन्तरिक्ष में हलचल मच गई और पृथ्वी पर भयंकर झंझावत उठ पड़ा। उसके योग से धरती हिल उठी और भीषण चक्रवात ने उन असुरों को घेर लिया। वे चक्कर खाते हुए धरती से उठे और अन्तरिक्ष में चक्रवत् घूमते हुए अन्त में नरान्तक के नगर में

जा गिरे। उस समय ऐसा लगता था जैसे पर्वत-खण्ड टूटकर आ रहे हों। उनके गिरने से कुछ भवन ढह गए और जहाँ गिरे वहाँ की धरती धँसक गई।

नरान्तक का अत्यन्त क्रोधित होना

धूम्राक्ष-पुत्र जघन और मनु दोनों के शरीर क्षत-विक्षत हो चुके थे। उस घटना से नरान्तक की राजधानी में कोलाहल मच गया। समस्त असुरगण भयभीत हुए सोच रहे थे, 'यह कैसे हुआ?' नरान्तक भी व्याकुल हुआ अपने मन्त्रियों से परामर्श कर रहा था।

तभी वहाँ हाँफता-काँपता हुआ एक दूत आ पहुँचा। वह भय के कारण कुछ बोल नहीं पा रहा था। नरान्तक ने उसे सान्त्वना दी और कुछ देर शान्त बैठने को कहा। उसके बाद वह बोला—'महाराज! काशिराज के साथ एक मुनिकुमार बैठा था, जिसका नाम महोत्कट हे। वह महर्षि कश्यप का पुत्र बताया जाता है। काशिराज उसे अपने पुत्र का विवाह-कार्य सम्पन्न कराने के उद्देश्य से काशी लिये जा रहे थे। उसी मुनि-कुमार ने धूम्राक्ष को मारा और जघन एवं मनु की ऐसी दुर्दशा की है।'

नरान्तक इस समाचार को सुनकर अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने कठोर स्वर में अपने असुर-सैनिकों को आदेश दिया—'वीरो! उस मुनिकुमार और काशिराज दोनों को ही पकड़ लाओ। यदि वे युद्ध के लिए तत्पर हों तो फिर वहीं मार डालना।' असुरराज का आदेश मिलते ही असुरसेना तुरन्त दौड़ गई। काशिनरेश ने असुरों के दल आते देखे तो भयभीत होकर काँपने लगे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि किस प्रकार प्राण-रक्षा की जाय? तभी असुरसेना को बढ़ती हुई देखकर महोत्कट ने घोर गर्जन किया। वज्रपात के समान उस भयंकर गर्जना ने अनेकों को मृत्युमुख में डाल दिया। तभी महोत्कट ने शर सन्धान किया। अब तो एक ही शर सहस्त्रों होकर असुरों को मार-काट कर गिराने लगे।

इस प्रकार नरान्तक की विकट असुर-सेना बात की बात में नष्ट-भ्रष्ट हो गई। कुछ असुर उस घोर संहार को देखकर प्राण बचाते हुए भाग निकले। उन्होंने नरान्तक के पास जाकर सब समाचार दिया।

नरान्तक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि एक छोटे से मुनि-बालक ने हमारी वीर-सेना का संहार कैसे कर डाला? उसने सोचा—इस भारी हत्याकाण्ड का उत्तरदायित्व काशीनरेश पर ही है। इसलिए उसे दण्डित करना ही होगा।'

ऐसा निश्चय कर नरान्तक ने अपने एक ही सेनापति को बुलाकर कड़ा आदेश दिया—'सेनापति! तुम भारी असुर वाहिनी को साथ ले जाओ और उन दोनों को जीवित या मृत किसी भी रूप में लाकर उपस्थित करो।'

आदेश पाकर असुरों की सेना काशी की ओर चल पड़ी। इधर काशिराज का रथ महोत्कट के सहित काशीनगरी में प्रविष्ट हुआ। महोत्कट की कृपा से ही काशिराज सकुशल अपने घर लौट सके हैं, यह जानकर नगर-द्वार पर ही उनका भारी स्वागत किया गया। विविध भाँति से नगर सजाया गया और अनेक प्रकार की पूजन-सामग्री से उनकी पूजा की गई। घर-घर मङ्गल गीत गाये जाने लगे।

विघण्टादि दैत्यों की मृत्यु

महोत्कट के काशी आगमन से सभी को प्रसन्नता हुई। चारों वर्णों का प्रजावर्ग भी हर्षोल्लास से भर उठा। विप्रों ने उन्हें अपना ईश्वर, क्षत्रियों ने युद्ध-कुशल महावीर, वैश्यों ने सर्वसंहारक रुद्र तथा शूद्रों ने उन्हें प्रभु-रूप में देखा। इस प्रकार जिसकी जैसी भावना थी, उनके उसी रूप में दर्शन हुए।

नगर के मध्य में रथ पहुँचा, यहाँ विघण्ट और दन्तुर नामक दो असुर

अपनी घात लगाये बैठे थे। वे बालक का सुन्दर वेश बनाकर रथ के समीप आये और उन्होंने महोत्कट को खेलने का निमन्त्रण दिया। महोत्कट ने उनकी चेष्टाओं से ही समझ लिया कि ये दोनों असुर हैं। इसलिए तुरन्त रथ से उतरकर उनका इतने जोर से आलिंगन किया कि वे उनका दबाव न सह सके। निर्जीव होकर दूर जा गिरे। उस समय उनका असुर रूप भी स्वतः ही प्रकट हो गया।

असुरों का इस प्रकार मरण हुआ देखकर काशिराज और उनकी समस्त प्रजा आश्चर्य-चकित हो गई। सब ओर से विनायक भगवान् की जय का सुमधुर घोष उठा और आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी।

रथ यहाँ से कुछ ही आगे बढ़ा होगा कि पतंग और विधुल नामक दो राक्षस झंझावात का रूप धारण कर अपने वेग से वृक्षों तथा अट्टालिकाओं को खंडित करने लगे। न जाने कितने बहुमूल्य वस्त्र उड़ गए। अन्धड़ के कारण अँधेरा छा गया, जिससे सभी नागरिक व्याकुल हो उठे। यह देखकर महोत्कट कुछ हँसे और तभी उनका रथ कुछ ऊपर की ओर उठा। तब उन्होंने जैसे ही स्तम्भन प्रयोग किया, वैसे ही एक असुर धरती पर जा गिरा। तभी महोत्कट ने उसे मुष्टिक मारकर आहत किया और घुमाकर पृथ्वी पर दे मारा। यही दशा दूसरे असुर की हुई। यह सब देखकर उपस्थित जन अत्यन्त विस्मित हो रहे थे। काशिराज तो आश्चर्य देखते ही आ रहे थे, उन्होंने महोत्कट को प्रणाम कर रथ आगे बढ़ाने की आज्ञा दी।

रथ के थोड़ा आगे बढ़ने पर एक पाषाण रूप असुर दिखाई दिया। महोत्कट उसे देखते ही रथ से कूद पड़े और अपने तीक्ष्ण परशु से ऐसा प्रहार किया कि असुर की पाषाण देह के सैकड़ों टुकड़े हो गये। तभी उस पाषाण से भयंकर रूप वाला एक असुर निकल पड़ा जिसका नाम कूट था। उसका विकराल मुख और भयंकर शरीर देखकर सभी नागरिक इधर-उधर भागने लगे। तभी महोत्कट ने उसे पकड़कर मुष्टि प्रहार

किया, जिससे निर्जीव हुआ असुर चक्कर खाकर गिर गया। यह देखकर सभी को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह मुनिकुमार सब राक्षसों का संहार करने में समर्थ है।

राजभवन में महोत्कट का पूजन और स्वागत

रथ राजद्वार पर जा पहुँचा। काशिराज रथ से उतरकर कश्यपकुमार को अपने साथ राजभवन में ले गये। वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक उनका षोड़शोपचारों सहित पूजन और स्तुति की, फिर बहुमूल्य वस्त्रालंकार भेंट कर विविध सुस्वादु व्यञ्जनों का भोजन परोसा। तदुपरान्त एक सुन्दर सुसज्जित सुखद कक्ष में उनके विश्राम की व्यवस्था की। इस प्रकार रात्रि सुखपूर्वक व्यतीत हुई।

दूसरे दिन महोत्कट प्रातःकाल शय्या त्याग कर स्नान, ध्यान एवं यजनादि से निवृत हुए, तभी धर्मदत्त नामक एक सद्विप्र उनके पास आकर बोले–'प्रभो ! मेरा घर भी पवित्र कीजिए।' महोत्कट ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और राजा से अनुमति लेकर उनके साथ चल दिए।

रास्ते में उन्होंने देखा कि दो गधे परस्पर लड़ रहे हैं। महोत्कट उनसे बचकर चलने को ही थे कि वे दोनों उन्हीं के ऊपर आ गिरे। विनायक समझ गये कि यह दोनों असुर हैं, इसलिए उन्होंने मुष्टि-प्रहार से ही उन दोनों को मार डाला। वस्तुतः वे नरान्तक द्वारा भेजी गई आसुरी सेना के ही काम और क्रोध नामक दो वीर थे। आगे बढ़ने पर उन्होंने एक मदोन्मत्त हाथी देखा। वह जिसे भी देखता उसी को मारने के लिए बढ़ता। इससे नागरिकों में बड़ा आतंक छा गया। बहुत से स्त्री-पुरुष भाग-भाग कर जहाँ रक्षा का स्थान मिलता वहीं छिप जाते। परन्तु हाथी तो नगर को ही ध्वस्त करने पर तुला था। उसके भय के कारण रास्ते जन-शून्य हो गए।

महोत्कट ने यह स्थिति देखी तो हाथी की ओर झपटे। उन्होंने विद्युत वेग से उसकी सूँड़ काट डाली और गण्डस्थल पर इतना तीव्र आघात

किया कि चिंघारता हुआ धरती पर गिर पड़ा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। मरते समय वह अपने वास्तविक असुर रूप में आ गया, जिससे स्पष्ट हो गया कि वह भी नरान्तक का भेजा हुआ कुण्ड नामक अत्यन्त क्रूर राक्षस था। उसके मरने पर सभी ने चैन की साँस ली और भगवान् गजाननदेव की जय बोलने लगे। इस प्रकार महोत्कट इस समय काशी-नगर के रक्षक भी बन गये थे।

❀❀❀

७. सप्तम अध्याय

धूम्राक्ष-पत्नी जृम्भा का वध

जृम्भा धूम्राक्ष की पत्नी थी। वह राक्षसी अपने पति की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए महोत्कट के रक्त की प्यासी हो रही थी। उसने सुन्दर देवी का रूप बनाया—शरीर पर पीताम्बर, हाथों में कंकण, कण्ठ में रत्नहार तथा अन्यान्य आकर्षक अलंकार धारण किये और महोत्कट के पास जाकर कोमल वाणी में कहने लगी—'मुनिकुमार ! तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं, जिन्होंने तुम्हारे जैसे शूर-वीर पुत्र को जन्म दिया। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि तुमने अनेक प्रबल असुरों को मारने का शुभ कार्य किया है। तुम्हारे घोर श्रम को देखकर मैं तुम्हारे लिए यह श्रमनाशक सुगन्धित तेल लाई हूँ। आओ, इसे अपने शरीर पर लगवा लो।'

उसके दिव्य रूप और मधुर वाणी में निवेदन सुनकर महोत्कट ने उसकी बात मान ली और तेल लगवाने लगे। परन्तु वह तेल तो विष-मिश्रित था इसलिए शरीर पर लगते ही दाह करने लगा। यह देखकर उन्होंने निकट पड़ा हुआ एक नारियल उठाकर उसके सिर पर दे मारा, जिससे उसका मस्तक विदीर्ण हो गया और वह तड़पती हुई अपने वास्तविक रूप में आकर प्राण विहीन हो गई।

उसका रूप देखकर सभी जान गये कि यह धूम्राक्ष की पत्नी थी और मुनिकुमार को मारने के उद्देश्य से यहाँ आई थी। उसके मरने से सभी को प्रसन्नता हुई।

अगले दिन काशीनरेश उन कश्यप-कुमार को लेकर राजसभा में गये। सभी अमात्यों, जन-प्रतिनिधियों, मित्रों, परिवारजनों आदि ने उनका स्वागत किया। महाराज ने मुनि-कुमार सहित राजसिंहासन पर विराजमान होकर वह सभी बातें बताईं कि वे युवराज का विवाह-कार्य सम्पन्न कराने हेतु महर्षि कश्यप ने अपने पुत्र महोत्कट को इस कार्य के लिए साथ भेजा। मार्ग में धूम्राक्ष और उसके पुत्रों के वध तथा अन्य राक्षसों द्वारा आक्रमण होने पर उनके संहार एवं नगर में भी असुरों के उपद्रव और उन सभी के निष्प्राण होने की पूरी चर्चा करते हुए कश्यप-कुमार की भूरि-भूरि प्रशंसा की और यह भी कहा कि इन्हीं मुनि-पुत्र ने मेरी प्राण-रक्षा की, अब भी नगर की रक्षा कर रहे हैं।

इसके पश्चात् राजा ने कहा-'सभासदगण! मेरी इच्छा है कि युवराज के विवाह का दिन निश्चित कर लिया जाय, इसके लिए विद्वान् दैवज्ञ को सादर बुलाना चाहिए।'

तभी एक वरिष्ठ अमात्य ने विनीत स्वर में कहा-'महाराज! धृष्टता क्षमा की जाय, जबसे यहाँ मुनिकुमार पधारे हैं तभी से कोई-न-कोई नवीन उपद्रव देखने में आ जाता है। मैं समझता हूँ कि जब तक यहाँ निवास करेंगे तब तक शान्ति होना भी सम्भव नहीं है। इसलिए मेरे मत में तो अभी वैवाहिक कार्यक्रम को एक मास के लिए स्थगित रखना ही उपयुक्त होगा।'

महाराज ने अमात्य का सुझाव स्वीकार कर लिया। सभा विसर्जन होने पर विनायक के साथ राजभवन में आकर भोजन किया और शयन-काल में दोनों अपने-अपने शयन-कक्ष में चले गये।

अनेक महाबली असुरों का संहार वर्णन

घोर रात्रि थी। काशी नगरी अन्धकार की चादर ओढ़े मौन एवं सुप्तावस्था में थी। काशिराज, महोत्कट, सभी अमात्य सेनाधिकारी एवं प्रजाजनादि सभी निश्चिंत हुए सो रहे थे। किसी को पता नहीं था कि रात्रि में क्या होने वाला है ?

काशी के निकट ही नरान्तक की दूसरी बार भेजी गई सेना ने आकर पड़ाव डाल दिया। उसके तीन क्रूर सेनानायक ज्वालामुख, व्याघ्र और दारुण नामक विकराल असुर काशी को विध्वंस करने की योजना बनाने में लगे थे।

ज्वालामुख ने दारुण का सहयोग लिया और नगरी के चारों ओर भीषण अग्नि प्रज्वलित कर दी। उसकी तीव्र लपटें नगर को जलाने लगीं। उस भयंकर अग्नि को मुख फैलाये हुए देखकर प्रजावर्ग त्रस्त हो उठा। नगर में कोलाहल मच गया। सभी स्त्री-पुरुष नगर से भाग जाना चाहते थे, किन्तु बच निकलने का कहीं कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। यदि कोई किसी प्रकार निकल भागता तो व्याघ्रमुख और उसके सैनिक प्राण ले लेते।

इस प्रकार अत्यन्त त्रस्त काशी के नागरिकों में हाहाकार मच उठा। यमराज ने सब ओर जाकर देखा तो सभी सीमाएँ भयंकर ज्वालमाला की लपेट में थीं। वे व्याकुल होकर सोचने लगे—'यह दुर्भाग्य की ही बात है कि मैं इस विनायक को यहाँ ले आया। अब तो सर्वस्व ही नष्ट होता दिखाई देता है।'

अब वे दुर्ग पर चढ़ गये। सब ओर भीषण अग्नि ही अग्नि देखकर उनकी बुद्धि कुण्ठित हो गई। फिर सोचा, 'महोत्कट को ही क्यों न बुलाया जाय ?' राजाज्ञा पाकर अमात्यगण उन्हें लाने के लिए दौड़े, किन्तु वे उस समय अपने कक्ष में नहीं थे।

उधर महोत्कट सजग थे। वे असुरों की समस्त गतिविधियों पर ध्यान दिए हुए थे। उन्हें राजा की अधीरता का भी पता था। उधर समस्त प्रजा भी त्राहि-त्राहि करती हुई उन्हीं मुनिकुमार को पुकार रही थी।

उन्होंने योगमाया का आश्रय लिया। रात्रि व्यतीत होने जा रही थी, पूर्व के क्षितिज में लाल-लाल रवि के दर्शन हो रहे थे। महोत्कट व्याघ्रमुख की ओर दौड़ पड़े और उसे पकड़कर अविलम्ब धरती पर पछाड़ दिया तथा शरीर को बीच में से चीरकर आकाश की ओर दूर फेंक दिया।

फिर वे ज्वालामुख के पास जा पहुँचे और उसे भी पकड़ कर चीर डाला। तदुपरान्त दारुण को भी प्राणहीन कर दिया। यह देखकर राक्षसी सेना में हाहाकार मच गया। उन्होंने सम्मिलित रूप से महोत्कट पर आक्रमण कर दिया, किन्तु उन्होंने शस्त्रों की वर्षा करके समस्त सेना का संहार कर डाला। थोड़े से राक्षस ही प्राण बचाकर भागने में सफल हो सके।

असुरदल के छिन्न-भिन्न होने पर महोत्कट ने घोर गर्जना की, जिसे सुनकर समस्त प्रजा हर्षित हो गई। सभी ने देखा कि अग्नि का कहीं पता भी नहीं था। तभी महोत्कट वहाँ आ गए और ध्वस्त भागों का अवलोकन करने लगे। उसी समय एक योजना बनाई गई, जिसमें नागरिकों और राजसैनिकों के सहयोग से और महोत्कट की अद्भुत शक्ति से उन भागों का नव-निर्माण हो गया। इस प्रकार काशी नगरी अब पहिले से भी अधिक शोभायमान हो गई।

अब उन्होंने काशीनरेश को अधिक सावधान रहने को कहा तथा उन्हें और उनके सेनाधिकारियों को विविध प्रकार शस्त्रास्त्रों के सञ्चालन और प्रक्षेपण की शिक्षा दी। इससे काशी की राजधानी सैन्य तैयारियों में आत्मनिर्भर और सशक्त हो गई। इस प्रकार काशी के वासियों को

भगवान् विनायक की कृपा से पूर्ण ऐश्वर्य, बल-सम्पन्नता और दूर-दूर तक सुयश की प्राप्ति हुई।

काशीनरेश भी महोत्कट के निवास करने से धन्य हो गए। उन्हीं के कारण उनकी राजधानी की अत्यन्त विख्यात कीर्ति हो गई। राजा ने उनका अत्यन्त आभार मानते हुए भक्तिभाव सहित पूजन कर ब्राह्मणों को अनेक प्रकार से धन-रत्नादि भेंट किये।

ज्योतिषी रूप वाला मायावी असुर का संहार

एक दिन नित्यकर्मादि से निवृत्त होने के पश्चात् विनायकदेव अन्य बालकों के साथ क्रीड़ार्थ बाहर निकल गये। उधर काशिराज राजसभा में जाकर अपने सिंहासन पर आसीन हुए ही थे कि तभी वहाँ एक लम्बी मूँछ-दाढ़ी वाले ज्योतिषी जी पधारे। उनके शरीर पर बहुमूल्य रेशमी वस्त्र और सिर पर बहुत बड़ी पगड़ी थी। ललाट पर गोपीचन्दन, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला तथा हाथ में एक बड़ी पुस्तक थी।

राजा ने ज्योतिषी को देखते ही उठकर प्रणाम किया और अपने निकटस्थ उच्च आसन पर बैठाकर उनके परिचय की जिज्ञासा की। तब ज्योतिषी ने उत्तर दिया—'राजन्! मैं गन्धर्व-लोक से आ रहा हूँ। मुझे हेम ज्योतिर्विद् कहते हैं। भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का हाल मुझे विदित है।'

राजा बोले—'अहोभाग्य! आपके दर्शन करके मैं धन्य हो गया। दैवज्ञ-श्रेष्ठ! आज्ञा कीजिए कि आपकी क्या सेवा करूँ?'

ज्योतिषी ने कहा—'महाराज! मुझे अपना तो कोई कार्य नहीं है, किन्तु आपके कल्याण की इच्छा से ही इधर आ गया हूँ। मैंने सोचा कि पहिले आपको अपने राज्य-शासन में कभी किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ा था, जो अब कुछ ही दिनों से करना पड़ रहा है। नित्य प्रति नये-नये उपद्रव हो रहे हैं यहाँ।'

काशीनरेश ज्योतिषी की बातों से बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने उसकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाई। तभी ज्योतिषी ने पुनः कहना आरम्भ किया--'राजन् ! सँभल जाओ, अभी भविष्य में बहुत हानि होने को है। यदि कहो तो शान्ति का कुछ उपाय बताऊँ।'

उन्होंने उत्सुकता से पूछा--'अवश्य बताइये ज्योतिषी जी ! मैं भरसक आपकी आज्ञा-पालन का यत्न करूँगा।'

'तो सुनो' ज्योतिषी ने आँखें नचाते हुए कहा--'आपके यहाँ महोत्कट नामक कोई मुनिकुमार आया है, इसे यहाँ से हटा देने से ही राज्य में कुशल और शान्ति हो सकती है। क्योंकि उसका आगमन आपके राज्य के लिए शुभ नहीं है। योग बताता है कि किसी दिन यही तुम्हारे राज्य को छीन लेगा।'

काशीनरेश ज्योतिषी की बात से सहमत नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा--'दैवज्ञ ! मैं तो समझता हूँ कि आपके गणित में कहीं भूल है, अन्यथा आपने जो कहा है, वह मुझे तो असम्भव प्रतीत होता है। आप अभी महोत्कट के स्वभाव एवं शक्ति से अपरिचित हैं। देखिए, जबसे वे काशी में आये हैं तभी से यहाँ का ऐश्वर्य बढ़ा है और प्रजा भी बहुत सुखी है। उन्होंने अनेक महाबली असुरों को मारकर मेरी और प्रजा-जनों की जो रक्षा की है, उसके उस उपकार को हम कैसे भूल सकते हैं ?

'राजन् !' ज्योतिषी ने समझाने की चेष्टा की--'संसार परिवर्तनशील है, मनुष्यों के विचार भी क्षण-क्षण में बदल जाते हैं। आज जो व्यक्ति हमें अपने प्रति उपकारी प्रतीत हो रहा है कल वही हमारा अपकार कर सकता है। उसपर भी एक योग भी तो ऐसा ही पड़ा है कि आपको उससे विश्वासघात का अवसर आ सकता है।'

महाराज बोले--'ज्योतिषी जी ! महोत्कट को इसी राज्य की इच्छा क्यों होगी ? जबकि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि की

भी रचना कर सकते हैं। इन्द्र को अनिन्द्र तथा असमर्थ को समर्थ बनाना भी उनके द्वारा सम्भव है। यह तो सभी जानते हैं कि उन्होंने दुष्टता करने वाले अनेकों महाबली असुरों का संहार कर डाला और असुरों द्वारा नगरी के ध्वस्त भाग का पुनर्निर्माण भी बात-की-बात में करा दिया, तब यह क्या नहीं कर सकते?'

काशिराज की बात से असहमत ज्योतिषी क्रोधावेश में भर गया। उसने सँभल कर कहा-'महाराज! मैंने जो कुछ कहा है, वह सब तुम्हारे ही हित में है, वस्तुतः जो भविष्य निश्चित है, वह टले भी कैसे? इसलिए आप मेरे गणित में सन्देह करते हो। अच्छा, आप उस मुनिकुमार को तो यहाँ बुलाइये जरा उसकी भी रेखाएँ देख लूँ।'

महाराज ने महोत्कट को बुलाने के लिए एक अमात्य को भेजा और उन्हें सादर लिवा भी लाया। उन्होंने एक उच्च आसन पर ज्योतिषी को बैठा देखकर उसे प्रणाम किया और फिर महाराज के निकट जाकर बैठ गये। ज्योतिषी ने उनका शारीरिक बल का अनुमान कर तथा विलक्षण आकृति देखकर सहज ही अनुमान लगा लिया कि सामना कड़ा है और इस कारण वह कुछ भयभीत भी हुआ। तभी काशीनरेश ने कहा-'दैवज्ञ-श्रेष्ठ! आज तक जो भी असुर इनके सामने आया वह चाहे कितना भी बलवान और मायावी रहा, उसे अपने प्राणों की आहुति देनी ही पड़ी। इस प्रकार इनमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार के असीमित बल विद्यमान हैं।'

राजा की बात सुनकर ज्योतिषी के भय में और वृद्धि हुई, फिर भी वह अपने आन्तरिक भाव छिपाता हुआ बोला-'मुनिकुमार! जरा अपना हाथ तो दिखला मुझे।'

महोत्कट हँसे, बोले-'क्या करेंगे हाथ देखकर? मुझे अपना शुभाशुभ जानने की इच्छा ही नहीं है, तो हाथ क्या दिखाऊँ?'

ज्योतिषी बोला—'राजन्! देख लो, मुझे यह हाथ इसीलिए नहीं दिखा रहा है कि सब भेद खुल जायेगा। अच्छा! न दिखा हाथ, मैं चेहरा देखकर ही सब फल स्पष्ट बता सकता हूँ।'

कश्यपपुत्र पुनः हँसकर बोले—'अच्छा, बताइए। इसी से तो आपके ज्योतिष-ज्ञान की परीक्षा होगी।'

ज्योतिषी भयाभूत और क्रोधित था ही, अब अपना आपा भी छोड़ चुका था। वह प्रलाप करने लगा—'बालक! अब तेरा चार दिन का ही जीवन शेष है, फिर तो कुएँ में गिरेगा ही। यदि कुएँ से बचा तो समुद्र में डूबेगा और उससे भी बच गया तो किसी पर्वत-शिखर के टूटने से उसके नीचे दब मरेगा।'

महोत्कट अट्टहास कर उठे, इस प्रकार वह और भी बौखलाया—'तुझे कालपुरुष भक्षण कर लेगा। यह मेरा निश्चित भविष्य है। यदि मृत्यु से बचना चाहता है तो चल मेरे साथ चार दिन तक मेरे साथ वन में रहकर फिर यहाँ लौट आना। मैं स्वयं ही तुझे यहाँ पहुँचा दूँगा।'

विनायक ने व्यंग्य किया—'पर तुम्हारे साथ वन में रहने से मेरी निश्चित मृत्यु कैसे टलेगी? क्या कालपुरुष तुम्हारा आज्ञाकारी सेवक है, जो मुझे मारेगा नहीं?'

वह बोला—'इन बातों को तू क्या जाने बच्चे! अरे, हम में साधना का इतना बल है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी सेवा में खड़े रहते हैं, तब काल-पुरुषों की तो बात ही क्या है?'

ज्योतिषी के मुख का रंग बार-बार बदल रहा था। उसके बदलते हुए भावों से महोत्कट पहिले ही उसकी वास्तविकता जान चुके थे। उन्होंने तुरन्त ही उसके कठोर वक्षःस्थल पर मुद्रिकास्त्र का प्रयोग किया। बस, फिर क्या था? अविलम्ब उसका हृदय फट गया और खून का स्रोत-सा फूट निकला। इस प्रकार ब्राह्मण ज्योतिषी के रूप में आये हुए उस

क्रूरतम असुर का प्राणान्त हो गया। तब उसका प्रकट रूप देखकर सारी प्रजा आश्चर्यचकित हो गई। राजा ने विनायक का पूजन कर चरणों में प्रणाम किया और विप्रों को बहुत-सा दान दिया।

असुर कूपक और कन्दर की मृत्यु

नरान्तक को विप्र रूपधारी असुर के मरने का भी संवाद मिल गया, उससे वह और भी तिलमिला गया और उसने कूपक और कन्दर नामक दो महाबली असुर-सेनापतियों को बुलाया। उन्होंने आकर असुरराज को प्रणाम किया और आदेश की प्रतीक्षा में एक ओर खड़े हो गए।

उन्हें देखकर नरान्तक बोला—'आ गये तुम दोनों? मुझे तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य पर भरोसा है। अभी अपनी-अपनी सेनाओं के सहित काशी पहुँचो और काशिराज तथा उसके यहाँ पूजित ऋषिकुमार को पकड़ लाओ अथवा मार डालो।' दोनों बोले—'अहा! यह तो चुटकियों का कार्य है सम्राट्! हम अभी जाकर दोनों को ले आते हैं। यदि आज्ञा हो तो काशीनगर का भी विध्वंस कर डालें!'

नरान्तक ने धीरे से कहा—'सब उतने से ही कार्य चल जायेगा। परन्तु ध्यान रखना कश्यप-पुत्र बहुत धूर्त है, कहीं वह तुमको भी मूर्ख न बना दे।'

उन्होंने कहा—'नहीं स्वामिन्! वह कैसे भी धूर्त क्यों न हो, हमसे बचकर कहाँ जाएगा?' इस प्रकार आश्वासन देकर और आसुरी सेना की दो बड़ी टुकड़ियाँ लेकर वे दोनों प्रबल प्रतापी असुर काशी नगरी की ओर चल पड़े। महोत्कट तो यह समझ ही रहे थे कि नरान्तक का अत्यन्त कुटिल असुर मारा गया है, इसलिए वह चैन से नहीं बैठेगा।

कूपक और कंदर ने सेनाएँ तो नगरी के बाहर लगा दीं और स्वयं भीतर जा पहुँचे। कूपक तो राजभवन के आँगन में कूप और कुन्दर ने

बालक का वेश धारण किया। उसने खेल के बहाने वहाँ के बहुत से बालक इकट्ठे कर लिए। विनायक भी वहाँ आ गये, जिन्हें देखकर असुरों ने समझ लिया कि बस अब काम बन गया। इसे मारकर काशिराज को मार डालेंगे। परन्तु उनका स्वप्न भंग हो गया। महोत्कट ने खेल-खेल में ही दोनों का वध कर दिया और फिर वह अफवाह उड़ा दी कि कूपक ने ही कन्दर को मार डाला। किसी बात पर कुछ विवाद हुआ और तभी परस्पर युद्ध करने लगे।

यह चर्चा सुनते ही कन्दर की सेना ने कूपक की सेना पर आक्रमण कर दिया। इस प्रकार दोनों आसुरी सेनाएँ महोत्कट की कूटनीति से मारी गईं।

८. अष्टम अध्याय

तीन असुरों का काशी पर आक्रमण

कूपक और कन्दर के मरण-संवाद ने नरान्तक को एक बार तो व्याकुल कर दिया और वह सोचने लगा कि 'यह सब क्या हो रहा है ? क्या सभी असुर वीर इतने निष्क्रिय हैं कि उस छोटे से दुर्बल बालक सहित राजा को हरा नहीं सकते ?'

बहुत विचार करने के पश्चात् उसने अन्धकासुर, अम्भकासुर और तुंगासुर नामक अपने तीन प्रचण्ड वीरों को बुलाकर कहा—'वीरो ! इन्द्रादि समस्त देवगण तुमसे हार कर भयभीत हुए भागे-भागे फिरते हैं, तब अन्य कौन तुम्हारा सामना कर सकता है ? इसलिए अपनी-अपनी सेनाओं सहित जाकर काशी नगरी को घेर लो और अदिति-पुत्र महोत्कट एवं काशीनरेश दोनों को जीवित या मृत अवस्था में यहाँ ले आओ।'

तीनों ने विश्वास दिलाने के लिए प्रतिज्ञा की—'जैसे ही महोत्कट दिखाई देगा, वैसे ही हम उसको मार डालेंगे। काशिराज को पकड़ लेंगे और काशी को विध्वंस कर गंगा में डुबो देंगे। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि इन कार्यों को पूर्ण किये बिना वापस नहीं लौटेंगे।' यह कहकर तीनों ने सेनाएँ एकत्र कीं और वहाँ जाकर काशी नगरी को चारों ओर से घेर लिया तथा घोर गर्जना की जिसे सुनकर सभी नगर-निवासी आतंकित हो गए। राजभवन में भी चिन्ता की लहर दौड़ गई। काशीनरेश नगरी के द्वारों की सुरक्षा-व्यवस्था स्वयं घूम-घूमकर देखने लगे।

अन्धकासुर ने अपनी माया फैलाई, जिससे सूर्य पर एक प्रकार का आवरण छा जाने के कारण सर्वत्र घोर अन्धकार छा गया। जो द्विजगण स्नान, ध्यान, सन्ध्यावन्दनादि कर्मों में लगे थे, वे सहसा रात्रि का घोर अन्धकार देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। वेदपाठी, कथावाचक, अनुष्ठाता आदि भी दिन में ही रात्रि होने की अभूतपूर्व घटना देखकर अत्यंत आश्चर्य मानने लगे। गृहस्थ स्त्री-पुरुषों में भी व्याकुलता छा गई तथा कार्य रुकने के सर्वत्र दीपक जल उठे।

सभी नगरवासी अभी सोच ही रहे थे कि सहसा ही दिन में रात्रि हो गई? तभी अम्भकासुर ने माया फैलाई, जिससे भीषण झंझावात उत्पन्न हो गए। इस कारण सुदृढ़ वृक्ष भी समूल उखड़कर धराशायी हो गये। पर्वत-शिखर भी धरती पर आ-आकर गिरने लगे। अट्टालिकाओं के ऊपरी भाग टूटकर ध्वस्त हो गए। इससे सर्वत्र अत्यन्त भय और आशंका का साम्राज्य छा गया। परन्तु असुरों को तो इतने से भी सन्तोष न था। उनकी माया से आकाश में दल के दल घोर बादल छा गये। बिजली कड़कने-दमकने लगी और फिर कुछ ही देर में बूँदें आईं, जिन्होंने मूसलाधार वर्षा का रूप धारण कर लिया।'

घोर अन्धकार, भयंकर अन्धड़ और तिस पर भी मूसलाधार वर्षा ने काशी के नागरिकों को अधीर कर दिया। क्योंकि उससे वन-उपवन ही

नष्ट नहीं हुए, अनेकों घर भी ढह गये और उनके नीचे मनुष्य दब गये। इस कारण हाय-हाय की पुकार और करुण-क्रन्दन भी सुनाई देने लगा।

वर्षा रुकने का नाम ही न लेती थी, वह उत्तरोत्तर तीव्रतर होती जा रही थी। धन, जन एवं पशु आदि का विनाश होता जा रहा था। प्रथम तो अन्धकार के कारण कुछ दिखता ही नहीं था और कभी किसी दीपक के बुझते से बचे रहने के कारण उसकी टिमटिमाहट में दिखाई भी देता तो चारों ओर जल ही जल। लोगों के हृदय काँप गये। उस महाविनाश से बचने का उपाय कहीं भी दिखाई न देता था।

राजभवन की दशा भी कुछ बहुत अच्छी नहीं थी। वहाँ भी चारों ओर जल भरा था। महाराज चिन्तित थे कि 'यह क्या हुआ ? इस विपत्ति से किस प्रकार छुटकारा मिले ?' उन्होंने उस समय विनायक की ही शरण ली, जिन्होंने आश्वासन दिया-'राजन्! घबराओ मत, यह क्षणिक विपत्ति शीघ्र ही दूर हुई जाती है।'

महोत्कट ने भी अपनी माया का विस्तार किया। तुरन्त ही एक लता-गुल्मादि से युक्त अत्यन्त ऊँचा एक ऐसा महावट उत्पन्न हो गया, जिसकी शाखाएँ सौ योजन तक फैल गईं। तभी एक अत्यन्त विशाल पक्षी प्रकट हुआ जिसके पंख दूर-दूर तक फैले थे तथा मस्तक आकाश को छू रहा था।'

मायामय पक्षी का प्राकट्य

वह पक्षी, और कोई नहीं, स्वयं भगवान् विनायकदेव ही थे, जिन्होंने अपनी माया के प्रभाव से अन्धकासुर की माया नष्ट कर दी जिससे सूर्य भगवान् पूर्ववत् प्रकट हो गये। तब उन्होंने जल में एक डुबकी लगाई, जिससे अम्भकासुर की माया नष्ट हो गई और समस्त जल सूख गया। इस प्रकार अन्धक और अम्भक नामधारी दोनों असुर शक्तिहीन हो गये।

अभी तुंगासुर में शक्ति शेष थी, उसने पक्षी रूप विनायक पर मूसलाधार वृष्टि की तथा ब्राह्मणों के आश्रमों पर शिलाखण्ड बरसाने लगा। यह देखकर वह अद्भुत एवं विशाल पक्षिराज अपने पंख फैलाकर तीव्र वेग से आकाश में उड़ते हुए तुंगासुर के ऊपर मँडराने लगे। अन्त में उन्होंने उसे अपनी चोंचों के मध्य दबा लिया और आकाश में घुमाने लगे, इससे उसका बल क्षीण होने लगा।

अब उन्होंने नीचे आकर अन्धक और अम्भक को अपने पंजों से पकड़ लिया और पुनः आकाश में पहुँचकर चक्कर काटने लगे। अब तो तीनों असुर भगवान् भास्कर की अग्निमयी रश्मियों के भीषण ताप से जल गये तभी पक्षिराज ने उन्हें आकाश से ही छोड़ दिया। इस कारण वे सूर्य की गर्मी से दग्ध एवं मूर्च्छित हुए तीनों असुर धरती पर आ गिरे। उनके गिरने का भयंकर शब्द हुआ और उनके शरीर के चूर्णित हुए कण चारों ओर बिखर गये।

उनके साथ की आई सेना तो स्वतः ही छिन्न-भिन्न हो गई। अब कोई संकट शेष नहीं था। काशिराज और उनके प्रजाजनों ने चैन की साँस ली। सभी नागरिक अत्यन्त हर्षित हुए भगवान् विनायकदेव की जय बोल रहे थे।

सभी ने उस विशाल वट वृक्ष और महापक्षी के दर्शन किए थे। किन्तु, असुरों के मारे जाने पर न तो वह वट ही दिखाई दिया और न वह विशालकाय पक्षी ही। सभी आश्चर्य कर रहे थे कि जो वस्तु कुछ समय पूर्व विद्यमान थी, वह अब कहाँ चली गई?

काशिराज ने विनायक भगवान् का षोड़शोपचारों से पुनः पूजन किया और स्तुति करके ब्राह्मणों को इच्छित धनादि का दान किया। शान्ति होम के पश्चात् गोदानादि भी किया तथा जब सभी लोग वहाँ से यशोगान करते हुए चले गये तब राजा ने महोत्कट को अपने पास बैठाकर सब प्रकार के व्यंजनों से उन्हें भोजन कराया और स्वयं भी किया।

दैत्य-माता द्वारा बदले की कार्रवाई

पक्षिराज द्वारा काटा गया अम्भकासुर का सिर तीव्र वेग से उसी के अपने भवन में गिरा। दैत्यराज की माता भ्रामरी उस समय सो रही थी। दासी ने उसे जगाकर कहा—'आपके पुत्र का कटा हुआ सिर यहाँ आकर पड़ा है।'

भ्रामरी ने सिर को उठाकर गोद में रख लिया और अनेक प्रकार के विलाप करती हुई रोने लगी—

"यस्य क्ष्वेडितमात्रेण रोदसी कम्पते भृशम्।
स कथं पतितः कुत्र निहतः केन वा सुतः॥
यं दृष्ट्वा कम्पितः कालः स कथं निधनं गतः॥"

'जिसके क्रोध मात्र से धरती-आकाश काँपते थे और जिसे देखते ही काल भी थर-थर काँपने लगता था, मेरे ऐसे वीर पुत्र को किसने, कब, किस प्रकार से मार डाला?' उसको अत्यधिक व्याकुल देखकर दासी ने सान्त्वना देने का बहुत प्रयत्न किया अन्त में बोली—'अब इस प्रकार रोने से कुछ होने वाला नहीं है, इसलिए अब इसका संस्कार करो और फिर विनायक के साथ प्रतिशोध लो।'

भ्रामरी को उसका परामर्श उचित प्रतीत हुआ और वह तुरन्त उठती हुई बोली—'सखी! तू मेरे पुत्र के सिर को अभी तो तैल से सुरक्षित रखने की व्यवस्था कर। मैं काशी जाकर विनायक का सिर काटकर लाती हूँ। तब उसके सिर के साथ ही इसका भी दाह-संस्कार कर दूँगी।'

अपने भवन से चलती हुई भ्रामरी ने सोचा कि वहाँ पहुँचकर विनायक को मारने में भी सफल किस प्रकार रहूँगी? तभी उसे कुछ उपाय सूझ पड़ा और देवमाता अदिति का रूप बना कर काशी नगरी में

पहुँची। राजभवन के द्वार पर उसने कहलवाया–'देवमाता अदिति आई हैं।'

महारानी ने सुना तो दौड़ी-दौड़ी द्वार पर आई और देवमाता के चरणों में प्रणाम कर भीतर लिवा ले गई। उसका अनेक प्रकार से स्वागत-सत्कार कर स्वर्ण सिंहासन पर बैठने का निवेदन किया। भ्रामरी अपनी आन्तरिक व्यथा छिपाये हुए ऊपर से प्रसन्नता का भाव बनाये हुए थी। उसने पूछा–'मेरा पुत्र महोत्कट विनायक कहाँ है?'

महारानी ने कहा–'बालकों के साथ कहीं खेलने चले गए होंगे, अभी बुलवाती हूँ।'

आदेश पाकर दासी उन्हें खोजने गई। इतने में ही देवमाता अदिति का आगमन हुआ सुनकर काशीनरेश वहाँ आ गए और चरणों में मस्तक रख, प्रणाम करने के पश्चात् बोले–'साक्षात् जगज्जननी देवमाता अदिति के यहाँ पधारने से मेरा यह घर, राज्य, वंश एवं पितर भी धन्य हो गए। आपकी महिमा का गान करने में मैं अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। जिस माता के देवराज इन्द्र एवं विनायक जैसे महापराक्रमी पुत्र हों, वह तो स्वयं ही महान् महिमामयी हैं।'

अपनी उद्विग्नता दबाते हुए अदिति रूपिणी भ्रामरी ने पूछा–'राजन्! मेरा पुत्र विनायक तुम्हारे यहाँ रहकर कुछ उत्पात तो नहीं कर बैठता? क्योंकि वह बड़ा चंचल है।'

महाराज ने निवेदन किया–'नहीं मातेश्वरी! यहाँ रहते हुए उन्होंने उत्पात नहीं, उपकार ही किया है। इस राज्य पर समय-समय पर आने वाली विपत्तियों को उन्होंने बात की बात में ही दूर कर दिया। कुछ ही दिनों में अनेकानेक दैत्यों को मार-मारकर भगा दिया। अन्धक, तुंग और अत्यन्त क्रूर एवं महाबली अम्भकासुर को भी उन्होंने मार डाला है।'

अम्भक के मारने की बात सुनकर भ्रामरी के नेत्र लाल हो गए और वह क्रोध के कारण काँपने लगी। तभी उसे अपने अदिति रूप का ध्यान

आया और अपनी स्थिति को सँभालने की दृष्टि से अभिनय करती हुई बोली–'उन दैत्यों को यह भी भय न लगा कि मेरा महान् शक्तिशाली पुत्र महोत्कट यहाँ विद्यमान है ? अवश्य ही इन समस्त दैत्यों को दण्डित करना होगा। मेरे पुत्र को यहाँ रहते बहुत दिन हो गए। मैं उसके वियोग से भ्रांत चित्त हो रही हूँ और अपने साथ ले जाना चाहती हूँ।'

काशिराज बोले–'देवजननि ! दैत्यों के आक्रमण के कारण युवराज के विवाह की तिथि हटानी पड़ी थी। अब शीघ्र ही उसका विवाह होने को है। इसलिए कृपाकर इस अवसर पर आप भी यहीं रहने का कष्ट करें। विवाह-कार्य सम्पन्न होते ही मैं आप दोनों को स्वयं पहुँचा आऊँगा।'

दैत्य की माता भ्रामरी की मृत्यु

राजा यह कह ही रहे थे, तभी विनायक आ पहुँचे। छद्‌म-वेश धारिणी भ्रामरी ने उन्हें हृदय से लगा लिया और फिर गोद में बिठाकर लाड़ लड़ाने लगी। उसकी चेष्टाओं से विनायक को कुछ अपूर्व-सा लगा। फिर भी वे मुस्काते हुए चुपचाप बैठे रहे।

भ्रामरी बोली–'बेटा ! यह समय तो तेरे भोजन का है। खेलने में लगता है तो भूख का भी ध्यान नहीं रखता। ले, यह मोदक खा ले।'

विनायक ने शीघ्रता से मोदक को खाते हुए अपने भूखे होने का प्रदर्शन किया। इसलिए उसने उन्हें दूसरा मोदक दिया। उसे खाते समय विनायक को पता चल गया कि मोदक में तीव्र विष मिला है। अतएव उसकी गोद में बैठे हुए उन्होंने अपनी भार वृद्धि की।

भ्रामरी को लगा कि वह दबी जा रही है। भार के कारण वह व्याकुल हो उठी, किन्तु विनायक ने माता के प्रति अत्यन्त स्नेह-भाव का प्रदर्शन किया तथा उनसे और भी अधिक लिपट गए।

उनकी जकड़ में फँसी हुई भ्रामरी का शरीर टूटने लगा, प्राण तड़पने लगे। उसके मुख से बरबस ही निकला–'अरे, यह क्या करता है ? इस प्रकार तो मैं मर ही जाऊँगी।'

परन्तु, विनायक ने उन्हें छोड़ा नहीं। उन्हें उसकी छटपटाहट में ही आनन्द आ रहा था। राक्षसी बेबस और पीड़ित थी, उसकी व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थी। महाराज और महारानी ने उसका उत्पीड़न देखकर विनायक को हटाना चाहा और अन्त में उन्हें खींचते हुए बोले–'अदितिकुमार ! आपके भार को सहने में यह असमर्थ हैं, इसलिए उठो। अपनी माता की प्राण-रक्षा का तो ध्यान रखो।'

किन्तु, विनायक उठे नहीं, उनकी जकड़ बढ़ती गई। भ्रामरी पीड़ा के कारण चीत्कार कर उठी। उसकी आँखें फट गईं, जीभ बाहर निकल आई। लोगों ने देखा कि भ्रामरी का अदिति रूप अदृश्य होता जा रहा है और उसका स्थान ले रही है राक्षसी की भयंकर आकृति। कुछ देर में ही उसके प्राणपखेरू उड़ गये।

अब विनायक उठ खड़े हुए। सभी समझ गये कि अदिति का छद्मवेश बनाकर यह राक्षसी विनायकदेव को मारने के लिए आई थी। इससे विनायक की अद्भुत सामर्थ्य और विलक्षण ज्ञान देखकर सभी आश्चर्यचकित हो उनकी स्तुति करने लगे–

"नमस्ते ब्रह्मरूपाय नमस्ते रुद्ररूपिणे।
मोक्षहेतो नमस्तुभ्यं नमो विघ्नहराय ते।
नमोऽभक्तविनाशाय नमो भक्तप्रियाय च।
सर्वोत्पातविघाताय नमो लीलास्वरूपिणे।
सर्वान्तर्यामिने तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय ते नमः॥"

❀❀❀

९. नवम अध्याय

विनायक का अभिनन्दन-पूजन

काशी नगरी पर आए दिन दैत्यों के आक्रमण होने और विनायक द्वारा उनका संहार किए जाने से समस्त प्रजाजनों, ऋषि-मुनियों, राज-परिवारियों, विशिष्टजनों आदि को यह विश्वास हो चला था कि अवश्य ही इन भगवान् गजानन ने असुरों और दुष्कर्मियों को नष्ट करने के लिए अवतार धारण किया है। इसलिए सभी का यह विचार हुआ कि इनका यथा विधान अभिनन्दन एवं पूजन किया जाये। अतएव एक दिन अनेक प्रजाजन सूर्योदय से पूर्व ही राजभवन के द्वार पर जा पहुँचे।

काशीनरेश ने उनका सत्कार करते हुए पूछा—'आप लोगों ने किसलिए कष्ट किया है ? जो कार्य हो, निःसंकोच बताइये। क्योंकि प्रजा के कष्टों को सुनना और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना राजा का परम धर्म है। यदि कोई कष्ट न हो तो भी जो मन्तव्य हो, उसे स्पष्ट कीजिए।'

प्रजाजनों ने विनम्र निवेदन किया—'राजन्! अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि कुछ दिनों से भगवान् गजानन यहाँ विराजमान हैं, जिससे इस पुरी पर आने वाले समस्त संकट शीघ्र दूर हो जाते हैं। लगता है कि इनका आगमन काशी निवासियों की विपत्तियाँ दूर करने के लिए ही हुआ है। इसलिए उनकी पूजा का सामूहिक रूप से अवसर मिल सके तो यह हमारा परम सौभाग्य होगा। हमें आशा है कि यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार की जायेगी।'

महाराज के स्वीकार कर लेने पर उनका हार्दिक अभिनन्दन किया गया। तदुपरान्त धार्मिक और निर्धन सभी यह चाहने लगे कि विनायक भगवान् हमारे घर पधार कर भोजन करें। काशी में निवास करने वाले एक वेद-शास्त्रों के ज्ञाता शुक्ल शर्मा नामक तपस्वी ब्राह्मण थे। उनकी

पतिव्रता पत्नी का नाम विद्रुमा था। यह ब्राह्मण अत्यन्त निर्धन थे। जो कुछ दैवेच्छा से स्वतः प्राप्त हो जाता, उसी में जीवनयापन किया करते थे।

शुक्ल शर्मा ने विनायक से आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह किया। भगवान् तो किसी के ऐश्वर्य के भूखे नहीं, भावना के भूखे हैं। उन विद्रुमा ने भिक्षा में प्राप्त रूखे-सूखे समस्त अन्न को एक साथ पीसकर पिष्ठी-सी बनाकर पका डाली तथा कुछ चावलों को पानी के साथ पकाकर पतला भात बना लिया था। उसे शंका थी कि क्या भगवान् विनायक उसका अस्वादु भोजन अंगीकार करेंगे ? इसलिए यह बहुत चिन्तातुर थी।

विनायकदेव पधारे। विद्रुमा ने उठकर भावात्मक ढंग से उनकी स्तुति की, किन्तु लज्जा के कारण भोजन नहीं परोसा। भगवान् से भला क्या छिपा था ? उन्होंने स्वयं कहा–'माता ! लाओ, तुमने जो कुछ बनाया है वह खाने को दो।'

'माता' के सम्बोधन ने विद्रुमा को निहाल कर दिया। उसने ही पात्रों में रखी पिष्ठी और पतले भात को सामने ला रखा। विनायक ने उन्हें बड़े स्वाद से खाया और बोले–'वाह, कैसा अद्भुत स्वाद था, इतना सुस्वादु भोजन तो मैंने आज तक नहीं किया।' भोजन के पश्चात् उन्होंने जल से हाथ धोकर कुल्ला किया और फिर बोले–'निष्पाप विप्रवर ! मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। अतएव इच्छित वर माँग लो।'

शुक्ल शर्मा ने निवेदन किया–'प्रभो ! आपने सम्पन्न लोगों के आग्रह की उपेक्षा करके मुझ रंक को दर्शन देकर कृतार्थ किया है, यह मेरा परम सौभाग्य ही है। हे नाथ ! मैं आपकी अनन्य भक्ति माँगता हूँ। अतः कृपा कर वही मुझे दीजिए।' 'ऐसा ही हो' कहकर भगवान् विनायक वहाँ से चल दिए। शुक्ल-दम्पती ने उन्हें पहुँचाने के लिए बाहर तक साथ आने की चेष्टा की तो वे उनकी द्रुत गति का साथ न दे सके। उन्हें लगा कि भगवान् विनायकदेव अन्तर्धान हो गए हैं।

उस दिन वे भगवान् विनायक का ही स्मरण करते रहे। रात्रि में भूखे ही सो गए, किन्तु प्रातःकाल उठे तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही। उनका पुराना टूटा-फूटा घर न जाने कहाँ गया था। आँख खुलते ही उन्होंने स्वयं को एक अत्यन्त वैभवशाली भवन में पाया। वे सोचने लगे कि हम कब, कैसे यहाँ आ गये? तभी कुछ सेवकों ने वहाँ आकर कहा–'हम सब आपके सेवक हैं, आज्ञा कीजिए क्या करें?'

शुक्ल शर्मा समझ गए कि यह सब विनायकदेव की ही कृपा है, अन्यथा मेरी यह जीर्ण-शीर्ण कुटी इन्द्र भवन के समान कैसे हो जाती तथा यह सेवक-सेविकाएँ कहाँ से आ जाते? उन सर्वज्ञ प्रभु ने प्रत्यक्ष में तो कुछ नहीं दिया, किन्तु परोक्ष रूप में हमें अतुलनीय वैभव प्रदान कर दिया। 'धन्य हो प्रभो! आपकी कृपा का वर्णन करने के लिए हमारे पास शब्द भी तो नहीं हैं। आपके चरणों में हमारा बारम्बार नमस्कार है।' ऐसा कहते-कहते शुक्ल दम्पती भाव-विभोर हो गए और उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही।

काशीनगरी पर नरान्तक का आक्रमण

नरान्तक महापराक्रमी तो था ही, कूटनीति में भी अत्यन्त कुशल था। उसने शूर और चपल नामक दो गुप्तचर काशी में भेज रखे थे, जो केवल गुप्तचरी ही नहीं करते थे, विनायकदेव को मार डालने के अवसर की भी ताक में रहते थे। वे वहाँ रहते हुए नागरिकों में पूर्ण रूप से घुल-मिल गये थे, इसलिए उनके प्रति किसी प्रकार का सन्देह भी नहीं होता था।

एक दिन विनायकदेव पालकी में बैठे हुए राजभवन की ओर जा रहे थे। उस समय पालकी उठाने वाले दो सेवकों के अतिरिक्त अन्य किसी को न देखकर शूर और चपल ने परस्पर परामर्श किया कि विनायक को मारने के लिए यह अवसर अधिक उपयुक्त है। इसलिए वे दोनों घोर गर्जन करते हुए पालकी पर टूट पड़े।

सेवकों के हाथ से पालकी के हत्थे छूट गये और पालकी धरती पर जा गिरी। सेवक भय से काँपते-सिकुड़ते एक ओर खड़े हो गए। उन्होंने समझ लिया कि आज प्राणों की कुशल नहीं है।

किन्तु विनायकदेव पहले से ही सावधान थे। उन्होंने पालकी से उठकर दोनों को हाथों से पकड़ लिया और चक्र के समान घुमाने लगे। राक्षसों को उनके बल का क्या पता था ? यदि उन्हें अपनी पराभव की कल्पना होती तो वे ऐसा कदापि न करते, परन्तु अब तो उन्हें अपने ही प्राणों पर संकट दिखाई देने लगा। इसलिए 'त्राहि माम्-त्राहि माम्' की पुकार करने लगे।

विनायक ने उनकी याचना सुनी तो दयार्द्र हो उठे। उन्हें अपनी पकड़ से छोड़ते हुए बोले-'तुम कौन हो ? अपना यथार्थ परिचय दो, अन्यथा प्राणदान नहीं मिलेगा।'

उन दोनों ने कहा-'प्रभो ! हम नरान्तक के गुप्तचर हैं, हमें आपको मार डालने के लिए ही यहाँ रखा गया था। अब हम यहाँ नहीं रहेंगे, इसलिए हमें मारिये मत।'

प्रजागणों के कहने पर भी उन्होंने राक्षसों को नहीं मारा। बोले-'मैं इन्हें अभय दे चुका हूँ, इसलिए मारूँगा नहीं। हाँ, इन्हें तुरन्त ही नगरी छोड़कर चले जाना होगा।'

वे दोनों तुरन्त ही चल दिये। नरान्तक की सभा में जाकर उन्होंने अभिवादन किया और फिर विनायक पर अपने आक्रमण की विफलता का समाचार यथावत् सुना दिया और अन्त में बोले-'महाराज ! उस ऋषिकुमार को कोई जीत नहीं सकता, इसलिए उससे शत्रुता त्याग देने में ही भलाई है।'

परन्तु नरान्तक को तो अपने बल का गर्व था। उसने गुप्तचरों की बात नहीं मानी और बोला-'सेनापति ! चतुरंगिणी सेना लेकर काशी पर

आक्रमण कर दो । मैं स्वयं ही तुम्हारे साथ चलूँगा । फिर देखता हूँ कि वह कैसे अपने प्राण बचाता है ?'

आदेश मिलते ही तैयारी आरम्भ हो गई । दैत्यों और वीरों में रणोन्माद छा गया । दिगन्तव्यापी युद्ध-वाद्य बजने लगे । जब गजाश्वारूढ़ सेनापतियों, महारथियों, पदातियों की विशाल सेना एकत्र हो गई तब प्रस्थान का डङ्का बज उठा । समूची रणवाहिनी काशी की ओर द्रुतगति से चल दी ।

काशिराज को दूत के द्वारा दैत्यसेना की चढ़ाई का समाचार मिला । वे उस समय भोजन करने बैठे ही थे, कि शत्रु के आक्रमण की बात सुनकर अन्न का स्पर्श मात्र करके तुरन्त उठ खड़े हुए और प्रधान सेनाध्यक्ष को बुलाकर बोले—तुरन्त सेना को राज्य सीमा पर भेजो, जिससे कि बढ़ता ही चला न आवे । मैं भी शीघ्र ही आ रहा हूँ ।'

महाराज ने तुरन्त ही वीरवेश धारण किया और फिर आज्ञा लेने के लिए विनायक के पास पहुँचे । विनायक ने कहा—'राजन् ! वीरतापूर्वक शत्रु का सामना करो, तुम्हारा कल्याण होगा ।'

'जय विनायक !' कहते हुए काशिराज अश्व पर सवार होकर रणक्षेत्र की ओर बढ़े । उनकी सेना भी तैयार होकर वेगपूर्वक आगे बढ़ी । तभी गुप्तचर ने समाचार दिया—'महाराज ! दैत्यसेना असंख्य है, वह समुद्र के समान अत्यंत वेग से उमड़ती आ रही है । अपने सीमित साधनों और अल्प सैनिकों के द्वारा उनका सामना करना किसी प्रकार सम्भव नहीं है । वही स्थिति है महाराज ! जो सूर्य के सामने खद्योतों की होती है । इसलिए राक्षसों से सन्धि कर लेने में ही भलाई है ।'

काशीनरेश को चिन्ता

महाराज ने अपने अमात्यों से परामर्श किया तो एक वृद्ध अनुभवी अमात्य बोला—'राजन् ! स्थिति बहुत ही शोचनीय है । वे लोग टिड्डी

दलों के समान बढ़े चले आ रहे हैं तो हमसब काल के गाल में चले जायेंगे और हमारा राज्य शत्रुओं की विलास-भूमि बन जायेगा।'

काशिराज द्वारा उपाय पूछने पर उसने पुनः कहा–'महाराज! हमें सन्धि का प्रस्ताव लेकर अपने प्रतिनिधि भेजने चाहिए। प्रबल शत्रु से निर्बल का युद्ध कितनी देर चलेगा। नीति-वचन है, यदि शत्रु को अनुकूल बनाना आवश्यक हो तो उसके साथ सहभोजन, प्रेम, सम्भाषण, कन्यादान, वस्त्र-दान, धनदान, नमस्कार एवं स्तुति आदि में भी संकोच नहीं करना चाहिए। इसलिए यदि दैत्यराज विनायक को प्राप्त करके भी प्रसन्न होता तो उन्हें भी दे देना अनुचित नहीं होगा।'

अन्य सभी अमात्यों, सेनाध्यक्षों आदि ने वृद्ध अमात्य की उक्त बात का ही अनुमोदन किया तथा सभी कहने लगे–'महाराज! जैसे भी दैत्यराज प्रसन्न हो सकें, वह कार्य तुरन्त कीजिए।'

अभी यह विचार चल ही रहा था कि काशिराज की सेना का घेरा तोड़कर दैत्यसेना ने तीव्रतम आक्रमण कर दिया। उन्होंने कहीं आग लगाई, कहीं लूटमार की और कहीं स्त्रियों का अपहरण आरम्भ कर दिया। सर्वत्र विपत्ति ही दृष्टिगोचर हो रही थी। चीत्कार के कारण आकाश भी गुंजायमान हो गया। अनेक महिलाओं का सतीत्व नष्ट किया गया और अनेक महिलाएँ अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्मघात करने लगीं।

दैत्यसेना की विजय

महाराज को अपनी प्रजा की दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ और वे अपने अमात्यों और सेनापतियों को सम्बोधित करते हुए तीव्र स्वर में बोले–'वीरो! अब सन्धि का समय नहीं है। जब तक हम जीवित हैं, तब तक शत्रु को आगे बढ़ने और उत्पात मचाने से रोकना हमारा प्रमुख कर्त्तव्य

है। अतएव शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ो और अपने प्राणों की बाजी लगा दो। कायर बनकर मरने से तो युद्ध में प्राण देकर मरना ही श्रेयस्कर है।'

महाराज का इतना कहना था कि उसकी सेना तेजी से आगे बढ़कर शत्रु के समक्ष जा डटी। उसने दैत्यसेना का आगे बढ़ना रोक दिया। कुशल सेनापतियों ने डटकर लोहा लिया कि असुरदल गाजर-मूली के समान कट-कटकर गिरने लगा।

कुछ सेना नगर-रक्षा के कार्य में जुट गई। उसने नगर में घुसे हुए दैत्यों को पकड़कर मार डाला। नरान्तक को यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि काशिराज की अल्प सेना ने उसकी अत्यन्त विशाल सेना को काट डाला। अब दैत्य-सेना हथियार फेंक-फेंककर भाग रही थी। बहुत रोकने पर भी कोई नहीं रुकता था।

परन्तु काशिराज के सैनिक विजय गर्व में इतना गर्वित हो गये कि उन्हें अपनी सुरक्षा का भी ध्यान नहीं रहा। काशिराज स्वयं भी यह भूल गये कि दैत्यगण बहुत छली-प्रपंची होते हैं। वे हारकर भी पुनः आक्रमण कर सकते हैं।

और, हुआ भी यही। दैत्यसेना का शिविर पीछे हटाकर लगा दिया गया था और काशिराज एवं उनकी सेना की प्रत्येक गतिविधि पर दृष्टि रखी जा रही थी। अवसर पाते ही सैकड़ों दैत्य उनके व्यूह में घुसे और काशिराज को पकड़कर ले गये। उनके साथ दो अमात्य-पुत्र भी थे जो बन्दी बना लिये गए।

अब नरान्तक बहुत प्रसन्न था। उसने काशी में प्रवेश करने का विचार कर काशीनरेश और अमात्य-पुत्रों को बन्दी वेश में आगे-आगे पैदल चलाया और पीछे-पीछे अपनी पुनर्गठित विशाल सेना को चलने का आदेश दिया।

विजयमद में झूमती हुई सेना काशी में प्रविष्ट हो गई। उसके

अत्याचारों से नगरवासियों के हृदय काँप उठे। लूटमार, अपहरण, सतीत्वनाश, अग्निदाह आदि का ताण्डव आरम्भ हो गया। यह देखकर काशिराज के तरुण सैनिकों में ग्लानि उत्पन्न हुई और युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गये।

दैत्यसेना राजभवन के समीप पहुँची सुनी तो महारानी का हृदय काँप उठा। वे रोने लगीं, क्योंकि दैत्यों से धन-वैभव तो क्या, लाज बचाना भी सम्भव नहीं था। महाराज के बन्दी होने के समाचार ने तो उनपर विपत्ति का पहाड़ ही डाल दिया था।

महारानी का करुण विलाप विनायक के कानों में पड़ा तो वे क्रोधित हो उठे। उन्होंने घोर गर्जन कर सिद्धि का स्मरण किया। वह तुरन्त ही उपस्थित होकर बोली—'क्या आदेश है देव ?'

उन्होंने कहा—'दैत्य बढ़े चले आ रहे हैं और तुम आदेश पूछती हो देवि ? अपने कर्त्तव्य का स्वयं निश्चय करो।'

सिद्धि ने उनका मन्तव्य समझ लिया। उनके संकेतमात्र पर अत्यन्त भयानक मुख, हल जैसे दाँत, सर्प जैसी जिह्वा, कुठार जैसे नख और पर्वत-शिखर जैसे मस्तक वाले असंख्य आयुधधारी सैनिक प्रकट हो गये। उन्होंने विनायक के समक्ष आकर मस्तक झुकाये और विनीत स्वर में निवेदन किया—'परमेश्वर ! हमें बड़ी भूख लगी और अन्न प्रदान कीजिए और कार्य बताइये।'

विनायक बोले—'तुम समस्त दैत्यसेना को खा जाओ और फिर नरान्तक का मस्तक काटकर मेरे समक्ष उपस्थित करो।'

'जो आज्ञा' कहते हुए वे वीर गर्जन करते हुए दैत्यसेना की ओर बढ़ चले। उन्होंने तुरन्त ही राक्षसों को काटना और उदरस्थ करना आरम्भ कर दिया। उनके सामने राक्षसी सेना किंकर्तव्यविमूढ़ हुई प्राणविहीन होने लगी। किसी को कहीं भागने का अवसर नहीं था।

अपने असंख्य सैनिकों और वाहनों को इस प्रकार बात की बात में विनाश हुआ देखकर नरान्तक व्याकुल हो उठा और दिव्य वीरों पर भयंकर बाण-वर्षा करने लगा। किन्तु उसका सभी प्रयत्न निष्फल था। इसी समय दिव्य वीरों के प्रधान ने नरान्तक को पकड़ लिया और उससे कहा- 'दुष्ट ! मैं तुझे छोड़ नहीं सकता, चाहूँ तो अभी तेरा मस्तक पृथक् कर दूँ। किन्तु एक अवसर देने के लिए तुझे विनायक भगवान् की सेवा में लिये चलता हूँ। अब भी गर्व छोड़कर उनकी चरण-शरण को प्राप्त कर ले तो तेरे समस्त पाप नष्ट हो सकते हैं।'

यह कहकर उसने नरान्तक को विनायक के समक्ष उपस्थित किया और चरणों में प्रणाम करता हुआ बोला- 'प्रभो ! आपके आदेशानुसार इस दैत्य की समस्त सेना को उदरस्थ कर लिया गया। यह राक्षस आपकी सेवा में उपस्थित है, इसे मोक्ष प्राप्त करावें। और मुझे सोने के लिए कोई उपयुक्त स्थान प्रदान करें।'

विनायक बोले- 'तुम मेरे मुख में घुसकर जहाँ चाहो, वहाँ विश्राम करो।' यह कहकर अपना मुख खोल दिया। तभी वह दिव्य पुरुष उनके मुख में प्रविष्ट होकर विलीन हो गया। काशिराज ने विनायक के चरण पकड़ लिए और भावविभोर होकर स्तुति करने लगा-

"त्वमेव ब्रह्मा विष्णुश्च महीशो भानुरेव च।
त्वमेव पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशो द्रुमाः।
पर्वतैः सहिताः सिद्धा गन्धर्वा यक्षराक्षसाः॥"

हे नाथ! आप ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं सूर्य हैं, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, दिशा, वृक्षों सहित पर्वत, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस सभी कुछ आप हैं। यह समस्त जड़-चेतन समुदाय आपका ही रूप है। प्रभो ! आप सर्व समर्थ, सर्वाधार, सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ हैं।'

६५ तदुपरान्त काशिराज ने विनायकदेव का षोड़शोपचार पूजन किया

और ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान दिये। सर्वत्र विजयोल्लास में उत्सव मनाये गये। घर-घर में मंगलाचार होने लगा। जिधर देखो-'विनायक भगवान् की जय' का घोष सुनाई देता था।'

नरान्तक का संहार

नरान्तक को विनायकदेव की आज्ञा से राजभवन में ही बन्दी अवस्था में रखा गया था। उसके साथ सम्मान का व्यवहार किया गया तथा भोजन-शयनादि की भी ठीक व्यवस्था रखी गई। लोगों ने कहा-'इस दुष्ट को तड़पा-तड़पा कर भूखा मार देना चाहिए। क्योंकि अत्याचारी को दण्ड दिया ही जाना चाहिए।'

विनायक ने कहा-'इस प्रकार शत्रु का वध करना कायरता होगी। हमारा कर्त्तव्य है कि बन्दी अवस्था में भी उसे कोई कष्ट न होने दें। इस प्रकार विनायक की आज्ञा का पालन किया गया।

नरान्तक समझ गया कि 'यह बालक कोई ईश्वर-भक्त तो है ही, जिसने दिव्य सेना उत्पन्न करके उसके द्वारा समस्त दैत्यसेना का भक्षण करा दिया। यदि यह चाहे तो सभी कुछ कर सकता है। परन्तु मुझे इसके साथ युद्ध तो करना ही चाहिए। यदि इसके हाथ से मारा गया तो मोक्ष मिलेगा अथवा यह मुझसे हार गया तो फिर मैं समस्त मनुष्य लोक का स्वामी रहूँगा ही।'

उसने विनायक से मिलने की इच्छा प्रकट की तो वे उसके समक्ष पहुँच गए। उन्हें देखते ही दैत्यराज बोला-'अरे बालक ! तूने तो बड़ा इन्द्रजाल दिखाया ! किन्तु, तू जानता नहीं कि हम दैत्यगण स्वभाव से ही ऐन्द्रजालिक होते हैं। अकेले मेरे से ही समस्त ब्रह्माण्ड कम्पायमान रहते हैं। मेरे भ्रू-विक्षेप मात्र से वायु चलती, वर्षा होती और काल की गति नियन्त्रण में रहती है। सूर्य-चन्द्रमा भी मेरी आज्ञा के बिना गति नहीं कर सकते। तब तू मेरे क्या अनिष्ट कर सकता है ?'

विनायक बोले–'अब भी तेरा गर्व नष्ट नहीं हुआ ? अरे मूढ़ ! तू अपनी सेना को नष्ट होती हुई स्वयं देख चुका है, फिर भी तेरे नेत्र नहीं खुले ? उस समय तेरा पराक्रम कहाँ था जब तू पकड़कर यहाँ लाया गया था ?'

नरान्तक ने कहा–'मेरे पराक्रम को चुनौती देता है मूर्ख ! मैं तुझे अभी नष्ट किये देता हूँ।'

यह कहकर वह सहसा उठा और विनायक पर झपट पड़ा। तभी काशीनरेश ने उसे ललकारा–'निर्लज्ज ! अभी भी तेरा अहंकार मरा नहीं ? जेबरी जल गई, किन्तु बल नहीं गया। अरे मूर्ख ! तू निरर्थक अपने प्राण क्यों खोना चाहता है ?'

नरान्तक क्रोधित होकर बोला–'अरे कायर ! इस बालक की ओट लेकर वीर बनना चाहता है। परन्तु तेरे जैसे नरों को मारने में समर्थ होने के कारण ही मेरा नाम नरान्तक हुआ है।'

काशिराज बोले–'देवप्राप्त वर और पुण्य तभी तक कार्य करते हैं जिनका भोग अथवा अवधि समाप्त नहीं हो जाती। तेरे नर की अवधि और पुण्य दोनों ही समाप्त हो चुके हैं। क्योंकि तू साक्षात् भगवान् विनायक के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करता हुआ उनसे व्यर्थ ही शत्रुता मोल ले रहा है।'

बस, इतना सुनते ही दैत्यराज अत्यन्त उग्र हो उठा। उसने झपट कर काशिराज का धनुष छीना और उसके दो टुकड़े करके फेंक दिए। फिर उन्हें धक्का देकर उनके वक्षःस्थल पर चढ़ बैठा और मारने का प्रयत्न करने लगा।

विनायक ने काशीनरेश को इस प्रकार दुर्दशाग्रस्त देखा तो नरान्तक के विशाल मस्तक पर परशु प्रहार किया जिससे वह दैत्य कुछ समय के लिए मूर्च्छित हो गया, किन्तु चेतना लौटने पर उठकर घोर युद्ध करने

लगा। उसने दौड़कर बड़े-बड़े वृक्ष उखाड़कर विनायक पर फेंके, पर यह देखकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उसके द्वारा फेंके जाने वाले सभी वृक्ष विनायक के परशु की धार का स्पर्श पाते ही चूर्ण-विचूर्ण हो जाते थे।

अब उसने आसुरी माया फैलाई और विविध रूप धारण कर प्रकट होने लगा। विनायक ने उसकी माया को नष्ट कर दोनों हाथ काट डाले। किन्तु वर-प्राप्ति के कारण उसके नवीन हाथ उत्पन्न हो गए।

अब विनायक ने उसका मस्तक काट दिया, किन्तु वह भी नया उत्पन्न हो गया। इस प्रकार उसके साथ और मस्तक बार-बार कटने पर भी नवीन उत्पन्न हो जाते।

इस प्रकार वह दैत्य किसी भी प्रकार वश में नहीं आ रहा था। यह देखकर विनायकदेव ने तीक्ष्ण बाणों की मार से उसके दोनों पाँव काट दिये। वे पाँव तुरन्त ही आकाश-मार्ग में उड़ते हुए स्वर्ग में देवान्तक के समीप आ गिरे। इधर उसके पाँव भी नवीन निकल आये। उन्होंने उसका मस्तक पुनः काटा, जोकि उसके पिता रुद्रदेव के सम्मुख जाकर गिरा। दैत्यराज को नवीन मस्तक की पुनः प्राप्ति हो गई।

यह देखकर विनायकदेव ने सोचा कि अब इसे अन्य उपाय से वश में करना होगा। उन्होंने तुरन्त ही मोहनास्त्र का प्रयोग किया, जिससे दैत्यराज इतना मोहित हो गया कि उसे दिन-रात्रि का भी ध्यान नहीं रहता। वह यह भी नहीं समझ पा रहा था कि मैं जिस बालक से युद्ध कर रहा हूँ वह स्त्री या पुरुष अथवा मनुष्य है या पशु।

तभी उसे ध्यान आया—'जब भगवान् शंकर ने वर प्रदान किया था, तब अन्त में यह भी कहा था कि तेरी मृत्यु तभी होगी जब मतिभ्रम उत्पन्न हो जाएगी। उसने सोचा—तो क्या मेरा मरणकाल उपस्थित है ?'

वस्तुतः वह उसका मरणकाल ही था। भगवान् विनायक ने विराट्

रूप धारण कर लिया और नरान्तक को हाथों में उठाकर पुष्प के समान मसल डाला। इस प्रकार दैत्यराज का अस्थिपंजर बिखर गया और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

पिता रुद्रदेव का शोकित होना

काशिराज प्रसन्न हो गए। सर्वत्र हर्षोल्लास छा गया। 'विनायक भगवान् की जय' का घोष गूँज उठा। सभी ने उनके चरणों में प्रणाम किया और इनका विधिवत् पूजन कर महाराज ने ब्राह्मणों को उनकी इच्छित वस्तुएँ दान कीं।

इस प्रकार नरान्तक के मरने से धरती का आधा बोझ उतर गया। उधर विप्रवर रुद्रकेतु और उनकी साध्वी पत्नी शारदा ने अपने प्रतापी पुत्र का कटा हुआ मस्तक देखा तो अत्यन्त ही व्याकुल हो उठे। आरम्भ में तो उन्हें अपने पुत्रों का आचरण अच्छा नहीं लगा, किन्तु त्रैलोक्य विजय कर लेने और सर्वत्र आधिपत्य स्थापित कर लेने के कारण उनकी अप्रसन्नता दूर हो चुकी थी।

रुद्रकेतु और शारदा दोनों ही नरान्तक के लिए विलाप करने लगे। फिर वे देवान्तक के पास स्वर्ग में पहुँचे जहाँ देवान्तक भी अपने अनुज के दोनों कटे हुए पाँव देखकर चिन्तातुर हो रहा था। उसने गुप्तचर भेजकर पता लगाया तो मृत्यु का विश्वास होने पर वह भी रोने लगा।

तभी उनके अमात्यों ने कहा—'महाराज! युद्धक्षेत्र में हार या जीत तो होती ही है। शत्रु के प्राण लेना या उनके हाथों स्वयं मर जाना सामान्य बात है। फिर पृथ्वी पर तो आयु भी सौ वर्ष की ही मानी जाती है, इसलिए अब न मरते तो शतायुष्य होने पर तो मृत्यु आ ही सकती थी। इसलिए अपने भाई की मृत्यु का शोक न करके शत्रु से प्रतिशोध करना चाहिए।'

देवान्तक को भी प्रतिशोध की बात समझ में आई और उसने अपने माता-पिता से कहा–'जो कुछ हो गया, वह तो अब मिट नहीं सकता, इसलिए शोक को त्यागिये और मुझे आज्ञा दीजिए कि शत्रु का वध करने के लिए स्वयं जाऊँ। आप विश्वास कीजिए कि मैं उसे अवश्य मार डालूँगा। मेरी भृकुटि की वक्रता देखकर त्रिलोकी काँप उठती है, तब वह बेचारा अल्प बल काशिराज उस बालक की रक्षा कैसे कर पायेगा ?'

यह कहकर उसने घोर गर्जना की और अमात्यों एवं सेनापतियों को बुलाकर सेना तैयार करने का आदेश दिया। कुछ ही समय में विशाल दैत्य-सेना प्रस्थान के लिए तैयार हो गई। कूच का डङ्का बज उठा और दैत्यों की हलचल से ब्रह्माण्ड काँपने लगा।

१०. दशम अध्याय

देवान्तक का काशी पर आक्रमण

देवान्तक की विशाल सेना ने काशी पर भयंकर रूप में आक्रमण कर दिया। परन्तु नरान्तक की मृत्यु के कारण निर्भय और अत्यन्त उत्साहित हुए काशीवासियों को उनसे विशेष चिन्ता नहीं हुई। उन्हें विश्वास था कि भगवान् विनायक की कृपा से देवान्तक का भी विनाश हो जायेगा। इसलिए सभी वीर दैत्यसेना से लोहा लेने के लिए सब प्रकार तैयार थे।

काशिराज ने विनायक की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक समझा। उस समय वे बालकों के साथ खेल रहे थे। महाराज ने उनके चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया–'प्रभो ! नरान्तक का बड़ा भाई देवान्तक चढ़

आया है। यह नरान्तक से भी अधिक दुराधर्ष और क्रूर है। इसलिए रक्षा का जो उपाय हो वह कीजिए।'

विनायक ने आदेश भरे स्वर में कहा--'अपनी सेना को शत्रु के समक्ष भेजो राजन्! परन्तु ध्यान रहे कि समागत दैत्य के पराभवार्थ कुछ देवियाँ आ रही हैं। जब वे आ जायें, तब आपकी सेना उनके पीछे रहती हुई निर्देश पालन करें।'

महाराज ने अपने प्रधान सेनापति को यह बात समझा दी और तब स्वयं भी रणक्षेत्र के लिए चल पड़े। उन्होंने देखा दैत्यसेना नरान्तक की सेना से भी अधिक एवं समस्त साधनों से सम्पन्न थी। जिधर दृष्टि डालो उधर दैत्य ही दैत्य दिखाई देते थे। इस स्थिति ने काशिराज को शंकित और भयभीत बना दिया।

शक्तियों की विशाल सेना और पराक्रम

उधर भगवान् विनायक ने विशाल रूप धारण कर सिद्धि-बुद्धि का स्मरण किया। दोनों तुरन्त उपस्थित हुईं। तभी उन्होंने सिद्धि को आदेश दिया--'इन दैत्यों के विनाशार्थ एक विशाल सेना की आवश्यकता होगी। साथ ही सैन्य सञ्चालन भी ठीक प्रकार से हो सके। इसकी भी व्यवस्था की जाय।'

आदेश मिलते ही सिद्धि देवी ने देवान्तक की सेना के निकट जाकर भयंकर गर्जना कीं, जिससे समस्त दिशाएँ एवं धरती-आकाश कम्पायमान हो गए। उसी समय स्त्रियों की आठ विशाल सेनाएँ प्रकट हो गईं, जिनका नेतृत्व अणिमा आदि प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियाँ कर रही थीं।

देवान्तक उन नारी-सेनाओं को देखकर बहुत घबराया। उसने सोचा--'पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों से युद्ध करना अधिक कठिन है। यदि हम उन्हें जीत भी लें तो कोई यश नहीं मिलेगा। सभी कहेंगे कि यह कैसे

वीर हैं जो स्त्रियों से युद्ध करते हैं ? इसके विपरीत, यदि इनसे हार गये तब तो प्रत्यक्ष ही मरण है। फिर तो वीरता की शान ही समाप्त हो जायेगी। उससे तो नितान्त निन्दा ही हाथ लगेगी।'

उसके विचार का अनुमोदन किया एक सेनापति ने जो स्त्रियों से युद्ध करना हेय समझता था। साथ ही उसने यह भी कहा–'स्वर्गाधिप ! यह सभी स्त्रियाँ हमें मार डालने या स्वयं मर जाने के लिए प्रस्तुत हैं। यह किसी भी प्रकार से हटने वाली नहीं हैं। इसलिए शीघ्र ही हमें अपने कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिए।'

तभी एक अन्य सेनापति ने कहा–'राजन् ! इन स्त्रियों से तो हम निपट लेंगे, आप तो सेना के पीछे की ओर जाकर संचालन व्यवस्था को देखें। अपने साम्राज्य और सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध तो करना ही होगा।'

असुरों की हार

देवान्तक के आठ प्रबल सेनापति थे–कर्दम, कालान्तक, घण्टासुर, तालजंघ, दुर्जय, यक्ष्म और रक्तकेश। इनमें से एक-एक योद्धा एक-एक सिद्धि के सामने जा डटा। उसी समय देवियों और दैत्यों में घोर युद्ध होने लगा। काशिराज की सेना आदेश की प्रतीक्षा में खड़ी हुई उस अद्‌भुत युद्ध को देख रही थी।

उस भयंकर युद्ध में दैत्यसेना गाजर-मूली के समान कटती जा रही थी। अणिमा ने कर्दम को, प्रकाम्या ने कालान्तक को तथा महिमा, गरिमा ने क्रमशः यक्ष्म, तालजंघ और दीर्घदन्त को मार डाला। फिर तो चारों दैत्य सेनापति भी शीघ्र ही मारे गये। किन्तु असुरसेना निराश न हुई। इस प्रकार तीन दिन-रात्रि भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें अधिकांश असुरसेना का विनाश हो गया।

अब देवान्तक को बड़ी चिन्ता हुई—यह क्या हो रहा है ! बड़े-बड़े वीर दैत्य इन अबलाओं के सामने धराशायी हो गए। इससे तो मेरा साम्राज्य ही खतरे में पड़ गया। अब तक किसी भी देवता या मनुष्य का साहस नहीं होता था कि छोटे से छोटे दैत्य का भी सामना कर सके। किन्तु वह पराजय तो मेरे हाथ से इन्द्रासन तक निकाल सकती है। इसलिए इन स्त्रियों को हराने के लिए मुझे स्वयं ही युद्ध करना होगा।

ऐसा विचार कर उसने तीक्ष्ण तलवार हाथ में लेकर घोर गर्जना की, जिसे सुनकर देवता और मनुष्य सभी काँप गए। वह तुरन्त ही गरिमा के समक्ष जाकर भयंकर युद्ध करने लगा। देवियाँ भी पीछे न रहीं, उन्होंने उसकी तलवार ही उड़ा दी। अब उसने इतनी भीषण बाण-वर्षा की कि आठों सिद्धियाँ मूर्च्छित होकर गिर गयीं। यह देखकर देवताओं के दल उनकी सहायता करने और दैत्यों से लड़ने लगे।

सिद्धियों को मूर्च्छित हुई देखकर विनायक ने बुद्धि को युद्ध की व्यवस्था का आदेश दिया। बुद्धि देवी ने वहाँ पहुँचकर घोर गर्जना की, जिससे शत्रुओं के हृदय काँप उठे। तभी बुद्धि देवी के मुख से एक अत्यन्त तेजस्विनी घोर भयंकरी एवं अत्यन्त विशाल मुख वाली देवी प्रकट हुई। उसके बाल धरती तक फैले थे तथा मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थीं।

यह देवी दैत्य-दल में घुसकर जिसे चाहती उसे उठाकर मुख में रख लेती। इस प्रकार उसने बड़ी शीघ्रतापूर्वक कई-कई राक्षस एक साथ उठाकर मुख में रख लिये। अब वह जिधर जाती उधर ही दैत्यगण भाग खड़े होते। फिर भी वह दौड़-दौड़कर बहुतों को पकड़ती और मुख में डाल लेती। असुर उसे साक्षात् मृत्यु ही समझ रहे थे।

इस प्रकार उसके द्वारा अनगिनती वीरों का संहार करते देख अत्यन्त चिन्तित हुआ देवान्तक उसपर भीषण बाण-वर्षा करने लगा। किन्तु उन बाणों का उसके शरीर पर कोई प्रभाव ही नहीं था। देवान्तक के सभी

बाण समाप्त हो गए और वह किंकर्तव्यविमूढ़ सोचने लगा कि 'अब क्या करूँ ?' तभी उसने सुना–'अब तू अकेला ही क्या करेगा ? मेरे मुख में आकर विश्राम क्यों नहीं करता ?' वह सजग हुआ। वस्तुतः एक भी दैत्य वहाँ दिखाई न देता था। उसने सोचा-'अब भागने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं, अन्यथा प्राण देने होंगे। इसलिए वह बिना विलम्ब किये हुए द्रुतगति से भाग खड़ा हुआ।'

११. एकादश अध्याय

देवान्तक द्वारा अघोर मन्त्र का अनुष्ठान वर्णन

देवान्तक युद्धक्षेत्र से भागकर स्वर्गलोक में जा पहुँचा और चुपचाप अपने भवन में मुख ढँककर सो गया। उसे अभिमान था कि अभी तक वह किसी से नहीं हारा था। उसका वह अभिमान चूर्ण हो गया। वह समझ गया कि देवतागण आज नहीं तो कल अपना राज्य वापस लेने का प्रयत्न करेंगे। क्योंकि स्त्रीसेना के साथ देवताओं को युद्ध करते हुए वह देख चुका था।

रुद्रदेव उसकी स्थिति से समझ गए कि अवश्य ही कोई गड़बड़ी हुई है। इसलिए उसके पास जाकर बोले–'पुत्र ! तू इतना उदास क्यों हो रहा है ? यदि मैं कुछ कर सकता हूँ तो निःसंकोच बता।'

उसने लज्जा से नेत्र झुकाये और कहा–'पिताजी ! क्या बताऊँ ? मैं अपने भाई को मारने वाले विनाशक से प्रतिशोध लेने के लिए काशी गया था। विशाल असुरसेना मेरे साथ थी। मैं जानता हूँ कि काशिराज के पास न तो कोई बड़ी सेना है और न अधिक साधन ही, इसलिए उसे वश में

करना बाँये हाथ का खेल था। किन्तु आश्चर्य कि आठ देवियों के सेनाधिपत्व में आठ सेनायें प्रकट होकर न जाने कहाँ से आईं ? उन्होंने हमारे सभी सेनापतियों सहित अधिकांश चतुरंगिणी सेना को मार डाला।

'शेष सेना को अत्यन्त भयंकर कृत्या ने निगल लिया। आश्चर्य की बात यह थी कि वह कृत्या जिधर जाकर सिंहासन करती उधर के असुर वीर उनके श्वासोच्छ्वास के साथ खिंचते चले जाते और वह उन्हें पकड़कर मुख में डाल लेती। अन्त में जब समस्त असुरसेना समाप्त हो गई तो वह मेरी ओर झपटती हुई बोली–'अरे, अब तक तू अकेला ही क्या करेगा ? मेरे मुख में आकर विश्राम क्यों नहीं करता ?' उसकी उस कर्कश वाणी ने मुझे अत्यन्त भयभीत कर दिया और मैं किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भाग आया।'

रुद्रकेतु बोले–'पुत्र ! चिन्ता मत करो। भय और शोक को छोड़ दो। भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए अघोर मन्त्र का अनुष्ठान करो। उनका पूजन, ध्यान, मंत्र-जाप, होम, तर्पण और फिर ब्राह्मण भोजन कराओ। अनुष्ठान पूर्ण होने पर एक अश्व निकलेगा, उसपर सवार होकर रणक्षेत्र में जाने से विजय प्राप्त होगी।'

देवान्तक ने पिता के द्वारा निर्दिष्ट विधि से अनुष्ठान-कार्य सम्पन्न किया। ब्राह्मणों को भोजन कराने और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने पर यज्ञवेदी से कृष्णवर्ण का एक अश्व निकला जो कि दीर्घकाय, सबल एवं अत्यन्त दर्शनीय था। उसके मुख से भयानक शब्द निकलता था। उस घोड़े को देखकर देवान्तक प्रसन्न हो गया।

उसने घोड़े को प्रणाम कर भावनापूर्वक अलंकारादि से सजाया और पूजन किया। तदुपरान्त अपने सेनापतियों की विशाल दैत्यसेना लेकर चलने का आदेश दिया। जब सेना तैयार हो गई तो उसके साथ वह भी उस घोड़े पर सवार हो गया।

काशी की ओर वेगपूर्वक बढ़ती हुई उस विशाल दैत्यसेना ने स्वर्ग और धरती को कम्पित कर दिया। उसके आगमन का समाचार सुनते ही लोग प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भाग निकलते, किन्तु काशी के प्रजाजनों को विनायक की शक्ति में अटूट विश्वास था इसलिए उन्हें उसके पुनरागमन के समाचार से अधिक चिन्ता न हुई।

इस बार के युद्ध में सिद्धि देवी की अधिक सेनाएँ अधिक सफल नहीं हो सकीं। असुर उन्हें हराते हुए आगे बढ़ने लगे तो विनायक ने काशिराज की सुरक्षित सेना को युद्ध में भेजा और स्वयं भी सिंह पर आरूढ़ होकर चल दिये। उस समय पाश, परशु और धनुष आदि बाणादि से सम्पन्न उनका वीर वेश दर्शनीय था।

'भगवान् विनायकदेव की जय' बोलती हुई काशीनरेश की सेना असुरों से युद्ध में तत्पर हुई। स्वयं भगवान् भी रणक्षेत्र में जा पहुँचे। उन्हें देखते ही देवान्तक बोला–'तूने मेरे भाई नरान्तक को मारा है न! उनका प्रतिशोध तेरे रक्त से लेना अनुचित नहीं होगा। फिर भी तुझे प्राणों का मोह हो तो मेरी शरण में आकर अधीनता स्वीकार कर ले। तेरे बालकपन और भोली सूरत पर मुझे तरस आ रहा है।'

विनायक ने अट्टहास करके कहा–'तुम जैसे कायर को तरस न आयेगा तो और किसे आयेगा? अरे मूढ़! पिछली बार तो तू प्राण बचाकर भाग गया था, किन्तु इस बार नहीं जा सकेगा। क्योंकि तेरे जीवन की अवधि पूर्ण हो गई। इसलिए पहिले तू अपना पौरुष दिखा ले।'

देवान्तक क्रोधित हो उठा। उसने विनायक पर भीषण बाण-वर्षा की। किन्तु विनायक उसके सभी बाणों को काटते जा रहे थे। उसके बाण दैत्य-सेना के संहार में भी लगे थे। दैत्यराज ने अपनी विजय न होती देखकर माया की रचना की। वह कभी पृथ्वी पर तो कभी आकाश में,

कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में दिखाई देता। फिर उसने मोहास्त्र का प्रयोग किया, जिससे युद्ध में उपस्थित सभी देवता, काशिराज की समस्त सेना और विनायक भी निद्राग्रस्त हो गए।

अब देवान्तक ने चक्र के मध्य एक त्रिकोणाकार कुण्ड बनाकर मांसादि की हवि देते हुए अभिचार कर्म का आरम्भ किया। यह समाचार काशिराज को गुप्तचरों से मिला तो वे साधारण नागरिक के वेश में भी छिपते हुए किसी प्रकार विनायक के पास जाकर उनके कान में बोले—'त्रिकालज्ञ प्रभो ! देवान्तक अभिचार कर्म कर रहा है, यदि वह पूर्ण हो गया तो अजेय हो जायेगा इसलिए निद्रा का त्याग कीजिए।'

देवान्तक को विराट् रूप के दर्शन

काशिराज की प्रार्थना सुनते ही वे चैतन्य हो गये और उन्होंने अपने धनुष पर खगास्त्र और घण्टास्त्र से अभिमन्त्रित दो बाण चढ़ाकर आकाश में छोड़े। बस, फिर क्या था, आकाश में भीषण घण्टानाद होने लगा, जिससे सभी निद्रित सैनिकों, देवताओं आदि की निद्रा भंग हो गई। वे तुरन्त उठकर देवान्तक के पास जा पहुँचे और उसके अभिचार कर्म में विघ्न डाल दिया।

निद्रा दूर होने का कार्य घण्टास्त्र ने, दूसरे खगास्त्र ने असंख्य पक्षी उत्पन्न कर दिये, जिन्होंने समस्त आकाश को पक्षियों से व्याप्त कर दिया जिनसे सर्वत्र अन्धकार छा गया तथा वे पक्षी दैत्य-सेना के वीरों को उठा-उठाकर भक्षण करने लगे। इससे समस्त सेना में खलबली मच गयी। अब अत्यन्त क्रोधित हुए देवान्तक ने घोर युद्ध किया, किन्तु विनायक के समक्ष उसके सभी प्रयास निष्फल रहते। तभी उसने विराट् रूप के दर्शन किये। मनुष्य का शरीर और हाथी का मुख, धरती पर चरण और आकाश को स्पर्श करता हुआ मस्तक। वह उस रूप को

देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित और भयभीत हुआ। तभी उन्होंने उसके मस्तक पर अपने दाँत से भयंकर प्रहार किया, जिससे वह चीत्कार करता हुआ सैकड़ों खण्डों में छिन्न-भिन्न होकर धरती पर बिखर गया। उसके मुख से एक ज्योति निकलकर विनायक के मुख में प्रविष्ट कर गई।

अपने स्वामी की मृत्यु हुई देखकर समस्त दैत्यसेना वेगपूर्वक इधर-उधर भाग गई। देवगण प्रसन्न होकर दुन्दुभियाँ बजाने लगे। काशिराज की सेना में विनायकदेव की जय गूँज उठी। विजय-वाद्य बजने लगे। दिशाएँ स्वच्छ हो गईं और उन्मुक्त वायु चलने लगी। इन्द्रादि देवगण वहाँ आकर उनकी स्तुति करने लगे–

"विमोचिता वयं बन्धाद् देवान्तककृताद् विभो।
उपेन्द्र इव देवेन्द्र कार्यं यस्मात् कृतं त्वया॥"

'हे प्रभो! आपकी कृपा से आज हम राक्षसराज देवान्तक के बन्धन से मुक्त हो गये। देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए आपने उपेन्द्र के समान पराक्रम किया है। इसलिए आप संसार में उपेन्द्र भी कहे जायेंगे। अब हम भय-रहित रूप से अपने-अपने अधिकार का उपभोग करेंगे तथा दीर्घकाल से अवरुद्ध हुए स्वाहाकार और वषट्कार के स्वर पूर्वकृत सर्वत्र सुनाई देंगे।'

स्तुति करके सभी देवता अपने-अपने स्थानों को गये। इन्द्र ने स्वर्ग से समस्त असुरों को बाहर खदेड़कर पुनः देवराज्य की स्थापना की। असुरों में शोक और देवताओं में आनन्द व्याप्त हो गया।

युवराज-विवाह तथा विनायक का जाना

काशिराज और उसके मित्र राजाओं ने भी विनायक का पूजन और स्तुति की तथा दूसरे दिन उन्होंने सभा में आकर अमात्यों से कहा–'अमात्यगण! मैं विनायकदेव को युवराज का विवाह करने के

लिए इनके माता-पिता से माँगकर लाया था, किन्तु बहुत समय तक असुरों के आक्रमण होते रहने के कारण युवराज का विवाह निरन्तर टलता रहा और विनायक को भी इनके माता-पिता के पास नहीं लौटा सके। यद्यपि काशी में इनका निवास हमारी सुख-समृद्धि और अभयता का कारण रहा है, तो भी इनके माता-पिता को घर न लौटने के कारण चिन्ता हो रही होगी। इसलिए हमें शीघ्र ही युवराज का विवाह करके इन्हें पहुँचा देना चाहिए।'

सभी सभासदों ने महाराज की बात का समर्थन किया। सर्वत्र युवराज के विवाह के निमन्त्रण-पत्र भेजे गये। मगधपति भी अपनी कन्या को लेकर वहीं आ गये। विनायकदेव ने विवाह-कार्य सम्पन्न कराया। कई दिनों तक हर्षोत्सव मनाया जाता रहा। तदुपरान्त सभी आगतजन काशिराज से सम्मानित होकर अपने-अपने स्थानों को लौट गये।

अब विनायक का पूजन करके काशिराज ने उनकी आज्ञा चाही। विनायक बोले—'राजन्! मैं यहाँ युवराज का विवाह कराने के लिए कुछ ही दिनों के लिए आया था, किन्तु अब तो बहुत दिन व्यतीत हो चुके हैं। पिताजी-माताजी मुझे याद करते होंगे। मुझे भी उनकी बड़ी याद आ रही है। इसलिए अब शीघ्र ही वहाँ पहुँचना चाहिए।'

विनायक का आदेश पाकर महाराज ने रथ तैयार करने का आदेश दिया और रथ के आने पर विनायक के साथ स्वयं भी उसपर सवार हुए। नगर-निवासियों को उनके वियोग असह्य था। वे उनसे कुछ दिन और रहने का आग्रह करने लगे।

उन श्रद्धावान् भक्तों का अत्यन्त आग्रह देखकर विनायक ने समझाया—'सुहृद्जनो! इस समय तो मुझे जाना ही होगा। किन्तु जब कभी आप पर कोई विपत्ति आये, मुझे याद करना, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। मेरी स्वयं की आवश्यकता होगी तो मैं स्वयं भी यहाँ उपस्थित हो जाऊँगा। फिर भी—

"न चित्तस्य समाधानं भवेद् वै चिन्तनेन मे।
मम मूर्तिं मृदा कृत्वा पूजयन्तु गृहे-गृहे ॥"

'यदि आपके चित्त का समाधान मेरे चिन्तन से न हो तो मेरी मिट्टी की मूर्तियाँ बनाकर घर-घर में स्थापित करें और उसमें मुझ विनायक की भावना करके भक्तिपूर्वक पूजन करें।'

लोगों को संतोष हुआ। सभी विनायक की जय बोलने लगे। उन्होंने रथ की परिक्रमा की। महारानी ने भी अपनी सहेलियों के साथ आकर उनकी अभ्यर्चना की और उसके पश्चात् रथ चल पड़ा। जब तक नेत्रों से ओझल न हो गया, तब तक सभी एकटक उधर ही देखते रहे।

वायुवेग से चलता हुआ रथ कश्यपाश्रम पर जा पहुँचा। महाराज और विनायक दोनों उतरकर महर्षि दम्पति के चरणों में पड़ गए। राजा को आशीर्वाद देकर उन्होंने अपने पुत्र को हृदय से लगा लिया। काशिराज ने उन्हें असुरों के आक्रमण और विनायक के पराक्रम की समस्त घटनाएँ यथावत् सुनाईं, जिससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन मुनिवर की आज्ञा लेकर महाराज अपने नगर को लौट आये।

दुण्ढिराज गणेश की स्थापना

काशी के घर-घर में भगवान् विनायक की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। महाराज ने भी 'ढुण्ढिराज गणेश' के नाम से एक मूर्ति की स्थापना राजभवन में कराई। उन मूर्तियों के पूजन-प्रभाव से घर-घर में आनन्द छाया रहा था जिसने जो भी कामना की वही पूरी हुई।

उधर माता-पिता के पास रहते हुए विनायक को कुछ ही दिन व्यतीत हुए थे। उन्होंने अपने माता-पिता से निवेदन किया-'जननी एवं जनक! आपने जिस अभिप्राय से तप करके मेरे प्राकट्य की इच्छा की थी, वह कार्य पूर्ण हो चुका है। त्रिलोकी को त्रसित करने वाले समस्त दैत्यों का

संहार हो गया है तथा ऋषि-विप्रादि निर्भय रूप से यज्ञादि कार्यों का सम्पादन कर रहे हैं। इस प्रकार धरती का भार उतर गया है, अब मुझे अपने धाम को जाने की आज्ञा दीजिए।' विनायक के यह वचन सुनकर एक बार तो मुनि और उनकी पत्नी अवाक् रह गये। फिर कुछ सँभलकर महर्षि ने कहा—'देव ! अभी कुछ काल और निवास कीजिए।'

उन्होंने कहा—'अब तो मुझे जाना ही होगा। यहाँ मेरा कोई कार्य शेष नहीं रह गया है ऋषिवर !' माता ने सजल नयन पूछा—'अब कब दर्शन होंगे पुत्र ?'

विनायक बोले—'मेरा दर्शन भवानी मन्दिर में पुनः कर सकोगी माता !' और यह कहकर विनायक अदृश्य हो गये। महर्षि ने उनकी अष्ट-धातु की प्रतिमा स्थापित की और नित्य प्रति उसका यथाविधि पूजन करने लगे।

"विनायकस्य देवस्य श्रवणात् सर्वसिद्धिदम्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं सर्वोपद्रवनाशनम्।
सर्वकामप्रदं सर्वपापसंशयनाशनम्॥"

भगवान् विनायक गणपति का यह चरित्र सुनने पर सभी सिद्धियाँ देने वाला है। इससे धन-धान्य, यश एवं आयु की प्राप्ति तथा उपद्रवों का नाश होता है। यह सभी कामनाओं को पूर्ण सञ्चित पापों को नष्ट करने वाला है।

❀❀❀

68

षष्ठ खण्ड

१. प्रथम अध्याय

उग्रेक्षण सिन्धु का जन्म

त्रेता युग था, मिथिला देश की गण्डकी नामक नगर में चक्रपाणि नामक एक धर्मात्मा राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी और पतिव्रता थी। राज्य में आय के स्रोतों की कमी नहीं थी। इस कारण राजा तो सुखी थे ही, प्रजा भी सब प्रकार से निर्भय एवं नीरोग रहती थी। सदैव अपने राजा का जय-जयकार करती रहती।

परन्तु राजा की अधिक आयु होने पर भी उसके कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने अनेक यज्ञ, दान, व्रत, अनुष्ठानादि किए, किन्तु सभी निष्फल रहे। अन्त में राजा ने वन में जाकर तपस्या करने का विचार किया, किन्तु एक समस्या सामने थी–'राज्य को किसके भरोसे छोड़ा जाय ?' बहुत विचार करने पर भी इसका कुछ समाधान दिखाई नहीं देता।

इसी अवसर पर वहाँ महर्षि शौनक का आगमन हुआ। राजा ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और ऋषि के प्रसन्न होने पर उन्होंने अपनी व्यथा सुनाई और फिर राज्य छोड़कर वन में जाने का विचार बनाया। महर्षि ने राजा की बात पर कुछ देर गम्भीरता से विचार किया और फिर बोले–'राजन्! तुम्हें वन जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हें पुत्र की प्राप्ति यहीं हो जायेगी।'

महर्षि की बात सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने पूछा–'पुत्र होगा तो कब ? मेरी आयु ही बीती जा रही है मुनिराज ! मुझे सब स्पष्ट कहने की कृपा करें।'

शौनक ने कहा—'नृपश्रेष्ठ ! तुम्हारे भाग्य में पुत्रयोग तो है, किन्तु उसमें कोई सञ्चित पाप बाधक रहा है। उस बाधा का निवारण करने के लिए तुम्हें भगवान् भास्कर को प्रसन्न करना होगा।'

इसके पश्चात् महर्षि ने राजा को सूर्योपासना का विधान बताया और बोले—'इसे अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति सहित करने पर सूर्य भगवान् की प्रसन्नता अवश्य प्राप्त होगी। फिर पुत्र-प्राप्ति के मार्ग में कोई बाधा नहीं रहेगी। यह व्रतानुष्ठान एक मास तक करना होगा। नित्य प्रति किसी दैवज्ञ ब्राह्मण को एक दुधारू गाय दी जाय और एक लाख ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय। अनुष्ठान पूर्ण होने पर सूर्यदेव की पत्नी सहित एक लाख नमस्कार करना भी आवश्यक है।'

मुनि चले गये। राजा ने अपनी भार्या के सहित सूर्य भगवान् की उपासना आरम्भ की। अभी अनुष्ठान सम्पन्न नहीं हो पाया था कि एक दिन रानी उग्रा ने स्वप्न में सूर्य को अपने पति रूप में देखा और ब्रह्मचर्य खण्डित कर बैठी। प्रातःकाल उसने अपने स्वप्न की बात राजा को सुनाई तो उन्हें आश्चर्य हुआ, बोले—'कोई बात नहीं, मन में किसी प्रकार का विकार आने से ऐसा होना सम्भव है। किन्तु मेरे मन में कोई विकार नहीं आया है, इसलिए अनुष्ठान की सफलता निश्चित है।'

रानी चुप हो गई, किन्तु उसे लगा कि गर्भवती हो गई है। धीरे-धीरे गर्भ बढ़ने लगा और जैसे-जैसे गर्भ बढ़ा, वैसे-वैसे उसके शरीर का तापमान तीव्र होने लगा। शरीर में बढ़ती हुई उष्णता दाह का रूप लेने लगी, इस कारण उसके लिए शीतल उपचारों की व्यवस्था हुई। तो भी गर्भ के कारण उत्पन्न हुई दाह को सह सकने में समर्थ न थी। अन्त में प्राण संकट में जानकर उसने समुद्र तट पर जाकर उस गर्भ को असमय में ही गिरा दिया।

राजा ने यह बात सुनी तो दुःख में भर गए। परन्तु उग्रा की विवशता जानकर वे कुछ कह न सके। उधर वह गिरा हुआ गर्भ नष्ट नहीं हुआ।

वह एक रौद्र रूप बालक के रूप में पड़ा हुआ रोने लगा । उसके रुदन स्वर से धरती-आकाश काँप उठे ।

उस बालक के तीन नेत्र थे, मस्तक बहुत बड़ा एवं मुख कुरूप थे । केश लाल वर्ण के थे तथा हाथ में त्रिशूल लिये हुए उत्पन्न हुआ था । उसके कारण समुद्री जीव भी व्याकुल हो रहे थे, अतः समुद्र स्वयं मानव रूप धारण कर और बालक को उठाकर महाराज चक्रपाणि के समक्ष उपस्थित हुआ ।

उसने कहा–'राजन् ! वह बालक तुम्हारा पुत्र है । तुम्हारी रानी ने इसे मेरे तट पर छोड़ दिया था । इसके रोने से ही तीनों लोक काँप उठे । देखिए, बालक कितना तेजस्वी है, जिसकी ओर देखना भी दुष्कर है, इसे सँभालिये ।'

बालक को प्राप्त करके राजा बड़े प्रसन्न हुए । रानी ने भी हर्षित मन से उसे गोद में लेकर दुग्धपान कराया । उसके नाम सिंधु, उग्रेक्षण और विप्रसादन रखे गए । वह शीघ्रता से वृद्धि को प्राप्त होने लगा ।

उग्रेक्षण का प्रबल पराक्रम तथा वर की प्राप्ति

उग्रेक्षण स्वभाव का क्रूर, अहंकारी और अत्यन्त बलवान् था । बाल्यकाल में ही मनुष्यों से तो क्या, हाथियों से टक्कर लेने वाला । उसने छोटी-सी आयु में न जाने कितने हाथी आदि केवल मुष्टि प्रहार से ही धराशायी कर दिये, न जाने कितने वृक्ष गिरा दिये । उसके प्रबल पराक्रम को देखकर माता को बड़ा हर्ष होता था ।

शीघ्र ही किशोरावस्था को प्राप्त उग्रेक्षण ने अपने माता-पिता से एक दिन कहा–'मैं त्रिलोकी पर अधिकार करने के उद्देश्य से वन में रहकर तपस्या करना चाहता हूँ, इसलिए मुझे ऐसा करने की आज्ञा दीजिए ।'

माता-पिता ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति दी । उसने घोर वन में जाकर

एक सरोवर के तट पर तपस्या आरम्भ की। वह भूखा-प्यासा रहकर घोर तप करने लगा। उसे सूर्य की उपासना करते हुए दो हजार वर्ष व्यतीत हो गए। क्षुधा-पिपासा, धूप-वर्षा आदि सहते-सहते सूखकर काँटा हो गया।

भगवान् भास्कर प्रसन्न हुए, उन्होंने प्रकट होकर अभीष्ट वर माँगने का आदेश दिया। उसने उनके चरणों में मस्तक रखकर निवेदन किया—'प्रभो ! मैं सभी देवता, मनुष्य आदि को जीतकर तीनों लोकों पर आधिपत्य स्थापित कर लूँ और मेरी मृत्यु कभी न हो।'

सूर्य बोले—'ऐसा ही होगा। यह अमृतपात्र ग्रहण करो, इसे कण्ठ में लगाये रखना। इसके रहते हुए देवता, मनुष्य, नाग, पशु आदि कोई भी जीव तुम्हें दिन, रात्रि, प्रभात या सायंकाल कभी भी न मार सकेगा। जब यह पात्र हट जायेगा तभी अपने अंगुष्ठ के नखाग्र पर करोड़ों ब्रह्माण्डों को धारण करने वाला कोई अवतारी पुरुष ही तुम्हें मारेगा। तुम त्रिभुवन को जीतने में सफल होगे।'

वरदाता सूर्य के अन्तर्धान होने पर उग्रेक्षण ने उस अमृत-पात्र को अपने कण्ठ में धारण किया और राजभवन में जाकर अपने माता-पिता को भगवान् भास्कर से वर प्राप्ति का समाचार सुनाया, जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे सब प्रकार से समर्थ देखकर उन्होंने राज-पाट सौंप दिया तथा स्वयं तपश्चर्या हेतु वन में चले गए।

उग्रेक्षण के राज्य का विस्तार होना

उग्रेक्षण ने राजा होते ही राज्य-विस्तार का विचार किया और अमात्यों को कार्य संचालन का भार सौंपकर दिग्विजय के लिए चल पड़ा। थोड़े समय में ही उसने अनेक राजा वश में कर लिये तथा जिन्होंने सामना किया उसके राज्य छीन लिये। इस प्रकार उसने क्रूरतापूर्वक

रक्तपान करते और उनके सर्वत्र आतंक फैलाते हुए समस्त पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा लिया।

अब उसने स्वर्ग पर आक्रमण किया। देवराज इन्द्र ने ऐरावत पर चढ़कर सामना किया, किन्तु उन्हें शीघ्र ही पराजय का मुख देखना पड़ा। उनकी समस्त देवसेना छिन्न-भिन्न हो गई। देव-नारियाँ सतीत्व की रक्षा के लिए पर्वतों की कन्दराओं में जा छिपीं। उग्रेक्षण ने स्वर्ग पर अधिकार कर अपने एक विश्वासपात्र दैत्य को वहाँ का अधिकारी बना दिया। हारकर भागते हुए इन्द्र भगवान् नारायण के पास बैकुण्ठ में जाकर पुकारने लगे। भगवान् ने उन्हें आश्वासन दिया और गरुड़ पर विराजमान हो स्वर्ग की ओर चल दिए। उग्रेक्षण ने उन्हें देखा तो युद्ध के लिए तत्पर हो गया। भगवान् ने चक्र चलाया तो उसने मुष्टि-प्रहार से चक्र को दूर फेंक दिया। उन्होंने गदा से प्रहार किया तो असुर ने उसे चूर-चूर कर दिया।

भगवान् बड़े चकित हुए, फिर वह समक्ष गए कि यह वर के कारण प्रबल हो रहा है। इसलिए उन्होंने नीति से कार्य लेते हुए कहा–'असुरराज ! मैं तुम्हारे पराक्रम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अतएव मुझसे कोई अभीष्ट वर माँग लो।' वह बोला–'देवाधिदेव ! यदि आप प्रसन्न हैं तो कृपाकर मेरे गण्डकी नगर में सदैव निवास करें। बस, इतना ही वर अपेक्षित है।'

श्रीहरि ने स्वीकार कर लिया। अब उसने बैकुण्ठ की व्यवस्था के लिए भी एक विश्वासी असुर की नियुक्ति की और भगवान् को साथ लेकर अपनी राजधानी में आया। वहाँ एक सर्वोत्तम भवन में भगवान् को ले जाकर कहा–'आप चाहे जिन देवताओं के सहित यहाँ सुखपूर्वक रह सकते हैं।'

भगवान् वहीं रहने लगे। तब इन्द्रादि देवताओं ने उनसे कहा–'प्रभो ! आप तो इस मर्त्यधाम में कारावास कर रहे हैं, अब हमारा क्या होगा जगदीश्वर ?'

रमानाथ ने हँसते हुए कहा—'काल का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। उसी के प्रभाव से सब देहधारी उत्पन्न होते, वृद्धि को प्राप्त होते एवं मरते हैं। वही काल इस दैत्य का भी भक्षण कर लेगा। किन्तु धैर्यपूर्वक उस काल की प्रतीक्षा करनी होगी।'

कभी-कभी अपने माता-पिता के पास जाकर अपनी विजयगाथा सुनाता रहता, जिससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती और वे उसे आशीर्वाद प्रदान करते रहते। परन्तु वे यह कभी नहीं पूछते थे कि तू शासन कैसे चलाता है? कहीं "कोई अधर्म कार्य तो नहीं करता? प्रजाजनों को सुखी रखता है या नहीं, इत्यादि। अब उसने एक चरण और आगे बढ़ाया—घोषणा की गई कि कोई भी व्यक्ति यज्ञ, दान, उपासना आदि न करें। मन्दिरों में स्थापित प्रतिमाएँ हटाकर जल में डुबा दी जायें अथवा धरती में गहरी गाड़ दी जायें। उन प्रतिमाओं के स्थान पर उग्रेक्षण मूर्ति स्थापित कर उनका नित्य पूजन किया जाये।"

राजभय से सबको वही करना पड़ा। जो विद्वान् एवं धर्मज्ञ पुरुष, योगी, तपस्वी आदि उस प्रकार के अत्याचार को नहीं सहते थे, नगर छोड़कर जंगल में चले गये। सर्वज्ञ असुरों का जोर बढ़ गया। मांस-मदिरा सेवन, सतीत्वनाश, चोरी, मिथ्या भाषण, छल-कपट आदि की घटनाएँ सर्वत्र होने लगीं। इस प्रकार जहाँ देखो वहीं आसुरी कर्म ही दिखाई देते थे।

२. द्वितीय अध्याय

देवताओं द्वारा संकष्टीचतुर्थी-व्रत करना

उग्रेक्षण के अत्याचारों से पीड़ित हुए देवगण एक गुप्त स्थान पर

बैठकर राक्षसगण के पराभव का उपाय सोचने लगे । उस समय देवगुरु बृहस्पति ने उपाय बताया—'भगवान् गजानन का पूजन करो, वे समस्त संकटों को नष्ट करने में समर्थ हैं । संसार के सर्ग, पालन और लय में वे ही परमात्मा का एकमात्र कारण हैं । इस दैत्य का विनाश भी वही कर सकते हैं । उन विघ्नेश्वर विनायक को माघ मास की चतुर्थी तिथि बहुत प्रिय है । उस दिन जो उनका पूजन करता है, वही संकटों से मुक्त हो जाता है ।'

देवताओं ने पूछा—'उनका पूजन किस प्रकार किया जाय गुरुदेव ? यदि पूरा बताने की कृपा करें तो वैसा ही करने का तत्पर हों ।'

बृहस्पति बोले—'अब माघ मास का आरम्भ ही है । कृष्णपक्ष के इस मंगलवार को ही चतुर्थी तिथि आ रही है, उसी दिन उनका षोड़शोपचार पूजन करते हुए उनकी स्तुति करें तो वे करुणासिन्धु उस दैत्य को शीघ्र ही मार डालेंगे । तब तुम अपने पद को पुनः प्राप्त कर सकोगे ।' सुरगुरु के आदेशानुसार माघ कृष्णा चतुर्थी को देवताओं ने संकष्टी चतुर्थी का व्रत आरम्भ किया । भगवान् गणपति की प्रतिमा स्थापित कर षोड़शोपचार पूजन करने के पश्चात् भावपूर्ण हृदय से उनकी स्तुति की ।

"दीनानाथ दयासिन्धो योगिहृत्पद्मसंस्थितः ।
अनादिमध्यरहित-स्वरूपाय नमो नमः ॥"

'हे दीनों के स्वामी ! हे दयासिन्धु ! हे ज्ञानगम्य ! आपको नमस्कार है । हे मायातीत ! भक्तों के अभीष्ट पूर्ण करने वाले आपको बार-बार नमस्कार है ।'

देवगणों की स्तुति से प्रसन्न हुए वरद विनायक भगवान् प्रकट हुए । वे सिंह के समान प्रतीत होने वाले मूषक पर सवार एवं अद्भुत वस्त्राभूषणों से सुशोभित हो रहे थे । उन्होंने कहा—'देवगण ! तुम्हारे द्वारा

किए गए संकष्टी-व्रत से मैं बहुत सन्तुष्ट हूँ। बोलो, क्या चाहते हो, वही मुझसे ले लो।' देवता बोले-'प्रभो! हम निश्चय ही अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं जो केवल इस व्रत के प्रभाव से ही आपके साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। नाथ! उग्रेक्षण नामक असुरराज ने हमारा राज्य छीन लिया और भगवान् विष्णु को कैद कर लिया है। हे दयालु! हम अपना खोया हुआ वैभव पुनः शीघ्र ही प्राप्त कर लें, ऐसी कृपा कीजिए।'

गणनायक ने आश्वासन दिया-'देवताओ! मैं शीघ्र ही मयूरेश्वर नाम से अवतार धारण कर तुम्हारी कामनाएँ पूर्ण करूँगा। उग्रेक्षण का विनाश शीघ्र ही समझो।'

कैलास से शिवजी का पलायन

यह कहकर भगवान् विनायक अन्तर्धान हो गए। इधर देवताओं के पराभव का समाचार मिलने पर भगवान् शंकर पार्वतीजी और सात कोटि गणों के साथ कैलास छोड़कर त्रिसन्ध्या क्षेत्र में निवास करने लगे। वहाँ दैत्यराज के भय से संत्रस्त हुए गौतमादि अनेक ऋषि-महर्षि पहले से ही निवास कर रहे थे। वहीं भगवान् शंकर ने तपस्या आरम्भ कर दी।

एक दिन समय प्राप्त होने पर पार्वतीजी ने अपने नाथ से पूछा-'प्रभो! आप तो स्वयं ही सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय के एकमात्र कारण हैं, फिर आप किसकी प्रसन्नता के लिए तपस्या कर रहे हैं? यह रहस्य मुझे बताने का कष्ट कीजिए।'

शिवजी बोले-'प्रिये अनन्त कर्म वाले जिन भगवान् के प्रत्येक रोम में असंख्य ब्रह्माण्ड रहते हैं, वे समस्त गुणों के ईश्वर गुणेश ही मेरे आराध्य हैं। अनेक व्यक्ति उन्हीं गुणेश को गणेश भी कहते हैं।' उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के लिए तप करना आवश्यक होता है।

पार्वती को पुत्र की प्राप्ति, मयूरेश्वर का जन्म

गौरी ने तपस्या की विधि पूछी तो शिवजी ने उन्हें गणेश के एकाक्षरी मन्त्र 'गं' का उपदेश कर उपासना की विधि बताई। तब गौरी भी प्रसन्न मन से शिवजी की आज्ञा लेकर तपस्या के लिए सेखनाद्रि पर्वत पर गईं वहाँ उन्होंने बारह वर्ष तक घोर तप किया।

तभी उन्होंने भगवान् गणेश के दर्शन किये। उनका अद्भुत रूप था। दस भुजाएँ, गजवदन, मस्तक पर चन्द्रमा, मध्यभाग में नारायण मुख, दक्षिण भाग में शिव-मुख और वाम भाग में ब्रह्म-मुख दिखाई देता था। वे शेषनाग और पद्मासन लगाये हुए विराजमान थे। उस गौर वर्ण प्रभु ने अपनी गम्भीर वाणी में कहा–

'जगदीश्वरि! आपकी तपस्या से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप अपना अभीष्ट वर माँगिये।'

पार्वती ने प्रणाम करके कहा–'प्रभो! आप प्रसन्न हैं, यही मैं चाहती हूँ। आपकी तुष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई वर मुझे अभीष्ट नहीं है। आप मेरे पुत्र रूप में प्रकट होकर निरन्तर दर्शन को प्राप्त करावें।'

'एवमस्तु' कहकर देवाधिदेव गणेश अन्तर्धान हो गए। गिरिजा ने वहाँ एक सुन्दर मन्दिर की स्थापना कर गणेशजी की मूर्ति स्थापित की और उसका नाम रखा 'गिरिजात्मज' और फिर वे भगवान् शंकर के पास आ गईं तथा उन्हें अपनी वर-प्राप्ति की बात बताई।

शिवजी बोले–'देवि! भगवान् तुम्हारे पुत्र रूप से अवतार लेकर दैत्य उग्रेक्षण और उसके साथियों को मारकर पृथ्वी का भार उतारेंगे और इन्द्रादि लोकपालों को उनके अधिकार की पुनः प्राप्ति करायेंगे।

इसके पश्चात् उस क्षेत्र में पार्वती जी का तप चर्चा का विषय बन गया। धीरे-धीरे भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी का आगमन हुआ। उस दिन

चन्द्रवार, स्वाति नक्षत्र, सिंह लग्न एवं पाँच शुभ लग्नों का साथ था। पार्वतीजी ने गणेश जी का षोड़शोपचार पूजन किया ही था कि असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य कान, नाक, हाथ से युक्त विराट् स्वरूप तेजस्वी बालक का प्राकट्य हुआ। उन्होंने गिरिजा से कहा–'मातेश्वरि ! मैं वही गणेश हूँ, जिसकी आप निरन्तर आराधना करती रहती हैं। अब आपके पुत्र रूप से मेरा प्राकट्य हुआ है।'

गिरिजा बोलीं–'महा महिमामय ! अपने इस विराट् रूप छोड़कर मुझे पुत्र-सुख दो।'

इतना कहते ही उन्होंने सुन्दर बाल रूप धारण कर लिया, सुन्दर नासिका, तीन नेत्र, छः भुजाएँ, विशाल वक्षःस्थल, दर्शनीय मुख, चरणों में ध्वज, अंकुश, कमल आदि के शुभ चिह्न तथा करोड़ों चन्द्रमाओं के समान उज्ज्वल गौर वर्ण था।

तभी भगवान् शंकर ने बालक को देखकर प्रणाम किया और बोले–'पार्वती ! यह बालक रूप में सभी प्राणियों के स्वामी, सभी लोकों के नाथ, सभी के आश्रयभूत परमात्मा हैं। यही गणेश तुम्हारे पुत्र रूप से प्रकट हुए हैं।'

शिवजी ने बालक का जातकर्म-संस्कार कराया और विप्रों को इच्छित दान दिये। पार्वती ने उन्हें दुग्धपान कराया। समस्त क्षेत्र में ज्योतिषीगण उपस्थित हुए। उन्होंने बालक का नाम विघ्नहरण, विनायक, गुणेश या गणेश रखा और कहा कि 'यह बालक सभी शुभ कर्मों में प्रथम पूजनीय होगा। इसके द्वारा दैत्यों का संहार अवश्यम्भावी है।'

उग्रेक्षण का चिन्तित होना

उग्रेक्षण के गुप्तचरों ने उसे समाचार दिया कि 'कैलासपति शिव आपके भय से दण्डकारण्य के त्रिसन्ध्या क्षेत्र में अपने करोड़ों गणों और

अनेकानेक ऋषि-मुनियों के साथ निवास करते हैं। शिवपत्नी पार्वती को एक पुत्र की प्राप्ति हुई है, जिसके विषय में ज्योतिषियों का कहना है कि वह असुरों का संहार करेगा।'

दैत्यराज ने कहा–'कहाँ मैं इतना विशालकाय और महाबली तथा कहाँ वह छोटा-सा नवजात शिशु ? एक छोटा-सा मच्छर किसी एक गजराज का वध कैसे कर सकता है ?'

तभी उसने आकाशवाणी सुनी–'दैत्यराज ! तेरा काल समीप है। तुझे मारने के लिए भगवान् गणेश ने अवतार धारण कर लिया है। मिथ्याभिमान छोड़कर उनकी शरण ले।'

अमात्यों ने कहा–'त्रिभुवननाथ ! आपको अमर रहने का वर प्राप्त है, इसलिए चिन्ता कैसी ? आकाशवाणी से इस प्रकार कहलाना देवताओं का षड्यन्त्र मात्र प्रतीत होता है। आपकी आज्ञा हो तो हममें से कुछ वीर उस स्थान पर जाकर अवसर मिलते ही उस बालक को मार डालें जिससे आप निश्चिन्त हो सकें।'

उग्रेक्षण ने चैन की साँस लेते हुए कहा–'यही करना होगा। शत्रु बालक पर अभी तो काबू पाना सरल है, बाद में वह प्रबल हो सकता है।'

असुरराज की आज्ञा पाते ही अनेक मायावी असुर उठ खड़े हुए और दण्डकारण्य की गिरि-कन्दराओं में रहकर अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। उन्होंने समस्त त्रिसन्ध्या क्षेत्र को अपना लक्ष्य बना लिया। वे वहाँ की प्रत्येक गतिविधि पर सतर्कता-पूर्वक ध्यान रखने लगे।

३. तृतीय अध्याय

गृध्रासुर का मारा जाना

एक दिन एक असुर ने गृध्र का रूप बनाया। कुटी से बाहर खेलते हुए गणेशजी के पास जा पहुँचा। उसने इधर-उधर आहट लेकर देख लिया कि उसके क्रिया-कलाप को देखने वाला कोई नहीं है तो सहसा उन्हें अपनी भयंकर एवं विशाल चोंच में दबाकर आकाश में अत्यन्त ऊँचाई पर उड़ चला।

तभी किसी कार्यवश माता पार्वती जी बाहर आईं तो उन्होंने पुत्र को कहीं न देखा। इससे 'हे गणेश, हे गणेश' पुकारती हुई व्याकुलता से इधर-उधर खोज करने लगीं। आकाश में उड़ते हुए गृध्रासुर की चोंच में दबे हुए गणेशजी ने माता की पुकार सुनी तो असुर के मस्तक पर मुष्टि प्रहार कर बैठे। बस, एक ही प्रहार ने असुर का मस्तक चूर्ण कर दिया और वह धरती की ओर गिरने लगा।

गणेशजी सुखपूर्वक उसके मुख में बैठे रहे। माता ने गृध्र-सहित अपने पुत्र को आकाश से गिरता देखा तो उस ओर दौड़ीं। इतने में ही राक्षस धराशायी हो गया और पार्वती जी ने तुरन्त ही गणेशजी को उसकी चोंच से निकालकर अपनी गोद में ले लिया और स्तनपान कराने लगीं।

क्षेमासुर एवं कुशलासुर का मारा जाना

क्षेम और कुशल नाम के दो असुर बड़े बलवान् थे। वे अवसर देखकर आश्रम में घुस आये। किन्तु माता पार्वती को बालक के पास बैठी देखकर दबे पाँव एक कोने में जा छिपे। जब माता उन्हें पालने में लिटाकर किसी कारणवश बाहर चली गईं तब दोनों असुर पालने के पास आये और उसमें से बालक को उठाने लगे।

तभी गणेशजी ने अपने पाँव चलाये तथा लीलापूर्वक एक-एक पदाघात दोनों पर कर बैठे। बस, एक-एक बार में ही दोनों असुर दूर जाकर इतने जोर से गिरे कि उनकी हड्डी-पसलियों का ही चूर्ण हो गया। उनके हृदय फट चुके थे और रक्त वमन करके शान्त हो चुके थे।

माता आईं तो यह दृश्य देखकर अवाक् रह गईं। उनकी समझ में नहीं आया कि यह दोनों यहाँ किस प्रकार आये और कैसे मारे गये? पार्वतीजी ने अपने पुत्र को गोद में उठा लिया और गणों को आदेश दिया कि उन असुरों के शरीर उठाकर सुदूर अरण्य में फेंक दे।

क्रूर नामक असुर की मृत्यु

तीन राक्षस मारे जा चुके थे, किन्तु बालक का बाल बाँका नहीं हुआ। इससे असुरों में शंका तो उत्पन्न हो गई थी कि बालक में कोई विशेषता अवश्य है। फिर भी, वे उसकी विशेष सामर्थ्य से अपरिचित ही थे, अतः मारने के अनेक उपाय सोचने लगे।

राक्षस दल में 'क्रूर' नामक एक असुर अत्यन्त ही क्रूर था। उसे यथा नाम तथा गुण कहना अनुपयुक्त नहीं होगा। एक दिन उसका भी काल खींच ले गया। वहाँ पार्वतीजी मन्दिर में पूजन करने गई थीं और बालक गणेश मन्दिर के बाहर खेल रहे थे।

उसने सोचा, इससे अच्छा अवसर और कब आयेगा? वह भी एक मुनि-बालक का रूप बनाकर उनके साथ खेलने लगा। गणपति को उसके क्रिया-कलाप देखकर हँसी आ गई, किन्तु वह उस गूढ़ हँसी का अर्थ न समझ सका। वह कभी उनका कण्ठ पकड़ता तो कभी उनके केश खींचता। आरम्भ में तो गणेशजी ने उसका अधिक प्रतिरोध नहीं किया, किन्तु जब असुर के आघातों में प्रबलता आने लगी, तब उन्होंने उसे पकड़कर बलपूर्वक गला दबा दिया।

मन्दिर से बाहर निकलती हुई गौरी ने पुत्र की यह चेष्टा देखी तो आशंकित हो उठीं कि यह मुनिकुमार का गला अधिक न दबा दे, इसलिए उसे बचाने को दौड़ीं। किन्तु तब तक उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। और वह छद्‌मवेश छोड़कर अपने असुर रूप में प्राणहीन रूप से धरती पर गिर चुका था। पार्वती जी उसे देखकर अत्यन्त व्याकुल हुईं और उन्होंने अपने पुत्र को उठाकर गोद में ले लिया।

व्योमासुर-वध

यह असुर झंझावात का रूप रखने में सिद्धहस्त था, इसलिए दैत्यराज के दरबार में इसका बड़ा सम्मान था। वह भी गणेश जी का वध करने के विचार से त्रिसंध्याक्षेत्र में रह रहा था।

एक दिन गणेशजी का उपवेशन-संस्कार होना था। माता पार्वती के साथ निवास करने वाली ऋषि-पत्नियों ने उन्हें दिव्य वस्त्रालंकार धारण कराये और तब आदिदेव गणाध्यक्ष का पूजन, पुण्याहवाचन कार्य सम्पन्न हुआ। उस समय सभी देवताओं ने वहाँ उपस्थित होकर इन श्रीमयूरेश्वर गणेश का पूजन किया, तदुपरान्त ऋषि-विप्रादि ने उन्हें आशीर्वाद दिए।

यही अवसर व्योमासुर ने अपने लिए अधिक उपयुक्त समझा। वह आश्रम के सामने खड़े हुए वृक्ष पर बैठकर जब उसे हिलाने लगा, तब पत्तों के हिलने से धीरे-धीरे झंझावात का रूप ले लिया। प्रबल आँधी के कारण किसी को कुछ भी दिखाई न देता था। उसी समय उस असुर ने गणेशजी को पकड़कर मारने का प्रयत्न किया, किन्तु गणेशजी द्वारा किये गए प्रत्याघात से वह स्वयं ही क्षत–विक्षत होकर गिर पड़ा।

आँधी का वेग रुका तो सभी ने देखा कि एक भयंकर राक्षस मरा पड़ा है। तभी भयातुरा पार्वती जी ने अपने पुत्र को अंक में ले लिया और

दुग्धपान कराने लगीं। सभी उपस्थित देवता और ऋषिगण बालक को चिरंजीवी होने का आशीर्वाद देने लगे।

राक्षसी शतमहिषा का वध

व्योमासुर की एक विकराल मुख वाली बहिन थी। उसका समस्त शरीर ही भयंकर एवं विशाल था। उसे ज्ञात हुआ कि प्रिय भाई व्योमासुर मारा गया है तो वह क्रोध से काँपने लगी। उसने निश्चय किया कि भाई की मृत्यु का प्रतिशोध अवश्य लेगी। इसलिए सोलह वर्षीया किशोरी का रूप धारण किया और पार्वती जी के पास जाकर उन्हें प्रणाम कर बैठ गई।

पार्वतीजी ने उसे कोई देवकन्या समझा, इसलिए बड़ा सत्कार किया। भोजनादि से सन्तुष्ट कर उसे रात्रि में अपने ही पास सुलाया। परन्तु, गणेशजी उसकी समस्त गतिविधि पर दृष्टि रखे हुए थे। पार्वतीजी को घोर निद्रा में पड़ी देखकर वह उठी और मयूरेश्वर को स्पर्श करने लगी। तभी सहसा उन्होंने उस राक्षसी के कान-नाक पकड़ लिये।

राक्षसी ने अपने को छुड़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु छोड़ने की अपेक्षा पकड़ बढ़ती गई। पर्वत के समान दबाव से छटपटाती हुई राक्षसी चीत्कार कर उठी। उसे सुनकर पार्वतीजी ही नहीं, अन्यत्र सोई हुई ऋषि-पत्नियाँ भी दौड़ी हुई चली आईं।

उन सबने उसे छुड़ाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु बालक ने राक्षसी के नाक-कान इतनी तीव्रता से मसले कि प्राणों के साथ ही शरीर से पृथक् हो गए। अब उसका आसुरी रूप प्रत्यक्ष हो चुका था। सभी महिलाएँ उसे देखकर भयाक्रान्त हो उठीं। माता बालक को उठाकर दुग्ध-पान कराने लगीं।

और भी अनेक राक्षसों का वध

तदुपरान्त एक-एक कर अनेक असुर वहाँ आते रहे और प्राण गँवाते रहे । इस प्रकार कर्मठ, तल्प, दुन्दुभि, अजगर, शलभ, नूतुर, मत्स्य, शैल, कर्दम आदि अनेक महाबली राक्षस मारे गए । जितने भी राक्षसों ने अपनी इहलीला समाप्त की वे सभी भगवान् के हाथ से मरने के कारण मोक्ष के अधिकारी हुए । वस्तुतः वे सभी असुर अत्यन्त सौभाग्यशाली थे । भगवान् को मारने के विचार से भी आकर उन्हीं के धाम को प्राप्त हो गये थे । धीरे-धीरे मयूरेश पाँच वर्ष के हो गये ।

तरह-तरह की बाल-क्रीड़ाएँ

अब पार्वती-पुत्र अनेक बालकों के साथ क्रीड़ाएँ करने लगे । कभी गाते, कभी नाचते, कभी हँसते-हँसते बोलते थे । एक दिन मध्याह्न काल होने पर भी उन्हें भोजन प्राप्त नहीं हुआ । पार्वती जी किसी कार्य में व्यस्त थीं और वे क्षुधातुर हुए सोचते थे कि भोजन कैसे, कहाँ से प्राप्त हो ?'

जब कोई उपाय समझ में नहीं आया, तब वे महर्षि गौतम की कुटी पर जा पहुँचे । वह कुटी बहुत निकट ही थी, ऋषि-पत्नी भोजन बनाती हुई किसी कारणवश उठकर पाकशाला से बाहर निकल आई । अवसर देखकर गणेशजी ने पाकशाला में जाकर पके हुए भोजन का पात्र उठाया और चुपचाप बाहर निकल आये ।

साथी बालकों ने पूछा—'क्या है ?' उन्होंने कहा—'भोजन है, भूख लगी है, इसलिए उठा लाया । खेलते हुए बहुत देर हो गई, पहिले खा लें, तब पुनः खेलेंगे ।'

यह कहकर उन्होंने अन्नपात्र का अन्न सभी बालकों में बराबर बाँट दिया तथा अपना भाग स्वयं ले लिया । सभी ने तृप्त होकर पुनः खेलना आरम्भ कर दिया ।

इधर ऋषिपत्नी ने पाकशाला में जाकर देखा कि अन्नपात्र नहीं है। वे विस्मित चित्त से महर्षि के पास जाकर बोलीं—'नाथ ! पाकशाला में अन्नपात्र नहीं है, अभी बलिवैश्वदेव कर्म भी नहीं हो पाया था।'

महर्षि को भी आश्चर्य हुआ, पाकशाला में गये और सब ओर दृष्टि फिराई, अन्नपात्र कहीं नहीं था। तब बहार निकलकर उन्होंने देखा उमापुत्र के साथ कुछ मुनि-बालक खेल रहे थे और खाली अन्नपात्र उनके निकट पड़ा था।

उनको यह समझते देर न लगी कि इन्हीं में से किसी ने अन्नपात्र चुराया और मिलकर खा लिया है। उन्होंने ध्यान लगाकर गणेशजी की करतूत जान ली तो क्रोधित होकर बोले—'अरे, तू शिव-पार्वती का पुत्र होकर ऐसा दुष्टकर्म करता है ! और हम तो तुझे परब्रह्म परमात्मा समझते थे।'

इतना कहकर उन्होंने मयूरेश्वर का हाथ पकड़ा और पार्वती जी के पास ले गये। वहाँ जाकर उन्होंने कहा—'शिवे ! आपका यह पुत्र आये दिन उपद्रव करता रहता है। आज तो इसने हमारा अन्नपात्र ही चुरा लिया। बलिवैश्वदेवादि भी न हो पाया था कि समस्त अन्न इसने अन्य बालकों के साथ बैठ कर खा लिया।'

पार्वती बोलीं—'महर्षे ! मैं भी इसके क्रिया-कलापों से त्रस्त हो रही हूँ। इसके उत्पन्न होते ही असुरों के उपद्रव आरम्भ हो गये। बालकों के साथ ही खेल-खेल में उलझ जाता है तो पीछा नहीं छोड़ता। अब यह घरों में घुसकर भोजन भी चुराने लगा है। इसलिए इसे दण्ड देना पड़ेगा।'

यह कहकर माता ने रस्सी लेकर पुत्र के हाथ-पाँव बाँधने आरम्भ किए। महर्षि ने कहा—'मातेश्वरि ! इसे बाँधने की अपेक्षा स्नेहपूर्वक समझाओ।'

महर्षि चले गए। माता ने पुत्र को दृढ़ता से बाँधकर कोठरी में बन्द

कर दिया । फिर बाहर आकर विश्राम करने लगीं तो ऐसा अनुभव हुआ कि पुत्र गोद में ही खेल रहा है । फिर बाहर की ओर देखा तो पुत्र को बालकों के साथ खेलता पाया ।

माता को आश्चर्य हुआ । उसने कोठरी खोलकर देखा तो हाथ-पाँव बँधे हुए मयूरेश्वर पूर्ववत् बैठे हैं । उनके नेत्रों से आँसू गिर रहे थे । पार्वती ने हृदय कठोर बनाकर पुनः किवाड़ बन्द कर दिये, क्योंकि बालक को सीख देने के लिए कुछ डराना तो था ही ।

वे कुछ देर के लिए ऋषिपत्नी के पास जा बैठीं, किन्तु पुत्र के कोठरी में बँधा पड़ा रहने के कारण उनका मन न लगा । वे अपने आश्रम को लौटीं तो मार्ग में देखा कि मयूरेश्वर खेल रहे हैं । माता ने पुत्र का दुःख भूलकर उसे स्नेहपूर्वक पुकारा 'पुत्र ! घर चलकर जलपान कर लो ।' बालक ने उत्तर दिया–'माता ! यहाँ तो मयूरेश्वर नहीं है । उसे तो आपने कोठरी में बन्द कर रखा है ।'

माता को ध्यान आया और वह दौड़ी-दौड़ी आश्रम में पहुँचीं । उन्होंने कोठरी खोलकर पुत्र को देखा, वह रोता-रोता सो गया था । माता ने बन्धन खोलकर उसे हृदय से लगा लिया और स्तनपान कराने लगीं ।

उधर महर्षि गौतम ने वहाँ से लौटकर देवपूजन आरम्भ किया । किन्तु यह क्या ? उनके मन्दिर की सभी मूर्तियाँ गणेश रूप में दीखीं । कहने लगे–'देखो, मुझसे कितनी भूल हो गई ? मयूरेश्वर को सामान्य बालक के समान पकड़कर उनकी माता के पास ले गया, जिन्होंने उन्हें लताड़ते हुए कठोर रस्सी से बाँधकर घर में बन्द कर दिया । वस्तुतः यह हमारा सौभाग्य ही था कि साक्षात् परब्रह्म ने अपनी मित्र-मण्डली के साथ भोजन ग्रहण कर लिया । वे भगवान् मेरा अपराध क्षमा करें ।'

यह कहकर महर्षि श्रीगणपति के ध्यान में मग्न हो गए और उनकी पत्नी अहल्या पुनः भोजन बनाने में व्यस्त हो गयीं ।

७।

४. चतुर्थ अध्याय

वृकासुर का वध

गणपति की आयु का छठा वर्ष चल रहा था, तभी एक दिन शिवजी के आश्रम में विश्वकर्मा का आगमन हुआ। मयूरेश्वर खेलने के लिए गये थे और लौट आये। तभी विश्वकर्मा ने उनके चरणों में प्रणाम किया और बोले—'प्रभो! आपके प्रकट होने का समाचार जानकर दर्शनार्थ यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।'

गणेश बोले—'बड़ी कृपा की आपने, किन्तु यह तो बताइये कि मेरे लिए उपहार क्या लाये हैं?'

विश्वकर्मा ने विनीत भाव से उत्तर दिया—'यद्यपि आप चराचर नाथ के लिए मैं क्या उपहार दे सकता हूँ? तथापि सभी शत्रुओं के संग्रामार्थ तीक्ष्ण परशु, पाश, पद्म और अंकुश लाया हूँ, जो प्रस्तुत हैं।'

'वाह! कितना सुन्दर उपहार है? यही तो चाहता था मैं। असुरों के उपद्रव बढ़ रहे हैं, देवगण उनके भय से त्रस्त हुए छिपे हैं और रमानाथ गण्डकी नगर में बन्दी जैसा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में असुरों से युद्ध भी करना पड़ेगा।' मयूरेश्वर ने विश्वकर्मा को समझाया।

विश्वकर्मा उनकी परिक्रमा करके चले गये। गणेशजी उन दिव्यास्त्रों के चलाने का अभ्यास करने लगे। एक दिन उग्रेक्षण द्वारा भेजा हुआ एक महादैत्य वहाँ आया, जिसका नाम वृकासुर था। उसने गणेशजी को देखते ही उनपर आक्रमण कर दिया, तभी उन्होंने विश्वकर्मा प्रदत्त अंकुश का भयंकर प्रहार कर दैत्य की जीवन-लीला समाप्त की और स्वधाम में भेज दिया।

उपनयन-संस्कार मयूरेश्वर का

सातवें वर्ष गणपति का उपनयन संस्कार हुआ । जोर-शोर से तैयारी आरम्भ हुई । सभी देवता, यक्ष, किन्नर, चारण एवं अट्ठासी हजार ऋषियों ने उस उत्सव में भाग लिया । शिवजी ने सबका सहर्ष स्वागत किया । संस्कार के समय, जब मुनिगण मन्त्र पाठ करने लगे, तभी वहाँ कृतान्त और काल नामक दो भयंकर राक्षस मदमाते हाथी का रूप बनाकर आ गये । उन्होंने वहाँ उपद्रव आरम्भ किया तो शिवगणों ने उन्हें रोका । किन्तु वे शिवगणों को भी मारते-मारते मण्डप के निकट जा पहुँचे । उन्होंने स्तम्भों में टक्कर मारकर गिराने की चेष्टा की तो भयभीत हुए मुनिकुमार, देवगण एवं ऋषि-पत्नियाँ वहाँ से प्राण बचाकर भागे ।

उनका यह कौतुक देखकर बटु गशेणजी ने एक हाथी की सूँड़ पकड़कर उमेठ डाली और फिर उसपर घोर मुष्टि प्रहार किया, जिससे पीड़ित होकर चीत्कार करता हुआ वह हाथी तीव्रता से पीछे को मुड़ा कि तभी उसकी जोर की टक्कर अपने साथी (दूसरे हाथी) से हुई । उसके कारण दूसरा हाथी भी आहत हो गया । तब विनायक ने उस पर भी मुष्टि प्रहार किया, जिससे वह व्याकुल हो गया । किन्तु गणेशजी ने उन्हें सँभलने का अवसर ही नहीं दिया । वे उनपर प्रहार-पर-प्रहार करते जा रहे थे, जिससे उनके अस्थिपंजर बिखर गये और वे प्राणहीन होकर धरती पर जा गिरे । यह देखकर सब आश्वस्त हुए और बालक के पराक्रम की प्रशंसा करने लगे ।

तदुपरान्त मयूरेश्वर का विधिवत् उपनयन-संस्कार सम्पन्न हुआ । देवताओं, मुनियों आदि ने उन्हें अनेक प्रकार के अलंकार भेंट किये और फिर सब अपने-अपने स्थानों को लौट गये । तदुपरान्त उनका वेदाध्ययन आरम्भ हुआ । गणेश के मुख से होने वाला सस्वर वेदगान सभी को मुग्ध करता था । पशु-पक्षी आदि भी उसे सुनकर आनन्दित होते थे ।

राक्षस नूतन वध

उग्रेक्षण ने गणेश की हत्या करने के लिए नूतन नामक एक विकराल राक्षस को आज्ञा दी । उसने त्रिसन्ध्या क्षेत्र में पहुँचकर अत्यन्त भयंकर हिंसक पशु का रूप बनाया और जहाँ गणेशजी द्वारा देवगान चल रहा था वहाँ पहुँचकर सिंहनाद करने लगा । उस नाद ने वातावरण को अत्यन्त विक्षुब्ध कर दिया जिससे पर्वत भी काँप उठा और गुफाएँ फटने लगीं ।

राक्षस के तीन मुख, चार कान, चार सींग, पाँच नेत्र, दो पूँछ और आठ पाँव थे, वह गणेशजी के सामने आकर नृत्य करने लगा । गणेशजी उठकर उसकी ओर बढ़े तो वह तुरन्त उड़कर आकाश में चला गया । इस प्रकार वह कभी उनके पास आ खड़ा होता और कभी उड़कर अदृश्य हो जाता था । उसके इस उपक्रम से सभी भयभीत थे ।

गणेशजी समझ गये कि राक्षस का अन्त समय आ गया है । वे उठकर उसे पकड़ने को दौड़े तो वह वन की ओर भागा । गणेशजी उसके पीछे-पीछे चलते गये । इसी बहाने से वह उन्हें घोर अरण्य में ले गया और फिर गर्जन करता हुआ आकाश में उड़ गया ।

उसकी गर्जना से धरती काँप उठी, नक्षत्र टूटने लगे, मेंघ बिखर गये । फिर वह जैसे ही धरती पर आया, वैसे ही मयूरेश्वर ने पाश फेंका, जिसके कारण उसकी समस्त माया नष्ट हो गई और वह उसमें बँधकर धराशायी हो गया । उसका विशाल शरीर चूर-चूर हो गया तथा प्राण पलायन कर गये ।

अण्डा से निकले पक्षी के वध का वर्णन

एक दिन आम के वन में गणेशजी अपने साथियों के साथ खेल रहे थे । वे वृक्षों से आम के फल गिरा-गिराकर खाने लगे । कुछ मुनिकुमार परस्पर व्यंग्य करते हुए एक-दूसरे पर फल फेंकने लगे । एक फल

उचटकर अण्डे की रक्षा करती हुई एक स्त्री के सिर पर जोर से जा लगा। वह स्त्री क्रोधपूर्वक आकर पूछने लगी—जिसने यह फल फेंककर मुझे मारा है, वह बालक कहाँ है ? उसे देखकर गणेशजी उस वृक्ष के कोटर में जा छिपे। वहाँ उन्होंने एक चमकता हुआ श्वेत अण्डा उठाकर देखा तो वह फूट गया और उससे एक विशालकाय पक्षी निकल आया। उसके विशाल पंख और नीला कण्ठ था, उसके मुख से अग्नि की लपटें निकल रही थीं। उसके पंख हिलाते हुए पृथ्वी काँप उठी और समुद्र क्षुब्ध हो गया। वह विशाल पक्षी भागते हुए मुनिकुमार पर पंखों से प्रहार करने लगा। यह देखकर गणेशजी ने शीघ्रता से कोटर से कूदकर उसके पंख पकड़ लिये। पक्षी भी प्रबल था, उसने किसी प्रकार अपने पंख छुड़ा लिये। अब गणेशजी और पक्षी में युद्ध छिड़ गया, अन्त में वह अत्यन्त पराक्रमी पक्षी उनके मुष्टि-प्रहार से मारा गया।

यह देखकर वह स्त्री गणेशजी की स्तुति करती हुई बोली—प्रभो ! मैं ! महर्षि कश्यप की भार्या विनता हूँ। उनका पुत्र यह शिखण्डी (मयूर) आपके सेवक रूप में समर्पित है। महर्षि ने पहिले ही बता दिया था कि इस अण्डे को जो फोड़ेगा, वही इसका स्वामी होगा। मेरे जटायु, श्येन और सम्पाति तीन पुत्रों को कद्रु-पुत्र ने नागलोक में बन्दी बनाया हुआ है, कृपाकर उन्हें मुक्त कराने का कष्ट करें।'

गणेशजी ने आश्वासन दिया—'माता ! आप चिन्ता न करें। मैं तुम्हारे पुत्रों को छुड़ाने का शीघ्र ही प्रयत्न करूँगा।' तदुपरान्त उन्होंने मयूर से कहा—'तुम पर प्रसन्न हूँ, कोई इच्छित वर माँग लो।'

मयूर बोला—'प्रभो ! मुझे तो आपकी भक्ति ही चाहिए। हाँ, एक इच्छा और है, वह यह कि आपके नाम से पूर्व मेरा नाम लगाया जाये, लोक में आपकी प्रसिद्धि मयूरेश्वर के नाम से हो।'

'ऐसा ही हो' कहकर गणेशजी मयूर पर चढ़कर अपने आश्रम में पहुँचे। माता पार्वती ने सब वृत्तान्त सुना तो वे बहुत प्रसन्न हुईं।

ऋषिकुमार भी उनकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने घरों को चले गये ।

अश्वासुर का वध

गणेशजी की आयु ग्यारह वर्ष की हो रही थी । आम्र-वन में विद्यमान सरोवर के किनारे मुनिकुमारों के साथ गणेशजी खेल रहे थे, तभी उग्रेक्षण के द्वारा भेजा हुआ एक राक्षस विशालकाय घोड़े के रूप में आकर उपद्रव करने लगा । उसकी भयंकर आकृति और आक्रमण चेष्टा देखकर कुछ मुनिकुमार सरोवर में कूदे, कुछ वृक्षों पर चढ़े और कुछ प्राण लेकर कहीं अन्यत्र जा छिपे ।

तभी गणेशजी ने उस पर वज्र तुल्य मुष्टिका का प्रहार किया । पहले तो उसने सामना किया, किन्तु बार-बार के मुष्टिका प्रहार में उसका शरीर अत्यन्त पीड़ित हो गया तो वह प्राण बचाने के लिए सरोवर में जा कूदा । यह देखकर गणपति ने भी छलाँग लगाई और उस घोड़े को जल में ही जा दबोचा तथा मर्दन कर मार डाला और उसका मृत शरीर उछालकर सरोवर से बाहर फेंक दिया । राक्षस को मरा देखकर सभी मुनिकुमार प्रसन्नता व्यक्त करने लगे ।

५. पञ्चम अध्याय

नागलोक पर विजय

अश्वासुर के मरने पर वे सब अधिक हर्षित होकर जल-क्रीड़ा करने लगे । वहीं कुछ नाग-कन्याएँ भी सरोवर के दूसरी ओर आकर

जल-क्रीड़ा करने लगीं । तभी उनकी दृष्टि मुनिकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए गणेश पर पड़ी । उन्होंने निकट आकर उनका परिचय पूछा ।

गणेश ने अपना परिचय दिया तो उन्होंने कुछ समय को घर चलने का आग्रह किया । वे बोले–'माता जी मेरी प्रतीक्षा करती होंगी, इसलिए आपके साथ नहीं चल सकता । मुझे घर से निकले हुए बहुत विलम्ब हो गया है ।'

नागकन्याओं ने बहुत आग्रह किया तो वे चुपचाप उनके साथ चल दिए । मुनिबालकों को उनके जाने का पता न चला । वे समझते रहे कि गणेशजी हमारे साथ ही हैं । मार्ग में भगासुर ने उन बालकों को छल से मारने का उपक्रम किया, किन्तु सर्वत्र मयूरेश्वर ने अपने प्रभाव से राक्षस को मार डाला ।

माता को भी यही प्रतीत हुआ कि गणेश घर पर आ गया, उन्होंने उनके प्रतिरूप को भोजन कराया और तब वे अपनी शय्या पर जाकर सो गईं ।

नागकन्याएँ उन्हें पाताल-लोक में स्थित अपने भवन ले पहुँचीं । वहाँ उद्वर्त्तनादि करके उन्हें स्नान कराया और दिव्य वस्त्रालंकार धारण कराकर अनेक प्रकार से उनका पूजन किया और फिर स्तुति करते हुए निवेदन किया कि 'प्रभो ! आप कुछ दिन यहाँ निवास करने की कृपा करें ।'

जब गणेशजी ने पूछा–'आपके पिताजी कौन हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया–'हम नागराज वासुकि की पुत्रियाँ हैं । वे आपके दर्शन करके बहुत प्रसन्न होंगे ।'

यह कहकर नागकन्याएँ उन्हें अपने पिता के पास ले गईं । वहाँ नागराज वासुकि अत्यन्त चमकते हुए रत्नसिंहासन पर विराजमान थे । उनके मस्तक में अद्भुत मणि एवं रत्नमुकुट और कण्ठ में दिव्य मणियों का हार सुशोभित था । उन्हें देखते ही गणराज शीघ्रता से उनके फन पर

चढ़कर नाचने लगे । फन के हिलने से मणि का प्रकाश हिला और साथ ही तीनों लोक भी हिल उठे ।

इस प्रकार वासुकि को दण्ड देकर उन्होंने उन सर्पराज को कण्ठाभरण के समान गले में धारण कर लिया । इस कारण उस दिन से उनका नाम 'सर्पभूषण' या 'नागभूषण' हुआ । सर्पराज के पराभव का समाचार समूचे नागलोक में फैल गया । उनके भाई सहस्रफनधारी शेष जी ने सुना तो वे अत्यन्त क्रोधित होकर सोचने लगे—'मेरे भाई वासुकि को पराजित करने वाला कौन प्रकट हो गया ?'

शेषनाग दौड़े हुए गये और उन्होंने गणपति पर आक्रमण कर दिया । गणपति ने भी उनका सामना किया । स्मरण करते ही मयूर आ उपस्थित हुआ तथा गणेशजी उसपर चढ़कर घोर युद्ध करने लगे । शेषनाग के साथ असंख्य नाग थे । मयूर ने उनमें बहुतों को पंख की मार से मारा, बहुतों को आहत किया और कुछ नागवीरों को मुख में लेकर उदरस्थ कर लिया ।

यह देखकर शेषनाग अत्यन्त कुपित हुए, उनके मुखों एवं नासाओं से विष की भयंकर लपटें निकलने लगीं । मयूर उस विष-ज्वाला में झुलसकर मूर्च्छित हो गया । उसके गिरते ही मयूरेश अत्यन्त क्रोधित हुए और उछलकर शेषनाग के सिर पर जा चढ़े और अपना भार बढ़ाकर फणों पर नृत्य करने लगे ।

भार असह्य था, शेष उसे सह न सके और आन्तरिक पीड़ा से कराहते हुए रक्त वमन करने लगे । उसी स्थिति में गणेश जी ने उन्हें रस्सी के समान अपनी कटि में लपेट लिया । नागराज शेष आश्चर्य में डूब गये । सोचने लगे—'अवश्य ही यह जगदीश्वर हो सकते हैं, अन्यथा और कौन मेरी यह दशा कर सकता था ?' उन्होंने तुरन्त ही मयूरेश के समक्ष पराजय स्वीकार की और उनकी स्तुति करते हुए बोले—'मेरे लिए क्या आज्ञा है प्रभो !'

गणेश बोले—'तुमने सम्पाति, जटायु और श्येन को कैद कर रखा है, उन्हें छोड़ दो और मेरे पास लाने को कहो ।'

शेष ने अपने सेवकों को वैसा करने का आदेश दिया । कुछ देर में तीनों वहाँ ले आए गये । इतने में मयूर की मूर्च्छा दूर हो गई थी और वह गणेश जी के निकट ही बैठा था । तभी सम्पाति आदि तीनों ने अपने बड़े भाई मयूर को प्रणाम कर माता की कुशलता का समाचार पूछा और फिर गणेश जी की आज्ञा से मुक्त होकर मयूरेश के साथ ही चल दिए ।

मुनिकुमारों ने मयूरवाहन गणेशजी को आते देखकर कोलाहल किया—'मयूरेश आ गए, मयूरेश आ गए' जिसे सुनकर माता पार्वती ने सोचा कि 'मेरा बालक तो घर में सो रहा है, यह कौन-सा मयूरेश आया ?' उन्होंने बाहर निकलकर देखा तो वहाँ जितने भी बालक थे, वे सब मयूरेश ही दिखाई देने लगे । यह क्या, वहाँ एक नहीं सैकड़ों मयूरेश थे ।

त्रिसन्ध्याक्षेत्र से शिवजी का प्रस्थान

मयूरेश गणपति की ख्याति बढ़ती जा रही थी । उग्रेक्षण द्वारा भेजे हुए समस्त राक्षस उनके द्वारा मारे गये थे, इसी से वह बहुत व्याकुल था । इसपर भी जब उसे यह ज्ञात हुआ कि गणेश ने नागलोक पर भी विजय प्राप्त कर ली है, तब तो वह बहुत ही चकित और भयभीत हो गया ।

इधर शिव—पार्वती ने विचार किया कि हमारे पुत्र के कारण असुरों के उपद्रव बहुत बढ़ गये हैं । इस कारण पुत्र की सुरक्षा पर अब अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है । अच्छा हो कि यहाँ से अन्यत्र चलकर रहा जाये । क्योंकि हमारे कारण यहाँ के निवासी ऋषि-मुनियों को भय और आतंक का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है ।

उनके जाने की बात सुनकर मुनियों को बड़ा दुःख हुआ । वे नहीं

चाहते थे कि कैलासपति शिव, माता पार्वती और गणेश जी वहाँ से जायें। उन्होंने शिवजी से प्रार्थना भी की, किन्तु उन्होंने वहाँ से हटना ही उचित समझा। वे वहाँ से चलने को तैयार हुए।

उस समय वहाँ समस्त ऋषिगण एवं ऋषि-पत्नियाँ उपस्थित होकर विरह से व्यथित हो रहे थे। अनेक ऋषि-मुनि तो उनके साथ ही चल पड़े। उनके साथ उनकी पत्नियाँ और बालक भी थे। शिवगणों का भारी समुदाय तो साथ था ही।

जब वे मार्ग में थे तभी उग्रेक्षण ने कमलासुर नामक अपने अत्यन्त पराक्रमी वीर को उन्हें मार डालने के लिए भेजा, जो कि बारह अक्षौहिणी चतुरंगिणी दैत्यसेना के साथ मार्ग में ही आ डटा। शिवगणों ने आकर उसकी सूचना दी और कहा कि 'अच्छा हो कि हम आगें न बढ़ें और पीछे लौटकर असुरों की गतिविधि पर दृष्टि रखें।'

गणपति ने कहा—'यदि पिताजी आज्ञा दें तो मैं अकेला ही उस समस्त बारह अक्षौहिणी सेना को भस्म कर डालूँ। पीछे लौटने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें असुरों से बचाव नहीं करना है, उनका संहार करना भी अभीष्ट है।'

शिवजी ने ने मयूरेश को आज्ञा दी—'पुत्र! अपने साथ इन गणों को भी ले जाओ, हमारा आशीर्वाद है कि तुम्हें विजय प्राप्त हो।' यह कहकर शिव-पार्वती भी अपने पुत्र का युद्ध-कौशल देखने के लिए साथ चल दिए।

कमलासुर का वध

कमलासुर ने देखा कि गणेश स्वयं युद्ध करने आ रहे हैं तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। सोचा-'अब इसे शीघ्र ही वश में कर लिया जायेगा।' परन्तु ज्योंही उसकी दृष्टि गणेशजी के पीछे-पीछे आने वाले शिवगणों पर पड़ी

तो वह आश्चर्यचकित हो गया ! न जाने कहाँ से इतना जन-समुद्र उमड़ा चला आ रहा था !

सामना होते ही दोनों पक्ष की सेनाएँ एक-दूसरे पर टूट पड़ीं । असंख्य राक्षस मारे गये और कुछ शिवगण भी धराशायी हुए। तभी मयूर ने कमलासुर के अश्व पर चन्चु-प्रहार किया । इस कारण उसका अश्व धराशायी हो गया । तभी वह असुर सँभलकर आकाश में उड़ने लगा । उसने क्रुद्ध होकर भयंकर बाण-वर्षा आरम्भ कर दी । इधर मयूरेश ने भी घोर बाण-वृष्टि से ही उसका उत्तर दिया ।

राक्षस ने अपनी माया फैलाई, जिसे मयूर ने सहज में ही नष्ट कर दिया और फिर उसे अपनी माया दिखाई । असुर जिधर देखता उधर मयूरेश ही दिखाई देने लगे–

"दशदिक्षु मयूरेशं ददर्श कमलासुरः ।
विस्मिताच्छाद्य नयने हृदि तं परिदृष्टवान् ॥"

उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं तो अपने हृदय में भी मयूरेश के ही दर्शन होने लगे । यह देखकर वह अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ और अपना वश न चलता देख रणक्षेत्र छोड़कर भाग निकला । देवताओं ने यह देखा तो वे उसे पकड़ लाये और बोले–राक्षस ! तू जाता कहाँ है ? कायरों के समान भाग कर दैत्य-कुल को अपयश का भागी न बना, युद्ध कर ।'

विवश कमलासुर पुनः युद्ध करने लगा । उसने घोर गर्जना की और अनेक प्रकार तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र लेकर प्रहार करने लगा । उसने पुनः विविध भाँति की मायाएँ रचीं, किन्तु मायानाथ के समक्ष उसकी एक भी न चली । समस्त मायाएँ देखते-देखते विलीन हो जातीं । अन्त में मयूरेश ने त्रिशूल से उसके मस्तक पर प्रहार किया, जिससे मस्तक कट कर भीमानदी के दक्षिणी तट पर जा गिरा ।

राक्षसों की विशाल सेना नष्ट हो चुकी थी । सर्वत्र मयूरेश्वर का

जयघोष हो रहा था । प्रसन्न हुए उमा-महेश्वर ने पुत्र का अभिनन्दन किया और देवगण एवं मुनिगण प्रसन्न होकर उनकी स्तुति करने लगे । आकाश से पुष्प-वृष्टि होने लगी ।

विश्वकर्मा ने उपस्थित होकर वहीं मयूरेश-क्षेत्र का निर्माण किया । सुन्दर नगर बसाया गया तथा सभी के रहने की समुचित व्यवस्था की गई । शिव-पार्वती के लिए एक सुन्दर भवन बनाया, उसमें उन्होंने मयूरेश्वर गणेश के साथ निवास किया ।

मंगल दैत्य का वध

मंगल नामक एक अत्यन्त भयंकर और महाबलशाली दैत्य था । वह वराह का रूप बनाने में सिद्धहस्त था । इसलिए उग्रेक्षण की आज्ञा होने पर भयंकर एवं विशालकाय वराह का रूप रखकर वह मयूरेश-क्षेत्र में आया और बड़े-बड़े वृक्षों को टक्कर मारकर गिराता और धरती को कम्पायमान करता हुआ मयूरेश्वर के समक्ष आकर उछल-कूद करने लगा ।

गणेशजी ने ज्योंही उसे देखा, त्योंही उसके दाँतों को पकड़कर तीव्रता से नीचे-ऊपर करने लगे, किन्तु वह छुड़ा न सका । मयूरेश्वर ने उसके दाँतों को ही नीचे-ऊपर करते हुए अवसन्न कर दिया और अन्त में उसका शरीर प्राणहीन कर दिया ।

६. षष्ठ अध्याय

नन्दी का पराभव

एक दिन शिवजी ने मस्तक से चन्द्रमा उतारकर रख दिया था, जिसे

लेकर गणेशजी बालकों के साथ खेलने के लिए कुछ दूर चले गये। भगवान् शंकर ने चन्द्रमा को न देखकर गणों से उसके विषय में पूछा तो वे बोले—'प्रभो ! उसे तो आपके पुत्र उठा ले गये हैं। हमने समझा कि आपकी आज्ञा से ही ले जा रहे होंगे, इसीलिए उन्हें टोका भी नहीं।'

शिवजी ने एक गण को आदेश दिया—'जाओ, उससे चन्द्रमा ले आओ।'

गण ने जाकर मयूरेश से चन्द्रमा देने को कहा तो वे बोले—'अभी तो इसके साथ खेल रहा हूँ, बाद में दूँगा।'

उसने लौटकर शिवजी को उनका उत्तर बता दिया तो उन्होंने कई गणों को एक साथ भेजते हुए कहा—'यदि वह चन्द्रमा दे दे तो ठीक अन्यथा यहाँ ले आओ।'

शिवगणों ने गणेशजी से चन्द्रमा माँगा तो उन्होंने नहीं दिया। इसपर गणों ने कहा—'तो स्वयं अपने पिताजी की सेवा में उपस्थित होकर कह दें।'

उन्होंने उत्तर दिया—'मैं तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाली अत्यन्त महिमामयी माता शिवा का पुत्र हूँ। तुम जैसे सामान्य लोग मुझे कैसे ले जा सकते हो ?'

यह कहकर उन्होंने दीर्घ निःश्वास छोड़ा, जिससे विवश हुए शिवगण वायु में पत्तों के समान उड़ते हुए शिवजी के समक्ष जाकर गिरे। उनकी दशा देखकर शिवजी को क्रोध आ गया। उन्होंने प्रमथादिगण को आज्ञा दी—'जाओ, गणेश को पकड़ लाओ।'

प्रमथादिगण ने आज्ञा पालनार्थ गणेशजी से जाकर कहा कि 'मयूरेश्वर ! आपके पिता बुलाते हैं, तुरन्त चलिए।' इसपर अस्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। गणों ने कहा—'हम आपको बलपूर्वक ले चलेंगे।'

गणेशजी ने उनका उपक्रम देखा तो उन्हें मोहित कर स्वयं अन्तर्धान

हो गये । अब वे वन-वन में जाकर उनकी खोज करने लगे । उन्हें कभी तो गणेशजी दिखाई दे जाते और कभी दौड़ते हुए अदृश्य हो जाते । इस प्रकार वे जब अधिक थक गये, तब गणेशजी एक स्थान पर जा बैठे और गणों की पकड़ में आ गये ।

किन्तु उन्होंने अपना भार अधिक बढ़ा दिया । गणों ने उन्हें बाँधकर ले जाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे उन्हें उठा ही नहीं सके । बहुत प्रयत्न करने पर भी असफल रहने पर उन्होंने शिव जी से कहा–'भगवन् ! हमने उन्हें लाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु मिलकर भी न उठा सके । इसलिए अपनी असफलता पर हमें स्वयं लज्जा आती है ।'

शिवजी हँसे, उन्होंने नन्दीश्वर को बुलाकर कहा–'नन्दी ! आश्चर्य है कि अकेला गणेश इतना भारी हो गया है कि उसे यहाँ ले आने में कोई भी सफल नहीं हुआ । अच्छा, अब तुम जाकर इसे साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति के साथ लेकर आओ ।'

शिवजी की आज्ञा पाकर नन्दीश्वर चले और मुनिकुमारों के साथ खेलते हुए गणेशजी से जाकर बोले–'गणपते ! आपके पूज्य पिताजी बुलाते हैं, इसलिए शीघ्र ही वहाँ चलिए ।'

उन्होंने अस्वीकृति-सूचक सिर हिलाया तो नन्दीश्वर बोले–'यदि स्वेच्छा से न चलोगे तो मैं बलपूर्वक ले चलूँगा । मुझे सामान्य गणों के या प्रमथादि के समान न समझना ।'

नन्दी का अहंभाव देखकर उन्हें हँसी आ गई और तब उन्होंने तीव्र वेग से निःश्वास छोड़ा । फिर क्या था, नन्दीश्वर को जोर की एक पटक लगी और गहरी चोट के कारण मूर्च्छा आ गई । जब चेत हुआ तो उठकर शिवजी के पास जाकर कुछ कहना ही चाहते थे कि उनकी दृष्टि शिवजी की गोद में बैठे गणेशजी पर गई । उनके पास चन्द्रमा नहीं था, वह तो शिवजी के भाल पर ही सुशोभित था ।

लज्जित नन्दी ने शिवजी से निवेदन किया– 'प्रभो ! आपके यह पुत्र आपके ही समान महिमावान हैं। आज से हम इन्हें भी अपना स्वामी मानते हैं। तभी समस्त शिवगण उनकी स्तुति कर जयघोष करने लगे–'गणेश्वर, गणपति, गणराज की जय ! गणेश की जय ! मयूरेश्वर की जय !'

इन्द्र का गर्व खण्डन

मयूरेश की तेरहवीं वर्षगाँठ थी। गौतमादि ऋषियों ने वहाँ आकर इन्द्रयाग कराया। तभी वहाँ कल-विकल नामक दो राक्षस आकर अनेक प्रकार के उपद्रव करने लगे। उन्होंने भैंसे का प्रचण्ड रूप धारण किया हुआ था। गणराज ने उनके मस्तक पर वज्र के समान मुष्टि प्रहार किया, जिससे वे अत्यन्त व्याकुल होकर धरती पर गिर गये और रक्त वमन करते हुए इहलीला से मुक्त हो गये।

इन्द्रयाग में गणेशजी ने देवराज इन्द्र की उपेक्षा कर उन असुरों को मारा था। पहले तो इन्द्र अपनी उपेक्षा का कारण न समझ सके, किन्तु असुरों के मारे जाने पर उन्हें अपनी भूल का आभास हुआ और उन्हें मयूरेश्वर की स्तुति कर प्रसन्न किया।

गणराज की बारात की तैयारी

गणेशजी पन्द्रह वर्ष के हो गये। इस आयु तक वे अनेकों राक्षसों का संहार कर चुके थे, इस कारण उनकी ख्याति सर्वत्र फैल गई थी। उनके अद्भुत कर्मों को देखकर देवगण प्रसन्न हो रहे थे। उनकी विवाह योग्य अवस्था देखकर जगज्जननी पार्वती जी ने एक दिन शिवजी से निवेदन किया–'प्रभो ! गणेश अब विवाह योग्य प्रतीत होता है, इसलिए कोई सुन्दर, सुशील एवं गुणवती कन्या देखकर इसका विवाह कर देना चाहिए।'

शिवजी ने कहा–'प्रिये ! मैं भी यही सोचता था । परन्तु यह बाधा सम्मुख है कि इसके समान गुणवाली कन्या की खोज कहाँ की जाये ?'

यह विचार चल ही रहा था कि महर्षि नारदजी वीणा बजाते हुए वहाँ आ पहुँचे । शिव और शिवा ने उनका अत्यन्त स्वागत-सत्कार कर बैठने को श्रेष्ठ स्थान दिया, तभी शिवजी ने कहा–'देवर्षि ! आज तो आपके दर्शन बहुत समय के पश्चात् हुए हैं ।'

नारद बोले–'हाँ प्रभो ! कुछ इधर आना ही नहीं हुआ । फिर आप तो त्रिसन्ध्या क्षेत्र में निवास कर रहे थे, सहसा ही उस स्थान को छोड़कर यहाँ ले आये । ब्रह्मदेव ने आपके यहाँ होने की बात मुझे बताई तो सेवा में उपस्थित हो गया ।' इसी प्रकार वार्तालाप चलने लगा । तभी शिवजी बोले–'मुनिवर ! मयूरेश अब विवाह योग्य प्रतीत होता है । इसके अनुकूल कोई गुणवती कन्या बताने की कृपा कीजिए ।'

देवर्षि बोले–'ब्रह्माजी ने इसीलिए तो मुझे वहाँ भेजा है । उनकी दो कन्याएँ हैं–सिद्धि और बुद्धि । सब प्रकार से सुयोग्य अत्यन्त सौन्दर्यमयी और गुणों के कहने ही क्या । मेरा निवेदन है कि गणेशजी के लिए आप उन दोनों कन्याओं को स्वीकार करने की कृपा करें ।

शिव-शिवा दोनों ही प्रसन्न हुए । विवाह की तिथि निश्चित हुई और दोनों ओर से निमन्त्रण-पत्र भेजे जाने लगे । सर्वत्र आनन्द छा गया । देवगण, ऋषिगण, शिवगण और मुनिकुमार सभी प्रसन्न हो उठे । समय पर वर-यात्रा की तैयारी आरम्भ हुई ।

बारात बड़ी विचित्र थी । सभी देवता अपने-अपने अद्भुत वाहनों पर सवार होकर चल दिए । इन्द्र ऐरावत पर, शिवा-शिवजी नन्दी पर तथा गणेशजी मयूर पर बैठे थे । पवनदेव ने पुष्पों का यान जैसा बनाया और उसपर बैठकर उड़ चले । समस्त बाराती-समुदाय मस्ती से झूम रहा था ।

यह वर यात्रा गण्डकी नगर की ओर जाने वाले मार्ग से जा रही थी ।

मध्य में सात करोड़ दैत्यों का एक शिविर लगा था। वर-यात्रा के विशाल जनसमूह को देखकर असुरों को कौतूहल हुआ। बोले–'कौन हो तुम लोग? कहाँ के रहने वाले हो और कहाँ जा रहे हो?' समूह में से कुछ ने बताया–'मयूरेश क्षेत्र में रहते हैं, ब्रह्माजी की पुत्रियों का विवाह है, वहाँ बारात लेकर जा रहे हैं।'

असुर उद्दण्ड और युद्धप्रिय थे, बोले–'दैत्यराज उग्रेक्षण की आज्ञा है तुम्हारे पास? क्या तुम नहीं जानते कि उनकी आज्ञा के बिना कोई जनसमूह इधर से उधर हलचल नहीं कर सकते। चाहे वह वर-यात्रा हो या तीर्थ-यात्रा।'

देवगणों ने समझाते हुए कहा–'यह कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसके लिए दैत्यराज की अनुमति आवश्यक होती। इसलिए व्यर्थ ही शुभ-कार्य में विघ्न मत डालिए।' उद्धत दैत्य सेनापति बोला–'बकवाद न करो, हमको जैसा आदेश है वही करेंगे। यहाँ से आगे बढ़ने का विचार छोड़ो और चुपचाप वापस लौट जाओ।'

गणराज को उसकी उद्दण्डता अच्छी नहीं लगी। वे तीव्र स्वर में बोले–'व्यर्थ बातें मत बनाओ, चुपचाप मार्ग छोड़ दो, अन्यथा सेना सहित नष्ट हो जाओगे।'

दैत्य-सेनापति ने कहा–'आज बड़ा अच्छा दिन है। हमारा आहार स्वयं हमारे पास आ गया है। तुम्हारे जैसे मनुष्यों को ही तो हम खा जाने के लिए ढूँढ़ते हैं।'

तदुपरान्त उसने आक्रमण का आदेश दिया। उधर से भी शिवगण आगे बढ़े और देवगण उनकी सहायता करने लगे। बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। मयूरेश्वर ने दर्भास्त्र के प्रयोग का आदेश दे दिया।

मुनिकुमारों ने हाथ में जल लेकर दर्भास्त्र का संकल्प-जल छोड़ा। बस, फिर क्या था! दर्भ के सूक्ष्म खण्ड असुरसेना में फैलकर उनके

आँख, कान, नाक आदि मार्गों से श्वास के साथ शरीर में प्रविष्ट होकर हृदयों को पीड़ित करने लगे।

दर्भ-खण्डों ने असुरों को व्याकुल कर दिया। कुछ बहरे हुए, कुछ अन्धे, कुछ का श्वास-मार्ग छिल गया, कुछ के फुफ्फुस और हृदय विदीर्ण हो गये, इस कारण रक्त वमन करने लगे। इस प्रकार कुछ ही क्षणों में वह राक्षसी सेना पूर्ण रूप से विनष्ट हो गई। बालकों ने कहा– 'देव ! आपकी आज्ञा से हमने विशाल दैत्यसेना का बात की बात में संहार कर दिया। अब और जो कहो वहीं करें।'

वरयात्रा पुनः पूर्ववत् आगे बढ़ी। धीरे-धीरे इतनी दूर पहुँच गये कि वहाँ से उग्रेक्षण की राजधानी गण्डकी नगर एक योजन दूर रह गई। वहाँ गणेशजी अपने वाहन मयूर से उतर पड़े।

गणपति की प्रतिज्ञा

यहाँ गणेशजी ने एक वृहद् सिंहासन की स्थापना की जो अत्यन्त सुन्दर, दिव्य तथा भव्य था। उसपर उन्होंने शिव-शिवा और प्रमुख ऋषियों को बैठाया और अन्य सबको सिंहासन के आगे बैठने की व्यवस्था की। इस प्रकार समस्त जनसमूह वहाँ विश्राम के लिए ठहर गया।

तभी मयूरेश बोले– 'जनक-जननि, ऋषिगण, देवगण एवं शिवगणादि ! अभी गण्डकी नगर में अनेक देवताओं के साथ भगवान् श्रीहरि रह रहे हैं। जब तक वे मुक्त न हो जायें तब तक विवाहोत्सव में कोई आनन्द नहीं आयेगा। इसलिए मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं उन्हें मुक्त कराये बिना विवाह नहीं करूँगा। इसलिए कोई बुद्धिमान् पुरुष दैत्यराज के पास जाकर उन्हें मुक्त करने का सन्देश दे और वह उन्हें मुक्त करना स्वीकार न करे तो हमें उससे युद्ध करना होगा।'

ब्रह्माजी ने 'साधु-साधु' कहकर गणेश की प्रशंसा की और पुष्पदन्त

को दूत बनाकर भेजने का प्रस्ताव किया। किन्तु पुष्पदन्त ने कहा—'यदि मैं दैत्यराज के समक्ष गया तो मुझे उसकी बातों से शीघ्र ही क्रोध आ जायेगा, इस कारण मैं नीति की रक्षा करने में असमर्थ रहूँगा। मैं तो उससे युद्ध-क्षेत्र में ही मिलना चाहता हूँ। इसलिए उसके पास किसी अन्य को भेजना ही उचित होगा।'

उसकी बात सुनकर विचार चलने लगा कि अन्य किस को भेजा जाय? बहुत विचार के पश्चात् मयूरेश ने ही समाधान किया—'मेरे विचार से तो नन्दीश्वर को भेजना चाहिए। यह अत्यन्त वीर, धीर, गम्भीर, बुद्धिमान्, पराशय को शीघ्र समझने वाले तथा चतुर हैं। इनसे अधिक उपयुक्त अन्य कोई व्यक्ति प्रतीत नहीं होता।'

शिवजी ने सहमति प्रकट की—'पुत्र! तुम्हारा चुनाव ठीक है। नन्दी को विविधप्रकार के रत्नाभूषण दो। आदेश-पालन के पश्चात् गणपति ने कहा—'नन्दीश्वर! वहाँ जाकर देवगण की मुक्ति का ही उद्‌देश्य ध्यान में रखें। जाइए, आपको सफलता प्राप्त हो।'

नन्दीश्वर ने शिव-शिवा और गणेश्वर को प्रणाम कर वायुवेग से प्रस्थान किया और उग्रेक्षण के सभाद्वार पर द्वारपाल को अपना परिचय देकर दैत्यराज से मिलने की बात कही। द्वारपाल ने जाकर सूचना दी तो उसने उन्हें बुला लाने की आज्ञा दे दी। नन्दीश्वर ने उस विशाल भव्य एवं सुसज्जित सभा में प्रवेश किया।

दैत्यों ने सूर्य के समान देदीप्यमान एवं सुदृढ़ काय नन्दीश्वर को देखा तो भयभीत हो गये। सभा में नीरवता छा गई। दैत्यराज का संकेत मिलने पर नन्दीश्वर उसे अभिवादन कर आसन पर बैठ गये। फिर उन्होंने कहा—'दैत्यराज! मैं अनेक राजसभाओं में जा चुका हूँ और सर्वत्र ही आगत व्यक्ति का सम्मान करने की नीति देखी। किन्तु तुम लोग अत्यन्त बलवान्, सुन्दर और ऐश्वर्य सम्पन्न होते हुए भी भेड़िये के समान बुद्धि रहित हो, इसलिए किसी बुद्धिमान् मनुष्य का आदर-सत्कार करना भी

नहीं जानते । यह धर्म केवल राजा का ही नहीं, अमात्यादि वर्ग एवं प्रजावर्ग का भी है । इससे स्पष्ट है कि तुम्हारी समस्त प्रजा, सभासद और अमात्यवर्ग भी मूर्ख ही हैं ।'

दैत्यराज ने कुछ विनम्रता से कहा–'वृषश्रेष्ठ ! तुम्हारी बुद्धि ब्रह्मा के समान, तेज अग्नि के समान और गति वायु के समान प्रतीत होती है । तुम कौन, कहाँ से आये और आने का क्या उद्‌देश्य है ?'

नन्दीश्वर बोले–'असुरराज ! मैं भगवान् शूलपाणि का वाहन एवं प्रमुख गण नन्दी हूँ । उनके यहाँ भगवान् गणेश ने धरती का भार उतारने के लिए अवतार धारण किया है । वे प्रभु सर्व समर्थ और समस्त संसार के उत्पत्ति, पालन और विनाश करने वाले हैं । उन्होंने अनेक दैत्यों का संहार किया है, यह तथ्य तुमसे छिपा नहीं है । इसलिए तुम्हें उनका अनुगत होना चाहिए । उनका सन्देश है कि तुम सब बन्दी देवगण को मुक्त कर दो ।'

'देवगण को मुक्त कर दूँ ? क्यों इसलिए कि वे पुनः सक्रिय हो जायें और हमारा अनिष्ट करने लगें ?' उत्तेजित हुए उग्रेक्षण ने प्रश्न किया ।

नन्दी ने कहा–'सभी को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है । तुमने उन्हें बन्दी बनाकर अत्याचार किया है । अपने को संयत करके पुनः विचार कर देखो कि तुम जो कुछ कह रहे हो, वह न्याय है या अन्याय ?'

उग्रेक्षण–'मैं जो भी कुछ करता हूँ, वह सब न्याय है और उसमें हस्तक्षेप करने का किसी को कोई अधिकार नहीं है । अपने गणेश्वर से कहना कि अधिक उछल-कूद न करे । मेरी शरण में आ जाय तो उसे मृत्यु का भय नहीं रहेगा । अन्यथा वह मारा जायेगा ।'

नन्दी पुनः बोले–'दैत्यराज ! कहाँ वे सर्वात्मा एवं सर्वेश्वर प्रभु और कहाँ तुम सांसारिक प्राणी ! तुम्हारी उनसे कोई तुलना नहीं हो सकती । इसलिए मेरी बात मानकर उनकी आज्ञा का तिरस्कार न करो । जो देवता

तुम्हारे यहाँ बन्दी हैं, उन्हें मुक्त कर दो, अन्यथा व्यर्थ ही युद्ध में भीषण संहार उपस्थित होगा।'

उग्रेक्षण कुछ क्रोध करता हुआ-सा बोला–'मैं तो तुम्हें बुद्धिमान् समझता था, किन्तु अब समझा कि तुम निरे बुद्धिहीन मूर्ख हो। अरे, जिन्हें बन्दी बनाया है उन देवताओं को मैं कैसे स्वतन्त्र कर सकता हूँ? तुम मेरे पौरुष से अनभिज्ञ हो, इसलिए वैसी बातें करते हो। सोचो, भला किसी व्याघ्र के समक्ष शृगाल की क्या बिसात?'

नन्दीश्वर हँस पड़े, बोले–'असुरराज! मूर्खों जैसी बात न कर अपने उन महापराक्रमी वीरों की ओर ध्यान दे, जो गणेश्वर के हाथों बात की बात में मार दिए गये। क्या वे तेरी अपेक्षा कम शक्तिशाली थे? देख, नीतिकुशल वह है, जो समयोचित कार्य करे। तुझे भगवान गणेश्वर की आज्ञा मानकर अपने प्राणों की रक्षा करना ही कर्त्तव्य है।'

दैत्यराज के नेत्र लाल हो गये, उसने क्रोधपूर्वक गर्जना करते हुए कहा–'मूर्ख बैल! तू यहाँ शांतिदूत बनकर आया है या उपदेश देने? मैं तुझे दूत समझकर ही कुछ नहीं कहता, अन्यथा तेरे प्राण ले लेता। अब उस दुधमुँहे बालक की प्रशंसा मेरे सामने नहीं करना।'

नन्दीश्वर भी गर्ज उठे–'मूढ़! पापी! अधम! तेरी बुद्धि मारी गई और काल सिर पर सवार है, इसलिए व्यर्थ प्रलाप कर रहा है। तेरे मुख से मयूरेश्वर की निन्दा सुन अकेला मैं ही तुझे मार डालने में समर्थ हूँ, किन्तु स्वामी ने ऐसा करने की मुझे आज्ञा नहीं दी है।'

यह कहकर नन्दीश्वर ने घोर हुंकार की, जिससे समस्त दैत्यसभा भयभीत हो गई। अनेक राक्षस अकारण ही मूर्च्छित हो गए और अनेक इधर-उधर छिप गए। यह देखकर घोर गर्जना करते ये नन्दीश्वर दैत्यसभा से उठकर वायु वेग से चल दिए।

❀❀❀

75

७. सप्तम अध्याय

दैत्येश्वर उग्रेक्षण के साथ मयूरेश्वर का युद्ध आरम्भ

नन्दीश्वर ने शिव-शिवा की सेवा में उपस्थित होकर मयूरेश्वर से दैत्यसभा के समस्त समाचार कहे और अपने तथा दैत्यराज के मध्य हुई बातों से भी अवगत कराया । तब मयूरेश्वर ने शिवजी से आज्ञा लेकर प्रमथगणों और देवताओं आदि को दैत्यों पर आक्रमण करने का आदेश दिया । वे बोले–'अब यह स्पष्ट हो गया है कि युद्ध के बिना देवताओं का छुटकारा नहीं हो सकता । यद्यपि हम युद्ध नहीं करना चाहते थे, किन्तु दैत्येश्वर ने हमें विवश कर दिया है । अत: बिना किसी प्रकार का विलम्ब किए हमें चढ़ चलना चाहिए ।'

यह कहकर गणेश्वर ने सिंह गर्जना की और समस्त शिव-गणादि भी मयूरेश्वर की जय ! गणनायक की जय ! का घोष करते हुए युद्ध के लिए गण्डकी नगर की ओर बढ़ चले ।

उधर गुप्तचरों द्वारा आक्रमण का समाचार पाकर दैत्यराज ने सामना करने और शत्रुओं को आगे बढ़ने का आदेश दिया । तब दस करोड़ दैत्यों की चतुरंगिणी सेना नगर से बाहर आकर युद्ध करने लगी । प्रमथादिगण बड़ी वीरता, धैर्य और साहस से युद्ध कर रहे थे । दोनों ओर से अनेक प्रकार के मारक शस्त्रास्त्र प्रयोग में लाये जा रहे थे ।

असुरों पर शिवगण भारी पड़ रहे थे । दैत्यसेना कटती जा रही थी और धरती पर शवों का अम्बार लगता जा रहा था । धीरे-धीरे दैत्यों की विशाल सेना काल-कवलित हो गई तथा कुछ थोड़े से बचे-खुचे दैत्य उग्रेक्षण के पास जाकर बोले–'राजाधिराज ! शिवसेना ने हमारी विशाल

वाहिनी को समाप्त कर डाला और नगर की सीमा, बाह्य भागों, वनों, खेतों, जलाशयों एवं अन्यान्य महत्त्वपूर्ण स्थानों को अपने अधिकार में कर लिया है। हम बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर युद्ध का समाचार देने आये हैं।'

उसे पहले तो उनकी बातों पर विश्वास ही नहीं हुआ और जब उसे विश्वास हो गया तो शोक के कारण प्रलाप करने लगा, 'देखो! पतंगों के समान तुच्छ शिवगणों ने मेरी मन्दर-गिरि के समान विशाल एवं अजेय सेना को नष्ट कर डाला। अब क्या किया जाये?'

अमात्यों ने उसे समझाया—'महाराज! अभी हमारे पास असंख्य सैनिक और सब प्रकार के साधन उपलब्ध हैं। आप आज्ञा दीजिए, जिससे कि रणक्षेत्र में पुनः सेना भेजी जा सके। वे तुच्छ शिवगण अवश्य ही पराजित होंगे।

उग्रेक्षण ने कुछ प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—'अच्छा, इस बार अधिक पराक्रमी वीरों की सेना भेजी जाय, उसकी संख्या भी पहले से अधिक रहे। मैं स्वयं भी रणक्षेत्र में पहुँचता हूँ।'

अब पहिले से अधिक विशाल दैत्यसेना रणभूमि में आ पहुँची। उग्रेक्षण स्वयं भी अश्व पर सवार होकर वहाँ पहुँचा और उसने वीरों को भीषण आक्रमण करने का आदेश किया। इस बार दैत्यगण प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध करने लगे। इसलिए शिवगणों के पाँव उखड़ गये और वे राक्षसों के सामने पीछे हटने के लिए विवश हो गये।

यह देखकर स्वयं मयूरेश्वर अपने वाहन मयूर पर सवार होकर युद्ध में आ डटे। शिवजी भी नन्दीश्वर पर आरूढ़ होकर युद्ध करने लगे। शिवगणों ने पुनः असुरों को काटना प्रारम्भ कर दिया। नन्दीश्वर ने उग्रेक्षण पर मुख से प्रहार किया तथा उसका घोड़ा मार डाला और उसका छत्र तोड़ दिया। इसलिए दैत्यराज दूसरे घोड़े पर बैठकर आया।

तभी उसके अमात्य कौस्तुभ और मैत्र नामक दो **दैत्यों** ने उसे विश्वास दिलाया—'असुरराज ! शत्रुओं को नष्ट किये बिना हम आपको अपना मुख नहीं दिखावेंगे । निश्चय मानिये कि हमें कोई भी परास्त नहीं कर सकता ।'

उग्रेक्षण ने चैन की साँस ली । युद्ध जोरों पर चल पड़ा । शिवगण असुरों का पराक्रम सहन करने में असमर्थ रहे, इसलिए विजय-श्री असुरों के ही गले पड़ी । मयूरेश की सेना बहुत दूर तक पीछे धकेल दी गई । विजयी दैत्यसेना विजयगीत गाती हुई नगर में पहुँची ।

अब वीरभद्र, नन्दीश्वर एवं मयूरेश परस्पर विचार करने लगे कि क्या किया जाये ? निश्चय हुआ कि शत्रु को अधिक सँभलने न देने के उद्देश्य से तुरन्त ही घोर आक्रमण किया जाये । वही किया गया और दोनों की सेनाएँ युद्ध में डट गयीं ।

घोर युद्ध हुआ । एक बार षड़ानन गणराज मूर्च्छित हो गये, किन्तु मैत्र और कौस्तुभ दोनों मारे गये एवं बहुत ही राक्षसी सेना का संहार हो गया । शेष सेना भाग खड़ी हुई । विजयी शिवगण 'मयूरेश्वर की जय' कहते हुए विजयोल्लास मनाने लगे ।

अपनी सेना को पराजित हुई देखकर दैत्यराज ने पुनः विशाल सेना के साथ रणाङ्गण में प्रवेश किया और घोर युद्ध करने लगा । उसके साथ अमर्षमय आदि सात महारथी भी आये थे, जिन्होंने पृथक्-पृथक् सात व्यूहों की रचना की ।

यह देखकर गणेश्वर स्वयं मयूर पर सवार हुए और नन्दी, पुष्पदन्त आदि वीरों के साथ उन व्यूहों को तोड़ने के उद्देश्य से बढ़े । दस लाख वीरों के साथ भूतनाथ शिव एवं विकट नामक वीर थे । वीरभद्र और षड़ानन के साथ भी असंख्य सैनिक थे । अति गतिवान, साहसी और विजय की इच्छा वाले अत्यन्त दुराधर्ष वीरों की सुरक्षित सेना पचास

सहस्र थी । इस प्रकार मयूरेश्वर-पक्ष में भी विशाल वाहिनियाँ थीं, जिनके सात व्यूह इधर भी बनाये गये थे ।

इस दिन बड़ा विकट संग्राम हुआ । शिव पक्ष के वीरों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी, जिसके फलस्वरूप सातों दैत्य महारथी मारे गये । असुरों की ओर पराजय से सन्तप्त हुआ उग्रेक्षण भागकर अपनी राजधानी जा पहुँचा ।

उग्रेक्षण की पुनः पराजय

उग्रेक्षण अपनी बार-बार की पराजय से बहुत दुःखित हो रहा था ! उसने सोचा–'मेरे वीर सैनिक सदैव देवताओं को दबाये रखने और मारने में समर्थ थे, वे आज भुनगों और मच्छरों के समान मार डाले गये ? यह विपरीत बात कैसे देखने-सुनने में आ रही है ? अब देखो, शिवगणों का मद और उत्साह कैसे बढ़ गया है ? जैसे भी हो, उनको वश में करना ही होगा ।'

अमात्यों से परामर्श लिया तो उन्होंने उसे धीरज रखने की बात कहकर आश्वस्त किया और पुनः विशाल सेना के साथ युद्ध में जाने का प्रोत्साहन देते हुए बोले–'राजाधिराज ! आप चिन्तित न हों, 'जब तक श्वास, तब तक आस' वाले सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए ही कार्य करें । आपकी विजय निश्चित है ।'

उग्रेक्षण ने इस बार और भी अधिक तैयारी की और पुनः विशाल सेना के सहित युद्ध-क्षेत्र में पहुँच गया । उसने जाते ही तीक्ष्ण बाणों की वर्षा आरम्भ की और कुछ ही देर में अधिकांश शिवगणों को पराजित कर दिया । वे अत्यन्त विह्वलता से इधर-उधर भाग निकले । इस प्रकार शिवसेना का अपकर्ष दिखाई देने लगा ।

अब यह घोड़े से नीचे उतर आया तथा भयङ्कर बाण-वर्षा करने

लगा। उसने वीरभद्र को पाँव पकड़कर उठाया और चारों ओर घुमाकर धरती पर दे मारा। इससे वे बुरी तरह आहत पीड़ित हो गये। फिर उसने नन्दीश्वर के मस्तक पर शस्त्र प्रहार किया, जिससे उनके मस्तक से लोहित धारा निकलने लगी।

उग्रेक्षण वस्तुतः उग्र हो उठा। उसने पुष्पदन्त, हिरण्यगर्भ, श्यामल, चपल, रक्तलोचन, सुमुख, भृंगी आदि अनेक प्रमुख शिवगण और देवगण आदि को बुरी तरह आहत कर दिया। वे सभी रणविमुख हो गये, केवल मुनिकुमारों के साथ गणेश्वर ही युद्ध कर रहे थे।

उसने सोचा–'समस्त विग्रह की जड़ यही बालक है। इसका वध होते ही शिवगणादि पराजित हो जायेंगे। फिर कोई भी युद्ध करने का साहस न करेगा। इसलिए सर्वप्रथम इसी को समाप्त करना चाहिए।'

ऐसा विचार कर उग्रेक्षण विनायक की ओर क्रोधपूर्वक बढ़ा। उसकी गर्जना का उत्तर गर्जना से मिला तो उसने भयंकर बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। मयूरेश्वर ने उसके सभी बाण काट डाले और अपने बाणों से उसे पीड़ित करने लगे।

दैत्यराज ने भगवान् भास्कर का स्मरण किया और सूर्य-प्रदत्त दिव्यास्त्र को धनुष पर चढ़ाकर मयूरेश पर छोड़ दिया। किन्तु गणेश्वर के परशु प्रहार से उसके हजारों टूक हो गये। उसके हाथ के भी सैकड़ों खण्ड हुए और धनुष धरती पर आ गिरा।

अब उसने चक्र चलाया, वह भी गणेश्वर द्वारा प्रक्षेपित शूल से टकराकर दैत्यराज के ही मस्तक पर आ गिरा। इससे उसके कानों सहित कुण्डल पृथक् हो गए तथा वह शूल कान, कुण्डल और मुकुट के सहित गणेश्वर के पास लौट आया।

उग्रेक्षण को शूल के इस प्रभाव पर बड़ा आश्चर्य हुआ और भयभीत एवं आशंकित होते हुए भी उसने क्रोध प्रदर्शित किया–'मूर्ख! तू इस

सामान्य कार्य को दुस्तर समझता है ! तूने मेरे कान काटे हैं तो मैं तेरी नाक उड़ाए देता हूँ । ले, देख मेरा पराक्रम ।'

यह कहकर वह खड्ग तानकर मयूरेश पर झपटा । किन्तु जब उसे सर्वत्र मयूरेश ही मयूरेश दिखाई देने लगे । सब ओर असंख्य मयूरेश अट्टहास कर रहे थे । उसका साहस टूट गया और पलायन के विचार से अपने दुर्ग में लौटने का विचार किया, किन्तु उस ओर भी बहुत से मयूरेश अट्टहास करते प्रतीत हुए । भय के कारण नेत्र बन्द किए तो हृदय में भी मयूरेश ही दिखाई दिए ।

फिर वह रणांगण छोड़कर भाग निकला और घर जाकर चुपचाप मुख ढाँपकर लेट गया । यह देखकर उसकी महासुन्दरी पत्नी दुर्गा ने कोमल वाणी में पूछा—'प्राणनाथ ! आज आप ऐसे चिन्तित और म्लान- मुख क्यों हो रहे हैं ? यदि इसका कुछ कारण बतायें तो सम्भव है कि कुछ उपाय मुझे ही सूझ जाय और मैं आपकी सहायता कर पाऊँ ।'

दैत्यराज ने पत्नी को बताया—'प्रिये ! आज मुझे युद्धक्षेत्र से भागना पड़ा । यद्यपि मैंने सात करोड़ देवगण और शिवगण को धराशायी कर दिया, तो भी शंकर के पुत्र ने, जो कि अभी बालक ही है, अपने शूल से मेरे दोनों कान काट डाले । समझ में नहीं आता कि उसे मारने के क्या उपाय करूँ ?'

दुर्गा ने विनयपूर्वक कहा—'स्वामिन् ! यदि अपराध क्षमा हो तो कुछ निवेदन करूँ ? कहीं आप रुष्ट न हो जायें, इस भय से यथार्थ बात कहने में कुछ संकोच हो रहा है ।'

दैत्यराज के आग्रह पर दुर्गा ने पुनः कहना आरम्भ किया—'नाथ ! देव, ब्राह्मण और गौ से द्वेष करने पर न तो स्थायी सुख मिलता है और न कल्याण ही होता है । संसार में निन्दा भी होती है । यद्यपि कोई सामने

नहीं कहता, पर पीठ-पीछे तो सब कहते ही हैं। मेरे मत में इनकी सदैव पूजा और वन्दना करनी चाहिए।'

'अशुभ कर्मों का फल शुभ नहीं मिल सकता। लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जैसा बीज बोते हैं, वैसा ही अंकुर उत्पन्न होता है। आपके अनुपम पुरुषार्थ ने विश्व को अधीन कर दिया, किन्तु उस पुरुषार्थ ने विश्व को अधीर कर दिया, किन्तु उस पुरुषार्थ का प्रयोग देवताओं और ऋषियों के उत्पीड़न में ही हुआ है। पुरुषार्थ के चार विषय हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आपने उसे धर्म और मोक्ष से विरत ही रखा है। वस्तुतः पुरुषार्थ वह है जिससे पराये धन और परायी स्त्री को लोलुपता उत्पन्न न हो। अनिन्द्य की निन्दा करना भी पुरुषार्थ नहीं है।'

'इसलिए हे प्राणेश्वर! आप मेरे वचनों पर ध्यान दीजिए—सभी देवताओं को मुक्त करके जगदीश्वर गणराज की शरण में जाइए। वे प्रभु आपको अवश्य क्षमा कर देंगे। यदि आप मेरे निवेदन को न मानेंगे तो निर्विघ्न सुख से निश्चित ही वञ्चित हो जायेंगे। आपको हठ छोड़कर सुख रूप पुरुषार्थ की सिद्धि करना ही श्रेयस्कर होगा।'

अपनी सहधर्मिणी के वचन उसे विषयुक्त तीर के समान प्रतीत हुए और वह लाल नेत्रों से उसकी ओर देखता हुआ बोला—'मैं तो तुम्हें बहुत चतुर समझता था प्रिये! किन्तु तुमने तो मुझे वीर-कर्म से विमुख करने और उत्साह भंग करने वाली बात कह दी है। तुम्हारे वचन मानकर तो मुझे सर्वत्र अपयश ही प्राप्त होगा। शत्रु कितना भी प्रबल हो, उसकी मन से भी प्रशंसा करना अथवा संग्राम छोड़कर आत्मसमर्पण करना तो अत्यन्त ही निन्दनीय कर्म है, इससे तो मर जाना ही अच्छा है।'

'क्या तुम नहीं जानतीं कि वीरों का कर्त्तव्य युद्ध है। क्योंकि युद्ध में जीतने से तीनों लोकों की ख्याति, सम्मान और ऐश्वर्य प्राप्त होगा तथा युद्ध में मरने से स्वर्ग मिलेगा। यदि मैं युद्ध से घबराकर शत्रु की शरण लूँगा तो मरने के बाद मुझे पूर्वजों सहित नरक की प्राप्ति होगी।'

'फिर एक रहस्य की बात तुम्हें और बताता हूँ—मैं जगद्गुरु देवाधिदेव गणेश्वर को भले प्रकार जानता हूँ। उनका अवतार मुझे मोक्ष प्रदान करने के लिए उसी प्रकार हुआ है जैसे लंकेश्वर रावण को मुक्त करने के लिए श्रीराम का अवतार हुआ था, किन्तु यह सब जानते हुए भी मैं काल को तुच्छ मानता हूँ। संसार में मेरे समान कोई भी योद्धा नहीं है, इसलिए युद्धक्षेत्र में गणेश्वर का सिर अवश्य काटूँगा, फिर चाहे कुछ भी क्यों न हो!'

कल-विकल असुरों का संहार

यह कहकर उसने राजसी पोशाक धारण की और राजसभा में जाकर कल और विकल नामक दो महावीरों से बोला—'कल! विकल! दोनों मेरी बात सुनो। इस समय इन समस्त योद्धाओं में तुम ही अधिक दुराधर्ष हो। अपने साथ विशाल सेना ले जाओ और शत्रुओं का वध कर दो। शिवपुत्र मयूरेश को भी जीवित या मृत मेरे समक्ष उपस्थित करो।'

वे दोनों विशाल दैत्यसेना के साथ रणक्षेत्र में जा पहुँचे। किन्तु घोर संग्राम के पश्चात् भी विजय प्राप्त न कर सके। आरम्भ में शिवगण और देवगण उनका प्रहार न सह पाये, किन्तु बाद में पुष्पदन्त और नन्दीश्वर के प्रहारों से दैत्यसेना पीड़ित होने लगी और अन्त में वीरभद्र ने कल और षडानन ने विकल को प्राण-विहीन कर दिया। इस युद्ध में भी असुरदल का संहार वेग से हुआ। बची सेना रणांगण छोड़कर भाग गई।

कल और विकल की मृत्यु का समाचार पाकर उग्रेक्षण बहुत दुःखित हुआ। वह सोचने लगा—'मेरे सभी प्रधान शूरवीर सेनापति इस युद्ध में मारे गये। अब शत्रु का सामना करने के लिए किसे भेजा जाय?' वह बहुत विचार करने के बाद भी कुछ स्थिर नहीं कर सका, तभी उसकी मनः-स्थिति समझकर उसके धर्म और अधर्म नामक दो पुत्रों ने कहा—'पिताजी! हमारे सभी प्रमुख सैनिकों ने रणांगण में अद्भुत वीरता

दिखाकर मोक्ष प्राप्त कर ली। अब आप हमें युद्धक्षेत्र में जाने की आज्ञा दीजिए। हमें विश्वास है कि शत्रुसेना को वश में करके मयूरेश का वध करने में हम अवश्य सफल होंगे।'

उग्रेक्षण ने आज्ञा दे दी तो दोनों भाई विशाल चतुरंगिणी सेना लेकर युद्धक्षेत्र में जा पहुँचे। दोनों ओर से घोर संग्राम होने लगा। दैत्यराज के दोनों पुत्र अत्यन्त बलवान् थे। उन्होंने वीरभद्र, हिरण्यगर्भ, भूतराज और मयूरेश्वर की सेना को बुरी तरह आहत किया। यह देखकर मयूरेश्वर ने उन दोनों को एक साथ ऊपर उठाया और आकाश में चक्र के समान घुमाकर धरती पर फेंक दिया। दोनों के ही सैकड़ों खण्ड हो गये। तभी विजयोल्लास से ऋषिगण और शिवगण 'गणेश्वर की जय' का घोष करने लगे। पराजित दैत्यसेना ने भागकर अपने राजा को समाचार दिया–'राजाधिराज ! आपके पुत्र बड़ी वीरता से लड़े थे, किन्तु मयूरेश के सामने उनकी एक न चली और वे मारे गये। उनके साथ जो विशाल सेना थी, वह भी रणक्षेत्र में काम आ गई।'

दैत्यों में शोक छा गया। रानी दुर्गा ने सुना तो राजसभा में ही जाकर रोती हुई बोली–'प्राणनाथ! मेरे पुत्रों को आपने मुझसे बिना पूछे ही रणक्षेत्र में भेज दिया। यदि वे मेरा आशीर्वाद लेकर जाते तो उन्हें विधाता भी नहीं मार सकता था।' दैत्यराज ने उसे बहुत प्रयत्न से समझाकर अन्तःपुर में भेजा और स्वयं वीरवेश धारण कर विशाल असुर सेना के सहित रणांगण में जा पहुँचा और उसने तुरन्त ही मारकाट आरम्भ कर दी। अनेक शिवगण काम आ गये।

वीरभद्र ने मयूरेश से कहा–'प्रभो ! उग्रेक्षण पुनः आकर भीषण संहार में प्रवृत्त है। इस बार तो बहुत ही उग्र हो उठा है। आप स्वयं उसका निवारण कीजिए।'

गणेश्वर ने अपने वाहन मयूर को बुलाया और उसपर आरूढ़ होकर दैत्यराज के समक्ष पहुँचे। उग्रेक्षण ने माया का आश्रय लिया तो मयूरेश

ने उसकी समस्त माया नष्ट कर दी और फिर उसके अनुयायी असुरों का संहार प्रारम्भ कर दिया । धीरे-धीरे विशाल दैत्य-सेना समाप्त हो गई । मयूरेश के प्रहारों के समक्ष उग्रेक्षण का पौरुष काम न कर सका । वह रणक्षेत्र से भागकर अपने भवन में जा पहुँचा ।

दैत्येश्वर उग्रेक्षण का वध

इधर विजयी शिवगण अपने स्थान पर आ गये । शिव-शिवा ने मयूरेश से विश्राम करने का आग्रह किया तभी देवर्षि नारद बोल उठे—'माता पार्वती जी ! मुझे यहाँ पड़े-पड़े बहुत दिन व्यतीत हो गए । पूजा-पाठ-भजनादि नित्यकर्म भी मैं ठीक प्रकार से नहीं कर पाता । अभी भी उग्रेक्षण का वध शीघ्र सम्भव नहीं लगता और जब तक उसका वध नहीं होगा तब तक देवगण मुक्त नहीं होंगे और न गणेश जी का विवाह ही हो पायेगा । इसलिए मैं तो अब यहाँ से जाने की आज्ञा चाहता हूँ ।'

तभी नन्दी आदि ने कहा—'देवर्षे ! आप तो सर्वगुण सम्पन्न हैं, फिर गणेश्वर की महिमा से अनभिज्ञ रहते हैं । आप शीघ्र ही दैत्यराज का वध हुआ देखेंगे ।'

मुनि बोले—'मैं तो तभी समझूँगा जब उसका वध हो जायेगा । अन्यथा अनुमान कितने ही लगाते रहो ।'

तब स्वयं गणेश्वर ने कहा—'मुनिवर ! मैं आपका मन्तव्य समझ गया हूँ । विश्वास कीजिए कि अब बिना अधिक विलम्ब के ही असुरपति मारा जायेगा ।'

नारदजी चुप हो गए । मयूरेश ने शिवगणों को आज्ञा दी कि 'आज ही गण्डकी नगर पर आक्रमण कर दिया जाय ।' आदेश सुनते ही समस्त सेना ने प्रस्थान कर दिया । युद्ध के बाजे बजते जा रहे थे और वीर गर्जना कर रहे थे । इस कारण समस्त धरती और दिशाएँ कम्पायमान हो रही थीं ।

समस्त सेना तीव्रगति से गण्डकी नगर में जा पहुँची तथा मयूरेश के चारों गण राक्षसराज के दुर्ग पर जा चढ़े । इस समाचार को सुनते ही उग्रेक्षण काँप उठा । उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि अब किस प्रकार बचाव किया जाय । तभी उसकी सहधर्मिणी दुर्गा ने रोते हुए कहा–'स्वामिन् ! आपने मेरी बात नहीं मानी । यदि मान लेते तो ऐसा विनाश नहीं होता । दोनों पुत्र मारे गये और समस्त सेना नष्ट हो गई । अब आपके अपने प्राणों पर आ बनी है । अब भी समय है, अपने प्राणों की रक्षा तो हो ही सकती है । फिर भी नहीं मानना चाहते तो चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं होगा ।'

रानी दुर्गा इस प्रकार कह रही थी कि तभी राजभवन के स्वर्ण-रत्न निर्मित शिखर पर भृङ्गी उड़कर जा बैठे और फिर सभा-मण्डप के स्तम्भों को उखाड़-उखाड़ उनको तोड़ने और टुकड़ों को चारों ओर बिखेरने लगे । यह देखकर हजारों असुर 'मारो–मारो' पुकारते हुए, अस्त्र-शस्त्र हाथ में उठाये हुए उनकी ओर दौड़े । भृङ्गी वीर तो उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे । उन्होंने कुछ ही देर में असुरों को धराशायी कर दिया ।

अब उन्होंने कुछ देर प्रतीक्षा की, किन्तु कोई भी असुर सामने नहीं आया । तब वे उग्रेक्षण के भवन में घुस गये और उन्होंने दैत्यराज को विश्राम करते देखा । वह सोने का बहाना बनाकर नेत्र मूँदे पड़ा था, इसलिए उन्होंने उसके कान और केश खींचने आरम्भ किये । विवश हुआ दैत्यराज उठकर बाहर आ गया और उसने भृङ्गी गणों को अपने आघातों से व्याकुल कर दिया ।

शिव-सेना बहुत आगे बढ़ आई थी । उग्रेक्षण ने भी भयंकर युद्ध कर सेना को पीछे हटने को विवश कर दिया । तभी सहसा उसे मयूरेश के विराट् रूप के दर्शन हुए । उनका मस्तक अन्तरिक्ष में, चरण पाताल में तथा कान सब दिशाओं में फैले हुए थे, उनके हजार मस्तक, हजार नेत्र, हजार हाथ और इतने ही चरण थे ।

इस रूप के दर्शन करके उसे भगवान् भास्कर के वे वचन याद आ गये, जिनके अनुसार ऐसे ही दिव्य पुरुष के द्वारा मृत्यु होनी थी। वह समझ गया कि अन्तकाल समीप है। फिर भी उसने समर्पण की अपेक्षा युद्ध करना ही उचित समझा और भयानक अस्त्रों से प्रहार करने लगा। किन्तु मयूरेश ने उनके सभी शस्त्रास्त्र काट गिराये।

अब वे मयूर से उतरे और उन्होंने पवित्र जल से आचमन करके अमृत-बीज युक्त मन्त्र का जप करते हुए अत्यन्त तेजस्वी परशु को अभिमन्त्रित किया तथा दैत्यराज के सामने जाकर उसकी नाभि पर प्रहार किया तब अपने घोर शब्द द्वारा त्रैलोक्य को गूँजता हुआ वह परशु नाभि में जा घुसा, जिससे अमृतस्थली ध्वस्त हो गई और वह तुरन्त ही धराशायी हो गया।

दैत्यराज के मरते ही सर्वत्र उल्लास छा गया। मुनिगण, देवगण आदि सभी निर्भय हो गये। आकाश में अप्सराएँ नाचने और पुष्प-वर्षा करने लगीं। सभी दिशाएँ स्वच्छ हो गईं। धरती फूल उठी। देवता, ऋषि-मुनि आदि सब मयूरेश की स्तुति करने लगे—

"परब्रह्मरूपं चिदानन्दरूपं
सदानन्दरूपं सुरेशं परेशम्।
गुणाब्धिं गुणेशं गुणातीतमीशं
मयूरेशमाद्यं नताः स्मो नताः स्मः॥
जगद्वन्द्यमेकं परोपकारमेकं
गुणानां परं कारणं निर्विकल्पम्।
जगत्पालकं हारकं तारकं तं
मयूरेशमाद्यं नताः स्मो नताः स्मः॥"

'जो प्रभु परब्रह्म, चिदानन्द, सदानन्दस्वरूप, सभी देवताओं के अधीश्वर, परमेश्वर, गुणों के समुद्र एवं गुणों के स्वामी किन्तु गुणों से परे

हैं, उन आदिदेव परमात्मा मयूरेश को हम नमस्कार करते हैं। जो संसार भर के एकमात्र वन्दनीय, एकमात्र ओंकार, गुणों के परम कारण, कल्प रहित, विश्वपालक, संहारक और उद्धार करने वाले हैं, उन आदिदेव मयूरेश को हम नमस्कार करते हैं।

हे गजानन ! हे गणराज ! वस्तुतः हम आपके योग्य सुन्दर स्तवन में समर्थ नहीं हैं। आप समस्त गुणों के भण्डार और सम्पूर्ण विश्व के प्रेमपात्र हैं। आपके गुणों का वर्णन करने की हममें शक्ति नहीं है। आपका संसार-रचना का क्रम समुद्र के समान अपार और अकथनीय है। हे प्रभो ! आपने अपने वचन का निर्वाह कर दिया तथा समस्त दैत्यों का संहार कर देवताओं और ऋषि-मुनियों को सुखी बना दिया।'

स्तुति करके देवगण अपने धाम को चले गये। इधर अपने पुत्र मयूरेश के द्वारा दैत्यराज के मरने का समाचार सुनकर माता पार्वती अत्यन्त आनन्दित हो उठीं। शिवजी के साथ वे तुरन्त अपने पुत्र के पास पहुँचीं और उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। शिवगण मयूरेश्वर का जयघोष करने लगे।

78

८. अष्टम अध्याय

मयूरेश का सिद्धि-बुद्धि के साथ पाणिग्रहण

उग्रेक्षण की मृत्यु का समाचार मिलते ही माता-पिता छाती पीटने लगे। रानी दुर्गा के करुण-क्रन्दन से दैत्य नगरी में सर्वत्र शोक छा गया। दैत्यराज के लिए चन्दन-चिता तैयार की गई और रानी दुर्गा भी अपने पति के साथ सती हो गई।

तदुपरान्त उग्रेक्षण के पिता चक्रपाणि उस नगरी के राजा हुए। विष्णु आदि सब देवताओं को मुक्त कर दिया तथा भगवान् मयूरेश की सेवा में उपस्थित होकर उनकी स्तुति की और फिर निवेदन किया—'प्रभो ! आप ही समस्त चराचरमय विश्व के उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता हैं ।' आपकी माया से मोहित हुए जीव आपको जान नहीं पाते। आज आपके दर्शनों का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है । इस कारण हमारा जीवन सफल हो गया है ।'

मयूरेश ने प्रसन्न होकर कहा—'राजन् ! तुम्हारे पुत्र को मैंने विवश होकर मारा है । परन्तु उसे मोक्ष की प्राप्ति हो गई है । मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, इसलिए इच्छित वर माँग लो ।'

चक्रपाणि बोले—'नाथ ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मेरे भवन और नगर को पवित्र करने की कृपा कीजिए ।' प्रार्थना सुनकर मयूरेश अपने गणों के सहित गण्डकी नगर में पधारे, जहाँ राजसभा में विद्यमान सभासदों, प्रजाजनों, मुक्त हुए विष्णु आदि देवताओं ने उनका स्वागत किया । वे स्वर्ण-रत्न निर्मित भव्य सिंहासन पर विराजमान हुए अत्यन्त शोभामय प्रतीत होते थे ।

इन्द्र का मान भंग

राजा चक्रपाणि ने मयूरेश का पूजन किया और स्तुति करते हुए बोले—'नाथ ! आज मेरा जीवन, मेरा भवन, नगर और सभी प्रजाजन धन्य हो गये । जिन परमात्मा के दर्शन अनेक जन्मों में तपस्या करके भी ऋषि-महर्षिगण प्राप्त नहीं कर पाते, उनके मुझे साक्षात् दर्शन हो रहे हैं ।'

तभी भगवान् मयूरेश की माया से मोहित हुए इन्द्र ने कुपित होकर कहा—'राजन् ! तुमने सब बड़े-बड़े देवताओं की उपस्थिति में एक बालक की प्रथम पूजा करके अपनी मूर्खता का परिचय दिया है ।'

चक्रपाणि बोले–'देवराज ! यद्यपि आप, रुद्र, सूर्य, वायु, वरुण, कुबेर, अग्नि आदि समस्त देवताओं को मेरे पुत्र ने हरा दिया । उसके भय से समस्त देवता, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषि-मुनि आदि यत्र-तत्र छिपे रहे । भगवान् विष्णु तक अपने अनुयायी देवताओं सहित बंदी बना लिए गये । किन्तु परमात्मा मयूरेश ही समस्त वीरों सहित मेरे पुत्र का संहार करने में समर्थ हुए । इन्होंने उसके यहाँ बन्दी देवताओं को मुक्त कराया । इस कारण मैं तो इन्हीं को प्रथमपूजा का अधिकारी समझता हूँ ।'

इन्द्र का समाधान न हुआ देखकर मयूरेश ने घोर गर्जन किया, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड काँप उठा । ऐसा लगा मानो ब्रह्माण्ड विदीर्ण हो जायेगा । उससे असंख्य प्राणी मूर्च्छित हो गए । सूर्य के समान प्रकाश से विश्व व्याप्त हो गया तदुपरांत देवताओं ने मयूरेश के रूप में दसभुजी गजानन भगवान् के साक्षात् दर्शन किए ।

फिर तुरन्त ही दसभुजी गजानन के स्थान पर मध्य में पद्मासन पर विराजमान वक्रतुण्ड, अग्निकोश में शिवजी, नैर्ऋत्य में सूर्य, वायव्य में पार्वती जी और ईशान कोण में बैठे भगवान् नारायण के दर्शन हुए । इससे समस्त देवगण भ्रमित हो गये ।

तभी आकाशवाणी हुई–'परमपिता परमात्मा गजानन ही पाँच रूपों में प्रकट होते हैं । वे सभी विघ्नों के नाशक तथा देवता, मनुष्य, यक्ष, राक्षस और नाग सभी के पूज्य हैं । केवल इनकी पूजा से ही समस्त देवों की पूजा सम्पन्न हो जाती है । इसलिए भेदबुद्धि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ।'

तभी सब देवताओं ने भगवान् मयूरेश के ओंकार रूप के दर्शन किए । इससे उनका भ्रम तुरन्त दूर हो गया और सब उच्च स्वर से 'मयूरेश की जय' बोलने लगे । फिर सभी देवताओं ने उनका श्रद्धा-भक्ति सहित पूजन किया । राजा चक्रपाणि ने भी उनका षोड़शोपचार पूजन कर स्तुति की ।

इसके अनन्तर नारदजी ने कहा—'भगवान् मयूरेश ने प्रतिज्ञा की थी कि समस्त देवताओं को बन्धन-मुक्त कराने के पश्चात् ही विवाह करूँगा।' इनकी वह प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी है। अतएव अब सिद्धि-बुद्धि का विवाह इनके साथ होना शेष है। अतः कमलोद्भव ब्रह्माजी शीघ्र ही उस कार्य को भी सम्पन्न कर दें।'

ब्रह्माजी प्रसन्न हुए उन्होंने अपनी दोनों पुत्रियों का विवाह मयूरेश के साथ कर दिया। फिर विदा करते हुए हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे—'प्रभो! आज मेरी अभिलाषा पूर्ण हो गई। इन पुत्रियों का पालन मैंने बड़े लाड़-प्यार से किया है, अब इनकी रक्षा आप स्वयं करते रहें।'

मयूरेश ने ब्रह्माजी की बात स्वीकार की। तभी दैत्यराज के यहाँ बन्दी देवताओं ने प्रार्थना की—'प्रभो! आपकी कृपा से हम बन्धन मुक्त हो गये, इसलिए अब हमें स्वधाम गमन की आज्ञा दें।'

मयूरेश ने देवताओं और ऋषि-मुनियों के प्रति आदर भाव प्रदर्शित करते हुए जाने की आज्ञा दे दी और वे सब उनका जय-जयकार करते हुए अपने-अपने स्थानों को चले गये।

लीला का संवरण

कुछ दिन राजा चक्रपाणि का आतिथ्य ग्रहण करने के पश्चात् मयूरेश ने भी शिव-शिवा और अपनी भार्याओं सहित अपने स्थान पर जाने की इच्छा प्रकट की तो राजा ने बेमन से उसे स्वीकार कर पर्याप्त भेंट आदि के साथ विदा किया। वे स्वयं उन्हें नगर के बाहर एक योजन दूर तक पहुँचाने आये। उनके साथ सभी नागरिक भी थे। मयूरेश को विदा करते समय सभी की आँखें अश्रूपूर्ण हो रही थीं। वे बोले—'प्रभो! आप हम सेवकों को छोड़कर जा रहे हैं, किन्तु हमें आपका वियोग असहनीय हो रहा है। हमारे ऊपर सदैव आपकी दया बनी रहे।'

मयूरेश ने चक्रपाणि और उनके समस्त प्रजाजनों को समझाया—'आप लोग निश्चिंत रहें। मेरी कृपा से आपको समस्त सुखों की प्राप्ति होगी। मेरे स्मरण मात्र से सभी सङ्कट दूर हो जाया करेंगे।'

इस प्रकार आश्वासन देकर मयूरेश अपने नगर को चले। उनके साथ शिव-शिवा, ब्रह्मा, विष्णु आदि प्रमुख देवता भी थे। प्रमथादि गण उनका जय-जयकार करते चल रहे थे, निश्चित अवधि में गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर सभी ने विश्राम किया और कुछ दिन बात-की-बात में निकल गए।

दोनों बहुओं को पाकर पार्वती जी बहुत प्रसन्न थीं। वे भी उनकी बहुत सेवा करतीं तथा आशीर्वाद पाती थीं। शिवगण भगवान् मयूरेश को प्रसन्न करने का सदैव यत्न करते रहते।

तभी एक दिन शिव-शिवा, ब्रह्मा, विष्णु आदि के समक्ष मयूरेश ने गम्भीर वाणी में कहा—'देवगण! मैं एक महत्त्वपूर्ण बात कहता हूँ, आप ध्यान देकर सुनें। मैंने जिस उद्‌देश्य से धरती पर अवतार लिया था, वह कार्य सम्पन्न हो गया है।'

'असुरों के मरने से पृथ्वी का भार भी उतर चुका और दैत्य के कारागार में बन्धनग्रस्त देवता भी मुक्त हो गये। स्वाहा, स्वधा और वषट्‌कार भी पहिले के समान निःशङ्क रूप से हो रहे हैं। इसलिए मेरे अवतार का प्रयोजन पूर्ण होने पर मेरा कोई शेष नहीं रहा और मेरे स्वधाम गमन का अवसर आ गया है।'

यह सुनकर दुःखित हुए देवताओं ने सजल नेत्रों से कहा—'प्रभो! आप हमें त्यागकर क्यों जा रहे हैं? अब यदि पुनः दैत्य उत्पन्न हो गए तो हमारी रक्षा किस प्रकार होगी?'

'चिन्ता न करो' मयूरेश ने आश्वासन दिया—'जब कोई संकट उपस्थित हो तब मुझे याद करना, मैं तुम्हारी सदैव रक्षा करूँगा।'

माता पार्वतीजी को उनके वचन सुनकर मूर्च्छा ही आ गई । बोलीं—'पुत्र ! तुम्हारे बिना कैसे जीवित रहूँगी ? मुझे छोड़कर कहीं न जाओ ।'

मयूरेश ने समझाते हुए कहा—माता ! मैं भी तुम्हारे वियोग से दुःखित हूँ । किन्तु सदैव एक स्थान पर नहीं रह सकता, इसलिए विवश हूँ । जब द्वापर में मुझे एक भयानक असुर को मारने के लिए अवतार लेना होगा, तब तुम्हारे पुत्र रूप से प्रकट होकर पुनः सुख प्रदान करूँगा ।'

तभी षडानन ने रोते हुए कहा—'मुझे भी साथ ले चलो ।' इसपर उन्होंने अपना मयूर षडानन को प्रदान करते हुए कहा—'मयूरध्वज, मैं सभी के अन्तर में निवास करने वाला होने के कारण हृदय में भी सदैव विद्यमान रहता हूँ । इसलिए मुझे निरन्तर अपने साथ समझो ।' ऐसा कहकर गणेश्वर वहीं अन्तर्धान हो गये ।

सप्तम खण्ड

१. प्रथम अध्याय

सिन्दूरासुर की उत्पत्ति

द्वापर युग चल रहा था । ब्रह्माजी निद्राग्रस्त थे, उस समय शूलपाणि उमानाथ ब्रह्मलोक में पधारे । चतुरानन की नींद खुली और उन्होंने एक जँभाई ली । तभी उनके मुख से एक अत्यन्त भयंकर पुरुष प्रकट हो गया । उसकी घोर गर्जना से समस्त दिशाएँ काँप उठीं । दिक्पाल आश्चर्य में भर गए और शेषनाग क्षुब्ध होकर विष-वमन करने लगे । समस्त प्राणी भय और आशंका से अत्यन्त व्याकुल हो गये थे ।

उस भयंकर पुरुष का वर्ण अत्यन्त लाल था । उसके सुन्दर एवं अनुपम शरीर से सुगन्ध निकलकर वातावरण को सुरभित बना रही थी । वह तुरन्त ही ब्रह्माजी के समक्ष विनीत भाव से आ खड़ा हुआ । पद्मयोनि उसे देखते ही विस्मय में भर गये, पूछने लगे–'तुम कौन हो ? कहाँ, कैसे उत्पन्न हुए और क्या चाहते हो ?'

वह पुरुष विनयपूर्वक बोला--'प्रभो ! आप सर्वज्ञ एवं समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने वाले हैं । फिर भी आप अनजान के समान मुझसे यह प्रश्न क्यों कर रहे हैं ? आपने जँभाई ली तभी आपके मुख से उत्पन्न हुआ आपका पुत्र । इसलिए आप मुझे पुत्र रूप में स्वीकार कर मेरा नामकरण कीजिए । फिर मुझे रहने का स्थान और आहार दीजिए । मेरा क्या कर्त्तव्य हो यह भी निर्देश कीजिए ।'

ब्रह्माजी उसके सौन्दर्य और विनीत भाव पर मुग्ध एवं प्रसन्न थे । वे बोले–'पुत्र ! तू अत्यन्त अरुण अंग कान्ति वाला होने के कारण 'सिन्दूर' नाम से कहा जायेगा । तुझमें तीनों लोकों को वश में करने की अद्भुत

सामर्थ्य होगी । तुझे पंचभूतों, देवताओं, दानवों, यक्षों और मनुष्यों से किसी प्रकार का भय नहीं होगा । इन्द्रादि लोकपाल भी तेरा कुछ न बिगाड़ सकेंगे । दिन हो या रात्रि, तुझे भय की प्राप्ति नहीं होगी ।'

पुत्र ने आज्ञाकारी सेवक की भाँति मस्तक झुकाया । ब्रह्माजी उससे और भी सन्तुष्ट हुए । उन्होंने पुनः कहा–'बेटा ! तुझे किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु से भय नहीं होगा । जब तू क्रोधपूर्वक किसी को भी अपनी विशाल भुजाओं में जकड़ लेगा तब उसके शरीर के सैकड़ों खण्ड हो जायेंगे । अब तू तीनों लोकों में जहाँ कहीं भी रहना चाहे वहाँ रह । तुझे कोई रोक नहीं सकता ।'

सिन्दूर ने श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पिता के चरणों में प्रणाम किया और फिर कोमल वाणी से बोला–'अखिल ब्रह्माण्डेश्वर ! आप सत्व, रज और तम तीनों गुणों के साधन द्वारा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं । जबकि आपके साथ ही समस्त विश्व तमसावृत होकर सो जाता है । करोड़ों कल्पों तक घोर तपस्या करने पर भी आपके दर्शन सम्भव नहीं होते । किन्तु मुझे वे सहज ही प्राप्त हैं । अब इससे बढ़कर और सौभाग्य की कौन-सी बात होगी ?'

यह कहकर सिन्दूर ने चतुरानन प्रभु की परिक्रमा की और चरणों में प्रणाम कर तथा उनकी आज्ञा लेकर पृथ्वी की ओर चल पड़ा । अभी कुछ ही योजन दूर गया होगा कि उसके मन में एक शंका उत्पन्न हो गई–'न जाने कितने जन्मों के पुण्य संचित होने पर कठोर तपश्चर्या करने पर ऐसे वरदान की प्राप्ति हो सकती होगी । किन्तु मुझे तो बिना जप, तप और वेदाध्ययनादि किये सहज में यह दुर्लभ वर प्राप्त हो गए । कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे पिता ब्रह्माजी ने मुझे वैसे ही बहला दिया हो । इसलिए इसकी परीक्षा करनी चाहिए कि यह वरदान सत्य है या नहीं ?'

सिन्दूर का वर की परीक्षा का प्रयत्न करना

उसने पुनः सोचा—'किन्तु, इनकी परीक्षा कैसे हो ? यहाँ कोई भी ऐसा प्राणी दिखाई नहीं देता, जिसे पकड़कर देख लूँ कि उसके सैकड़ों खण्ड होते हैं या नहीं ? अब कहाँ चलूँ ? कहीं कोई भी दिखाई नहीं देता ? तब क्यों न ब्रह्माजी पर ही इसका परीक्षण कर लिया जाये ?' ऐसा निश्चय कर वह पुनः ब्रह्मलोक की ओर लौटा । उसने ब्रह्माजी के पास जाकर घोर गर्जन किया और अपनी भुजाओं को तोलने लगा । पद्मयोनि उसके हाव-भाव देखकर ही मन की बात ताड़ गये, इसलिए भय के कारण दूर जाकर बोले—'कहो पुत्र ! लौट कैसे आए ?'

सिन्दूर ने कहा—'पिताजी ! मैं आपके वर की परीक्षा करना चाहता हूँ । जब मुझे कहीं भी कोई दिखाई न दिया तो यहाँ आना ही उचित प्रतीत हुआ ।'

ब्रह्माजी ने दूर से ही कहा—'पुत्र ! मैंने तेरी सुन्दरता देखकर ही मोहवशात् तुझे वर प्रदान किया था । मुझे तेरी इस कुटिलता और दुष्टता का भान नहीं था कि तू मेरे वरदान का परीक्षण मुझपर ही करेगा । वस्तुतः विषधर को दूध पिलाने पर उसमें विष की वृद्धि ही होगी, इस सिद्धान्त की ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया था ।'

सिन्दूर फिर भी न माना, वह ब्रह्माजी की ओर बढ़ने लगा तो वे पीछे हटते हुए बोले—'अरे मूढ़ ! अब तू असुर भाव को प्राप्त होगा और तुझे मारने के लिए गजानन भगवान् अवतार लेंगे ।'

शाप सुनकर अट्टहास करता हुआ सिन्दूर चतुर्मुख की ओर झटका । यह देखकर वे प्राण लेकर भागने लगे । पीछे-पीछे असुर भी दौड़ पड़ा । यद्यपि ब्रह्माजी असुर की अपेक्षा दुर्बल थे तो भी प्राण के मोह से वेगपूर्वक भाग रहे थे । भागते-भागते वे पसीने से लथपथ हो गए, किन्तु असुर ने उनका पीछा न छोड़ा ।

चतुरानन का भागकर बैकुण्ठ जाना

चतुरानन बैकुण्ठ धाम तक पहुँच गये थे । वहाँ कुछ श्रम हल्का करने के लिए रुके ही थे कि असुर आता दिखाई दिया । वे वेग से दौड़कर भगवान् विष्णु के पास जा पहुँचे । रमानाथ ने उनका उद्वेग देखकर तुरन्त अपने पास बैठाया और पूछने लगे–'विधाता ! आप इतने डरे हुए क्यों हैं ? आपकी देह भी स्वेद से भीग रही है । लगता है, वेग से भागकर आये हो ।'

ब्रह्माजी बोले–'प्रभो ! मुझे निद्रा आ गई थी, तभी पार्वतीपति पधारे । मैं निद्रा से उठा तो जँभाई आ गई और मेरे मुख से लाल वर्ण का एक सुन्दर महाकाय बालक उत्पन्न हो गया । उसने मुझसे नाम रखने और रहने का स्थान बताने की प्रार्थना की तो मैंने उसका नाम सिन्दूर रखा और रहने के लिए तीनों लोकों में इच्छित स्थान पर रहने को कह दिया । किन्तु उसके सौन्दर्य एवं पुत्र-स्नेह से भ्रमित होकर मैंने उसे यह वर दे दिया कि तू त्रैलोक्य विजयी होगा और तू जिसे भी पकड़कर जकड़ लेगा वह वहीं चूर-चूर हो जायेगा । अब वह दुरात्मा उस वरदान का परीक्षण मुझपर ही करने पर उतारू है । हे दयासिन्धो ! उस दुष्ट से मेरी रक्षा कीजिए ।'

विष्णु बोले–'वाह ! आपने भी कैसा सुन्दर वर दे दिया उसे बिना विचार किए हुए वर प्रदान का यही दुष्परिणाम हो सकता था । आपका पुत्र-मोह आपको ही नहीं, तीनों लोकों को यातना-ग्रस्त कर देगा !'

दोनों में इस प्रकार वार्तालाप चल ही रहा था कि दौड़ता हुआ सिन्दूर भी वहीं आ गया और ब्रह्माजी पर झपटता हुआ बोला–'क्यों, यहाँ आकर छिप रहे हो ? परन्तु मैं तुम्हें कहीं भी छोड़ने वाला नहीं हूँ । आओ, चुपचाप मेरी पकड़ में आना स्वीकार कर लो ।'

'बचाओ प्रभो ! बचाओ' कहते हुए ब्रह्माजी भगवान् विष्णु के पीछे की ओर होने लगे, तभी भगवान् ने उसे समझाया–'पुत्र ! तू अत्यन्त

बलवान् और चतुरानन अल्पबल हैं, इसलिए इनसे युद्ध करने में तुम्हें सुयश नहीं मिलेगा। वरन् इनका अनिष्ट होने पर तुम्हें अपकीर्ति ही प्राप्त होगी। इसलिए इन्हें छोड़कर किसी अन्य से युद्ध करो।'

सिन्दूर बोला—'मुझे तो अपने वरदान का परीक्षण करना है, यह हों या कोई वीर। यदि यह नहीं लड़ते तो तुम्हीं आकर युद्ध करो।'

यह कहकर वह विष्णु की ओर बढ़ा, किन्तु वे तो परम नीति-निपुण थे। उसे भ्रमित करते हुए बोले—'पुत्र ! मैं तो केवल सत्वगुण सम्पन्न हूँ, इसलिए लोकपालन में ही लगा रहा।'

विष्णु का सिन्दूर दैत्य को कैलास भेजना

विष्णुजी ने मुस्कराते हुए कहा—'कैलास पर्वत पर शिवजी निवास करते हैं। उन्होंने अपने दृष्टिपात मात्र से कामदेव को भस्म कर दिया था। बहुत से असुर उनके हाथ से मारे गये हैं। वे उमानाथ सुदृढ़काय और सदैव युद्ध के लिए उत्सुक रहने वाले भी हैं। उनसे युद्ध करो तो तुम्हें सन्तोष भी होगा और सुयश की भी प्राप्ति होगी।' रमानाथ के नीतिपूर्ण मधुर वचन सुनकर असुर को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सोचा—'ऐसे ही युद्धप्रिय वीर से युद्ध करने में आनन्द आ सकता है, अतः वही करना चाहिए।'

और, वह वेगपूर्वक चलता हुआ कैलास-शिखर पर जा पहुँचा। उस समय भगवान् शंकर समाधि में लीन हुए बैठे थे। पार्वती जी उनकी सेवा में रत थीं तथा नन्दी और भृंगी आदि भी उनके निकट ही बैठे हुए थे।

सिन्दूरासुर द्वारा पार्वती को हरण करने की चेष्टा

सिन्दूर ने देखा कि एक बाघाम्बरधारी योगी तपस्या कर रहा है।

उसके समस्त शरीर पर भस्म रमी हुई है। कन्धे पर विशाल गजचर्म और ललाट पर अर्द्धचन्द्र सुशोभित है। इस प्रकार का वेष देखकर उसने विचार किया कि विष्णु ने अवश्य ही मेरे साथ छल किया है, अन्यथा कहाँ यह वनवासी तपस्वी और कहाँ मैं अत्यन्त शूर-वीर विशालकाय योद्धा। इस दुर्बल के साथ कैसा युद्ध ? इस प्रकार का छल करने के कारण विष्णु को ही दण्ड देना चाहिए।'

यह विचार कर वह लौटने को ही था, तभी उसकी दृष्टि जगज्जननी पार्वती जी पर पड़ी। उनके अलौकिक रूप को वह देखता ही रह गया। फिर उसने सोचा–खाली हाथ भी क्यों लौटूँ, इस सुन्दरी को ही क्यों न उठा ले चलूँ ?

ऐसा विचार कर वह जगज्जननी की ओर बढ़ा। तभी उसका मन्तव्य समझकर पार्वती जी भय के कारण काँपने लगीं और फिर मूर्च्छित हो गईं। असुर ने उनकी चोटी पकड़ी और बलपूर्वक उठाकर ले जाने लगा।

नन्दी और भृंगी आदि ने देखा तो असुर को मारने के लिए बढ़े, किन्तु वे उसका कुछ भी न बिगाड़ सके। सिन्दूर ने उन्हें मार-मारकर भगा दिया। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हुए माता पार्वती जी को ले जाते देखते रहे। असुर उन्हें ले जा रहा था, तभी वे होश में आ गईं और विलाप करने लगीं।

नन्दी आदि ने भगवान् शिव को जगाने का प्रयत्न किया। अधिक कोलाहल होने से भी उनकी समाधि टूट चुकी थी। उन्होंने नन्दी से प्रश्न किया कि यह कोलाहल कैसा है ? तो उन्होंने असुर द्वारा पार्वतीजी को हरण कर ले जाने की बात बताई।

शिवजी ने पार्वती-हरण होता हुआ सुना तो क्रोधित हो उठे। उन्होंने दशभुजी वेश धारण कर सभी भुजाओं में त्रिशूलादि दिव्यास्त्र धारण किये और वृषभ पर चढ़कर जिधर असुर गया था, उधर वेग से दौड़े।

कुछ ही देर में उन्होंने उसे जा पकड़ा और पुकारते हुए बोले–'अरे

दुष्ट ! मेरी प्रिया को कहाँ लिये जा रहा है ? ठहर जा, अन्यथा दुष्परिणाम भोगना होगा ।' उसने पीछे फिर देखा तो अट्टहास करता हुआ बोला–'अरे मूर्ख तापस ! क्या मच्छर के समान भिनभिनाता है ? मेरे श्वास-प्रश्वास से ही सुमेरु प्रभृति पहाड़ पर्वत काँपते हैं तो तू क्या वस्तु है ? जा, यदि प्राण-रक्षा चाहता है तो तुरन्त यहाँ से चला जा और किसी अन्य स्त्री से विवाह कर ले । क्योंकि अब यह स्त्री तो तुझे मिलेगी नहीं । अथवा कुछ बूता हो तो सामने आकर युद्ध कर ।'

शिवजी भी क्रोधपूर्वक उसकी ओर बढ़े, बोले–'मुझ महाकाल से लड़ना चाहता है तो लड़ ले । तब तुझे शीघ्र ही ज्ञात हो जायेगा कि दुष्कर्म का क्या फल होता है ?'

२. द्वितीय अध्याय

मयूरेश्वर का प्रकट होना

द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ हुआ । किन्तु माता पार्वती ने असुर की प्रबलता समझ ली थी, इसलिए उन्होंने मयूरेश का स्मरण किया, इस कारण एक अत्यन्त तेजस्वी ब्राह्मण के रूप में वे प्रकट हो गए और अपने परशु के स्पर्श से महासुर को पीछे हटाते हुए बोले–'असुरराज ! माता पार्वती जी को मेरे पास छोड़कर शिवजी से युद्ध करो । फिर जो जीतेगा, वही माता पार्वती को पा लेगा ।'

असुर ने उनकी बात मान ली और जगज्जननी को उनके पास छोड़कर शिवजी से युद्ध करने लगा । वह जब-जब शिवजी को अपने भुज-पाश में लेने का प्रयत्न करता, तब-तब मयूरेश अदृश्य रूप से अपने

परशु का उसके वक्षःस्थल पर परशु प्रहार कर देते । इसलिए उस समय अत्यन्त व्याकुल हो उठता और उन्हें भुजपाश में न पाता था ।

इस प्रकार बहुत बार के परशु प्रहार ने असुर की शक्ति का अत्यन्त क्षय कर दिया, जिससे वह शिथिल होता गया । तभी भगवान् शंकर ने उसके वक्षःस्थल पर त्रिशूल का तीव्र प्रहार कर दिया, जिसे वह सहन न करके धरती पर गिर पड़ा । मयूरेश ने उसकी पराजय घोषित करते हुए कहा–'असुरेश्वर ! तुम युद्ध में शिवजी को नहीं हरा सके, इसलिए माता पार्वतीजी को प्राप्त करने के लिए वही अधिकारी हैं । तुम तुरन्त उन्हें छोड़कर यहाँ से भाग जाओ, अन्यथा महाकाल शिव तुम्हारा वध कर डालेंगे ।'

सिन्दूर ने भी अपनी पराजय स्वीकार कर ली । इस समय उसमें अधिक युद्ध करने की शक्ति नहीं थी । अतः पार्वती जी को वहीं छोड़कर वह तुरन्त पृथ्वीलोक के लिए चल पड़ा ।

तब पार्वती ने चैन की साँस लीं और ब्राह्मण वेशधारी मयूरेश के प्रति कृतज्ञता प्रकट करती हुई बोलीं–'विप्रवर ! असुर के हाथ से मेरी रक्षा आपकी ही कृपा से हुई है । मैं आपकी इस कृपा के प्रतिदान में समर्थ नहीं हूँ । किन्तु आप मुझे अपना परिचय देने का कष्ट करें ।'

विप्रवेशधारी मयूरेश ने कहा–'माता ! मैंने क्या किया है ? असुर की पराजय तो भगवान् शंकर के द्वारा हुई है । मैंने धर्म-संगत निर्णय मात्र ही दिया है ।'

'जो कुछ भी हो' पार्वती ने कहा–'बिना आपकी कृपा के छुटकारे की कोई सम्भावना नहीं दिखती थी । इसलिए इस समय तो आप मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं । आप कौन हैं ? यह बताने की कृपा कीजिए ।'

पार्वती जी की प्रार्थना पर भगवान् मयूरेश ने अपना रूप प्रकट

किया। वही रूप-लावण्य, वही गतिविधि, वही श्रृंगार, वैसे ही दिव्याभरण जो त्रेता में उत्पन्न हुए पुत्र गणेश मयूरेश के थे। पार्वती उनकी मन्द मुस्कान पर न्यौछावर हो गईं। बोलीं–'गणेश्वर ! देवाधिदेव ! आपने आकर मेरी रक्षा की।'

मयूरेश ने कहा–'माता ! आश्चर्य न करो। मैं पुत्र रूप में सदैव आपके पास हूँ। त्रेतायुग में स्वधाम गमन के समय आप ने पुनः दर्शन की इच्छा प्रकट की और मैंने द्वापर में दर्शन देना स्वीकार कर लिया था। अतएव मैं इसी सिन्दूरासुर को मारने के लिए आपके पुत्र रूप में पुनः अवतार लूँगा। उस समय 'गजानन' नाम से मेरी प्रसिद्धि होगी।'

यह कहकर मयूरेश वहीं अन्तर्धान हो गये। माता पार्वती उनका वियोग दुःख न सहने के कारण मूर्च्छित होने लगीं तो शिवजी ने उन्हें सँभालते हुए कहा–'प्रिये ! सावधान हो। मयूरेश सदैव तुम्हारे साथ हैं, अपने हृदय में उनका दर्शन करो। उनका कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता।'

शिवजी के वचनों से पार्वती जी को शान्ति हुई और वे उनकी आज्ञा से वृषभारूढ़ होकर उनके साथ कैलास के लिए चल दीं। वह मार्ग पार करने में उन्हें अधिक विलम्ब न लगा। अब समाचार ज्ञात होने पर शिवगण मयूरेश्वर का आभार मानने और उनकी जय बोलने लगे।

सिन्दूरासुर द्वारा दिग्विजय

कैलास से चलकर वह असुर पृथ्वी-लोक में गर्जन करता हुआ घूमने लगा। उसके गर्जन से पृथ्वी कम्पायमान होती, पर्वत-शिखर और वृक्ष धराशायी होते तथा भयभीत पक्षी और पशु इधर-उधर भागते फिरते थे।

आसुरी प्रकृति के मनुष्यों ने भी सिन्दूर को अत्यन्त बलवान् जानकर उनका अनुगामी होना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार से मनुष्यों का

जमघट बढ़ने लगा । वे उसका आदर करते और आज्ञा पालन में तत्पर रहते थे ।

धीरे-धीरे उसके अनुयायियों, साथियों, मित्रों की संख्या बढ़ती गई । अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र एकत्र होने लगे, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेनाएँ एकत्र होने लगीं । इस प्रकार उसकी शक्ति दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी ।

अब उसने दिग्विजय का निश्चय किया । आक्रमणों की शृंखला चल पड़ी । जिस राज्य पर चढ़ाई की वही अधीन हो गया । अनेक राजे मारे गए, अनेक बन्दी हुए, अनेकों ने धनांश मणि-रत्न, वस्त्रादि भेंट देकर सन्धि कर ली । अनेक नरपति राज्य छोड़कर वनवासी तपस्वी हो गए ।

इस प्रकार वह जिधर निकल जाता, उधर ही रक्त की नदियाँ बहा देता । भीषण नरसंहार की उसकी प्रवृत्ति बन गई । उसका सामना करने की शक्ति किसी नरेश में नहीं रही । अन्त में तो यह स्थिति हुई कि वह जिस राजा से जो कुछ माँगता वही उसे बिना विलम्ब, बिना विरोध प्राप्त हो जाता । जब कोई राजा विरोधी न रहा तो उसने ऋषि-मुनियों की ओर कुदृष्टि की । न जाने कितने तपस्वी मार डाले और कितने कारागारों में डाल दिये । जो चुपचाप गिरि-गुफाओं में जा छिपे वे ही अपनी जीवन-रक्षा में सफल रहे ।

अब मठ और मन्दिर की बारी थी । सभी को छति पहुँचाई गई । सभी नष्ट कर दिए गए । प्रतिमाएँ खण्डित कर दी गईं । वैदिक क्रिया-कलाप अपराध घोषित हुईं । स्वाहा, स्वधा, वषट्कार के स्वरों का लोप हो गया । सर्वत्र हाहाकार सुनाई देने लगा ।

पृथ्वी विजय के पश्चात् स्वर्गलोक पर चढ़ाई की गई । ब्रह्माजी प्रदत्त वरदान की बात सभी को विदित हो गई थी, इसलिए देवगण बहुत कुछ सावधान हो चुके थे । बहुत से देवता पहिले ही गिरि-कन्दराओं में

जा छिपे थे । असुर ने अमरावती पर आक्रमण किया तो देवराज ने पर्याप्त प्रतिरोध के पश्चात् हथियार डाल दिये और स्वर्ग छोड़कर अन्यत्र चले गए ।

देवताओं द्वारा विनायक की स्तुति करना

अवसर प्राप्त होने पर देवताओं ने गुप्त गोष्ठी की, जिसमें सिन्दूरासुर को परास्त करने सम्बन्धी विचार ही चला । बहुत सोच-विचार के पश्चात् ही यह समझ में न आ रहा था कि असुर को किस प्रकार हराया जाये । अन्त में देवगुरु बृहस्पति ने उपाय सुझाया–'भगवान् मयूरेश का स्मरण करो, वे ही इस संकट को दूर करने में समर्थ हैं ।'

देवताओं ने पूछा–'वे भगवान् कहाँ मिलेंगे ? यह हमें ज्ञात नहीं है । बताइये, उनसे प्रार्थना करने कहाँ चला जाये ?'

देवगुरु बोले–'अरे ! वे प्रभु तो सर्वत्र विद्यमान हैं । यहीं रहते हुए भक्तिभावपूर्वक उन्हीं विनायक भगवान् की स्तुति करो वे अवश्य ही प्रसन्न होकर अवतार लेंगे और समस्त संसार को भय मुक्त करने के लिए असुरराज को समाप्त कर डालेंगे । तुमको भी अपने धाम की प्राप्ति हो जायेगी ।'

बृहस्पति से प्रेरणा प्राप्त कर समस्त देवगण एकत्र होकर शान्त, विकार-रहित, भय-रहित एवं भक्तिभाव सहित बैठ गए । और भगवान् विनायक देव की स्तुति करने लगे–

"जगतः कारणं योऽसौ रविनक्षत्रसम्भवः ।
सिद्धसाध्यगणाः सर्वे यत एव च सिन्धवः ॥
गन्धर्वाः किन्नरा यक्षाः मनुष्योरगराक्षसाः ।
यतश्चराचरं विश्वं तं नमामि विनायकम् ॥"

'जो विनायकदेव संसार के कारण, सूर्य और नक्षत्रों को भी उत्पन्न

करने वाले, सभी सिद्धगण, साध्यगण, समुद्र, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, मनुष्य, नाग, राक्षस आदि को प्रकट करने वाले तथा जिनसे इस चराचर रूप सम्पूर्ण विश्व का प्रादुर्भाव हुआ है, उन्हें हम नमस्कार करते हैं ।

हे प्रभो ! आप जैसे अधीश्वर के सदैव जाग्रत् रहते हुए भी एक तुच्छ असुर ने समस्त विश्व को संकट में डाल रखा है । इस स्थिति से हमें केवल आपका ही भरोसा है । क्योंकि–

"अन्यं कं शरणं यामः को नु पास्यति नोऽखिलान् ।
जह्येनं दुष्टबुद्धिं त्वमवतीर्य शिवालये ॥"

'हे नाथ ! अब हम किसकी शरण में जायें ? हमारी रक्षा अन्य कौन कर सकता है ? प्रभो ! अब आप स्वयं ही भगवान् शंकर के गृह में अवतरित होकर असुर को समाप्त कीजिए ।'

इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् समस्त देवगण, ऋषि-मुनि आदि घोर तपश्चर्या में लगे । कुछ ने पूर्ण निराहार रहते हुए, कुछ ने संयमित भोजन करते हुए तथा कुछ ने निरन्तर जल में खड़े रहकर भगवान् विनायक का ध्यान और नाम जप किया ।

देवादि के कठोर तप से सन्तुष्ट हुए देवाधिदेव गणेश्वर उनके समक्ष प्रकट हो गये । वे कोटि आदित्यों के समान तेजोमय और दिव्य वस्त्रालंकार धारण किए हुए थे । देवता आदि ने उनके दर्शन कर हाथ जोड़े और चरणों में साष्टांग दण्डवत् की तथा खड़े होकर उनकी स्तुति करने लगे–'प्रभो ! हम आज धन्य हो गए । आपके अलभ्य दर्शन का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है । नाथ ! सिन्दूर नामक भयंकर राक्षस बड़े उपद्रव कर रहा है, अतः उसके वध का उपाय कीजिए ।'

भक्त की अभिलाषाओं की पूर्ति में कल्पतरु के समान भगवान् गणेशजी ने गम्भीर वाणी में कहा–

"हनिष्ये सिन्दूरं देवा मा चिन्ता कर्तुमर्हथ ।
दुःखप्रशमनं नाम स्तोत्रं वः ख्यातिमेष्यति ॥"

'हे देवगण ! मैं सिन्दूर नामक उस असुर को अवश्य मार दूँगा । तुम चिन्ता न करो । तुम्हारे द्वारा किया गया यह स्तोत्र 'दुःखप्रशमन' के नाम से विख्यात होगा ।'

'इस स्तोत्र का माहात्म्य सुनो—इसका दिन में एक बार, दो बार या तीन बार पाठ करने वाले के तीनों प्रकार के ताप नष्ट होंगे । मैं भगवान् शंकर के गृह में 'गजानन' नाम से अवतरित होऊँगा ।'

भगवान् गणेश्वर देवताओं को इस प्रकार का वर देकर अन्तर्धान हो गए । देवता एवं ऋषि-मुनि आदि ने अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हुए उनका जयघोष किया और फिर सभी अपने-अपने स्थानों को प्रस्थित हुए । वे मार्ग में भगवान् के अद्वितीय स्वरूप का चिन्तन करते हुए अत्यन्त हर्षित हो रहे थे ।

३. तृतीय अध्याय

भगवान् गजानन का प्रकट होना

कुछ काल व्यतीत होने पर माता पार्वती जी गर्भवती हुईं । उन दिनों उनका मुखमण्डल अत्यन्त तेजोमय दिखाई देता था । एक दिन शरीर में कुछ उष्णता का अनुभव करती हुई गिरिनन्दिनी ने शिवजी से निवेदन किया—'नाथ ! यहाँ कुछ गर्मी प्रतीत होती है इसलिए मुझे किसी ठण्डे स्थान पर ले चलने की कृपा करें । शिवजी ने उनका निवेदन मान लिया और उन्हें वृषभ पर चढ़ाकर ले चले । साथ ही सखियों और शिवगणों

का समुदाय चल रहा था। देवताओं ने शिवजी को इस प्रकार यात्रा करते देखा तो वे अनेक प्रकार के मधुर मंगलमय बाजे बजाने लगे।

चलते-चलते वे पर्यत्नी के सुन्दर वन में पहुँचकर रुके। वहाँ अनेकों प्रकार के सुन्दर सुगन्धित पुष्प खिले थे। फलदार वृक्षों पर मीठे फल थे तथा उनकी सघनता से वातावरण अत्यन्त सुहावना और सुखद शीतल हो रहा था। गिरिजा को वह स्थान बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ और उनके कहने पर भगवान् शिव ने वहीं ठहरना स्वीकार कर लिया।

शिवजी की आज्ञा पाकर उनके गणों ने वहाँ एक सुन्दर दिव्य एवं भव्य मण्डप का निर्माण किया। वहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ जुटाई गईं। जब सब व्यवस्था हो गई तब शिवजी ने पार्वती जी से कहा—'प्रियतमे ! तुम्हारे लिए सभी आवश्यक सुख-साधन एकत्र किये जा चुके हैं। अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता पड़े तो यह गण उपस्थित कर देंगे। इसलिए तुम जब तक चाहो वहाँ रहो। इन गणों और सखियों को छोड़े जा रहा हूँ।'

पार्वतीजी ने स्वीकारोक्ति की तो शिवजी एक करोड़ गणों को वहाँ छोड़कर कैलास-शिखर पर जा पहुँचे और वहाँ ध्यानयोग का आश्रय ले समाधि में लीन हो गए।

जगज्जननी उस अरण्य में सखियों के साथ रहतीं और कभी जल से परिपूर्ण सरोवर में क्रीड़ा करतीं तो कभी वृक्षावलियों के नीचे बैठी रहकर सुगन्धित शीतल वायु का सेवन करतीं। उनकी रक्षा में एक करोड़ शिवगण सदैव प्रस्तुत रहते ही थे, इसलिए किसी प्रकार का भय भी नहीं था।

धीरे-धीरे नौ मास पूर्ण हो गए। वातावरण अत्यन्त शान्त, सुखदायक और उल्लासवर्द्धक था। शीतल-मन्द समीर प्रवाहित हो रही थी। आकाश नितान्त स्वच्छ हो गया था। ऐसे समय में गिरिनन्दिनी के समक्ष

चन्द्रमा के समान परम हर्षोत्पादक परम तत्व प्रकट हो गया । वे स्वयं साक्षात् भगवान् गणेश ही थे ।

अत्यन्त तेजस्वी और सुन्दर मुखारविन्द, प्रफुल्लित पद्म के समान विशाल नेत्र, दिव्य किरीट युक्त मस्तक, प्रवाल की आभा का तिरस्कार करने वाले अरुण अधरोष्ठ, कानों में सुन्दर कुण्डल, चार भुजाओं में परशु, माला, मोदक और कमल, कण्ठ में मुक्तामाल और कटि में करधनी थी । चरणों में ध्वज, अंकुश और कमल के चिह्न बने थे ।

उस भुजापुञ्जमय चतुर्भुज रूप को देखकर पार्वती जी आवेग के कारण काँपने लगीं । फिर कुछ संयत होकर उन्होंने पूछा–'आप कौन हैं ? अपना परिचय देने की कृपा करें ।'

तेजोमय तत्व ने कहा, 'माता ! मैं वही हूँ जिसके पुनः दर्शन की आपने कामना की थी और मैंने द्वापर में प्रकट होने का वचन दिया था । जगत् के सर्ग, पालन और लय का कर्ता एवं समस्त ब्राह्मण का अधीश्वर गणेश मैं ही हूँ । गणेश, गणेश्वर, जगत्पति, मयूरेश, विनायक, गजानन आदि मेरे ही नाम हैं । मैंने ही तेजस्वी ब्राह्मण के रूप में सिन्दूरासुर से आपको बचाया था । मैंने त्रेतायुग में असुरराज उग्रेक्षण का वध किया था । अब इस द्वापर में भी पुनः आपके पुत्र रूप से प्रकट हुआ हूँ । इस अवतार से मैं सिन्दूर को मारकर तीनों लोकों का भय दूर करूँगा, अब मेरा नाम 'गजानन' होगा ।'

देवाधिपति विनायक मयूरेश की पहिचान कर गिरिजा आश्वस्त एवं प्रसन्न हुईं तथा उनको प्रणाम कर हाथ जोड़े भक्तिभाव से स्तवन करने लगीं–

"भक्तप्रियं निराकारं साकारं गुणभेदतः ।
नमाम्यहमतिस्थूलमणुभ्योऽणुतरं विभुम् ॥"

'जो भक्तप्रिय, निराकार किन्तु गुणभेद से साकार हो जाते हैं, उन

अतिस्थूल, अणुओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा गणेश्वर को मैं नमस्कार करती हूँ ।'

'हे नाथ ! आप अव्यक्त होते हुए भी भक्तों पर कृपा करने के लिए ही व्यक्त होते हैं । आप ही सत्त्व, रज और तम तीनों के आधार हैं । आप ही माया के आश्रय-स्थान, सब मायाओं के जानने वाले, सर्वसमर्थ तथा सभी के अन्तर में निवास करने वाले परात्पर ब्रह्म हैं । मेरा परम सौभाग्य ही है कि आप मेरे पुत्र रूप में प्रकट हुए हैं ! किन्तु, प्रभो ! ऐसी कृपा अवश्य कीजिए कि अब कभी मेरा आपसे वियोग न हो ।

अपने पुत्र से पार्वती का भयभीत होना

माता के द्वारा की हुई स्तुति सुनकर भगवान् ने अपना वह रूप छिपा लिया और चतुर्भुज शिशु रूप हो गए । नाक के स्थान पर शुण्डदण्ड, मस्तक पर चन्द्रमा और हृदय पर चिन्तामणि प्रकाशित थी । दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये हुए भगवान् गजानन के उस अद्भुत रूप को माता गिरिजा ध्यानपूर्वक देखने लगीं ।

किन्तु उनके भयंकर रूप को देखकर माता अधीर हो उठीं । रक्तवर्ण, ऊबड़-खाबड़ मस्तक, हाथी की सूँड़ के समान नाक, सूप जैसे कान, छोटे-छोटे नेत्र, विशाल एवं उन्नत पेट तथा छोटे-छोटे हाथ-पाँव ! उन्होंने सोचा—ऐसे भयंकर रूप वाला बालक तो मैंने कहीं नहीं देखा । जब देवगण, ऋषिगण एवं उनकी पत्नियाँ इसे देखेंगी तब मैं किस मुख से बताऊँगी कि यह मेरा पुत्र है ? यदि कम सुन्दर होता तो भी कोई बात न थी, इसका तो प्रत्येक अवयव बेडौल है !

इस प्रकार पुत्र की कुरूपता का विचार करते-करते माता के नेत्र सजल हो उठे । तभी भगवान् शंकर वहाँ पधारे । वे सर्वज्ञ अपनी प्राण-प्रिया के मन की उद्विग्नता को समझ गये और तब पुत्र को ध्यानपूर्वक

देखते हुए बोले–'प्रिये ! पुत्र के रूप की भयंकरता देखकर रोती हो । परन्तु बाह्य रूप के देखने मात्र से किसी के व्यक्तित्व का अनुमान नहीं किया जा सकता । इसका रक्तवर्ण, गज जैसा मुख, विशाल उदर, चार भुजाएँ किन्तु छोटी-छोटी आँखें, पाँव भी बहुत छोटे, इस सबसे शिशु का असाधारण होना स्पष्ट है । देवि ! इसके गुणों पर विचार करो । यह अखिल विश्व का अधिपति, देवाधिदेव, सभी की आत्मा और मंगलों के मूल से सम्पन्न है । यह त्रिलोकों की रक्षा के लिए सतयुग में दशभुज विनायक के रूप मे प्रकट हुआ था ।' त्रेतायुग में शुक्ल वर्ण, दशभुज मयूरेश के रूप में तुम्हारे पुत्र रूप से यही अवतरित हुआ था । अब द्वापर में यह वही सिन्दूरासुर को नष्ट करने के लिए तुम्हारे पुत्र विनायक रूप में अवतरित हुआ है । आगे भी कलियुग में यह अत्याचार, अनाचार को नष्ट करने के लिए 'धूम्रकेतु' नाम से अवतार लेगा ।'

तभी शिशु रूप भगवान् बोल उठे–'चन्द्रमौले ! आप मुझे भली प्रकार समझ गए हैं । वस्तुतः मैं सिन्दूरासुर को मारकर पृथ्वी का बोझ उतारने के लिए आपके पुत्र रूप में अवतरित्त हुआ हूँ । मैं समस्त विश्व को सन्तुष्ट करूँगा । समस्त वैदिक कर्मों का प्रारम्भ हो जायेगा तथा मैं सभी भक्तों की अभिलाषाएँ पूर्ण करता हुआ राजा वरेण्य को ज्ञान और वरदान प्रदान करूँगा । वह राजा मेरा परम भक्त है । देव-ब्राह्मण एवं अतिथि पूजक, पञ्चयज्ञोपासक, पुराण श्रवण में मति वाला है । उसकी सुन्दर साध्वी, पतिप्राणा पत्नी का नाम पुष्पिका है । राजा-रानी दम्पति ने बारह वर्ष तक तपस्या करके मुझे पुत्र रूप में प्राप्त करने का मुझसे वर प्राप्त किया था । जिसके फलस्वरूप उसने अभी पुत्र प्रसव किया है, जिसे राक्षसी उठा ले गई है । इस कारण रानी पुष्पिका मूर्च्छित पड़ी है, और पुत्र के कारण प्राण त्याग देगी, इसलिए आप मुझे अभी उस प्रसूता रानी के पास पहुँचा दीजिए ।'

राजा वरेण्य के यहाँ गजानन को नन्दी द्वारा पहुँचाना

यह सुनकर भगवान् शंकर ने गजानन भगवान् का विविध उपचारों से पूजन किया और फिर नन्दी को आज्ञा दी–

'वत्स ! तुम्हें एक कार्य बहुत ही सावधानी से सम्पन्न करना है । माहिष्मती नगरी में वरेण्य नामक धर्मात्मा राजा राज्य करते हैं । उसकी साध्वी रानी पुष्पिका ने अभी एक पुत्र प्रसव किया था, जिसे कोई राक्षसी उठा ले गई । वह रानी अभी मूर्च्छित पड़ी है । तुम तुरन्त ही पार्वती के इस नवजात शिशु को वहाँ ले जाओ और मूर्च्छित रानी के पास लिटाकर लौट आओ । यह कार्य रानी की मूर्च्छा दूर होने से पहिले ही पूर्ण हो जाना चाहिए । अन्यथा प्रसूता के प्राण जाने की सम्भावना है ।'

नन्दी ने भगवान् शंकर के चरणों में प्रणाम कर शिशु रूप गजानन भगवान् को लेकर माहिष्मती नगर की ओर वायुवेग से चल पड़े । मार्ग में अनेक बाधाएँ आईं, किन्तु नन्दीश्वर ने भगवान् शंकर का स्मरण करते हुए अपने पराक्रम से उन बाधाओं को दूर किया ।

माहिष्मती राजभवन के प्रसूतागार में रानी पुष्पिका अभी भी मूर्च्छित पड़ी थी । नन्दी ने वहाँ पहुँचकर गजानन को उनके समीप लिटा दिया और चुपचाप वहाँ से निकल आये । फिर वायुवेग से चलते शीघ्र ही लौटकर आशुतोष भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए और शिव-शिवा के चरणों में प्रणाम कर शिशु को वहाँ सकुशल पहुँचा देने का समाचार दिया ।

उधर पुष्पिका की मूर्च्छा दूर हुई तो उसने रक्तवर्ण, गजमुख, लम्बोदर एवं अद्‌भुत वस्त्राभूषणों से अलंकृत बालक को अपने निकट देखा । उससे वह अत्यन्त भयभीत हुई और रोती हुई प्रसूतिगृह से बाहर निकली ।

उधर शिशु का रुदन सुनकर परिचारिकाएँ दौड़ी हुई भीतर गईं तो उनके विकराल रूप को देखकर वे भी भय से काँप गईं । फिर जो-जो भी स्त्री या पुरुष प्रसूतिकागृह में गया, वही भयभीत एवं काँपता हुआ बाहर निकल आया । शिशु के भयानक रूप को देखकर कुछ तो मूर्च्छित ही हो गए ।

सिन्दूरासुर के अत्याचारों की वृद्धि

महाराज वरेण्य को सूचना दी गई । उन्होंने सुना कि अत्यन्त भयानक आकार का एवं लाल वर्ण वाला पुत्र हुआ है तो राजा भी चिन्तित हो उठे । तभी कुछ विचारवान् लोगों ने कहा–'राजन् ! शिशु जो हमने देखा है, वह ऐसा अद्‌भुत आकार का और महाभयंकर है कि ऐसा शिशु न कभी उत्पन्न हुआ, न भविष्य में कभी होगा ही । यह लक्षण वंश को नष्ट करने वाले हैं, इसलिए ऐसे कुलनाशक बालक को घर में रखना उचित नहीं । प्रजा की भी इसी में भलाई है ।'

विद्वान् कहलाने वाले लोगों की उक्त बात सुनकर राजा ने अपना दूत बुलाया और उसे आदेश दिया–'राजवंश और प्रजा के लिए अहितकर ऐसे शिशु को निर्जन वन में ले जाकर छोड़ आओ और लौटकर मुझे सूचित करो ।'

दूत 'जो आज्ञा !' कहकर प्रसूतिकागार में गया और शिशु को शीघ्रतापूर्वक उठाकर निर्जन वन में ले गया । वहाँ एक निर्मल जल से भरा हुआ सरोवर विद्यमान था । उस स्थान पर कोई मनुष्य नहीं पहुँच सकता था । हिंसक पशु ही जल पीने के लिए वहाँ आते और वृक्षों की छाँह में विश्राम करते रहते । दूत ने शिशु को उस सरोवर के तट पर रखा और शीघ्रता से लौटकर राजा की सेवा में उपस्थित हुआ ।

उसने राजा को प्रणाम कर कहा–'महाराज ! मैंने आपकी आज्ञानुसार

उस भयंकर शिशु को हिंसक जीवों से युक्त अरण्य में सरोवर तट पर रख दिया, जहाँ वह व्याघ्रादि हिंस्त्र जन्तुओं का आहार बन जायेगा ।'

राजा वरेण्य ने खिन्न हृदय से दूत का कथन सुना और चुप बैठ गए। उनके मन में निर्दोष अबोध शिशु के परित्याग की पीड़ा कसक रही थी, किन्तु जनमत को स्वीकार करना कर्त्तव्य समझकर वे मौन थे ।

४. चतुर्थ अध्याय

महर्षि पराशर की प्रभु-भक्ति

उस निविड़ वन में, जहाँ मनुष्य पहुँचता ही नहीं था केवल हिंस्र जीव ही घूमते रहते या कभी-कभार कोई पहुँचे हुए ऋषि-मुनि, सिद्ध-महात्मा ही उधर निकल जाते थे । वहाँ एक शिशु को हाथ-पाँव फेंकता हुआ देखकर एक शृगाल (सियार) बड़ा प्रसन्न होता हुआ उधर लपका ।

उसी समय उस मार्ग होकर परम तपस्वी महर्षि पराशर निकले और उनकी दृष्टि भी उस शिशु पर पड़ी । वे सोचने लगे कि 'अवश्य ही इन्द्र ने मेरा तप भंग करने के लिए कोई माया रच डाली है । हे दीनबन्धो ! हे जगदीश्वर! मैंने कभी कोई पाप नहीं किया है, अतः आप ही मुझ निष्पाप की रक्षा कीजिए ।'

यह सोचते और प्रार्थना करते हुए महर्षि पराशर बालक की ओर वेग से बढ़े । शृगाल ने तेजस्वी महर्षि को उधर बढ़ते देखा तो तुरन्त रुका और वन में एक ओर खिसक गया । महर्षि ने निकट जाकर शिशु को ध्यान से देखा—रक्तवर्ण, चार भुजाएँ, गजवदन, सूर्य के समान अद्भुत तेज तथा दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत !

उन्होंने उसके छोटे-छोटे अरुण चरणों को देखा तो उनपर ध्वज, अंकुश और कमल की रेखाएँ स्पष्ट प्रतीत हुईं। उस अलौकिक शिशु को देखकर महर्षि के शरीर में रोमाञ्च हो आया। वे हर्षातिरेक से शिशु को अपलक निहारने लगे। उनके नेत्रों में स्नेह नीर उमड़ पड़ा और वे गद्‌गद वाणी से बोल उठे–'हे प्रभो ! हे जगदीश्वर ! आप यहाँ क्यों विराजमान हैं ? मैं तो आपको देखकर इन्द्र का कोई छल समझ रहा था। किन्तु आप साक्षात् परमात्मा मुझ सत्यवादी परम भक्त के साथ छल क्यों करने लगे ? नाथ ! मेरे मन में उत्पन्न शंका के लिए आप मुझे क्षमा करें।'

महर्षि ने शिशु के चरणों में अपना मस्तक रख दिया और अपने भाग्य की सराहना करते हुए बोले–'आज मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ, जो अनायास ही त्रैलोक्यपति के दर्शन कर रहा हूँ। मेरा जीवन, जन्म, मेरे जन्मदाता माता-पिता और तपश्चर्या सभी कुछ धन्य हैं। अब मैं निश्चय ही जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पा गया। मेरी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो गईं।'

इस प्रकार कहते हुए महर्षि ने पुनः शिशु को प्रणाम किया। उनके नेत्रों से निरन्तर प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित थी। अन्त में उनके मुख से निकला–'यह पृथ्वी, यह सरोवर, यह अरण्य, इसके ऊपर का आकाश एवं यहाँ चलने वाली वायु भी कृतकृत्य हो गई है। यह शृगाल भी, जो इनके दर्शन पा चुका है, अवश्य ही धन्य हो गया। परन्तु, ऐसा निष्ठुर एवं अभागा कौन है, जिसने इस महा–महिम-सम्पन्न जगदीश्वर को इस प्रकार यहाँ ला पटका है ?'

महर्षि ने पुनः साष्टांग प्रणाम कर शिशु को गोद में उठाया और उल्लसित हृदय से आश्रम की ओर चल पड़े। वहाँ उनकी पत्नी वत्सला ने महर्षि को एक बालक लाते हुए देखा तो उत्सुकता से उधर बढ़ीं। महर्षि ने बताया–'देवि ! यह शिशु उस सरोवर के तट पर पड़ा था, जो निविड़ अरण्य में विद्यमान है। लगता है कि कोई क्रूर हृदय अभागा इसे वहाँ छोड़ गया है।'

वत्सला ने शिशु को देखा तो हर्ष से बोल उठी—'कितना अद्भुत और अलौकिक है ! इसका असाधारण रूप ही इसकी विशेषता का प्रमाण है।' पराशर ने पत्नी को समझाया—'यह साक्षात् त्रिलोकीनाथ हैं । यह सदैव भक्तों के कष्ट निवारणार्थ अवतार लेते हैं । इन परब्रह्म परमेश्वर ने मेरा जन्म और जीवन सभी कुछ सफल कर दिया । हमारे सब पूर्व-पुरुष भी धन्य हो गए ।'

महर्षि के मुख से शिशु की अनिर्वचनीय महिमा सुनकर शिशु को हृदय से लगा लिया और आनन्द में मग्न होती हुई बोली—'स्वामिन् ! शिशु रूप में इस प्रकार सहसा परमपिता परमात्मा का प्राप्त होना आपकी दीर्घकालीन तपस्या का ही प्रत्यक्ष फल है । देखो ! जो परब्रह्म कोटि जन्म पर्यन्त तप करते रहने पर भी दर्शन नहीं देते, वे अनायास ही हमारे मन, वाणी और इन्द्रियों के विषय हो गए हैं । उनकी इस महती कृपा के लिए हम किस प्रकार आभार व्यक्त करें !'

मातृ-स्नेह की अधिकता और शिशु के स्पर्श से ऋषिपत्नी के स्तनों में दूध आ गया और वे अत्यन्त स्नेह से शिशु गजानन को दूध पिलाने लगीं । महर्षि समझ गये कि समस्त जप, तप, यज्ञ एवं स्वाध्यायादि कर्म जिनके उद्देश्य से किये जाते हैं, वे प्रभु साक्षात् ही विराजमान हैं । अपनी इस धारणा के कारण उन्हें अब उन कर्मों की अधिक चिन्ता नहीं रही थी । केवल यम-नियमों का निर्वाह मात्र करते हुए वे शिशु के निकट ही अपना अधिकांश समय व्यतीत किया करते । जपादि भी करते तो शिशु के समक्ष बैठकर ही । इस प्रकार पति-पत्नी दोनों ही गजानन भगवान् की सेवा, लालन-पालन में लगे रहते ।

यद्यपि महर्षि का आश्रम पहिले ही सुन्दर और भव्य था, किन्तु शिशु रूप भगवान् के वहाँ आने पर तो वह और भी मनोरम हो गया, उसमें दिव्यता बढ़ती गई । सूखे वृक्ष भी हरे हो गये और उनपर जो फल लगते वे अत्यन्त स्वादिष्ट । आश्रम की गौएँ कामधेनु के समान अमृतोपम दूध

देने वाली हो गईं। अन्य पशु-पक्षी भी मनोहर प्रतीत होने लगे। कीर, चकोर, मयूर आदि की वाणी अलौकिक एवं दिव्य थी। हिरनों के समूह आनन्द-विभोर हुए छलाँग मारते हुए फिर रहे थे। माहिष्मती-नरेश वरेण्य को उनके एक दूत ने सम्वाद दिया- 'राजेन्द्र! आपके शिशु का पालन-पोषण महर्षि पराशर कर रहे हैं। उनकी पत्नी उसे अपने पुत्र के समान स्नेह प्रदान करती है।'

उक्त संवाद से राजा को बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने रानी से कहा-'प्रिये! यदि शिशु में कोई विशेषता न होती तो पराशर दम्पति उसका पालन-पोषण क्यों करते? पुत्र तो पुत्र ही है, उसके बाह्य रूप से भी भयभीत हो जाना कोई बुद्धिमानी नहीं थी। अब हमें उसका जन्मोत्सव तो मनाना ही चाहिए।'

रानी ने सहमति व्यक्त की और तब राजा वरेण्य ने बड़ी धूम-धाम से पुत्रोत्सव मनाया तथा ब्राह्मणों को उनकी मनवाञ्छित वस्तुएँ दान दीं और उन्हें विविध भाँति के भोजन से तृप्त करके पुत्र की दीर्घायु के लिए आशीर्वाद प्राप्त किया।

सिन्दूरासुर को आकाशवाणी द्वारा चेतावनी

एक दिन सिन्दूरासुर अपनी सभा में बैठा था। सभासद् एवं अमात्यगण उसकी प्रशंसा कर रहे थे। तभी उसने कहा-'इन्द्रादि में से किसी भी देवता ने मेरे समक्ष आने का साहस नहीं किया और ब्रह्मा-विष्णु तो सामने रहकर भी प्राणों की भीख माँगने लगे। इधर मर्त्यलोक में भी ऐसा कोई वीर नहीं निकला जो मुझसे युद्ध कर सकता। इससे मैं यही समझता हूँ कि मेरी अतुलनीय शक्ति एवं पौरुष व्यर्थ हो रहा है। क्योंकि मेरी युद्ध की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला कोई वीर ही दिखाई नहीं देता।'

तभी सहसा उसने सुना, आकाशवाणी थी–'अरे मूढ़ ! राक्षस ! तू व्यर्थ ही क्यों प्रलाप करता है ? तेरी युद्ध की अभिलाषा को पूर्ण करने वाला वीर शिव-शिवा के यहाँ अवतरित हो गया और वह शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान नित्य प्रति बढ़ता जा रहा है ।'

असुर ने आकाशवाणी सुनी तो बड़ा चकित और आशंकित हुआ । भय के कारण उसे मूर्च्छा तक आ गई । जब चेत हुआ तो उसने अमात्यों से पूछा–'इस प्रकार के कुवाक्य कहने वाला यह कौन है ? यदि सामने आ जाये तो मैं उसे प्राणविहीन कर डालूँ ।'

यह कहकर उसने घोर गर्जना की और 'मैं उस शिव को ही देखता हूँ' कहता हुआ तुरन्त ही द्रुत वेग से कैलास की ओर दौड़ पड़ा । उसने सोचा–'पार्वती के पुत्र को बड़ा ही क्यों होने दूँ ? मैं उसे आज ही मार डालूँगा, तब वह क्या करेगा ?'

इस प्रकार वनों को नष्ट करता और पर्वतों को चूर्ण करता हुआ सिन्दूरासुर शीघ्र ही कैलास पर जा पहुँचा । किन्तु पार्वती जी के भवन में किसी को भी रहता न देखकर वह वहाँ से उसी समय लौटकर पृथ्वी पर आ गया ।

अब शिव-शिवा को खोजता हुआ वह राक्षस धरती पर सर्वत्र चक्कर काटने लगा । उसने सोच लिया, 'बालक जहाँ भी होगा, वहीं मार डालूँगा ।' अन्त में वह पर्यली-वन में पहुँच गया । वहाँ एक स्वच्छ जल सम्पन्न सरोवर तथा शिव-शिवा का विशाल मण्डप था । उस मण्डप के आस-पास एवं चारों ओर शिवगण विद्यमान थे । वह समझ गया कि यहीं कहीं बालक के साथ पार्वती भी होगी ।

उसने पार्वती जी का भवन खोज लिया । उसके अन्तर्गत रहे प्रसूतिगृह में अनेक चक्कर लगाये, किन्तु शिशु न मिला । यह देखकर उसे लगा कि अभी शिशु का जन्म नहीं हुआ है । उसने सोचा–'यदि बालक अभी

उत्पन्न न हुआ तो पार्वती के उदर से ही तो उत्पन्न होगा । इसलिए पार्वती को ही क्यों न मार दिया जाये ? न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी ।'

ऐसा निश्चय कर सिन्दूर ने पार्वती को मारने के लिए हाथ में शस्त्र सँभाला ही था कि उसे उनकी गोद में अत्यन्त तेजस्वी चतुर्भुज शिशु दिखाई दिया । इसलिए उसने शस्त्र तो रख लिया और शिशु का हाथ पकड़कर उसे समुद्र में डुबा देने के विचार से उठा ले चला ।

शिशु उस समय बहुत हल्का प्रतीत हुआ, इसलिए असुर उसे लेकर द्रुतगति से आगे बढ़ा । किन्तु मार्ग में शिशु पर्वत के समान भारी हो गया, इसलिए अब वह उसे ले जाने में अपने को असमर्थ पाने लगा । भार के कारण उसके पाँव डगमगाये तो उसने क्रोधपूर्वक उसे धरती पर वेग से पटक दिया ।

बस, फिर क्या था ! पृथ्वी काँप उठी, पर्वत हिल गए, अनेकों वृक्ष गिर गये, समुद्र क्षुब्ध हो उठा–और ऐसी भीषण ध्वनि हुई जैसे ब्रह्माण्ड ही विदीर्ण होने जा रहा हो । सब ओर प्रकृति में क्षोभ ही क्षोभ प्रतीत होता था । वायु की प्रचण्डता भी अभूतपूर्व थी । बालक नर्मदा नदी में गिरा था, इसलिए उसका नाम 'नार्मद गणेश' हुआ । जहाँ गिरा, वह स्थान 'गणेशकुण्ड' के नाम से विख्यात हुआ । शिशु के शरीर से रक्त निकला, जिससे वहाँ के पाषाण भी लाल वर्ण के हो गये थे ।

सिन्दूरासुर ने समझा कि 'मेरा शत्रु मर गया' इसलिए वह अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ वहाँ से चलने को हुआ, तभी एक भयंकर ध्वनि हुई तथा कुण्ड से एक अत्यन्त विकराल एवं पर्वताकार पुरुष निकला । क्रोध के कारण उसके नेत्र अंगार जैसे जल रहे थे । विशाल जटाएँ, भयंकर मुख और दाढ़-दाँत, सर्पिणी के समान जिह्वा, हाथ–पाँव अत्यन्त लम्बे और पुष्ट । सिन्दूरासुर उसे देखकर कुछ चकराया, फिर सँभलकर आगे बढ़ा ।

सिन्दूरासुर ने गर्जन कर उस पुरुष पर तलवार से प्रहार किया । तभी

वह पुरुष आकाश की ओर द्रुतगति से उठता हुआ बोला–'अरे मूढ़ ! कुछ धैर्य रख, तेरा काल क्षण-क्षण पर बढ़ता जा रहा है । वह संतजनों की रक्षा के लिए तुझे अवश्य मारेगा ।'

विकराल पुरुष आकाश में जाकर अदृश्य हो गया । सिन्दूर को उस समय विस्मय तो बहुत हुआ, किन्तु अपने बल की डींग हाँकने की दृष्टि से उसने कहा–'उस कटुभाषी भयानक पुरुष को धिक्कार है जो मेरे भय के कारण आकाश में जा छिपा ! यदि वह सामने रहता तो मैं उसे अपना पराक्रम दिखा देता ।'

वह कुछ देर वहाँ खड़ा रहा । फिर सब दिशाओं में कहीं किसी को न देखकर अन्त में सेवकों के साथ अपनी राजधानी सिन्दूरवाड़ जा पहुँचा, किन्तु अपने काल के विषय में लगी हुई चिन्ता दूर करने के प्रयत्न से भी दूर नहीं हो रही थी ।

इधर असुर के उत्पात से व्यग्र हुई माता अब उस पार्वती-कानन में नहीं रहना चाहती थीं । उन्होंने शिवजी से कहा–'प्रभो ! यहाँ भी उपद्रव होने लगे हैं, इसलिए मुझे शीघ्र ही अपने साथ कैलास ले चलिए ।'

शिवा की इच्छा जानकर शिवजी ने उन्हें वृषभ पर अपने साथ बैठाया और सभी गणों के मध्य रहकर कैलास की ओर चल दिए । वहाँ पहुँचकर पार्वतीजी को निश्चिन्तता हुई ।

क्रौंचगन्धर्व को मूषक होने का शाप

एक समय की बात है–अमरावती में देवताओं की सभा जुड़ी थी । देवराज इन्द्र अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे । उस समय गन्धर्वराज क्रौंच भी वहाँ उपस्थित था । उसे किसी कार्यवश शीघ्र कहीं जाना था । इसलिए उसने देवराज से आज्ञा ली और उठकर चलने लगा । तभी शीघ्रता में उसका ध्यान वहाँ बैठे हुए महर्षि वामदेव पर न गया और भूल

से उसका पाँव महर्षि को छू गया । इसमें महर्षि ने अपना अपमान समझा ।

महर्षि क्रोधित हो गये । उन्होंने तुरन्त ही उसे शाप दे डाला—'अरे मूर्ख गन्धर्व ! ऐसा मदमत्त हो रहा है कि बैठे हुए मुझ शान्त मुनि को लात मारता है । जा तू मूषक बनेगा ।' गन्धर्व उस शाप को सुनकर भयभीत और व्याकुल हो गया । उसने महर्षि से क्षमा माँगी, रोया, गिड़गिड़ाया तो महर्षि को दया आ गई । वे बोले—'तू मूषक तो अवश्य होगा, किन्तु देवाधिदेव गजानन का वाहन होने के कारण अत्यन्त सुखी होगा । उनकी कृपा से तेरा सब दुःख दूर हो जायेगा ।'

बेचारा गन्धर्व ! किसी विशेष कार्य की शीघ्रता में उठकर तो जा रहा था, किन्तु मुनिवर से पाँव लगने में सावधानी न बरत सका । इसका दण्ड मिला उसे मूषक शरीर में धरती पर पहुँचने का । यही हुआ—वह तुरन्त ही मूषक होकर महर्षि पराशर के आश्रम में जा गिरा ।

वह मूषक भी आकारादि में अलौकिक था, पर्वत के समान विशालकाय और भयंकर था । उसके रोम एवं नख भी पर्वत-शिखर के समान लगते । दाँत बहुत बड़े तीक्ष्ण और भयोत्पादक थे और उसका स्वर भी अत्यन्त कर्कश और भयावना था ।

पराशर आश्रम में गिरते ही उस मूषक ने उपद्रव आरम्भ कर दिया । मृत्तिका पात्रों को तोड़-फोड़कर उनमें भरा हुआ समस्त अन्न खा लिया । वल्कल, वस्त्र एवं ग्रन्थादि कुतर-कुतर कर नष्ट कर डाले । आश्रम की वाटिका नष्ट-भ्रष्ट कर डाली, उसके फूल-फल, पौधे आदि को, बड़ी हानि पहुँचाई तथा पुच्छ प्रहार से वृक्षों को धरती पर गिरा दिया ।

उसके इस प्रकार के विनाश कर्म से महर्षि बड़े दुःखित हुए । उन्होंने सोचा कि इस दुष्ट मूषक को यहाँ से कैसे भगाया जाये ? यदि इसका कोई उपाय न हुआ तो यह और भी अधिक विनाश कर बैठेगा । इसे मारना भी सम्भव नहीं है और फिर मारने से जीव-हत्या का पाप भी

लगेगा ही । उस पाप को हम क्या अपने सिर लें ? हे प्रभो ! हे अशरण-शरण ! मेरा यह दुःख शीघ्र दूर कीजिए । इस दुष्ट मूषक से रक्षा कीजिए स्वामिन् !' महर्षि को अधिक व्याकुल देखकर भगवान् गजानन ने उन्हें मधुर वाणी में आश्वासन दिया–'पूज्य महर्षे ! आप मेरे पालक पिता हैं, मेरे रहते आप पर कोई विपत्ति आये, यह मैं सहन नहीं कर सकता । आपका प्रिय कार्य करना मेरा परम कर्त्तव्य है । मैं इस मूषक को अपना वाहन बनाये लेता हूँ, जिससे इसके उत्पात समाप्त हो जायें ।' यह कहकर उन्होंने मूषक की ओर अपना तेजस्वी पाश फेंका, जिससे आकाश तक प्रकाशमान हो उठा । उसके भय से देवता भी अपने स्थान से भाग गये । वह पाश दशों दिशाओं में घूमता हुआ पाताल तक जा पहुँचा और धरती खोदकर उसमें प्रविष्ट होते हुए मूषक का कण्ठ जकड़कर उसे बाहर खींच लाया । पाश की जकड़ ने उसे व्याकुल और मूर्च्छित कर दिया ।

फिर जब उसे चेत हुआ तब वह शोकग्रस्त होता हुआ कहने लगा–'सहसा यह क्या हो गया ? मैं अत्यन्त पुरुषार्थी हूँ । मैंने अपने दंष्टाग्र से बड़े-बड़े वृक्षों और पर्वतों तक को नष्ट कर डाला । ऐसे मुझ महा पराक्रम का कण्ठ किसने बाँधा है ?'

गणेश का प्रिय वाहन मूषक

पाश ने मूषक को भगवान् गजानन के समक्ष उपस्थित किया तो उसे प्रभु के दर्शन से ज्ञान होने लगा । वह अपनी स्थिति को ठीक प्रकार से समझता हुआ हाथ जोड़कर बोला–'जगदीश्वर ! आपके दर्शन करके मेरा जीवन सफल हो गया । आप देव, दानव, मनुष्य, उरग, यक्ष, किन्नर आदि सभी पर दया करने वाले हैं । हे नाथ ! मुझ अज्ञानी जीव पर भी दया कीजिए ।'

भगवान् विनायक प्रसन्न हो गए । उन्होंने कहा, 'मूषक ! तू क्षमा के

योग्य नहीं था, क्योंकि तूने ऋषियों को बहुत कष्ट दिया है। किन्तु तू मेरी शरण में आ गया है, इसलिए अब भय रहित हो जा और जो कुछ चाहे, वह वर माँग ले।'

मूषक ने सोचा, मुझे कोई क्या देगा ? और फिर माँगूँ भी किसलिए ? ऐसा विचार कर उसने कहा–'मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए। यदि आपकी कुछ इच्छा हो तो मुझसे ही वर माँग लीजिए।' गणेश्वर ने कहा–'अच्छा, तू मुझे वर देना चाहता है तो बस इतना ही वर दे कि मेरा वाहन बन जा।'

मूषक ने स्वीकारोक्ति की तो पराशर-नन्दन तुरन्त उसकी पीठ पर आरूढ़ हो गये। बेचारा मूषक सभी भारों के स्थान उन विनायकदेव का भार कैसे सहन कर सकता था ? उसे लगा कि अब पिसा, अब पिसा। प्राण संकट में देखकर उसने भगवान् से प्रार्थना की–'प्रभो ! मुझपर प्रसन्न होइए। हे दयानाथ ! दया कीजिए और इतने हल्के हो जाइए कि आपके बोझ से मुझे कुछ न हो और मैं सरलता से आपका वहन, कर सकूँ।'

भगवान् ने समझ लिया कि मूषक का गर्व खण्डित हो गया है तो उन्होंने अपना भार घटा लिया और उसके द्वारा वहन होने योग्य हल्के हो गये। महर्षि पराशर ने यह लीला देखी तो उन्होंने गजानन के पदपंकज में प्रणाम कर कहा–'प्रभो ! कैसे आश्चर्य का विषय है कि जो मूषक बड़े-बड़े वृक्षों को गिरा चुका था और जिसके भयंकर शब्द से पर्वत भी कम्पायमान हो रहे थे, वह क्षणभर में ही आपका वाहन बन गया। ऐसा पौरुष किसी सामान्य बालक में कहीं नहीं देखा जाता।'

ऋषि-पत्नी भी आश्चर्य चकित हुई गजमुख को देख रही थीं। फिर उसने पुत्र को लेकर स्तनपान कराया और सुला दिया। दूसरे दिन गणेश ने मूषक के कण्ठ में एक रस्सी बाँधी और उसके साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ा करने लगे।

८१

५. पञ्चम अध्याय

मूषक गणेश का वाहन

गजमुख धीरे-धीरे बढ़ने लगे । उन्होंने नौ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते सभी वेद-वेदाङ्ग, उपनिषद्, स्मृति, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र पुराणादि का अध्ययन कर लिया और सभी विद्याओं में पारंगत हो गये। उनकी बाल-क्रीड़ाओं को देख-देखकर समस्त ऋषि-मुनि और उनकी पत्नियों को बड़ी प्रसन्नता होती थी ।

उनकी क्रीड़ाओं में भाग लेने वाले मुनिकुमारों को उनके नेतृत्व में आनन्द आता था और वे समर्पित सेवक के समान उनके आदेशों का पालन करते थे । इस प्रकार भगवान् गजानन सभी ऋषियों, ऋषि-पत्नियों और ऋषिकुमारों के प्रीतिभाजन बने हुए थे ।

उधर सिन्दूरासुर के अत्याचार बढ़ रहे थे । उसके भय से देवता, ऋषि-मुनि, सदाचारी, भक्त तथा साध्वी स्त्रियाँ घर छोड़ अन्यत्र छिपे रहते थे । उसने यज्ञादि कर्म करने वालों को दण्ड देना अपना कर्त्तव्य मान रखा था । लूट-खसोट बढ़ रही थी, हत्याएँ करने में किसी को भय नहीं होता था । स्त्रियों का अपहरण साधारण-सी बात थी ।

धन, सम्मान और धर्म किसी का भी सुरक्षित न था । असुर की आज्ञा थी कि राजाज्ञा ही सर्वोपरि है । शास्त्रादि सभी कुछ राजाज्ञा में ही निहित हैं । ईश्वर कोई नहीं, केवल राजा ही ईश्वर है । उसी की पूजा होनी चाहिए । जो लोग राजा को प्रसन्न नहीं रख सकते उन्हें जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है ।'

जिसने उसके इस सिद्धान्त को अमान्य किया, उन राजद्रोहियों को सीधे प्राणदण्ड की व्यवस्था थी । इसलिए खुलकर तो कोई भी राजाज्ञा

का निरादर करता ही न था, कभी कोई परोक्ष में भी आज्ञा का निरादर नहीं कर पाता था। भूल से जो सत्यप्रिय एवं धर्मज्ञ व्यक्ति वैसा कर भी बैठे तो तुरन्त कारागृह में डाल दिये गए अथवा अनेकों के प्राण ले लिये गए।

प्रजाजनों, मुनियों आदि की गतिविधियों पर कड़ी दृष्टि रखी जाने लगी। न जाने कितने गुप्तचर केवल इसी कार्य पर लगे थे। राजा के समक्ष जाकर वे झूठ-सच जो कुछ भी कह देते वह सब विश्वसनीय माना जाता था।

जब घोर अत्याचार बढ़े तो विश्व काँप उठा। सभी प्राणी त्रसित हो कहे थे। मांस–मदिरा का जोर बढ़ने के कारण असंख्य जीवों की हत्या हो चुकी थी। हजारों दुधमुहे अबोध बालकों को काल के गाल में डाल दिया गया था। महिलाएँ अपनी निधि को सुरक्षित रख सकने में असमर्थ हो रही थीं। यह सब सम्वाद समय-समय पर पराशर-आश्रम में भी पहुँचते रहते थे।

गजानन का युद्ध के लिए प्रस्थान करना

एक दिन कुछ ब्राह्मणों ने सिन्दूरासुर की निर्दयता और अधिक क्रूरता की बात वहाँ आकर सुनाई तो भगवान् गजानन अधिक अधीर हो गए और उन्होंने विचार किया कि 'किसी प्रकार संसार को भयंकर त्रास से बचाना ही होगा' अतः वे महर्षि के समीप आकर और चरणों में प्रणाम कर कहने लगे–'पूज्य पिताजी ! दुष्ट सिन्दूरासुर के अत्याचारों के विषय में यहाँ कभी-कभी ही समाचार आ पाते हैं। किन्तु, वे सब इतने दुखद होते हैं कि सुनकर चित्त काँप उठता है। वस्तुतः उसके अत्याचारों से मुक्त होने का तब तक कोई उपाय नहीं हो सकता, जब तक उसपर शासन करने और उसे दण्ड देने में सक्षम व्यक्ति उसे न रोके। जब तक उसे रोका नहीं जायेगा, तब तक सभी सदाचार-परायण जन पीड़ित ही होते रहेंगे।'

महर्षि अपने लाड़ले पुत्र का अभिप्राय समझ न पाये । उन्होंने सोचा–'जैसे अन्य सब लोग सामयिक चर्चाओं में भाग लिया करते हैं, वैसे ही यह भी ले रहा है । अच्छा है, ऐसी चर्चाओं में भाग लेने से योग्यता बढ़ती है और व्यक्तित्व भी निखरता है ।' इसलिए उन्होंने पुत्र को प्रोत्साहन देते हुए उसका समर्थन किया–'ठीक कहते हो पुत्र ! जब तक दैत्यराज के कार्यों में अवरोध उत्पन्न नहीं होगा, तब तक सदाचारी जनों की पीड़ा बढ़ती ही जायेगी और कभी-न-कभी कोई सक्षम पुरुष उसको वश में करेगा ही । क्योंकि संसार में जब अत्याचारियों के अत्याचार बढ़ जाते हैं, तब कोई अवतारी पुरुष अवश्य प्रकट होता है ।'

गजानन ने विनम्रता से कहा–'प्रभो ! यदि आप आज्ञा दें तो यह कार्य मैं कर सकता हूँ । वस्तुतः उसके द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को सुनकर मैं व्याकुल हो रहा हूँ । आप अपना वरद-हस्त मेरे मस्तक पर रखकर आशीर्वाद दें, जिससे कि संसार के उपकार का यह पवित्रतम कार्य करने में समर्थ हो सकूँ ।'

गजानन की बात सुनकर महर्षि को हँसी आ गई और फिर उत्साह देखकर कुछ आनन्द भी हुआ । फिर उन्होंने स्नेहसिक्त वचनों में उन्हें समझाते हुए कहा–'पुत्र ! तेरा सोचना तो ठीक है, किन्तु तेरी आयु अभी नौ वर्ष की है । बाल-सुलभ क्रीड़ा वाला स्वभाव और सुकुमार शरीर धरती पर रहकर चन्द्रमा को छूने के कुलावे तो भिड़ा सकता है, किन्तु वहाँ पहुँच नहीं सकता । बेटा ! सिन्दूरासुर विशालकाय एवं असीमित बल से सम्पन्न है । वह ब्रह्माजी से वर प्राप्त होने के कारण अजेय भी हो रहा है । इसलिए उसे तो कोई अत्यन्त शक्तिशाली पूर्ण वयस् पुरुष ही मार सकेगा ।'

महर्षि की बात सुनकर गजमुख ने पुनः विनम्र भाव से निवेदन किया–'महर्षे ! मुनिनाथ ! आप मेरे परम पूजनीय हैं, आपसे अपने विषय में अधिक कहना कुछ उचित नहीं होगा । मैं केवल इतना ही कह सकता

हूँ कि असुर का वध मैं अवश्य ही कर डालूँगा । आप आशीर्वाद तो दीजिए मुझे ।'

मुनि ने शंका व्यक्त की–'पुत्र ! मेरे हृदय ! जिस सिन्दूरासुर के गर्जन मात्र से सब दिशाएँ काँप जाती हैं, जिसके पदाघात से त्रिभुवन में हाहाकार मच जाता है, उस अपरिमित पराक्रम वाले असुर से केवल मेरे आशीर्वाद से ही युद्ध करना चाहते हो तो वह सदैव तुम्हारे साथ ही है । किन्तु केवल आशीर्वाद से ही काम चल जाता तो सिन्दूरासुर क्या, किसी भी दुष्ट का ऐसा साहस न होता कि उससे समस्त विश्व ही त्रसित हो सकता ।'

गजानन ने अपने पालक पिता को विश्वास दिलाने के लिए घोर गर्जन किया, जिसे सुनकर समस्त संसार काँप उठा । देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, किन्नर, यक्षादि सभी भयभीत हो गए । अनेक पर्वत-शिखर और वृक्ष धराशायी हो गए । यहाँ तक कि सिन्दूरासुर भी सोचने लगा कि यह क्या है ? ऐसा प्रलयंकारी शब्द तो पहिले कभी सुना ही न था ।'

प्रकृतिस्थ होकर उन्होंने पुनः हाथ जोड़कर निवेदन किया–'ऋषिश्रेष्ठ ! मेरा प्राकट्य ही सिन्दूरासुर एवं उसके साथी दैत्यों को मारकर पृथ्वी का भार हल्का करने के लिए हुआ है । मैं अवश्य ही उस राक्षसराज को मारकर ऋषि-मुनियों का हित साधन करूँगा । वह मेरे हाथों अवश्य ही मारा जायेगा । केवल आपकी आज्ञा और आशीर्वाद का सम्बल मेरे साथ रहने से यह कार्य सहज ही सम्पन्न हो जायेगा ।'

महर्षि को विश्वास हो गया । फिर उन्हें ज्ञात हुआ–'अरे, यह तो पूर्ण परमात्मा हैं, इनकी शंका कैसी ? मैं मोहवश इनके कार्य में व्यर्थ ही व्यवधान डाल रहा हूँ ।'

फिर उन्होंने गजमुख को हृदय से लगाया और उनके मस्तक पर वरदहस्त रखते हुए शुभकामना व्यक्त की–'पुत्र ! भगवान् चन्द्रचूड़ तुम्हें विजय प्राप्त करावें । मेरा आशीर्वाद है कि राक्षसराज सिन्दूर को मारने में तुम्हें सफलता प्राप्त हो ।'

ऐसा कहकर महर्षि स्नेहवश उनके मस्तक पर बहुत देर तक हाथ फेरते रहे । गजानन ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और माता से आज्ञा माँगी–'माता ! मुझे आज्ञा और आशीर्वाद दो कि मैं अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना में समर्थ हो सकूँ ।'

वत्सला की आँखों में आँसू आ गए । नौ वर्ष तक लाड़-प्यार से पाले हुए पुत्र का वियोग उसे व्याकुल करने लगा । उसने किसी प्रकार समझाने का प्रयत्न किया–'प्राणप्रिय पुत्र ! मेरे गजानन ! कहाँ तू छोटा-सा बालक और कहाँ वह त्रैलोक्य विजेता राक्षस ? भला कौन ऐसी निष्ठुर माता होगी जो अपने पुत्र को स्वयं जम्बूक के समक्ष फेंक दे ? मेरे लाल ! अभी समर्थ हो जाओ, तब जो चाहो वही करना ।'

गजानन ने विनीत भाव से कहा–'माता ! आपका आशीर्वाद ही मुझे समर्थ बना देगा । अब उस राक्षस का अन्त समय निकट आ गया है, इसलिए मुझे आज्ञा देने की कृपा कीजिए ।'

ऋषि-पत्नी ने उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा–'पुत्र ! मेरा आशीर्वाद तेरे साथ है । मैं तुझे अभीष्ट पूर्ति के लिए जाने की आज्ञा देती हूँ और कामना करती हूँ कि अवश्य ही विजय प्राप्त हो ।'

तदुपरान्त गजानन ने महर्षि पराशर और माता वत्सला को प्रणाम किया और उपस्थित ऋषि-समुदाय को भी नमस्कार कर मूषक पर आरूढ़ हुए और चलते समय भयंकर गर्जना की, जिससे तीनों लोक काँप उठे । उनका तेजस्वी मुखमण्डल अग्नि-ज्वाला के समान देदीप्यमान हो रहा था ।

सिन्दूरासुर का भगवान् गजानन के साथ युद्ध

सिन्दूरासुर की राजधानी का नाम सिन्दूरबाड़ था । यह स्थान घृसृणेश्वर के निकट है । राक्षसराज वहीं रहता हुआ तीन लोकों पर शासन

कर रहा था। गजानन पराशर आश्रम से वायुवेग से चलते हुए सिन्दूरबाड़ के उत्तर की ओर आकर सिंह-गर्जना करने लगे, जिसके फलस्वरूप भूकम्प आ गया। समूची नगरी त्राहि-त्राहि कर उठी। समुद्र में आकाश तक जाने वाली तरंगें उठने लगीं। उस स्थिति से अनेक वीर मूर्च्छित हो गये। यहाँ तक कि सिन्दूरासुर भी मूर्च्छित हो गया।

दैत्यराज को चेत हुआ तो वह सोचने लगा कि ऐसा कौन वीर यहाँ आ गया, जिसकी भयंकर गर्जना से मैं भी मूर्च्छित हो गया! उसने अपने अनुचरों को आज्ञा की–'जाओ, उसका पता लगाओ जो यहाँ आकर गर्जना कर रहा है। यदि ला सको तो साथ ही पकड़कर मेरे सामने ले आओ।'

अनुचर दौड़े। उन्होंने बाहर जाकर गजानन का अत्यन्त भयंकर और अद्‍भुत रूप देखा तो भय से काँप उठे। फिर कुछ साहस कर उनके कुछ निकट पहुँचकर बोले–'अरे! तुम कौन हो? अभी तो नौ-दस वर्ष के छोटे से बालक ही प्रतीत होते हो। क्या तुम्हें महापराक्रमी, त्रैलोक्य विजयी असुरराज सिन्दूर की शक्ति का ज्ञान नहीं है, जो उनके राज्य की सीमा पर ऐसी गर्जना कर रहे हो?'

गजमुख ने क्रोधपूर्ण मुद्रा में कहा–'दैत्यो! मुझे तुम्हारे स्वामी की शक्ति का भली प्रकार से पता है और मैं उसी का वध करने के उद्‍देश्य से यहाँ आया हूँ। मैं शिव-शिवा का पुत्र गजानन हूँ। तुम सभी अधर्मी राक्षसों को मारकर संसार में धर्म की स्थापना करूँगा। जाओ, मेरा यह संदेश अपने राजा से कह दो।'

अनुचरों ने अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित होकर कहा–'राजेन्द्र! बाहर जो गर्जन कर रहा है वह शिव-शिवा का पुत्र गजानन है। उसकी आयु अभी नौ-दस वर्ष से अधिक नहीं होगी। वह आप जैसे महाबली से युद्ध करने, दैत्यवंश का नाश करने और मुनियों की रक्षा करने के लिए

ही यहाँ आ गया है । हमें आश्चर्य है कि मच्छर के समान मूर्ख बालक आप जैसे अद्वितीय वीर के समक्ष कैसे टिकेगा ?'

सिन्दूर ने अनुचरों से उक्त संवाद सुना तो आकाशवाणी का स्मरण हो गया । किन्तु फिर सँभलकर क्रोध करता हुआ उठा और अहंकार-पूर्वक बोला–'अरे ! वह छोटा-सा बालक बात-ही-बात में मसल डाला जायेगा ! उस बेचारे की क्या विसात है, जब बड़े-बड़े भूपाल मेरे कारागार में पड़े सड़ रहे हैं । अनेकों राजा और देवता अपने-अपने प्राणों की रक्षा के लिए निविड़ अरण्यों और गिरि-कन्दराओं में जा छिपे हैं ।'

फिर उसने घोर गर्जना की और युद्ध के लिए तैयार होने लगा । तभी उसके अमात्यों ने निवेदन किया–'महाराज ! उस छोटे से बालक के साथ आप स्वयं युद्ध करेंगे ? स्वामिन् ! फिर आपकी यह विशाल सेना किस उपयोग में आयेगी जो बहुत समय से युद्ध का अवसर न आने के कारण निष्क्रिय बैठी रही है ? आप अपने किसी एक सेनापति को आज्ञा दीजिए कि वह कुछ सेना साथ लेकर उस मुनि-बालक को पकड़ लाये अथवा वहीं मार दे । यदि हमें आज्ञा हो तो हम जायें । अकेले बालक को वश में करने के लिए तो किसी सेना की भी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।'

सिन्दूर ने अमात्यों के विचार का आदर और वीरता की प्रशंसा करने के पश्चात् कहा–'वीरो ! यद्यपि यह कार्य आप लोगों के द्वारा सहज में हो सकता था, किन्तु उस अहंकारी एवं दुराग्रही बालक को अपने हाथ से ही दण्ड देने का मैंने निश्चय किया है । इसलिए मैं स्वयं ही वहाँ जा रहा हूँ ।'

युद्ध में सिन्दूरासुर का मारा जाना

यह कहकर दैत्यराज शीघ्रता से गजानन के समक्ष जा पहुँचा और बोला–'अरे मूर्ख बालक ! तू तो ऐसा गर्जन कर रहा है, जैसे तीनों लोकों

को खा जायेगा। किन्तु, तू जानता नहीं कि मैंने तीनों लोकों को जीत लिया और ब्रह्मा, विष्णु, शिव सभी को वशीभूत कर लिया है ? फिर भी तू सुकुमार बालक है, तुझसे युद्ध करना मेरे लिए शोभा की बात नहीं है। अतएव तू अपनी माता की गोद में बैठकर दुग्धपान कर, व्यर्थ विवाद कर अपने प्राणों से क्यों हाथ धोना चाहता है ?'

गजानन ने अट्टहास किया और फिर बोले–'राक्षस ! तू अवश्य ही नीतिकुशल प्रतीत होता है। परन्तु क्या तू नहीं जानता कि अग्नि की एक सामान्य चिंगारी समूचे नगर को भस्म करने में समर्थ है। मैं अल्प बालक होकर भी तीनों लोकों को अकेला ही जीत सकता हूँ। मेरा प्राकट्य समस्त दैत्यों का संहार कर मुनिजनों को स्वच्छन्द करने के लिए हुआ है। मैं अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करूँगा, फिर भी मैं तुझे एक प्रतिज्ञा करने पर छोड़ सकता हूँ कि तू अपने जीवन भर सदाचारी, धर्मरत मुनि-ब्राह्मणों का पूजन, सृष्टि के सभी प्राणियों के प्रति दया रखने वाला, न्यायवान् और प्रजापालक रहेगा। किसी की हिंसा नहीं करेगा तथा बन्दी नरेशों को तुरन्त मुक्त कर देगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता हुआ तू मेरी शरण में आ, अन्यथा तू अपना काल समीप आया जान।'

यह कहकर भगवान् गजानन ने उसे अपने विराट् रूप का दर्शन कराया। उनका सिर आकाश से जा लगा और चरण पाताल में प्रविष्ट हो गए। दशों-दिशाएँ कानों से आच्छादित हो गईं। विशाल भुजाओं का कहीं अन्त दिखाई नहीं देता था। उनके सहस्त्र शीश, सहस्त्र नेत्र, सहस्त्र भुजाएँ और सहस्त्र चरण थे। उनके शरीर पर दिव्य वस्त्रालंकार एवं दिव्य गन्ध लगी थी। उनका मुखमण्डल करोड़ों सूर्यों के समान दमक रहा था।

गजानन के उस रूप को देखकर सिन्दूरासुर भौंचक्का रह गया और भयभीत होकर पीछे हटा। किन्तु तुरन्त कुछ सँभलकर आगे बढ़ा और खड्ग खींचकर उनपर प्रहार करने के लिए प्रस्तुत हुआ ही था कि परमात्मा विनायकदेव ने उसका गला पकड़ते हुए उच्चस्वर में कहा–'अरे

मूर्ख ! तू अब भी मेरे दुर्लभ रूप को न जान सका । अब तेरा काल ही आ गया तो मैं क्या करूँ ?'

वे उसके कण्ठ को अपने वज्रसदृश हाथों से भींचने लगे । इस प्रकार उसके नेत्र बाहर निकल आये, जिह्वा लटक गई और प्राणपखेरू उड़ गए ! गजानन भगवान् ने उसका लाल रक्त अपने दिव्य शरीर पर लगा लिया । इस कारण वे 'सिन्दूरप्रिय' या 'सिन्दूरवदन' नाम से प्रसिद्ध हुए ।

सिन्दूरासुर का वध होते ही 'भगवान् गजानन की जय' का घोष करते हुए देवगण ने आकाश से पुष्प-वृष्टि की । अप्सराएँ नृत्यगान करने लगीं । अनेक प्रकार के सुमधुर वाद्य बजने लगे । सर्वत्र आनन्द की अद्भुत लहर दौड़ गई । ब्रह्माजी के नेतृत्व में समस्त ऋषि-मुनि, देवता आदि ने वहाँ आकर अनेक प्रकार के उपहार भेंट करके उनका षोड़शोपचार पूजन किया और भक्तिभाव-पूर्वक स्तवन करने लगे–

"यत्र कुण्ठाश्चतुर्वेदा ब्रह्माद्याश्च मुनीश्वराः ।
त्वं कर्त्ता कारणं कार्यं रक्षकः पोषकोऽपि च ॥"

'हे प्रभो ! जिनकी महिमा का गान करने में चारों वेद, ब्रह्मा आदि देवगण एवं मुनिगण भी कुण्ठित हैं, वहाँ हम तो वस्तु ही क्या हैं ? आप इस अखिल विश्व के कर्त्ता, कार्य, रक्षक एवं पोषक सभी कुछ हैं । संहारक, मोहक और ज्ञानदाता भी आप ही हैं । नदियाँ, समुद्र, वृक्ष, पर्वत, समस्त देहधारी वायु, आकाश, पृथिवी, अग्नि और जल भी आपके ही रूप हैं । ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, मरुद्गण मुनि, गन्धर्व, चारण, यक्ष, राक्षस, उरग, अप्सरा, किन्नर एवं अन्य समस्त चराचर विश्व आपसे भिन्न नहीं है । हमको आप मोक्ष-साधक परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं, इसलिए हम सब आज अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं । देव ! इस राक्षस के मारे जाने पर सभी देवगण सुखी हो गए हैं । अब सभी मुनिगण, नरेशगण एवं प्रजावर्ग के सभी व्यक्ति अपने-अपने कार्यों को प्रसन्नतापूर्वक

करेंगे तथा स्वधा, स्वाहा और वषट्कार के आश्रित जितनी भी क्रिया हैं, वे सब विघ्न-रहित रूप से होने लगेंगी । हे नाथ ! आप अनेक रूप में अवतार धारण कर लोक का पालन-कार्य विशिष्ट रूप से किया करते हैं । दुष्टों का विनाश और भक्तों की कामनाओं की तत्काल पूर्ति आपका स्वभाव ही है—

"नानावतारैः कुरुषे पालनं त्वं विशेषतः ।
दुष्टानां नाशनं सद्यो भक्तानां कामपूरकः ॥

इस प्रकार स्तुतियों से भगवान् को प्रसन्न कर देवताओं ने वहाँ एक भव्य मन्दिर बनवाया और उसमें गजानन भगवान् की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा स्थापित कर षोड़शोपचार से उनका पूजन किया । भगवान् की उस प्रतिमा के दर्शन मात्र से समस्त पाप दूर हो जाते हैं । उस प्रतिमा का नाम 'सिन्दूरहा' विख्यात हुआ तथा वह स्थान 'राजसदन' के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

८६

६. षष्ठ अध्याय

राजा वरेण्य का पश्चात्ताप वर्णन

राजा वरेण्य ने अपने पुत्र के द्वारा सिन्दूरासुर का वध हुआ सुना तो वे बड़े प्रसन्न हुए और वहाँ आकर भगवान् को 'दैत्य-विमर्दन' नाम से सम्बोधित करते हुए कहा—'प्रभो ! मैं आपकी ही माया के वश होकर आपके प्रभाव से अनभिज्ञ था । जिन अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के अधीश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और रूप को ब्रह्मादि देवता भी जानने में असमर्थ हैं, उन सर्वात्मा ब्रह्म को मैं अज्ञानी किस प्रकार जान सकता था ? मैंने

अपनी मूर्खता से ही घर में प्राप्त कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप आप प्राणप्रिय परमात्मा को बाहर निकाल दिया था, अपने उस अनर्थ के लिए वस्तुतः मैं क्षमा किए जाने के योग्य नहीं हूँ। फिर भी मैं आपसे क्षमा के लिए प्रार्थना करता हूँ।'

राजा वरेण्य को पश्चात्ताप करते देख भगवान् वरदराज प्रसन्न हुए और राजा को अपनी भुजाओं से आलिंगन कर अभय देते हुए बोले—'राजन्! संसार में जो कुछ भी होता है वह मेरी ही इच्छा से होता है। तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं है। पूर्व कल्प में तुमने अपनी भार्या के साथ दिव्य सहस्त्र वर्ष तक घोर तपश्चर्या की थी, जिससे प्रसन्न होकर मैंने दर्शन देकर वर माँगने को कहा था। किन्तु तुम मुझ मोक्षदाता से मोक्ष न माँगकर मुझे ही पुत्र रूप में प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की थी। इसलिए तुम्हारे पुत्र रूप से प्रकट होकर मैंने सिन्दूर का वध किया और मुनिजनों, सन्तों, भक्तों, देवताओं का अभीष्ट सिद्ध किया है। महाराज! मेरे अवतार धारण का कार्य पूर्ण हो चुका है इसलिए मुझे अब स्वधाम गमन करना है।'

भगवान् के स्वधाम गमन की बात सुनकर राजा वरेण्य व्याकुल हो गये और उन्होंने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'प्रभो! मैं इस भवसागर से मुक्त होना चाहता हूँ। इसलिए कृपा कर मुझे इसका उपाय बताने का कष्ट करें।'

गजानन को राजा पर दया आ गई। वे वहीं आसन पर विराजमान हुए और सामने राजा को बैठाकर उनके मस्तक पर अपना त्रिपातनाशक वरदहस्त रखा और उन्हें सारभूत ज्ञानोपदेश प्रदान किया। उस परम प्रभु की सन्निधि का स्पर्श एवं सुधोपम उपदेश से महाराज को वैराग्य उत्पन्न हो गया।

तभी भगवान् गजानन सभी के देखते अन्तर्धान हो गए। उधर राजा ने राजधानी में लौटकर अमात्यों को राज्य की बागडोर सौंप दी और स्वयं वन में तपश्चर्या करने चले गए।

कलियुग में धूम्रकेतु अवतार का वर्णन

'भगवान् गजानन का कलियुग में जो अवतार होगा, उसकी प्रसिद्धि 'धूम्रकेतु' नाम से होगी। जब कलियुग आयेगा तब सभी मनुष्य आचरणहीन एवं मिथ्यावादी हो जायेंगे। ब्राह्मण वेदाध्ययन, नित्य-नैमित्तिक कर्म, यज्ञ, तप, दान आदि का लोप हो जायेगा। सर्वत्र पाप-कर्म होने लगेंगे। परधन एवं परस्त्री-लोलुपता, काम-क्रोध, मोहादि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायेगी। समय पर वर्षा नहीं होगी तथा नदियों के किनारे खेती होने लगेगी।'

बलवान लोग बलहीनों को सताने लगेंगे। उनकी धन-सम्पत्ति, स्त्री आदि को छीन लेंगे। ब्राह्मणों का कार्य अन्य वर्ण और अन्य वर्णों के कर्म ब्राह्मण करेंगे। सभी विद्वान् मूर्ख और धनहीन हो जायेंगे। लोग दूसरे के धन को लेकर हड़पने लगेंगे। सर्वत्र हाहाकार मच जायेगा।

दूसरे से धन माँगने में किसी को संकोच नहीं होगा। लोग झूठी गवाही देने में संकोच नहीं करेंगे। मिथ्या धर्म उठाना एक साधारण बात होगी। सज्जनों की निन्दा और दुष्टों की सर्वत्र प्रशंसा होगी। छल-कपट सर्वत्र दिखाई देगा। धर्मज्ञों का अपकर्ष और अधर्मियों का उत्कर्ष होगा।

मनुष्यों में देवपूजन के प्रति अरुचि और भूत-प्रेत, पिशाच की पूजा में उत्साह रहेगा। धूर्त लोग छद्मवेश बनाकर अपनी उदर-पूजा करेंगे। ब्राह्मण अपने कर्म को छोड़कर केवल पेटू बन जायेंगे। क्षत्रिय वीर धर्म को त्यागकर भिक्षाटन करने लगेंगे। वैश्य भी व्यवसाय बुद्धि से विरत होकर बिना परिश्रम किये धन बटोरने में लगे रहेंगे। माता-पिता और गुरुजनों के सम्मान का लोप हो जायेगा। सन्तान वर्णसंकर होने लगेगी।

घोर कलियुग उपस्थित होने पर उक्त दोष अधिक बढ़ जायेंगे। स्त्रियाँ पथभ्रष्ट होने लगेंगी। अच्छे मनुष्यों के आचरण भी म्लेच्छों के समान हो जायेंगे। पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति का ह्रास होगा और वृक्षों में रस

नहीं रहेगा । स्त्री-पुरुषों की पूर्ण आयु सोलह वर्ष की रह जायेगी । पाँच-छः वर्ष की आयु में प्रसव होने लगेंगे ।

देवताओं और तीर्थों का लोप हो जायेगा । धन का अर्जन ही जीवन का प्रमुख उद्‌देश्य रहेगा । ईर्ष्या-द्वेष, अहंकार एवं मानसिक ज्वाला सदैव दग्ध करती रहेगी । सर्वत्र अधर्म, अन्याय, अत्याचार, दुराचार आदि का बोलबाला रहेगा ।

जब कलियुग अपनी दारुण स्थिति पर पहुँच जायेगा, तब समस्त प्राणी अत्यन्त पीड़ित होंगे । उनमें वासनादि का विक्षेप अपनी चरम सीमा पर होगा । स्वाहा, स्वधा, वषट्‌कार के न होने के कारण देवताओं को भूखे रहना होगा । वे अत्यन्त त्रस्त हो जायेंगे और उपाय करके भी उस स्थिति से छुटकारा नहीं पा सकेंगे । तब उन्हें एक ही उपाय श्रेयस्कर प्रतीत होगा—भगवान् गजानन की शरण में जाना ।

वे सब एकत्र होकर उनकी शरण में आ जायेंगे और उन महाप्रभु को बारम्बार नमस्कार करते हुए, उनका अनेक उपचारों से पूजन करेंगे । उनका स्तवन करके, परिक्रमा आदि के द्वारा उन्हें सब प्रकार से प्रसन्न कर लेंगे । तब से परात्पर परमात्मा उनके संकट निवारण का आश्वासन देकर सभी को भय-रहित करेंगे ।

तदुपरान्त समय पाकर वे दयामय विनायक प्रभु पृथ्वी पर अवतार लेंगे । वे 'शूर्पकर्ण' एवं 'धूम्रवर्ण' के नाम से प्रसिद्ध होंगे । वे 'धूम्रकेतु' भी कहलायेंगे । उनका वाहन नीला अश्व होगा ।

शत्रुओं का संहार करने वाले वे प्रभु क्रोधावेश के कारण अत्यन्त तेजस्वी होंगे । उनकी देह से दिव्य ज्वाला निकली हुई प्रतीत होगी । तीक्ष्णतम खड्‌ग हाथ में लेकर वे भगवान् अपने अश्व पर चढ़कर इच्छानुसार अकेले चल पड़ेंगे । अथवा आवश्यकतानुसार सेना और अमोघ शस्त्रास्त्रों को स्वयं प्रकट कर लेंगे ।

महाप्रभु शूर्पकर्ण अपने तेज से समस्त पापों और पापियों को नष्ट करने में समर्थ होंगे। वे अपने परम तेज और सेना द्वारा म्लेच्छों के विनाश में शीघ्र ही सफल होंगे। जो लोग म्लेच्छों के समान आचरण करने वाले होंगे वे भी उन प्रभु के द्वारा संहार को प्राप्त होंगे। जब तक धर्म की स्थापना नहीं होगी, तब तक वे अपने नेत्रों से अग्नि-वर्षा ही करते रहेंगे।

वे सर्वात्मा एवं सर्वाधार भगवान् श्रीगणेश उस समय भय के कारण गिरि-गुहाओं और निविड़ वनों में छिपकर, जंगली कन्द-मूल, फलादि पर निर्वाह करने वाले, ब्राह्मणों का भय दूर कर उनका सत्कार कर सत्कर्म और श्रेष्ठ धर्मपालन के लिए प्रोत्साहित करेंगे।

इस प्रकार धर्माचरण का सम्पादन होने लगेगा और सतयुग का आरम्भ हो जायेगा।

अष्टम खण्ड

१. प्रथम अध्याय

गणपति के आठ अवतार

श्री आदिदेव गणेशजी के चरित्रों को सुनकर अत्यन्त आनन्द में भरे शौनकजी बार-बार उन कथाओं का स्मरण करते-करते स्नेह-विह्वल होने लगे। कभी उन्हें रोमाञ्च होता तो कभी नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगते। तभी उनके कानों में सूतजी के अमृतोपम वचन सुनाई दिए। वे उनकी ओर देखकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए कह रहे थे-'हे प्रभुभक्त शौनक ! तुम धन्य हो जो भगवान् गणेश्वर के प्रेम में ऐसे सराबोर हो रहे हो। वत्स ! गणाधीश के अनन्त चरित्र हैं, उन सभी का वर्णन किया जाना तो सम्भव नहीं है, फिर भी उनमें जो प्रमुख चरित्र थे वे मैंने तुम्हारे प्रति कह दिए हैं। तुम उन चरित्रों का गान करते ही सर्वाभीष्ट को प्राप्त हो जाओगे। क्योंकि प्रभु चरित्र के कीर्तन करने से इहलौकिक और पारलौकिक सभी सुखों की प्राप्ति सहज हो जाती है।'

'हे हरिप्रेमी शौनक ! प्रभु चरित्र एवं नाम संकीर्तन में बड़ी शक्ति है। इसलिए उसकी बड़ी महिमा मानी जाती है। जहाँ परब्रह्म श्रीगणेश्वर का चरित्रगान किया जाता है वहाँ समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ निवास करती हैं। उस स्थान पर भूत-प्रेत, पिशाचादि तो कभी फटकते भी नहीं। आधि-व्याधि भी दूर से ही पलायन कर जाती है। समस्त संकट-विपत्तियों का सहज में ही निवारण हो जाता है। राजभय, शत्रुभय, ग्रहभय की भी आशंका नहीं रहती। जो लोग प्रभु की भक्ति चाहते हैं, उनको दृढ़ भक्ति की प्राप्ति होती है। मुमुक्षुओं को मोक्ष-प्राप्ति का भी यह परम साधन है।

शौनकजी ने सूतजी को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोले-

'हे सूतजी ! हे भगवन् ! परात्पर ब्रह्म श्रीगणेश्वर के अनेक अवतार हुए बताये जाते हैं। उन सब अवतारों में भी प्रभु ने अनेक महाकर्म किये हैं। हे प्रभो ! मुझे उन अवतारों की कथा सुनाने की कृपा कीजिए, मेरे मन में उन सब चरित्रों के श्रवण की अत्यन्त उत्कण्ठा है।'

सूतजी बोले–'शौनक ! तुमने बड़ा सुन्दर प्रश्न किया है। तुम्हारे ऐसे प्रश्नों के द्वारा मैं भी अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता हूँ। देखो वत्स ! विघ्न-विनाशक गणेशजी के अनन्त अवतार हुए हैं। उन सबका वर्णन किया जाना कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि सौ वर्षों में भी वे उपाख्यान पूर्ण नहीं हो सकते। तो भी उन सबमें आठ अवतार अधिक प्रमुख माने जाते हैं–१. वक्रतुण्ड, २. एकदन्त, ३. महोदर, ४. गजानन, ५. लम्बोदर, ६. विकट, ७. विघ्नराज और ८. धूम्रवर्ण। उन अवतारों की विशेषता एवं चरित्र निम्न प्रकार हैं :

१. वक्रतुण्डावतार

"वक्रतुण्डावतारश्च देहानां ब्रह्मधारकः।
मत्सरासुरहन्ता स सिंहवाहनः स्मृतः॥"

हे शौनक ! भगवान् गणेश्वर का 'वक्रतुण्ड' नामक अवतार देह ब्रह्म का धारक है। उसके द्वारा मत्सरासुर का संहार हुआ था। वे भगवान् सिंह पर आरूढ़ होने वाले कहे गये हैं।

एक समय की बात है कि देवराज इन्द्र के प्रमाद से एक भयंकर असुर की उत्पत्ति हुई और वह शीघ्र ही बढ़ता चला गया। मद से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम मत्सरासुर हुआ। वह असुर भयंकर और दुराधर्ष था। उसने सोचा–'मैं किस देवता की उपासना करूँ, जिससे मुझे संसार पर प्रभुत्व प्राप्त हो सके।' तभी उसे दैत्यगुरु शुक्राचार्य का ध्यान आया और वे परम विद्वान् गुरुदेव ही मुझे इस सबका निर्देश कर सकते हैं। ऐसा निश्चय कर वह उनकी शरण में पहुँचा।

मत्सरासुर ने उनसे निवेदन किया—'गुरुदेव ! मुझे वह उपाय बताने की कृपा कीजिए, जिससे मैं तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर सकूँ । हे मुनिनाथ ! आप समस्त विद्याओं के ज्ञाता, वेदादि में पारंगत तथा सर्व-समर्थ हैं । आपके लिए अविदित कुछ भी नहीं है ।'

शुक्राचार्य बोले—'वत्स ! सभी प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति से तपश्चर्या होती है, इसलिए भगवान् त्रिलोचन की प्रसन्नता के लिए तप करो तो तुम्हें अभीष्ट की प्राप्ति हो सकती है ।' मत्सर ने कहा—'प्रभो ! मैं अवश्य ही तपश्चर्या करने को प्रस्तुत हूँ । आप मुझे विधि बताने की कृपा कीजिए ।'

दैत्यगुरु ने उपदेश दिया—'वत्स ! पवित्र जल में स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण कर, श्रद्धापूर्वक आशुतोष भगवान् शंकर की षोड़शोपचारों से पूजा करो । तदुपरान्त शिव के पंचाक्षरी मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' का जप करते हुए कठोर व्रत का संयमपूर्वक निर्वाह करो । तप के समाप्त होने पर तुम भगवान् शंकर की कृपा प्राप्त करोगे ।'

मत्सरासुर शिव का पञ्चाक्षरी मन्त्र पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और गुरु-चरणों में प्रणाम कर निर्जन वन में चला गया । वहाँ उसने शुक्राचार्य जी की बताई विधि से भगवान् शंकर का पूजन किया और पञ्चाक्षरी मन्त्र का जप करते हुए घोर तपश्चर्या करने लगा । वह हजारों वर्षों तक निराहार रहा, केवल जल ही पीता था । फिर जल भी छोड़कर वायु के सहारे ही जीवनचर्या चलाता रहा ।

उसकी कठिन तपस्या पर भगवान् शंकर प्रसन्न हुए और उन्होंने जगज्जननी पार्वती जी के सहित आकर उसे दर्शन दिया । उनके तेजोमय स्वरूप के समक्ष एक बार तो असुर के नेत्र मुँद गये, किन्तु भगवान् की अमृतमयी वाणी सुनकर उसने साहसपूर्वक नेत्र खोल दिये । देखा सामने सौम्य मूर्ति शिव-शिवा वृषभ पर सवार हुए खड़े हैं और कह रहे

हैं– 'वत्स ! मैं तुम्हारे तप से सन्तुष्ट हूँ तुम जो अभीष्ट चाहो, वही मुझसे माँग लो ।'

असुर ने शिव-शिवा के चरणों में प्रणाम किया और फिर गद्‌गद कण्ठ से स्तुति करने लगा– 'प्रभो ! आप समस्त देवताओं के अधीश्वर के स्वामी हैं । जगत् के सर्ग, पालन और विनाश के कारण भी आप ही हैं । आपकी इच्छा के बिना कहीं कोई भी कार्य नहीं होता । हे नाथ ! आप वाणी से अगोचर कहे जाते हैं, इसलिए आपकी किस प्रकार स्तुति करूँ यह मुझे ज्ञात नहीं है । हे नाथ ! मेरी जो अभिलाषा है वह आप सर्वज्ञ से छिपी नहीं है । फिर भी आपसे निवेदन करता हूँ कि मैं समस्त संसार पर अधिकार करने में समर्थ हो जाऊँ ।'

भगवान् शंकर 'ऐसा ही हो' कहकर अन्तर्धान हो गए । इधर वर पाकर प्रसन्न हुआ मत्सरासुर शुक्राचार्य जी के पास लौटा और उनसे वर प्राप्ति का समाचार सुनाया । तब उन्होंने उस दैत्य को दैत्यराज पद पर अभिषेक किया और बोले– 'वत्स ! भगवान् शंकर का वर अमोघ है, वह कभी निष्फल नहीं हो सकता । तू अवश्य ही त्रैलोक्य विजयी और अधीश्वर बनेगा ।'

मत्सरासुर की त्रैलोक्य विजय

मत्सरासुर को शिव वर की प्राप्ति का समाचार शीघ्र ही फैल गया । इसलिए अनेक दैत्य उसकी कृपा प्राप्त करने के उद्‌देश्य से उसकी परिचर्या करने लगे । इस प्रकार धीरे-धीरे उसके पास दैत्यों का समुदाय दिन-पर-दिन बढ़ने लगा । एक दिन उसके साथियों ने उसे परामर्श दिया– 'प्रभो ! आपको अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए । इस समय आपके पास दैत्य-वीरों की पर्याप्त सेना एकत्र हो गई है । उसके बल पर आप सहज में ही अनेक राजाओं को हराकर उनके राज्य और वैभव पर अधिकार कर सकते हैं ।'

मत्सरासुर को उनका परामर्श उचित प्रतीत हुआ और तब उसने अपने वीरों को साथ लेकर सर्वप्रथम असुर, राक्षस और दैत्यों को ही वश में किया। इस प्रकार समस्त असुरादि ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इससे उसका दल बढ़ता चला गया। तदुपरान्त उसने विशाल दैत्य सेना लेकर पृथ्वी पर राज्य करने वाले राजाओं पर एक-एक कर आक्रमण कर दिया। जो राजा दुर्बल थे उन्होंने बिना युद्ध के ही आत्मसमर्पण कर दिया, जिन्होंने युद्ध किया वे या तो हार गये या प्राण लेकर भागे। इस प्रकार समस्त पृथ्वी उसके अधिकार में आ गई।

फिर उस विजयोन्मत्त दैत्य ने नागलोक पर आक्रमण कर दिया। उस भयंकर युद्ध में असुर-सेना कम और नागसेना बहुत अधिक मारी गई। यह देखकर अधिक विनाश रोकने की दृष्टि से नागराज शेषजी ने विनयपूर्वक उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

जब धरती और पाताल दोनों पर विजय प्राप्त हो गई, तब उसका साहस और अधिक बढ़ गया और उसने देवताओं को अधीन करने के लिए अमरावती पर आक्रमण कर दिया। असुरों ने बलपूर्वक सुरपुर में प्रविष्ट होकर भाँति-भाँति के अत्याचार आरम्भ किए। यह देखकर वरुण के नेतृत्व में देवताओं ने असुरों का सामना किया। उस युद्ध में बहुत से देवता मारे गये और बहुत से आहत हुए और जो शेष बचे वे भाग गये।

वरुण के हारने पर यम और कुबेर ने रणक्षेत्र में पहुँचकर दैत्यों को रोका। भीषण युद्ध के पश्चात् उन्हें भी पराजय का मुख देखना पड़ा। उनकी सेना की भी वही दशा हुई, जो वरुण के नेतृत्व वाली सेना की हुई थी।

अब देवराज इन्द्र स्वयं गजराज ऐरावत पर आरूढ़ होकर अपनी विशाल देवसेना के साथ दैत्यसेना से युद्ध करने के लिए आए। पहिले तो ऐसा लगा, जैसे दैत्य-सेना उनके समक्ष हार रही है। किन्तु बाद में दैत्यों

के घोर आक्रमण के समक्ष उनके पाँव न टिक सके और अन्त में उनकी पराजय हुई।

देवगण स्वर्गलोक को छोड़कर भाग निकले। मत्सरासुर ने अमरावती पर अधिकार कर लिया और अपने एक विश्वासपात्र दैत्य अधिकारी को वहाँ का प्रशासक नियुक्त करके अपनी राजधानी को लौट आया। इस प्रकार वह तीनों लोकों का अधीश्वर बन गया।

उधर देवराज इन्द्र अपने राज्य से हीन होकर ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया—'ब्रह्मन्! मत्सरासुर ने स्वर्ग पर भी अधिकार कर लिया है। सभी देवता अपने घर-द्वार से वञ्चित होकर उस दैत्य के भय से मारे-मारे फिर रहे हैं। इसलिए हे प्रभो! आप उसके वध का कुछ उपाय कीजिए।'

ब्रह्माजी बोले—'देवराज! इसका उपाय तो बैकुण्ठनाथ से पूछना चाहिए। क्योंकि वे ही प्रभु असुरों के संहार में पूर्ण समर्थ हैं। इस बार भी वे सहायता करेंगे। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।'

इन्द्रादि देवताओं के साथ ब्रह्माजी बैकुण्ठधाम में पहुँचे और रमानाथ को मत्सरासुर की प्रबलता और उसके द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों की बात उन्हें सुनाई। लक्ष्मीकान्त ने समस्त विवरण जानने के पश्चात् कहा—'इसका उपाय तो उन्हीं भोलानाथ से पूछो, जिन्होंने असुर को अपने बल से इतना प्रबल और दुराधर्ष बना दिया है। वे और आप दोनों ही बिना समझे-सोचे तुरन्त वर दे डालते हैं और उसका परिणाम भोगना पड़ता है समस्त संसार को। चतुरानन! चलो, कैलास पर्वत पर पहुँचकर ही इस विषय पर विस्तार से विचार करेंगे।'

सब लोग कैलास पहुँचे। उस समय भगवान् शंकर गिरिराजनन्दिनी के साथ एक रत्नसिंहासन पर विराजमान थे। उनके गण उन्हें घेरे हुए बैठे थे। विष्णु, ब्रह्मा आदि देवताओं को आये देखकर शिवजी ने उठकर

उनका स्वागत किया और सभी को यथायोग्य स्थानों पर बैठाकर स्वयं भगवान् विष्णु और ब्रह्माजी के निकट जा बैठे।

विष्णु ने उनसे कहा—'आशुतोष ! आपने मत्सरासुर को ऐसा अमोघ वर दे डाला है कि वह विजयोन्मत्त हुआ भाँति-भाँति के अत्याचार कर रहा है। उसने तीनों लोकों पर अधिकार कर लिया है, इससे समस्त संसार त्रस्त हो उठा है। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे असुर का अन्त हो सके।'

शंकर बोले—'त्रिलोकीनाथ ! आप समस्त उपायों के आश्रय है। आपकी ही इच्छा से इस संसार की सभी क्रियाएँ होती हैं। उन सब क्रियाओं के चलते रहने के लिए ही आपने कालचक्र निर्माण किया है। विश्व में होने वाले उत्थान-पतन का कारण भी एकमात्र आप ही हैं। अब आपके द्वारा नियुक्त वह काल उस असुर के अन्त का कारण बनेगा तभी तो उसका संहार हो सकेगा। प्रभो ! हे दीनबन्धो ! मेरी मति के अनुसार तो हमें उसका पतन देखने के लिए काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए।'

इस प्रकार सभी कुछ काल की निर्भरता पर टल गया। परन्तु मत्सरासुर के गुप्तचर सर्वत्र नियुक्त थे। उन्होंने असुर को कैलास पर होने वाले गोपनीय वार्तालाप का समाचार दे दिया। इससे वह अत्यन्त कुपित होकर लाल-लाल लोचन निकालता हुआ बोला, 'दैत्यवीरो ! अपनी वाहिनी तैयार कर कैलास पर चढ़ चलो और उस भंगड़ी को बन्दी बना लो। चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।'

और अपनी विशाल असुरसेना के सहित उसने कैलास पर आक्रमण कर दिया। शिवगणों और प्रमथगणों ने उनका सामना किया, किन्तु वे असुर को आगे बढ़ने से न रोक सके। अन्त में भवानीपति से वर प्राप्त मत्सरासुर ने भवानीपति को ही पाश में बाँध लिया और अपने ज्येष्ठ पुत्र को वहाँ पर शासन-भार सौंप दिया।

अब उसने बैकुण्ठ पर भी चढ़ाई कर दी । लक्ष्मीनाथ तो उसके वर-प्रबल होने से परिचित ही थे । अतः वहीं अन्तर्धान हो गए । असुर को बिना युद्ध किए ही वहाँ का आधिपत्य प्राप्त हो गया । अपने एक पुत्र को उसने वहाँ का शासनाधिकारी बनाया ।

इसी प्रकार ब्रह्मलोक पर भी अधिकार कर लिया । वहाँ भी अन्य पुत्र को नियुक्त कर दिया । स्वयं अपनी राजधानी में रहते हुए ही वह तीनों लोकों पर निर्बाध रूप से शासन करने लगा । इस प्रकार उसके अत्याचार का ताण्डव चलता रहा ।

इधर एक गोपनीय स्थान में समस्त देवगण एकत्र हुए और मत्सरासुर के मारने के विषय में विचार करने लगे । उसी समय भगवान् दत्तात्रेय भ्रमण करते हुए आ पहुँचे । उनसे देवताओं ने निवेदन किया–'प्रभो ! हम सब मत्सरासुर के अत्याचारों से अत्यन्त त्रस्त हो रहे हैं । उसके संहार का कोई अमोघ उपाय बताने की कृपा कीजिए ।'

देवताओं को 'ग' मन्त्र-जप का उपदेश

दत्तात्रेय बोले–'देवताओ ! परब्रह्म परमेश्वर ही उसे मारने में समर्थ हैं । वे ही प्रभु सब प्राणियों के दुःखों को दूर करने में समर्थ हैं । तुम उनके वक्रतुण्ड स्वरूप का ध्यान करते हुए एकाक्षरी मन्त्र 'गं' मन्त्र के जपानुष्ठान करो । वे भगवान् तुम्हें अवश्य ही इस घोर संकट से छुड़ा देंगे ।'

देवताओं ने भगवान् दत्तात्रेय से वक्रतुण्ड की उपासना और उनके 'गं' मन्त्र के जपानुष्ठान की विधि सीखी और फिर उनके द्वारा उपदिष्ट विधान से अनुष्ठान करने लगे । उनकी कठिन आराधना से भगवान् वक्रतुण्ड ने सन्तुष्ट होकर दर्शन दिए । उनके अद्वितीय तेज के कारण सभी के नेत्र मुँदे जा रहे थे । तभी भगवान् वक्रतुण्ड ने कहा–'देवगण ! मैं प्रसन्न हूँ । जो अभीष्ट हो वह वर माँगो ।'

देवताओं ने उनके पद्मों में प्रणाम करके हाथ जोड़ते हुए निवेदन किया—'प्रभो ! हम सब मत्सरासुर के भय से सर्वत्र मारे-मारे फिर रहे हैं। उससे निस्तार का कोई उपाय नहीं सूझता । कृपा कर हमें संकट से मुक्त कीजिए ।'

वक्रतुण्ड बोले—'देवताओ ! तुम चिन्ता का त्याग करो । मैं मत्सरासुर का समस्त गर्व खण्डित कर दूँगा ।' यह कहकर उन्होंने गणों का स्मरण किया, जिससे असंख्य गण प्रकट हो गए । उस समस्त सेना को और देवताओं को साथ लेकर वे प्रभु मत्सरासुर की राजधानी पर जा पहुँचे ।

असुरों ने दौड़कर मत्सरासुर को सूचित किया—'राजन् ! असंख्य वीरों ने आकर आपकी राजधानी को घेर लिया है और वे शीघ्र ही नगर में प्रवेश करना चाहते हैं । इसका शीघ्र ही प्रतिकार कीजिए अन्यथा बाद में स्थिति पर नियन्त्रण असम्भव होगा ।'

मत्सरासुर ने सेनापति को बुलाकर आदेश दिया—'शत्रुओं को मार डालो । उनका जो अधीश्वर हो उसे बन्दी बनाकर मेरे समक्ष उपस्थित करो अथवा उसका वध कर दो ।'

सेनापति ने 'जो आज्ञा' कहकर सिर झुकाया और विशाल असुर-वाहिनी के साथ नग के बाहर आकर वक्रतुण्ड के गणों को ललकारता हुआ बोला—'मूर्खो ! प्राणों का भय नहीं लगता तुम्हें जो यहाँ मरने के लिए चले आये हो । जिन महाराज मत्सरासुर की सेना के भय से ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अपने असंख्य सेवकों के सहित भागे-भागे फिरते हैं तो तुम्हारी क्या गणना है ? इसलिए तुरन्त ही अपने-अपने प्राण लेकर भाग जाओ ।'

तभी समस्त गणों ने एक साथ मिलकर 'वक्रतुण्ड' का जयघोष किया और दैत्य-सेना पर प्रहार करने लगे । भयंकर युद्ध छिड़ गया, किन्तु असुरसेना हारने लगी । बहुत से दैत्य रथी, महारथी, गजारूढ़,

अश्वारूढ़ प्रमुख वीर मारे गये । यह देखकर दैत्यसेना भागने लगी । सेनापति के बहुत कहने पर रणक्षेत्र में कोई दैत्यवीर न टिका ।

यह संवाद जैसे ही त्रैलोक्य विजेता मत्सरासुर के पास पहुँचा कि वह आग-बबूला हो उठा । उसने कहा, 'शत्रुओं का यह साहस ! मेरे ही नगर पर आकर मेरी सेना को परास्त कर दें । वीरो ! अब विलम्ब का काम नहीं, जैसे भी हो शत्रु को नष्ट करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है । चाहे हमारे प्राण चले जायें, किन्तु शत्रु को आगे नहीं बढ़ने देंगे । उसे भगाकर छोड़ेंगे ।'

अमात्यों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'प्रभो ! हमारे वीरों ने शत्रु-सेना में एक भयंकर रूप वाला योद्धा देखा है । वह अपनी समस्त सेना का सञ्चालन कर रहा है । वह बड़ा दुराधर्ष वीर है, जिधर बढ़ जाता है, उधर ही सब कुछ शून्य हो जाता है । इसलिए राजन् ! हमारे विचार में तो उससे सन्धि कर लेनी चाहिए । क्योंकि बुद्धिमानी इसी में है कि अवसर देखकर कार्य किया जाये ।'

उनकी बात सुनकर दैत्यराज लाल-पीला पड़ गया और क्रोध से आँखें निकालकर बोला—'कायरपुरुषो ! तुम मुझे शत्रु के सामने झुकने का परामर्श दे रहे हो ? इससे तो युद्ध में मर मिटना ही श्रेयस्कर है ।'

फिर उसने प्रधान सेनाध्यक्ष को आदेश दिया—'शत्रु का सामना करने के लिए विशाल सेना लेकर आगे बढ़ो । मैं भी तैयार होकर आ रहा हूँ । यह घोषणा कर दो कि रणभूमि में मैदान छोड़कर कोई भी न हटे, अन्यथा उसे मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा ।'

प्रधान सेनाध्यक्ष ने समस्त सेनाओं को तैयार होने का आदेश दिया और उक्त राजाज्ञा भी सुना दी । मत्सरासुर स्वयं उस असंख्य दल के साथ राजधानी से बाहर निकला । उसके सुन्दर 'प्रिय और विषयप्रिय' नामक दो पुत्र भी साथ थे । जिन्होंने सुनियोजित ढंग से वक्रतुण्ड के गणों पर भीषण आक्रमण कर दिया था ।

गणों और असुरों के मध्य इतना भयानक युद्ध हुआ कि दोनों पक्षों को भारी क्षति उठानी पड़ी। किन्तु विजय या पराजय किसी की भी न हुई। इस प्रकार युद्ध चलते हुए पाँच दिन हो गए थे। इसी बीच भवानीपति को मत्सरासुर के पुत्रों ने प्रहार द्वारा मूर्च्छित कर दिया। फिर भी वक्रतुण्ड के दो गण आगे बढ़े और उन असुरों से भिड़ गए। उनके प्रहार से वे दोनों असुर मारे गए।

अपने पुत्रों का मरण हुआ देखकर मत्सरासुर व्याकुल हो उठा और वह युद्धस्थल छोड़कर चला गया। राजभवन में भी उसके कारण शोक व्याप्त हो गया, तब अमात्यों ने उसे समझाया—'राजन्! शोक करने से तो कुछ होगा नहीं, आपके मरे हुए पुत्र शोक से लौट नहीं सकते। अब तो शोक का एक ही प्रतिकार है—शत्रुओं से प्रतिशोध लेना।'

मत्सरासुर का गणेशजी की शरण में जाना

मत्सरासुर पुनः रणभूमि में पहुँचा। उसने वक्रतुण्ड का सामना करते हुए कहा—'मूर्ख! यहाँ मरने के लिए क्यों आ गया? क्या तू मेरी शक्ति से परिचित नहीं?'

वक्रतुण्ड ने हँसते हुए उत्तर दिया—'दुष्ट राक्षस! मैं यहाँ मरने के लिए नहीं, तुझे मारने के लिए आया हूँ। तेरी शक्ति से भी भली प्रकार परिचित हूँ। तू उन्हीं के वर से अत्यन्त प्रबल हो गया था, जिन्हें तूने पाश में बाँध लिया था। परन्तु अब तेरा ह्रास-काल आ गया है। इसलिए निश्चय मारा जायेगा। फिर भी यदि तुझे प्राण अधिक प्यारा है तो मेरी शरण में आ जा।'

मत्सरासुर ने देखा कि वस्तुतः वक्रतुण्ड अत्यन्त प्रबल हैं, जिनका सामना करने से मरण होना सम्भव है, तो वह उनके प्रस्ताव पर विचार

करने लगा और अमात्यों से परामर्श किया कि 'ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ?'

अमात्यों ने कहा–'महाराज ! वक्रतुण्ड ने आपको शरण देने का प्रस्ताव कर अपनी उदारता का परिचय दिया है । इसलिए प्रभो ! उनकी शरण लेना ही अधिक कल्याणकारी होगा ।'

असुर का भी यही विचार था इसलिए वह शीघ्र ही वक्रतुण्ड की शरण में जाकर उनकी स्तुति करने लगा–'प्रभो ! मैं आपके पराक्रम से पहले अनजान था । अब मुझे ज्ञात हो गया है कि आप कोई साधारण देवता नहीं वरन् सर्वसमर्थ परात्पर ब्रह्म हैं । हे नाथ ! मुझ अज्ञानी के अपराध को क्षमा करके अपनी शरण में स्थान दीजिए और साथ ही अपनी सुदृढ़ भक्ति भी ।'

यह कहकर उसने वक्रतुण्ड के चरण पकड़ लिये । इससे वे भगवान् सन्तुष्ट होकर बोले–'असुरराज ! मैं तुझपर प्रसन्न हूँ । अब तू निर्भय होकर अपना राज्य-कार्य कर, किन्तु विस्तार-लिप्सा को त्याग दे । देवताओं, नागों आदि के स्थान इन्हें लौटा दे और जितने स्थान में रह सके, उतना ही सीमा से रहता हुआ सदैव मेरी भक्ति में लगा रह । अपने अनुयायियों को आदेश दे कि वे निरीह प्राणियों पर किसी भी प्रकार का अत्याचार न करें ।'

मत्सरासुर ने तुरन्त स्वीकार किया कि वैसा ही किया जायेगा । इससे सभी देवगण आनन्द मग्न हो गये और उन्होंने भक्तिभाव से वक्रतुण्ड की स्तुति की । उन्होंने देवताओं को भी अभय प्रदान किया और तुरन्त ही अन्तर्धान हो गये ।

असुर दम्भ की उत्पत्ति

सूतजी बोले–'हे शौनक ! उन दयामय भगवान् वक्रतुण्ड ने मत्सरासुर

को क्षमा कर दिया और उसे अपना भक्त बना लिया। इस प्रकार का एक अन्य उपाख्यान दम्भासुर का है, उसे भी भगवान् वक्रतुण्ड ने क्षमा दान दिया था।'

शौनक जी बोले–'हे सूतजी! हे प्रभो! मुझे दम्भासुर का उपाख्यान भी सुनाने की कृपा कीजिए। हे दयालु! मुझे गणेश्वर के विभिन्न चरित्रों के श्रवण में बड़ा आनन्द आ रहा है।'

सूतजी बोले–'शौनक! वह उपाख्यान सर्गारम्भ काल का है। जब ब्रह्माजी ने सृष्टि-रचना का कार्य आरम्भ किया, तब उसमें उन्हें अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ा। तब लोकपितामह ने सोचा–'इन विघ्नों का निवारण वे वक्रतुण्ड गणाधिपति ही कर सकते हैं। इसलिए उन्हीं प्रभु को प्रसन्न करना चाहिए।'

ऐसा निश्चय कर उन्होंने गणेश्वर का भक्तिभाव से पूजन आरम्भ कर उनके षडक्षरी मन्त्र 'वक्रतुण्डाय हुम्' का जपानुष्ठान आरम्भ किया और अनुष्ठान की समाप्ति कर विधिपूर्वक ब्राह्मण भोजन कराया एवं दक्षिणा आदि प्रदान की।

ब्रह्माजी के अनुष्ठान से प्रसन्न हुए वक्रतुण्ड भगवान् ने प्रकट होकर कहा–'चतुरानन! मैं प्रसन्न हूँ। अपना अभीष्ट वर माँग लो।' ब्रह्माजी ने निवेदन किया–'प्रभो! सृष्टिकार्य में उपस्थित विघ्नों को दूर कर दीजिए, यही मेरा अभीष्ट है।' वक्रतुण्ड 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गये।

तदुपरान्त लोकपितामह ने निर्विघ्न रूप से सृष्टि-कार्य सम्पन्न किया, किन्तु उस समय पितामह के कम्प से दम्भ नामक एक विकराल शिशु उत्पन्न हुआ, जो शीघ्र ही बड़ा हो गया। उसने अपने उत्कर्ष के लिए घोर तपश्चर्या आरम्भ की। उस कठोर तप को देखकर लोकस्रष्टा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे दर्शन देकर कहा–'वत्स! वर माँगो।'

तपस्वी दम्भ ने उन्हें प्रणाम किया और बोला—'प्रभो! मैं त्रैलोक्य विजयी बनूँ और सदैव निर्भय रहूँ। मेरा तिरस्कार कोई भी सांसारिक प्राणी या देवता, दैत्य, नागादि न कर सके।'

पितामह ने कहा—'वत्स! तेरी कामना अवश्य पूरी होगी।' तब दम्भासुर शुक्राचार्य के पास गया, जिन्होंने उसे दैत्येश्वर के पद पर अभिषिक्त कर दिया।

अब दम्भासुर ने एक अत्यन्त सुन्दर नगर बनवाया और उसी नगर में रहने लगा। वह नगर चारों ओर सुदृढ़ प्राकार और खाई आदि के द्वारा सुदृढ़ था। वहीं उसने दैत्यों को बुला-बुलाकर उनकी सेना एकत्र करना आरम्भ किया।

उसने भी अपने राज्य-विस्तार की नीति अपनाई और मत्सरासुर के ही समान प्रथम वसुन्धरा, फिर पाताल और उपरान्त स्वर्ग पर विजय प्राप्त कर ली और जीते हुए विभिन्न स्थानों पर अपने अधिकारी नियुक्त कर दिए। इसके पश्चात् बैकुण्ठ और कैलास पर भी अधिकार कर लिया।

देवताओं पर पूर्ववत् ही विपत्तियों का पर्वत टूट पड़ा। वे अत्यन्त दुःखित होकर गिरि-खोहों और निर्जन वनों में छिपकर रहते हुए अपनी प्राण-रक्षा करने लगे। एक दिन उन्होंने विचार किया कि 'लोकपितामह ब्रह्माजी के पास चलकर विपत्ति से मुक्त होने का उपाय पूछना चाहिए।'

उन्होंने ब्रह्माजी के पास जाकर कहा—'प्रभो! दम्भासुर आपके वर के कारण अत्यन्त प्रबल हो उठा है और अनेक प्रकार के अत्याचार कर रहा है। उससे हमारी रक्षा कीजिए।'

ब्रह्माजी बोले—'देवताओ! इस संकट से छुटकारा पाने के लिए हमें भगवान् वक्रतुण्ड की उपासना करनी चाहिए। तुम्हारे साथ मैं भी उनके एकाक्षरी मन्त्र का जप आरम्भ कर रहा हूँ।'

यह कहकर देवताओं के साथ लोकपितामह ने भगवान् वक्रतुण्ड का

पूजन कर उनके मन्त्र का जप किया । अनुष्ठान पूर्ण होने पर वक्रतुण्ड ने प्रकट होकर कहा—'चतुरानन ! मैं प्रसन्न हूँ। आप अपना अभीष्ट वर माँग लीजिए ।'

ब्रह्माजी बोले—'हे प्रभो ! आप समस्त दुःख-दारिद्रों को दूर करने में समर्थ हैं । दुष्ट दम्भासुर हमें अत्यन्त पीड़ित कर रहा है, अतएव हमें उसके भय से मुक्त कीजिए ।'

वरदेव वक्रतुण्ड ने अभय प्रदान किया—'कमलासन ! मैं दम्भासुर की पराजय कर दूँगा । समस्त देव-समाज भय को त्यागकर निश्चिन्त हो जाये। देवराज के द्वारा दम्भासुर को सन्देश भेज दो कि या तो वह मेरी शरण में आ जाय, अन्यथा मैं उसका विनाश कर दूँगा ।'

आज्ञा पाकर इन्द्र दूत रूप में दम्भासुर के पास जाकर बोले—'असुरराज ! मुझे महाप्रभु वक्रतुण्ड ने यहाँ भेजा है । तुम देवताओं को और समस्त अधीनस्थ राज्यों को स्वतन्त्र कर दो और परम प्रभु की शरण में जाओ अन्यथा तुम्हारा विनाश सन्निध है ।'

दम्भासुर ने क्रोधपूर्वक कहा—'अपने प्रभु से कह दो कि उसका और उसके साथियों का अहंकार नष्ट करने में मैं पूर्ण समर्थ हूँ । यदि प्राण-रक्षा चाहते हो तो मेरी शरण में आ जाओ ।'

इन्द्र ने लौटकर वक्रतुण्ड की सेवा में उपस्थित होकर दम्भासुर की दम्भोक्ति से उन्हें अवगत किया, जिसे सुनकर उन्होंने गणों का स्मरण किया और देवताओं को भी सुसज्जित होकर आगे बढ़ने का आदेश दिया।

उधर दम्भासुर दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर बोला—'प्रभो ! वक्रतुण्ड के दूत रूप से इन्द्र ने आकर कहा है कि या तो वक्रतुण्ड की शरण में जाओ, अन्यथा वे तुम्हारा संहार कर देंगे । तो वक्रतुण्ड कौन है ? क्या स्थिति है उसकी ? क्या उसमें इतनी शक्ति

है कि वह हमारा सामना कर सके ?'

शुक्राचार्य बोले–'राजन् ! भगवान् वक्रतुण्ड अमित महिमामय और अभूतपूर्व पराक्रमी हैं । वे गणाध्यक्ष साक्षात् परात्पर ब्रह्म के ही अवतार हैं । यदि तुम दम्भ का त्याग करके उनकी शरण में जाओ तो निश्चय ही तुम्हारा कल्याण होगा । फिर तुम्हें किसी प्रकार का भय रह ही नहीं सकता ।'

यह सुनकर दम्भासुर ने व्यर्थ के दम्भ का त्याग कर दिया और अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी शरण में जाने का निश्चय किया । उसका विचार जानकर अनेक दैत्यों ने विरोध प्रकट किया, किन्तु दम्भासुर ने उनकी बात नहीं मानी और वह तुरन्त ही उनकी शरण में जा पहुँचा ।

दैत्यराज को अपने चरणों में पड़ा देखकर वक्रतुण्ड भगवान् ने उसे अभय और अपनी भक्ति प्रदान की और क्षमा दान देकर दम्भासुर ने सब राजाओं के राज्य लौटा दिए तथा कैलास, बैकुण्ठ एवं स्वर्गादि देवधामों को स्वतन्त्र कर दिया । अब उसका शासन धर्म और न्याय-नीति से सम्पन्न हो गया था ।

९०

२. द्वितीय अध्याय

२. एकदन्त अवतार

सूतजी बोले–'हे शौनक ! अब भगवान् गणेश्वर का एकदन्तावतार का उपाख्यान तुम्हें सुनाता हूँ –

"एकदन्तावतारो वै देहिनां ब्रह्मधारकः ।
मदासुरस्य हन्ता स आखुवाहनगः स्मृतः ॥"

'एकदन्त' संज्ञक अवतार देही ब्रह्म को धारण करने वाला और मदासुर का संहारक है । हे शौनक ! उसका वाहन मूषक कहा जाता है ।

एक बार महर्षि च्यवन के प्रमाद से मद नामक असुर की उत्पत्ति हो गई । उस असुर ने अपने जन्मदाता महर्षि के चरणों में प्रणाम कर पूछा—'प्रभो ! मैं कहाँ रहूँ ? क्या करूँ ?'

महर्षि बोले—'वत्स ! तू पाताल-लोक में शुक्राचार्य के पास जा । वे दैत्यगुरु तेरी सम्पूर्ण व्यवस्था करेंगे । उनसे कहना कि महर्षि च्यवन ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है ।'

मदासुर पाताल में पहुँचकर शुक्राचार्य की सेवा में उपस्थित हुआ और प्रणाम कर बोला—'प्रभो ! मैं आपके भाई महर्षि च्यवन का पुत्र हूँ, इस कारण आपके भी पुत्र के समान हूँ । उन्होंने मेरा नाम मदासुर रखा है और आपका शिष्य बनने के लिए मुझे भेजा है । हे नाथ ! मैं समस्त ब्रह्माण्ड के राज्य की कामना करता हूँ । आप मेरा अभीष्ट प्राप्त कराने का कष्ट करें ।'

शुक्राचार्य बोले—'वत्स ! मैं तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण कराऊँगा । तुम इस एकाक्षरी शक्ति मन्त्र 'ह्रीं' का अनुष्ठान करो । यह कह उन्होंने अनुष्ठान की विधि बताई और मदासुर उन्हें प्रणाम करके घोर अरण्य में तप करने के लिए चला गया ।

मदासुर ने वहाँ शक्ति का ध्यान और जप करते हुए घोर तपस्या की तथा हजारों वर्षों पर्यन्त निराहार और निर्जल रहा । इससे उसका शरीर अस्थियों का अवशेष मात्र और बल्मीक से आवृत हो गया । यहाँ तक कि उसके शरीर के चारों ओर वृक्ष एवं लताएँ उत्पन्न हो गईं । अन्त में सिंहवाहिनी भगवती ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया तथा वह माता के

दर्शन करते ही प्रसन्न होता हुआ विह्वल हृदय से उनके चरण-कमलों में गिर पड़ा।

तदुपरान्त उसने भाव-विभोर होकर माता की स्तुति की–'हे जगज्जननि ! आप ही इस संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली हैं। आप सर्वसमर्था को भक्तों के लिए कुछ भी अदेय नहीं है। माता ! आपके दर्शन करके मैं धन्य हो गया हूँ। आप मुझपर कृपा कीजिए।'

भगवती ने वर प्रदान किया–'वत्स ! तू ब्रह्माण्ड का स्थिर एवं निष्कंटक राज्य प्राप्त करेगा। तुझे कभी रोग नहीं सतायेगा और समय-समय पर तेरी इच्छाएँ पूर्ण होती रहेंगी।'

वर देकर देवी अन्तर्धान हो गईं। मदासुर भी प्रसन्न मन से अपने स्थान पर लौटा तथा वहाँ जो नगर था उसे अपने अधिकार में करके उसे अत्यन्त वैभवशाली बनाया। फिर उसने प्रमदासुर की अत्यन्त सुन्दरी 'लालसा' नाम की कन्या से विवाह किया।

उसकी वीरता और वैभव की बात सर्वत्र फैलने लगी। दूर-दूर के बड़े-बड़े पराक्रमी असुर उससे मित्रता करने लगे। बहुत से दैत्य तो वहाँ आकर ही बस गये। फिर मदासुर दैत्यगुरु शुक्राचार्य को प्रार्थनापूर्वक वहाँ ले गया और उन्हें अपना राजपुरोहित बनाकर रखा। शुक्राचार्य ने उसका दैत्यराज के पद पर अभिषेक कर दिया।

मदासुर द्वारा दिग्विजय करना

इस प्रकार मदासुर की शक्ति बढ़ने लगी। उसके राज्य में दैत्यों की बहुलता थी, इसलिए धर्म-कर्म का अभाव हो गया। उसके तीन पुत्र भी बड़े वीर प्रतापी हुए जिनके नाम विलासी, लोलुप और धनप्रिय थे।

अब उसने अपने राज्य का विस्तार आरम्भ किया सर्वप्रथम समस्त पृथ्वी को अधिकार में करने के लिए उसने राजाओं से युद्ध किया। अनेक

राजा उससे युद्ध कर मारे गए और अनेकों ने भयभीत होकर बिना युद्ध के ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली । जो स्वाभिमानी थे, वे राज्य छोड़कर चले गए । इस प्रकार पृथ्वी पर उसका पूर्ण साम्राज्य स्थापित हो गया ।

अब उसने स्वर्गलोक पर आक्रमण किया । देवराज इन्द्र ने अपनी विशाल सेना के साथ उसे बाहर ही रोकने की चेष्टा की, किन्तु असुर भगवती के बल से प्रबल हो चुका था, इसलिए उसका तिरस्कार न किया जा सका । फलस्वरूप देवताओं की पराजय हुई । इन्द्र अपना राज्य छोड़कर भाग गये । स्वर्ग पर मदासुर का पूर्ण अधिकार हो गया ।

इसके पश्चात् उसने सोचा–'कैलास का वह परम योगी कहलाने वाला अद्‌भुत ही देवताओं का पक्षपाती है, इसलिए उसे भी वश में करना आवश्यक है ।' ऐसा निश्चय कर उसने अपनी विशाल वाहिनी के साथ आक्रमण कर दिया । शिवगण उसका सामना करने में विफल रहे । शूलपाणि त्रिलोचन का वश न चला तो वे भाग खड़े हुए ।

अतएव कैलास को भी मदासुर ने शीघ्र ही अपने अधिकार में कर लिया ।

इस प्रकार तीनों लोक तो उसके अधीन हो रहे थे । यह विशिष्ट दिव्य लोक भी उसके शासनाधिकार में आ गये । अब समूचे ब्रह्माण्ड पर मदासुर का शासन हो गया । सर्वत्र अत्याचार, अनाचार का बोलबाला था । धरती पर स्वाहा, स्वधा, वषट्कार आदि का लोप हो गया । ईश्वर-पूजा निषिद्ध कर दी गई । वेदोक्त धर्म का कहीं पता न था । केवल मदासुर द्वारा निर्मित धर्म ही वैध एवं मान्य थे । उनसे भिन्न धर्म का पालन करने वालों को अधिकतम दण्ड दिया जाता था ।

उसके उत्पीड़न से घर त्यागकर भागे हुए देवगण वन-पर्वतों को मारे-मारे फिर रहे थे । उन्हें उस विपत्ति से बचने का कोई उपाय समझ में नहीं आता था । एक दिन वे महर्षि सनत्कुमार के पास पहुँचे और

प्रणाम कर निवेदन किया–'प्रभो ! मदासुर के अत्याचारों से संसार त्रस्त हो रहा है । उसने स्वर्ग पर भी अधिकार कर लिया है । हम सब उसके भय से वन-पार्वतों में छिपे-छिपे फिर रहे हैं, हे मुनिनाथ ! हमपर दया करके वह उपाय बताइये जिससे राक्षसों का संहार हो सके ।'

सनत्कुमार बोले–'देवताओ ! यदि तुम भगवान् एकदन्त की उपासना करके उन्हें प्रसन्न कर लो तो निश्चय ही तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो सकता है । वे भगवान् परम दयालु और सर्वशक्तिमान् हैं ।'

देवताओं ने निवेदन किया–'प्रभो ! उन भगवान् की प्रसन्नता का साधन क्या है ? उनके रूप, मन्त्र, ध्यानादि के विषय में हमें पूर्ण रूप से बताने की कृपा कीजिए ।'

महर्षि ने कहा–'देवगण भगवान् एकदन्त परात्पर ब्रह्म गणेश्वर ही हैं, जो समस्त संसार के सर्ग, पालन और जय के एकमात्र कारण हैं । उनका एकाक्षरी मन्त्र 'गं' है, जिसका जप करना चाहिए । उनका एकदन्त नाम दो विशेषताओं से युक्त है, क्योंकि वह एक और दन्त दो पदों से बना है । 'एक' शब्द माया सूचक है । वह माया देह रूपिणी और विलासवती है तथा 'दन्त' शब्द सत्तास्वरूप होने से परमात्मा का सूचक है । वस्तुतः गणेशजी माया के धारक और स्वयं सत्तामात्र से स्थित रहते हैं । इसलिए वेदवादी विद्वज्जन उन परमात्मा स्वरूप को 'एकदन्त' कहते हैं ।'

'देवताओ ! उन परात्पर ब्रह्म का 'एकदन्त' नाम का अर्थ हुआ अब उनके ध्यान का प्रकार सुनो–

"एकदन्तं चतुर्बाहुं गजवक्त्रं महोदरम् ।
सिद्धि-बुद्धि-समायुक्तं मूषकारूढमेव व ॥
नाभिशेषं पाशहस्तं परशुं कमलं शुभम् ।
अभयं दधतं चैव प्रसन्नवदनाम्बुजम् ।
भक्तेभ्यो वरदं नित्यमभक्तानां निषूदनम् ॥"

'उस गणेश्वर के एक दाँत, चार बाहुएँ हैं, मुख हाथी के समान और बड़ा है । वे सदैव सिद्धि-बुद्धि से सम्पन्न और मूषक की स्वारी करने वाले हैं । उनकी नाभि में शेषनाग और हाथों में पाश, परशु, सुन्दर कमल और अभय मुद्रा सुशोभित हैं । उनका मुख-कमल सदैव प्रसन्नता से खिला हुआ रहता है । वे भक्तों को सदा वर प्रदान करने वाले और अभक्तों का विनाश करने वाले हैं ।'

इस प्रकार महर्षि देवताओं को उपदेश देकर मौन हो गये । तब देवगण एकान्त वन-प्रान्त में जाकर भगवान् एकदन्त की उपासना करने लगे । इस प्रकार तपस्या करते-करते उन्हें सौ दिव्य वर्ष व्यतीत हो गए । भूखे-प्यासे रहने के कारण उनके शरीर सूखकर अस्थि-पंजर मात्र रह गये थे । उनकी यह दशा एवं घोर तपश्चर्या देखकर भगवान् प्रसन्न हो गए । उन्होंने दर्शन देकर कहा, 'देवताओ ! वर माँगो ।'

भगवान् को अपने समक्ष साक्षात् प्रकट हुए देखकर अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और अनेक प्रकार से स्तुति करने लगे– 'हे सर्वेश्वर ! हे प्रभो ! मदासुर के अत्याचार बहुत बढ़ गये हैं । उनके शासन में देवताओं के स्थान छीन लिये गए और मुनियों एवं ब्राह्मणों को समस्त कर्मकाण्ड से वंचित कर दिया गया है । उसकी क्रूरता के कारण समस्त प्राणी त्रस्त हैं । इसलिए आप कृपया सभी विघ्नों को दूर करने की कृपा करें ।'

एकदन्त ने वर प्रदान किया– 'देवताओ ! तुम जो कहते हो वही होगा । अब तुम निश्चिंत हो जाओ ।' यह सुनकर हर्षित हुए देवताओं ने उन्हें प्रणाम किया और सुरक्षित स्थान में एकत्र होने लगे ।

उधर एक दिन देवर्षि नारद मदासुर के पास पहुँचे । मदासुर ने उन्हें सम्मानपूर्वक आसन दिया और हाथ जोड़कर बोला– 'कहिए देवर्षे ! संसार में कोई नवीन बात हुई हो तो बताइए ।'

नारदजी ने कहा–'राजन् ! कोई विशेष बात तो नहीं है, केवल इतना ही कि देवताओं और ब्राह्मणों ने कठोर तपश्चर्या करके भगवान् एकदन्त को प्रसन्न कर लिया है, जिसके फलस्वरूप उन्हें तुमपर विजय प्राप्त करने का वर मिल गया है । इससे प्रबल हुए वे देवता तुम्हारा वध करने के लिए तत्पर हो रहे हैं ।'

सुनते ही मदासुर तिलमिला उठा । उसने नारदजी से पूछा–'मुनिवर ! यह 'एकदन्त' कौन है ? कहाँ रहता है ? उसका कैसा स्वरूप है ? यह सब बातें मुझे स्पष्ट रूप से बताइए ।'

ऋषि बोले–'दैत्यराज ! वे अत्यन्त बलवान् देवता हैं, उनका निवास त्रैलोक्य में सर्वत्र है । वे चाहें जब, चाहे जहाँ प्रकट हो सकते हैं । उनके एक दाँत, हाथी जैसा मुख एवं चार भुजाएँ हैं तथा वे मूषक पर सवार रहते हैं ।'

नारदजी चले गए । मदासुर ने अपने सेनाध्यक्ष को बुलाकर कहा–'विशाल सेना को सुसज्जित करो । हमें शीघ्र ही उस 'एकदन्त' नामक जन्तु से युद्ध करने चलना है ।'

असुरों की विशाल वाहिनी तैयार हुई । उसमें हाथी, घोड़े, रथ, ऊँट आदि पर सवार दैत्यवीर एवं विकट पदाति थे । आगे-आगे अनेक प्रकार के रण-वाद्य बज रहे थे । सेना के चलने से ऐसी धूल उड़ रही थी कि दिशाएँ दिखाई ही नहीं दे रही थीं । मार्ग चलते समय असुरों ने अनेक प्रकार के अपशकुन देखे, जिससे वे भयभीत होने लगे ।

दैत्यसेना 'एकदन्त' की खोज में बिना निर्दिष्ट स्थान के इधर-उधर घूम रही थी । तभी सहसा सबने देखा कि सामने एक महाकाय नर-कुंजर मूषक पर सवार चला आ रहा है । उसके मुख में एक दाँत और चार भुजाओं में परशु, पाश आदि आयुध विद्यमान हैं ।

उस विकट रूप को देखकर भयभीत असुर पुकार उठे–'यह

महाकाय एवं अत्यन्त भयानक नर-कुंजर कौन है, जिसका वाहन मूषक है ? ऐसा तो कभी न देखा न सुना ।'

मदासुर को ध्यान आया–'नारदजी ने ऐसा ही रूप तो बताया था । फिर भी पता करना चाहिए कि यह कौन है ?' उसकी आज्ञा सुनकर एक चतुर असुर दूत रूप में एकदन्त के पास जाकर बोला–'आप कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? इस प्रकार भ्रमण करने का आपका क्या प्रयोजन है ?'

एकदन्त ने उपेक्षापूर्वक असुर-दूत की ओर देखा और बोले–'तुम कौन हो ? कहाँ से आये और मुझसे क्या चाहते हो ?' यह कहते हुए उन्होंने सहज रूप से अपने परशु को कुछ सँभाला ।

दूत इस भय से कि कहीं प्रहार न कर दें, कुछ पीछे हटा और हाथ जोड़कर प्रणाम करता हुआ बोला–'प्रभो ! मैं तो दूत हूँ, इसलिए अवध्य भी । हे नाथ ! मुझे त्रिलोकीनाथ मदासुर ने आपकी सेवा में भेजा है । वे आपके अद्‌भुत एवं अपूर्व रूप को देखकर विस्मित हो रहे हैं । उक्त बातें वे जानना चाहते हैं, इसलिए कृपा कर उनकी शङ्का का निवारण कीजिए ।'

भगवान् एकदन्त उसे भयभीत देखकर हँसे और आश्वस्त-सा करते हुए बोले–'असुर-दूत ! मैं अपने ही आनन्द में निवास करता हूँ । देवताओं और ऋषि-मुनियों की प्रार्थना पर स्वानंद से यहाँ इसीलिए चला आया हूँ कि मुझे मदासुर का ससैन्य वध करके देवताओं और ऋषियों आदि को सुखी करना है । तुम उसके दूत हो, इसलिए तुम उससे जाकर कहो कि यदि वह जीवित रहने की कामना करता है तो देवताओं, ऋषि-मुनियों एवं ब्राह्मणों आदि से द्वेष छोड़कर धर्म-नीति पर चले और मेरी शरण में आ जाय, अन्यथा मैं उसे मार डालूँगा ।'

यह सुनकर असुर-दूत उन्हें प्रणाम कर लौट गया और उसने मदासुर को समस्त संवाद सुनाया । दैत्यराज समझ गया कि यह वही है, जिसके

द्वारा देवता आदि को वर प्राप्त होने की बात नारद जी ने कही थी। उसने सोचा कि 'यह कैसा भी महाकाय और वीर क्यों न हो, मैं इसका वध करने में समर्थ हूँ।'

मदासुर का गर्व-भंजन

ऐसा विचार कर उसने अपनी सेना को युद्ध का आदेश दिया और स्वयं 'एकदन्त' के समक्ष पहुँचकर बोला—'अरे महाकाय जन्तु ! तू मेरे पराक्रम को नहीं जानता ! मैं अभी तुझे धराशायी किए देता हूँ। देख, मेरा रण कौशल।'

यह कहकर उसने एक तीक्ष्ण बाण लेकर धनुष पर चढ़ाया। यह क्या ? वह बाण छूटने से पूर्व ही एकदन्त की ओर खिंचा चला गया और उनके चरणों में जा पड़ा। मदासुर ने आश्चर्यपूर्वक बाण लिया। किन्तु उसके चलने से पहिले ही उसके वक्षःस्थल में तीव्र परशु प्रविष्ट हो गया। वहाँ से रक्त की धार बह चली और असुर धरती पर गिरकर मूर्च्छित हो गया।

किन्तु, वह मरा नहीं, कुछ देर में ही उसे होश आ गया। उसने अपने वक्ष पर प्रहार करने वाले परशु को हाथ में उठाकर देखा, किन्तु तभी वह उसके हाथ से छूटकर भगवान् एकदन्त के कर-कमल में जा पहुँचा। इससे उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ।

मदासुर सोचने लगा—'ऐसा क्यों हुआ ? क्या इसमें किसी अद्भुत शक्ति का चमत्कार है ? क्या यह एकदन्त ही सर्वेश्वर सर्वात्मा एवं सर्व समर्थ परात्पर ब्रह्म हैं ? वस्तुतः यही सम्भव है। निश्चय ही यह जगत् के परम कारण परमात्मा ही हैं।'

ऐसा ज्ञान होते ही वह तुरन्त उनके चरणों में जा पड़ा। फिर उठकर उसने हाथ जोड़ते हुए स्तुति की—'प्रभो ! मैं आपको जान नहीं सका था,

आज आपके दुर्लभ दर्शन करके मैं धन्य हो गया हूँ। हे नाथ ! मैं आपकी शरण में उपस्थित हूँ। मुझे क्षमा करिये, क्षमा करिये ।'

एकदन्त ने प्रसन्न होकर कहा–'मैं सन्तुष्ट हूँ, वर माँग लो ।' यह सुनकर मदासुर ने निवेदन किया–'मुझे अपनी सुदृढ़ भक्ति प्रदान कीजिए प्रभो ! और आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूँ ?'

भगवान् ने कहा–'असुरराज ! तुझे मेरी सहज भक्ति प्राप्त होगी । अब तुम स्वर्गादि स्थानों को छोड़ दो और जहाँ देवी-सम्पदा से पूर्ण पूजन, आराधना किया जाता हो, वहाँ प्रवेश नहीं करना तथा आसुरी भाव के कर्मफल-भक्षण की तुम्हें छूट है । अब तुम पाताल में जाकर आनन्दपूर्वक रहो ।'

भगवान् एकदन्त की आज्ञानुसार मदासुर ने स्वर्ग, पृथ्वी आदि पुण्य स्थानों का त्याग कर दिया और वह पाताल में जाकर रहने लगा । देवताओं को अपने लोक की प्राप्ति हुई तथा ऋषि-मुनि आदि निर्भय होकर यज्ञ तप आदि कर्म करने लगे ।

शौनकजी बोले–'हे सूतजी ! आपने भगवान् एकदन्त की यह परम सुखदायिनी कथा सुनाई । इससे मैं अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हो रहा हूँ। हे प्रभो! इन भगवान् के जो अन्य चरित्र हों तो भी बताने की कृपा करें। क्योंकि ऐसी कथाएँ कहने में आप ही समर्थ हैं ।'

सूतजी ने कहा–'शौनक ! भगवान् एकदन्त की बहुत-सी कथाएँ हैं। एक बार बैकुण्ठनाथ श्रीहरि ने उनकी उपासना की थी तो एकदन्त ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिए और अभिलषित मणिरत्न चिन्तामणि प्रदान की । भगवान् विष्णु ने उस मणि को एक बार देवराज इन्द्र को दे दिया तथा इन्द्र ने विष्णु के अंशावतार महर्षि कपिल को वह मणि दे दी ।'

उस मणि की महिमा और आकर्षण से आकर्षित हुए गणासुर नामक राक्षस ने उसे महर्षि कपिल से बलपूर्वक छीन लिया । तब महर्षि ने

भगवान् गणेश्वर से गणासुर को पराजित करने की प्रार्थना की। भगवान् गणपति ने गणासुर को मार कर वह मणि पुनः महर्षि को प्राप्त करा दी। तब महर्षि कपिल ने वह चिन्तामणि आदर सहित भगवान् एकदन्त के कण्ठ में पहिना दी। इस प्रकार हे शौनक ! मैंने भगवान् एकदन्त का यह चरित्र संक्षेप में तुम्हें सुना दिया है।

शौनक बोले—'हे प्रभो ! हे सूतजी ! अब भगवान् गणेश्वर के अन्य आविर्भाव का उपाख्यान कहने की कृपा करें। वस्तुतः इन कथाओं में मेरा मन बहुत लग रहा है।'

९२

३. तृतीय अध्याय

३. महोदरावतार का वर्णन

सूतजी बोले—'हे शौनक ! तुम्हारी अत्यन्त प्रीति देखकर अब मैं गणेशजी के 'महोदरावतार' की कथा कहता हूँ। उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो—

"महोदर इति ख्यातो ज्ञानब्रह्म-प्रकाशकः।
मोहासुरस्य शत्रुर्वै आखुवाहनगः स्मृत ॥"

'शैनक ! 'महोदर' नाम से विख्यात गणेशजी का अवतार ज्ञानब्रह्म का प्रकाश करने वाला है। उन मूषकवाहन को मोहासुर के वध करने वाला कहा जाता है।'

प्राचीनकाल की बात है—तारक नाम का एक महा भयंकर एवं प्रबल पराक्रमी दैत्य हुआ था। उसने ब्रह्माजी को प्रसन्न करने के लिए घोर तपश्चर्या की थी। उसके तप से प्रसन्न हुए ब्रह्माजी ने प्रकट होकर कहा—'वत्स ! अभीष्ट वर माँगो।'

उसने प्रणाम कर निवेदन किया—'प्रभो ! मैं तीनों लोकों का अधिपति हो जाऊँ और किसी से भी पराजित न होऊँ ।' यह सुनकर ब्रह्माजी ने कह दिया—'ऐसा ही हो ।'

अब तो दैत्य ने अपनी विस्तारवादी नीति अपनाई । धरती, स्वर्ग और पाताल का कोई भी भाग ऐसा न छोड़ा, जहाँ स्वाधीनता रही हो । समस्त जन-जीवन त्रस्त हो उठा और देवता, ऋषि-मुनि एवं सज्जनवृन्द पीड़ित हो उठे । धर्म-कर्म समाप्त हो गया ।

देवता उस असुर के भय से दुर्गम अरण्यादि स्थानों में छिपे-छिपे फिर रहे थे । मुनियों और ब्राह्मणों को भी यज्ञादि कर्म छिपकर ही करने होते थे । एक बार उन्होंने विचार किया कि भगवान् शङ्कर को इस विपत्ति से बचाने के लिए जगाना चाहिए ।

बहुत जप, तप, होम, ध्यान, भजन, कीर्तनादि करने पर भी उनकी उपासना का कोई फल नहीं निकला । क्योंकि भगवान् शङ्कर उस समय समाधि में लीन थे, इसलिए वे देवताओं और मुनियों की आराधना की ओर ध्यान नहीं दे सके ।

साधना के सफल न होने की अवस्था में देवताओं आदि ने भगवती शिवा की आराधना की तो उन्होंने अत्यन्त रूपवती भीलनी का वेश बनाया । उस समय उनकी किशोरावस्था और मनमोहक लावण्य था । वे शिवजी के समक्ष जाकर सुगन्धित पुष्प एकत्र करती हुई कामारि के मन में अत्यन्त मोह उत्पन्न करने लगीं ।

पार्वतीजी की लीला

उमानाथ की समाधि भङ्ग हो गई । उन्होंने बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करने वाली उस लावण्यमयी भीलनी को ज्योंही मोहाभिभूत दृष्टि से देखा त्योंही वह अदृश्य हो गई । उस अवस्था में भगवान् शङ्कर

के द्वारा अत्युग्र महापुरुष रूप में जिस मोह की उत्पत्ति हुई वह अत्यन्त सुन्दर था। शिवजी की स्मृति जाग्रत् हुई। वे समझ गये कि यह सब पार्वती की ही लीला है, जो उन्होंने कामदेव के आश्रय से की है। इसलिए उन्होंने अत्यन्त क्रोधपूर्वक उस भयकारी कामदेव को शाप देकर उसकी देह को तुरन्त ही दग्ध कर दिया।

कामदेव अत्यन्त व्याकुल हुआ। शरीर के दग्ध होने पर वह शाप-मुक्त होने का उपाय सोचने लगा। फिर वह निश्चल भाव से महोदर की आराधना करने लगा। उसकी तपस्या से महोदर प्रकट होते हुए बोले—'कामदेव ! वर माँगो।'

कामदेव ने भगवान् महोदर को अपने सामने देखा तो तुरन्त उनके चरणारविन्द में गिर गया और फिर हाथ जोड़कर गद्गद कण्ठ से उनका स्तवन करता हुआ बोला—'प्रभो ! मुझे भगवान् शङ्कर ने शापित कर दिया है, जिससे मैं दग्ध हो गया हूँ। कृपा कर आप मुझे नीरोगता प्रदान कीजिए, जिससे मेरा कष्ट दूर हो जाय।'

महोदर ने उससे कहा—'वत्स ! शिव के शाप को अन्यथा करना तो असम्भव है। फिर भी मैं तुम्हारे सुख के लिए अन्य शरीर प्राप्त करा सकता हूँ। तुम वहाँ आनन्दपूर्वक रह सकते हो।'

"यौवनं स्त्री च पुष्पाणि सुवासानि महामते।
गानं मधुरसश्चैव मृदुलाण्डज-शब्दकः ॥२॥
उद्यानानि वसन्तश्च सुवासाश्चन्दनादयः।
सङ्गो विषयसक्तानां नराणां गुह्यदर्शनम् ॥३॥
वायुर्मृदुः सुवासश्च वस्त्राण्यपि नवानि वै।
भूषणादिकमेवं ते देहा नाना कृता मया ॥४॥

तैर्युतः शङ्करादींश्च जेष्यति त्वं पुरा तथा ।
मनोभूः स्मृति भूरेवं त्वन्नामानि भवन्तु वै ॥"

'हे कामदेव ! हे महामते ! तुम यौवना स्त्री, सुवासित पुष्प, मधुर गायन, मकरन्द रस तथा पक्षियों के मधुर कलश में निवास करो । उद्यान (बाग-बगीचे), बसन्त ऋतु एवं चन्दनादि भी तुम्हारे निवास-स्थान हैं । विषयी व्यक्तियों की सङ्गति, गुह्याङ्गों का प्रदर्शन, मन्द पवन, सुन्दर घर, नवीन वस्त्राभूषण यह सब मैंने तुम्हारे शरीर रूप में रचे हैं । तुम इन शरीरों से युक्त होकर पूर्ववत् ही शङ्करादि देवताओं पर विजय प्राप्त कर लोगे। इस प्रकार तुम्हारे 'मनोभूः' एवं 'स्मृतिभूः' नाम होंगे ।'

कामदेव ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—'प्रभो ! यह तो सब अव्यक्त शरीर हुए, किन्तु व्यक्त-शरीर की प्राप्ति का भी कुछ उपाय करने की कृपा करें ।'

महोदर बोले—'अच्छा, अनङ्ग ! तू द्वापरयुग में व्यक्त शरीर भी प्राप्त करेगा । द्वापरयुग में परमात्मा श्रीकृष्ण का पृथ्वी पर अवतार होगा, तब तुम उनके पुत्र प्रद्युम्न होगे ।'

कामदेव प्रसन्न हो गया । उसने महोदर भगवान् को प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा कर पुनः स्तुति की, तदन्तर भगवान् महोदर अन्तर्धान हो गए ।

इधर शिवपुत्र षड़ानन ने भी भगवान् गणेश्वर की उपासना की थी । उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर शिवपुत्र षड़ानन को दर्शन दिए और कहा—'वत्स ! वर माँग लो ।'

स्वामी कार्तिकेय बोले—'प्रभो ! मुझे आपकी कृपा के अतिरिक्त और क्या चाहिए । मुझे आप अपनी भक्ति प्रदान कीजिए ।'

गणेश्वर बोले—'वत्स ! मेरी अनन्य भक्ति तो रहेगी ही । मैं तुझे एक वर और देता हूँ—तू अत्यन्त दुराधर्ष तारकासुर के संहार में ही समर्थ

होगा।' यह वर देकर भगवान् गणाध्यक्ष वहीं अन्तर्धान हो गये । उधर कुमार कार्तिकेय अपने घर पधारे ।

सूतजी बोले–'शौनक ! ऐसे-ऐसे अनेकानेक अद्‌भुत चरित्र हैं उन देवाधिदेव महोदर गणपति के जिन्हें सुनकर भक्तों को परमानन्द की और अभक्तों को भय की प्राप्ति होती है ।'

शौनक ने जिज्ञासा की–'फिर क्या हुआ, भगवन् ! क्या वह त्रैलोक्य विजयी तारकासुर कुमार कार्तिकेय के द्वारा मारा गया अथवा किसी अन्य के द्वारा ?'

सूतजी ने कहा–'महोदर भगवान् ने कार्तिकेय को ही उसे मारने का वर दिया था तो वह अन्य किसी के द्वारा कैसे मारा जाता ? जब देवताओं को ज्ञात हुआ कि भगवान् गणेश्वर ने कुमार को वर प्रदान किया है तो सब एकत्र होकर उनके पास पहुँचे और तारक को मारने की प्रार्थना करने लगे । तब कुमार ने शिव-शिवा की आज्ञा ली और शिवगणों की सेना साथ लेकर रणांगण में आ डटे । दोनों ओर की सेनायें भीषण संग्राम में लगी थीं । दोनों पक्ष अपनी-अपनी विजय के लिए जी-तोड़ प्रयत्न कर रहे थे, अन्त में कुमार की सेना प्रबल सिद्ध हुई और कुमार के हाथों से तारकासुर मारा गया । इससे देवगण प्रबल हो गए । उन्होंने तुरन्त ही स्वर्ग का राज हथिया लिया ।'

शौनक ने पुनः पूछा–'हे सूतजी ! भगवान् शङ्कर के मोहित होने से जिस महान् पुरुष मोह की उत्पत्ति हुई थी, उसकी कथा तो वहीं रह गई । प्रभो ! उस पुरुष ने कब, क्या किया, यह मुझे बताइए ।'

सूतजी बोले–'शौनक ! वह भगवान् भास्कर की कृपा से बहुत प्रबल असुर हुआ था । उसे दैत्यगुरु ने अपना शिष्य बनाया और सूर्य की उपासना का आदेश दिया । उसने एकान्त अरण्य प्रान्त में जाकर निराहार रहते हुए एक हजार दिव्य वर्षों तक तपश्चर्या की थी ।

उसका घोर तप देखकर भगवान् सूर्य को कृपा करनी पड़ी। उन्होंने सन्तुष्ट होकर दर्शन दिए और वर माँगने को कहा। मोहासुर ने उनके चरणारविन्दों में प्रणाम कर पूजन किया और फिर स्तुति करते हुए निवेदन किया—'प्रभो! मुझे सर्वत्र विजय प्राप्त हो और मैं त्रिलोक का अधीश्वर बन जाऊँ। साथ ही मुझे कोई रोग न हो।'

भास्कर 'एवमस्तु' कहकर अन्तर्धान हो गए। मोहासुर अत्यन्त प्रसन्न होकर घर लौटा और शुक्राचार्य को वर प्राप्ति की बात सुनाई। तब उन्होंने उस असुरराज को दैत्याधिपति के पद पर अभिषिक्त किया। फिर दैत्य-प्रवर प्रमादासुर ने अपनी पुत्री मदिरा का उसके साथ विवाह कर दिया।

९५ मोहासुर द्वारा ब्रह्माण्ड विजय-वर्णन

तदुपरान्त उसने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। समस्त देवता, मनुष्य, नाग, यक्ष, किन्नर आदि पर विजय प्राप्त कर वह त्रैलोक्याधिपति बन बैठा। उसके क्रूर शासन में देवता एवं मुनि आदि अत्यन्त पीड़ित हो उठे। धर्म-कर्म का लोप हो गया। ब्राह्मणों की जीविका का साधन भी समाप्त हो गया। देवता उसके भय से वन-पर्वतों में छिपे फिर रहे थे। निरीह प्रजा उसके अत्याचारों से त्रस्त हो उठी थी। सभी ने सोचा कि अब क्या किया जाय? इस असुर के उत्पीड़न से किस प्रकार छुटकारा मिले? ऐसी चिन्ता करते हुए देवताओं और ऋषियों से भगवान् भास्कर ने ही प्रकट होकर कहा—'मूषकवाहन महोदर की आराधना करो तुम सब। वे ही प्रभु तुम्हारे सङ्कट दूर करेंगे।'

सूर्य की बात सुनकर देवगणादि ने महोदर भगवान् की प्रसन्नता के लिए घोर तप किया जिससे प्रसन्न हुए गणेश्वर ने प्रकट होकर उनसे पूछा—'क्या चाहते हो?'

सर्वेश्वर एवं समर्थ प्रभु को अपने समक्ष प्रकट हुए देखकर वे सब

अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उनके चरणों में प्रणाम कर गद्‌गद कण्ठ से बोले–'प्रभो ! हमसब मोहासुर के उत्पीड़न से संत्रस्त हो रहे हैं, आप हमारी रक्षा कीजिए ।'

मोहासुर की शरणागति

महोदर ने प्रसन्न होकर अभयदान दिया–'देवताओ ! मुनियो ! तुम सब चिन्ता का त्याग करो । मैं संसार के हितार्थ उस प्रबल दैत्य मोहासुर का संहार कर दूँगा । तुम सब लोग उसके साथ युद्ध करने के लिए आगे बढ़ो ।'

देवर्षि नारद ने मोहासुर को जा बताया कि 'भगवान् महोदर ने तुम्हारे वध का विचार किया है । जब तक तुम्हारा कोई अनिष्ट न हो तब तक उनकी शरण लेने में तुम्हारा कल्याण है ।'

उक्त परामर्श देकर नारदजी चले गए । मोहासुर ने अपने राजपुरोहित शुक्राचार्य से इस विषय में परामर्श किया तो वे बोले–'दैत्यराज ! भगवान् महोदर ही इस समस्त विश्व के कर्त्ता और लय करने वाले हैं । समस्त देवताओं और दैत्यों को भी उन्होंने उत्पन्न किया है । वे प्रभु काल के भी महाकाल हैं । उनके लिए अपना-पराया कोई नहीं है । इसलिए तुम निर्भय होकर उनकी शरण में जाओ तो वे तुम्हें भी अपना लेंगे । अतः तुम अपनी श्रेय कामना से उनको प्रसन्न करके कृपा प्राप्त कर लो ।' तभी महोदर के दूत रूप से भगवान् विष्णु वहाँ पधारे । दैत्यराज ने उन्हें सम्मान सहित आसन दिया और बोला–'कहिए प्रभो ! आप यहाँ किस प्रयोजन से पधारे हैं ?'

विष्णु बोले–'हे मोहासुर ! मैं महोदर का दूत हूँ । उन्होंने यह संदेश दिया है कि यदि तुम देवताओं, मुनियों, ब्राह्मणों एवं समस्त धार्मिक स्त्री-पुरुषों के सुख में व्यवधान उपस्थित न करने का वचन देते हुए उन

दयामय प्रभु की शरण ले लो तो वे तुम्हें क्षमा कर देंगे। अन्यथा रणक्षेत्र में तुम्हारा वध अवश्यम्भावी है।'

मोहासुर का मोह और गर्व भंग हो गया। उसके चित्त में ज्ञान का प्रकाश हुआ और तब वह भगवान् विष्णु से बोला—'हे देवदूत! आप उन भगवान् से जाकर निवेदन करिए कि मैं उनकी शरण ले रहा हूँ। वे मेरे नगर में सादर पधार कर अपने अभिनन्दन का अवसर प्रदान करें।'

विष्णु ने 'साधु! साधु!' कहकर उसकी प्रशंसा की और महोदर के पास लौट गए। महोदर ने उनके द्वारा मोहासुर का सन्देश सुना तो उसके नगर में पधारे। दैत्यराज ने उनका अभूतपूर्व स्वागत किया और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक षोड़शोपचार से पूजन कर स्तुति की और उनकी सभी आज्ञाओं का पालन करने का वचन दिया।

फिर उसने सुदृढ़ भक्ति की याचना की। महोदर ने उसे इच्छित प्रदान किया और अन्तर्धान हो गए। मोहासुर ने सभी आज्ञाओं का पालन कर संसार भर में सुख-शान्ति स्थापित कर दी।

दुर्बुद्धि तथा ज्ञानारि दैत्यद्वय का विनाश वर्णन

सूतजी बोले—'शौनक! हे वत्स! तुमने भगवान् महोदर की महिमा से युक्त यह अद्‌भुत कथा सुनी, अब तुम्हें एक और उपाख्यान सुनाता हूँ, जिसमें भगवान् महोदर की कीर्ति निहित है। उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो—'एक बार दुर्बुद्धि नामक एक दैत्य बहुत प्रबल हो उठा था। अत्याचारों से पीड़ित देवताओं ने भगवान् गजमुख से निवेदन किया कि उनकी रक्षा की जाय। भगवान् ने कृपापूर्वक उन्हें अभय प्रदान किया और दैत्यराज दुर्बुद्धि को मार डाला। उस दैत्य का पुत्र ज्ञानारि भी बड़ा हठी और पराक्रमी था। अपने पिता के मरने पर उसने गजमुख से प्रतिशोध लेने का निश्चय किया।

उसकी प्रार्थना सुनकर दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने उसे भगवान् त्रिलोचन को प्रसन्न करने का परामर्श दिया और साथ ही पंचाक्षरी मन्त्र 'नमः शिवाय' की शिक्षा दी । ज्ञानारि निर्जन वन में जाकर उस मन्त्र से अनुष्ठानपूर्वक तपस्या करने लगा । उसके कठोर तप से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर प्रकट हुए, जिनके दर्शन करके अत्यन्त हर्षित हुए असुर ने सर्वत्र विजय और निर्भयता का वर प्राप्त कर लिया ।

वर देकर भगवान् शंकर अन्तर्धान हो गये और असुर प्रसन्न होकर घर लौटा । फिर उसने विशाल असुरसेना एकत्र कर सब लोकों पर विजय प्राप्त कर ली । अब उसके निरंकुश शासन का सर्वत्र आरम्भ हुआ । उसने सभी कर्मों पर रोक लगा दी और छल, अनीति, अनाचार, असत्य, अधर्म, हिंसा, अपहरण आदि की छूट दे दी । उसके अत्याचारों से धरती काँप उठी ।

धरती ने देवताओं के पास जाकर रक्षा की प्रार्थना की । इधर देवता और ऋषि-मुनि भी विवश, असहाय, अनाश्रय एवं भयभीत हो रहे थे । उन्होंने भगवान् विष्णु के पास जाकर कहा-'प्रभो ! ज्ञानारि के अत्याचारों से पीड़ित हुई धरती आपसे रक्षा प्रार्थना करने के लिए आई है । हे नाथ! उसकी निरंकुशता से हम भी अत्यन्त त्रसित हो रहे हैं । आप हमसब पर कृपा कीजिए ।'

भगवान् विष्णु बोले-'देवताओ ! गणेश्वर की उपासना से यह तुम्हारा दुःख शीघ्र दूर हो सकता है । उनके दशाक्षरी मन्त्र 'गं क्षिप्रप्रसादनाय नमः' का जप करते हुए उन्हीं महोदर भगवान् को प्रसन्न करो ।'

देवताओं ने विष्णु के उपदेश से महोदर की आराधना आरम्भ की, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने विष्णुप्रिया लक्ष्मी जी को स्वप्न देकर कहा-'तुमने पहिले पुत्र की इच्छा की थी, उसे पूर्ण करने के लिए मैं ही तुम्हारे पुत्र रूप से प्रकट होऊँगा ।'

सिन्धुतनया ने प्रसन्नता व्यक्त की और निद्रा भंग होने पर उन्होंने अपनी शय्या पर एक अलौकिक शिशु को लेटा हुआ देखा। हरिप्रिया ने उसे तुरन्त अपने अङ्क में उठा लिया और प्यार करने लगीं। उन्होंने उसी समय पूर्ण आनन्द का अनुभव किया था, इसलिए बालक का नाम भी 'पूर्णानन्द' ही रखा।

उधर महोदैत्य ज्ञानारि के भी पुत्र हुआ था, जिसका नाम उसने सुबोध रखा। वस्तुतः सुबोध यथा नाम तथा गुण ही हुआ। उनके मन में पूर्णानन्द महोदर के लिए अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति का भाव था। वह निरन्तर उन्हीं का स्मरण ध्यान और नाम जप करता रहता। वह अपने पिता के सामने भी भगवान् महोदर का गुणगान किया करता। उसके पिता ज्ञानारि को यह बात सहन नहीं हुई। ज्ञानारि ने पुत्र को बहुत समझाया कि महोदर में कुछ भी सामर्थ्य नहीं है और न ही वह जगदीश्वर ही हैं, जगदीश्वर तो मैं हूँ जो समस्त विश्व पर शासन करता हूँ। इसलिए उसका नाम-स्मरणादि व्यर्थ ही है।' किन्तु सुबोध ने उसकी बात नहीं मानी।

जब ज्ञानारि ने देखा कि उसका पुत्र किसी प्रकार मानता ही नहीं, तो अत्यन्त क्रोधित होकर बोला–'अरे दुष्ट ! बता, तेरा वह पूर्णानन्द महोदर कहाँ है ? मैं उसे वहीं जाकर मार डालूँगा।'

सुबोध बोला–'उन अन्तर्यामी एवं सर्व समर्थ प्रभु को मारना तो दूर, कोई छू भी नहीं सकता। देखो, वे धरती, आकाश, जल, थल, वन, पर्वत, समुद्र, वृक्ष, लता, वल्लरी, पवन, सरोवर, सरिता, अणु, परमाणु आदि सभी में व्याप्त हैं। जितने भी चराचर जीव हैं, उन सभी में प्रभु का निवास है। यहाँ तक कि मुझमें और आपमें भी वे मूषकवाहन महोदर सदैव विद्यमान रहते हैं।

ज्ञानारि ने लाल नेत्रों से घूरते हुए कहा–'यदि तेरा महोदर सर्वत्र है तो दिखाई क्यों नहीं देता ? यदि वह सामने आये तो मैं उसे इसी समय मार डालूँगा।'

तभी एक भयंकर ध्वनि के साथ मूषक वाहन गजमुख प्रकट हो गए । ज्ञानारि यह निश्चय भी न कर पाया कि यह कौन है ? कहाँ से आया है ? तभी महोदर ने उसे मार डाला । उसके मरते ही समस्त संसार में सुख-शान्ति स्थापित हो गई ।

४. चतुर्थ अध्याय

४. गजाननावतार

सूतजी बोले–'हे शौनक ! अब मैं भगवान् गणेश्वर के 'गजाननावतार' की कथा कहता हूँ । तुम ध्यान से श्रवण करो–

"गजाननः स विज्ञेयः सांख्येभ्यः सिद्धिदायकः ।
लोभासुरप्रहर्ता वै आखुगश्च प्रकीर्तितः ॥"

'हे शौनक ! गणेशजी का जो अवतार 'गजानन' से जाना जाता है, वह सांख्य योगियों के लिए सिद्धि का देने वाला है । क्योंकि वह सांख्य-ब्रह्म का धारक है । उस अवतार में उन्होंने लोभासुर का विशेष रूप से संहार किया है । उस अवतार को भी विद्वज्जन मूषकवाहन ही कहते हैं ।

इस अवतार की कथा इस प्रकार है कि एक बार भगवान् शंकर के दर्शन की अभिलाषा से धनेश्वर कुबेर कैलास पर्वत पर गये थे । उस समय जगद्वन्द्य शिवजी के पास ही जगज्जननी शिवा भी विराजमान थीं । उनके उस रूप को धनपति कुबेर लुब्ध दृष्टि से देखने लगे । यह देखकर शिवा को क्रोध आ गया और उन्होंने कुबेर को आग्नेय दृष्टि से देखा । इससे अत्यन्त भय को प्राप्त हुए कुबेर से लोभ नामक एक भयंकर असुर की उत्पत्ति हुई, जो कि जन्म से अत्यन्त पराक्रमी और क्रूर था । उसने

कुबेर से पूछा–'मैं कहाँ जाकर रहूँ ?' कुबेर बोले–'तुम शुक्राचार्य के पास जाओ, वे ही तुम्हारी व्यवस्था करेंगे ।'

लोभासुर दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास जाकर उन्हें प्रणाम करता हुआ बोला–'ब्रह्मन् ! मुझे धनेश्वर ने आपकी सेवा में आने को कहा है, मैं उनका पुत्र लोभ हूँ। आप मुझपर कृपा कीजिए ।'

आचार्य ने कहा–'वत्स ! तुम भगवान् शंकर को प्रसन्न करने में पूर्ण समर्थ हो । उन्हीं के द्वारा तुम्हारा भी कल्याण होगा ।'

लोभासुर उन्हें प्रणाम करके निर्जन वन में गया और स्वच्छ जल में स्नान कर, शुद्ध वस्त्र पहिनकर शुक्राचार्य की बताई विधि से भस्म धारण की और भगवान् त्रिपुरारि के ध्यानपूर्वक पंचाक्षरी मन्त्र का जाप करने लगा । इस प्रकार वह दीर्घकाल तक निराहार रहकर तपस्या करता रहा जिससे उसका शरीर बल्मीक हो गया । जब उसकी घोर तपस्या पूर्ण हुई तो भगवान् शंकर ने साक्षात् प्रकट होकर कहा–'वत्स ! वर माँगो ।'

लोभासुर ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया और गद्गद कण्ठ से स्तुति करने के बाद बोला–'प्रभो ! मुझे त्रिलोक जय में समर्थ और निर्भय बना दीजिए ।'

शिवजी इच्छित वर देकर अन्तर्धान हो गए । लोभासुर ने प्रसन्न मन से अपने अभ्युदय के प्रयत्न आरम्भ किए । प्रमुख असुरों से मिलकर उन्हें अपने पक्ष में खड़ा किया और फिर दैत्यसेना एकत्र कर पृथ्वी जय के लिए चल पड़ा । एक-एक करके उसने सभी राजाओं को परास्त कर धरती पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया ।

लोभासुर द्वारा राज्य-विस्तार वर्णन

इस बीच लोभासुर ने असुरों की विशाल सेना एकत्र कर ली थी । अपनी अत्यन्त बढ़ी हुई शक्ति देखकर उसने देवलोक पर आक्रमण कर

दिया। भीषण युद्ध हुआ और स्वर्ग पर भी असुर की विजय हुई। उसने स्वर्ग पर अधिकार कर वहाँ अपना एक अधिकारी नियुक्त कर दिया।

इन्द्र भागकर बैकुण्ठ पहुँचे। उन्होंने लोभासुर की विजय और अपनी पराजय का समाचार सुनकर रमानाथ से उसे मारने की प्रार्थना की तो रमानाथ देवसेना के साथ असुर से युद्ध करने चल पड़े। घोर युद्ध हुआ, किन्तु दैत्यराज को वर प्राप्त होने के कारण भगवान् श्रीहरि को भी उसके सामने से हटना पड़ा।

अब तो असुर का साहस और भी बढ़ा। उसने सोचा—'युद्धकाल में रुद्र अधिकतर चतुर हैं, इसलिए अपने इस उत्कर्ष काल में उन्हें भी वश में कर लेना चाहिए।' ऐसा निश्चय कर उसने असुरों की विशाल वाहिनी के साथ कैलास पर आक्रमण कर दिया।

शिवजी को ध्यान आया कि 'यह वही लोभासुर है जिसने मुझसे त्रैलोक्य-विजय का वर प्राप्त किया था। इसलिए इससे युद्ध करने से कोई लाभ नहीं होगा।' इतने में उनके पास असुर का एक दूत आया, उन्हें प्रणाम कर कहा—'उमानाथ ! लोभासुर ने सन्देश दिया है कि आप कैलास छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जायें, अथवा युद्ध करें।' यह सुनकर उन्होंने कैलास छोड़ देना स्वीकार कर लिया और वे तुरन्त सुदूर वन-प्रान्त में चले गए।

अब लोभासुर पूर्ण रूप से स्वच्छन्द और निरंकुश था। उसे किसी का किंचित् भय नहीं था। उसने तीनों लोकों में यह आदेश प्रसारित करा दिया कि कोई जप, तप, यज्ञ, दान, पुण्य आदि कर्म न करे, अन्यथा दण्डित होगा।' फलस्वरूप सर्वत्र छल-कपट, चोरी, अपहरण आदि की घटनाएँ होने लगी।

देव या ऋषि-मुनि और विप्रगण सभी बहुत दुःखित थे। उन्होंने परस्पर में विचार किया कि असुर का वध किस प्रकार हो ? तभी रैभ्य

मुनि ने कहा—'असुर को मारने के लिए भगवान् गजानन की कृपा प्राप्त होना बहुत आवश्यक है । वे प्रभु उसे इच्छा मात्र से ही परास्त करने में समर्थ हैं ।'

गजमुख का देवताओं को आश्वासन

सभी को उनका परामर्श बहुत हितकर प्रतीत हुआ और तब वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक गजमुख की उपासना करने लगे । उस समय उन्होंने विधिपूर्वक उनका षोड़शोपचार पूजन किया और मन्त्र-जप पूर्वक तपश्चर्या में रत हो गये । उनकी भक्ति देखकर भगवान् गजानन ने कृपापूर्वक उन्हें अपना दर्शन दिया । देवता आदि ने भगवान् को अपने समक्ष देखा तो सभी ने धरती में अपने-अपने मस्तक टेककर उन्हें प्रणाम किया और स्तवन के पश्चात् लोभासुर के अत्याचारों की बात सुनकर उनसे दया की प्रार्थना करने लगे ।

भगवान् गजानन ने उन्हें आश्वासन दिया—'देवगण ! मुनिगण ! एवं ब्राह्मणो ! घबराओ मत, मैं लोभासुर को हराकर तुम सबको सुख प्रदान करूँगा ।'

फिर उन्होंने शिवजी से कहा—'कामारि ! आप लोभासुर के पास जाकर कह दीजिए कि देवता आदि के छीने राज्यों को लौटा दे तथा अधर्म का त्याग कर दे, अन्यथा संग्रामभूमि में मैं उसका वध कर डालूँगा ।'

शिवजी लोभासुर के पास पहुँचे और उन्होंने उसे भगवान् गजानन का सन्देश यथावत् सुना दिया और परामर्श दिया कि उनकी आज्ञा पालन में ही उसकी भलाई है । इसलिए तुरन्त उनकी शरण में चला जाय ।

उस समय दैत्यगुरु शुक्राचार्य भी वहाँ उपस्थित थे । उन्होंने भी भगवान् शंकर के परामर्श का अनुमोदन किया और उसे समझाया—'राजन् !

श्रीगजानन समस्त लोकों के स्वामी, सभी प्राणियों के ईश्वर एवं समर्थ परात्पर ब्रह्म हैं। वही परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के भी उत्पन्न कर्त्ता हैं, अथवा यह तीनों महान् देव उन्हीं के तीन रूप हैं, जिनका कार्य सर्ग, पालन और लय करना है। इसलिए तुरन्त ही उनकी शरण में जाकर अपने जीवन को धन्य बना लो।'

'लोभासुर समझ गया कि परम प्रभु गजानन भगवान् की शरण लेने में ही हमारा कल्याण है।' इसलिए वह तुरन्त ही शिवजी के साथ उनकी शरण में गया और उनके चरणों में पड़कर अपने कुकृत्यों की क्षमा माँगने लगा। यह देखकर भगवान् ने उन्हें क्षमा कर दिया।

समस्त देवता, ऋषि-मुनि एवं ब्राह्मणों के समाज उसके सुमार्ग पर आने से बहुत प्रसन्न हुए। सर्वत्र भगवान् गजानन का जयजयकार गूँज उठा और संसार में सुख-शान्ति छा गयी।

५. पञ्चम अध्याय

५. लम्बोदरावतार की कथा

सूतजी बोले—'हे शौनक! मैंने तुम्हें भगवान् गजानन द्वारा लोभासुर पर कृपा करने का यह वृत्तान्त सुनाया। अब उन्हीं प्रभु के लम्बोदरावतार का वर्णन करता हूँ –

"लम्बोदरावतारो वै क्रोधासुरनिवर्हणः।
शक्तिब्रह्माखुगः सद् तत् धारक उच्यते॥"

'हे शौनक! लम्बोदर नामक अवतार में प्रभु गणेश्वर ने क्रोधासुर का उन्मूलन किया था। यह अवतार ब्रह्म की सत्य स्वरूपा शक्ति का धारक

कहा गया है । इसमें भी उनका वाहन मूषक ही रहा है । इसका उपाख्यान निम्न प्रकार है–

क्रोधासुर की उत्पत्ति वर्णन

एक बार की बात है–भगवान् विष्णु ने महामोहप्रद मोहिनी रूप धारण किया था । शिवजी उस मोहिनी रूप को देखकर मोहित हुए । उनके उस रूप को देखकर श्रीहरि ने मन-ही-मन हँसते हुए मोहिनी रूप का त्याग कर अपना यथार्थ रूप धारण कर लिया था । अपने इस प्रकार मोहित होने पर शिवजी को बड़ी खिन्नता हुई, क्योंकि उस कारण उनका शुक्र स्खलित हो गया था ।

शिवजी के उस अमोघ शुक्र से एक महाशक्ति सम्पन्न एवं अत्यन्त पराक्रमी असुर की उत्पत्ति हुई । वह घोर कृष्ण वर्ण वाला था तथा उसके नेत्र ताम्र वर्ण के एवं अत्यन्त चमकीले थे । उसका रूप अत्यन्त भयङ्कर था । वह उत्पन्न होते ही चलने लगा और शिवजी की प्रेरणा से दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास पहुँचा ।

असुर ने उनके चरणों में प्रणाम कर निवेदन किया–'प्रभो ! आप मुझे अपना शिष्यत्व प्रदान करें और आज्ञा दें कि मैं क्या करूँ ?'

शुक्राचार्य ने पूछा–'तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? किसने तुम्हें यहाँ भेजा है ?' किन्तु वह इन प्रश्नों का कुछ उत्तर न दे सका । केवल इतना ही कहा कि 'मैं कुछ नहीं जानता ।'

दैत्यगुरु ने ध्यान लगाकर सब कुछ जान लिया । बोले–'वत्स ! क्रोधावस्था में शिवजी का शुक्र स्खलित हो गया था, उसी से तेरी उत्पत्ति हुई है । इस कारण तेरा नाम क्रोधासुर रहना उचित है । तू भगवान् शङ्कर का पुत्र है, इसलिए परम प्रतापी होगा ।'

आचार्य की बात सुनकर क्रोधासुर बहुत प्रसन्न हुआ । दैत्यगुरु ने

उसके सभी संस्कार कर अधिक योग्य बनाया और फिर शम्बरासुर की अत्यन्त सुन्दरी कन्या 'प्रीति' के साथ उसका विवाह कराया। ऐसी लावण्यमयी स्त्री पाकर क्रोधासुर के हर्ष का पारावार न रहा और वह सुखपूर्वक जीवनयापन करने लगा।

फिर उसके मन में हुआ कि 'इस प्रकार पड़े रहने से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। पुरुष वही है जो अपने पुरुषार्थ को सफल करने में प्रयत्नशील रहे। इसलिए त्रैलोक्य-विजय के लिए प्रयास करना चाहिए।' ऐसा निश्चय कर उसने शुक्राचार्य के पास आकर कहा—'आचार्य ! मेरी इच्छा ब्रह्माण्ड-विजय करने की है, इसलिए आप मुझे उसका उपाय बताने की कृपा करें।'

आचार्य ने कहा—'वत्स ! तुम भगवान् भास्कर की प्रसन्नता के लिए 'घृणिः सूर्य आदित्य ॐ' मन्त्र का अनुष्ठान करो तो तुम्हारी कामना पूर्ण हो सकती है।'

क्रोधासुर ने शुक्राचार्य जी से अनुष्ठान की विधि पूछी और प्रणाम कर निर्जन वन में चला गया। वहाँ उसने स्नानादि से निवृत्त होकर एक पाँव से खड़े होकर सूर्य मन्त्र के जप का आरम्भ किया।

वह दिव्य सहस्त्र वर्ष तक धूप, वर्षा, शीत आदि सहता हुआ निराहार खड़ा रहा। उसकी दृष्टि आकाश की ओर लगी रही। मन में भगवान् भास्कर की भक्ति और जिह्वा पर उक्त सूर्य-मन्त्र था। उसकी उत्कट तप-साधना देखकर भगवान् सूर्य की गति में बाधा उपस्थित हुई इसलिए वे असुर के समक्ष आ उपस्थित हुए। असुर ने सुना, कोई गम्भीर स्वर में कह रहा है—'वर माँग।'

उसने आँखों को अँगुलियों से कुछ मीड़कर उनकी चकाचौंध दूर करने का प्रयत्न किया और सूर्यदेव के स्वरूप की एक झलक देखकर उनके चरणों में गिर पड़ा। फिर कुछ सँभलकर बोला—'प्रभो ! आप

समस्त विश्व को प्रकाश देने वाले एवं देवताओं के नायक हैं । हे नाथ ! मैं समस्त ब्रह्माण्ड को अपने वश में करना चाहता हूँ । आप मुझे समस्त चराचर विश्व का अधीश्वर बना दीजिए । मैं बल, पराक्रम, ऐश्वर्य आदि में अद्वितीय हो जाऊँ । मुझे कभी रोग एवं मृत्यु की भी बाधा उपस्थित न हो ।'

भगवान् भास्कर उसकी वर-याचना से कुछ भयभीत और आशंकित होते हुए बोले–'तुम्हारी कामना पूर्ण हो ।' इससे क्रोधासुर को बड़ी प्रसन्नता हुई और वह सूर्यदेव के वहाँ से चले जाने पर अपने घर लौटा तथा आचार्य को वर प्राप्ति की बात सुनाई । उन्होंने उसे दैत्यराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

उसके मित्रों और अनुयायियों को भी वर प्राप्ति के समाचार से बड़ी प्रसन्नता हुई । सब उसके आश्रय में आकर रहने लगे । वह भी अत्यन्त हर्षपूर्वक दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने लगा । उसके दो पुत्र हुए । एक का नाम 'हर्ष' और दूसरे का नाम 'शोक' हुआ ।

क्रोधासुर का विजय-अभियान आरम्भ

फिर उसने अपना विजय-अभियान आरम्भ किया । असुरसेनाएँ प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़ीं। धरती पर तो शीघ्र ही विजय प्राप्त हो गई तथा बहुत से राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली । जो मारे गए या भाग गए या उनके राज्यों पर उसने अपने शासक नियुक्त कर दिए ।

इस प्रकार धरती पर अधिकार होने के बाद उसने इन्द्र की अमरावती पर आक्रमण कर दिया । वहाँ विजय प्राप्त होने पर उसने बैकुण्ठ और कैलाश पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया । फिर उसने सूर्यलोक पर भी विजय प्राप्त करने की इच्छा से अपना दूत वहाँ भेजा । सूर्यदेव उसे स्वयं

ही वर प्रदान कर चुके थे, इसलिए अब क्या कर सकते थे ? उन्होंने तुरन्त ही अपने लोक का त्याग कर दिया ।

इसके पश्चात् दु:खित हुए समस्त देवताओं ने लम्बोदर गणाध्यक्ष की उपासना आरम्भ की । उनकी परम भक्ति देखकर भगवान् गणेश्वर प्रकट होकर बोले–'देवताओ ! क्या चाहते हो ?'

देवताओं ने क्रोधासुर के अत्याचार की बात बताकर उससे रक्षा की प्रार्थना की । तब भगवान् लम्बोदर ने उन्हें अभय प्रदान किया, जिससे देवता और ऋषि-मुनि आदि निश्चिन्त हो गए । तब आकाशवाणी द्वारा क्रोधासुर को विदित हुआ–'भगवान् लम्बोदर ने देवताओं को अभय दे दिया है, वे समस्त असुरों का नाश कर देंगे ।' दैत्यराज घबराया, उसने अमात्यों से परामर्श किया । साथी दैत्यों ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा–'राजन् ! आप चिंता न करें । आप समस्त ब्रह्माण्ड के अधीश्वर हैं, एक बेचारा लम्बोदर ही क्या कर लेगा आपका ? हमें आज्ञा दीजिए कि हम उसे मार डालें अथवा पकड़कर आपके सम्मुख उपस्थित कर दें ।'

उनके वचन सुनकर दैत्यराज बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपनी विशाल सेना की तैयारी का आदेश दिया । उधर देवताओं के साथ लम्बोदर भगवान् की सेना आगे बढ़ी चली आ रही थी । गुप्तचरों ने उसकी सूचना दी तो दैत्यसेना ने राज्य की सीमा पर ही उसका सामना किया ।

क्रोधासुर स्वयं ही रणक्षेत्र में पहुँचा । उसने देखा कि सामने लम्बोदर खड़े हैं । उनका विचित्र वेश है–मूषक पर आरूढ़ हाथी का-सा मुख, तीन नेत्र और लम्बा उदर, नाभि में शेषनाग लपेटे हुए हैं । वह क्रोधपूर्वक बोला–'यह क्या स्वाँग बना लाये हो ?'

लम्बोदर बोले–'अरे मूढ़ ! तुझे अभी ज्ञात हुआ जाता है कि इस स्वाँग का रहस्य क्या है !'

दोनों ओर से घोर युद्ध के आरम्भ में तो दोनों ओर के वीर मारे जाने लगे थे, किन्तु बाद में असुरों का ही अधिक संहार होने लगा। क्रोधासुर के अत्यन्त महाबली सहायक जृम्भ, माल्यवान, रावण, कुम्भकरण, बलि एवं राहु आदि वीर मृतप्राय हुए धरती पर जा गिरे देखकर बहुत क्रोधित हुए और लम्बोदर से बोला–'अरे मूर्ख जन्तु! तू मुझ ब्राह्मण-विजेता से युद्ध करके जीत की आशा करता है? क्या तेरी बुद्धि नष्ट हो गई है? देख, यदि तू अपनी कुशल चाहता है तो मेरी शरण को प्राप्त हो, अन्यथा तेरा लम्बा पेट एक ही बाण के प्रहार से विदीर्ण कर दूँगा।'

भगवान् लम्बोदर ने उसकी बात सुनकर अट्टहास किया और फिर बोले–'दुष्ट दैत्य! तू इस प्रकार की बकवाद करता हुआ मरने की इच्छा क्यों करता है? मैं तो तेरे जैसे असुरों को ही खोजता फिरता हूँ और तुझे मारने के लिए ही यहाँ आया हूँ। तूने आदित्य से वर प्राप्त करके बड़े अधर्म कार्य किए हैं। मूर्ख! मैं तो समस्त प्राणियों के शरीर में निवास करने वाला अनिर्वचनीय परमात्मा हूँ, तू मुझे किस प्रकार जीत सकता है?'

क्रोधासुर बोला–'परमात्मा तो अजन्मा और अगोचर है, उन्हें तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और सिद्धगण भी करोड़ जन्म तपस्या करके भी नहीं देख पाते, फिर तुम यहाँ सबके देखते हुए ही खड़े हो। तब तुम परमात्मा कैसे हुए?'

लम्बोदर ने उसे समझाया–'असुरराज! यही तो वह रहस्य है जिसे जान लेने पर अनजाना कुछ भी नहीं रहता। देख, मेरे वामांग में भ्रान्ति स्वरूपा सिद्धि विद्यमान है। संसारभर के सभी प्राणी इसी सिद्धि की प्राप्ति के भ्रम में पड़े हुए भटकते रहते हैं। किन्तु सहज में इसकी प्राप्ति किसी को नहीं होती। और मेरे दक्षिणांग में भ्रान्ति को धारण करने वाली बुद्धि विराजमान है। यह चित्त स्वरूपा है, इसके पाँच भेद हैं। इसमें पञ्च भ्रान्तियाँ निहित हैं। मैं इन दोनों सिद्धि का ही स्वामी हूँ। अनेक प्रकार

के रूपों वाला यह संसार और ब्रह्म सदैव मेरे ही उदर में स्थित रहते हैं। इसीलिए ज्ञानीजन मुझे 'लम्बोदर' कहते हैं।'

यह समस्त संसार मेरे ही उदर से उत्पन्न होता है, मेरे ही द्वारा पालित होता और अन्त में मेरे ही उदर में लीन हो जाता है। मैं इस विश्व के आश्रय रूप से निरन्तर क्रीड़ा करता रहता हूँ। समस्त ब्रह्माण्ड में जब जो कुछ भी होता है, वह सब मेरी ही इच्छा से होता है।

मुझे ब्रह्मा जानते हैं, देवगुरु बृहस्पति और दैत्यगुरु शुक्राचार्य भी मुझे भली प्रकार जानते हैं। वस्तुतः मेरे लिए देवता और दैत्य दोनों ही समान हैं। मैं न तो दैत्यों को मारना चाहता हूँ, न देवताओं को ही। सभी को अपने-अपने धर्म में स्थित देखने की इच्छा रखता हूँ और मेरी इच्छा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। इसलिए तुम अपना श्रेय चाहते हो तो मेरी शरण में आओ, अन्यथा तुम्हारे वध को कोई भी रोक नहीं सकता।'

क्रोधासुर की समस्त शंकाओं का समाधान हो गया और तब वह ही उनके चरणारविन्दों में गिरकर क्षमा माँगने लगा। यह देखकर कृपालु लम्बोदर प्रसन्न हो गये और उन्होंने दैत्यराज को कृपापूर्ण दृष्टि से देखा। उसने भी गद्‌गद कण्ठ से उनकी स्तुति की और सुदृढ़ भक्ति याचना करता हुआ बोला—'प्रभु ! मुझ अज्ञानी एवं क्रोधान्ध मूर्ख को क्षमा कर दीजिए।'

लम्बोदर प्रभु ने कहा—'दैत्यराज ! अब तू क्रोध-मोहादि से कभी भी अभिभूत नहीं हो। तू भगवान् शङ्कर के अंश से उत्पन्न होने के कारण भी कम महिमा वाला नहीं है। तेरे हृदय में तेरी सुदृढ़ भक्ति सदैव बनी रहेगी। अब तू देवताओं, मनुष्यों आदि के राज्यादि को उन्हें लौटा दे और अपने ही वैभव में सन्तोष करने वाला हो। तेरी प्रीति अधर्म में कभी भी न हो तथा पृथ्वी को छोड़कर पाताल में निवास कर।'

क्रोधासुर ने भगवान् लम्बोदर की आज्ञा का तुरन्त पालन किया और वह उसी समय उन्हें प्रणाम कर पाताल-लोक को चला गया। यह देखकर सभी देवता ऋषि-मुनि आदि लम्बोदर का स्तवन करने लगे।

मायाकर का उत्कर्ष एवं संहार वर्णन

सूतजी बोले–'हे शौनक ! भगवान् लम्बोदर की एक प्रसिद्ध कथा और भी है। तुम्हारी भक्ति देखकर उसे भी कहता हूँ। देखो, प्राचीनकाल की बात है–लोकपितामह चतुरानन सत्यलोक में बैठे हुए प्रभु ध्यान में लीन हो रहे थे, तभी उनके निःश्वास से एक पुरुष का प्राकट्य हुआ। उस पुरुष ने ब्रह्माजी के समक्ष आकर प्रणाम किया और उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए स्तुति करने लगा।'

चतुर्मुख का ध्यान भंग हो गया। उस पुरुष को सामने खड़े होकर स्तुति करते देखकर बोले–'वत्स ! तुम कौन हो और किस अभिप्राय से मेरे समक्ष उपस्थित हुए हो ?'

उस पुरुष ने विनम्रता से निवेदन किया कि 'मैं आपके निःश्वास से प्रकट आपका पुत्र हूँ। आप मेरा नाम रखिये और रहने के लिए स्थान प्रदान कीजिए।'

यह सुनकर ब्रह्माजी बोले–'वत्स ! तेरे देखने मात्र से ही माया की वृद्धि होती है इसलिए तेरा नाम 'मायाकर' रहना उचित है। हे महामते ! तेरी समस्त कामनाएँ पूर्ण होंगी तथा तेरी गति में कहीं भी अवरोध नहीं होगा। तू सदैव स्वस्थ रहता हुआ सभी को अपने वश में करने में समर्थ होगा !'

चतुरानन से ऐसा वर पाकर मायाकर को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह उन्हें प्रणाम कर विश्व भ्रमण के लिए चल पड़ा। उसके वर प्रबल होने की बात जानकर विप्रचित्ति नामक एक अत्यन्त बली दैत्य ने उनको प्रणाम किया और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली तथा उसे दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास ले गया।

आचार्य ने उसे वर प्राप्त जानकर दैत्यराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया। फिर विप्रचित्ति ने उसे सब प्रकार से सन्तुष्ट कर भौतिक भोगों

के आकर्षण में फँसाने का प्रयत्न किया । दैत्यराज मायाकर कुछ काल तो वैसे ही विषय-सुखों में लिप्त रहा । तदुपरान्त उसने पृथ्वी के सभी राजाओं को अपने वश में कर लिया । फिर वह पाताल पर जा चढ़ा । वहाँ घोर युद्ध के पश्चात् नागों ने भी हार स्वीकार कर ली । अपनी पराजय से शेषनाग बहुत व्याकुल हुए । उन्होंने विघ्नराज भगवान् लम्बोदर की उपासना की । भक्ति से प्रसन्न हुए लम्बोदर प्रकट हुए । शेषनाग ने उनके चरणों में प्रणाम करके प्रार्थना की–'प्रभो ! मायाकर ने हमारा राज्य छीन लिया है । अब समस्त नाग बेघर हुए मारे-मारे फिर रहे हैं ।'

लम्बोदर ने उनकी प्रार्थना सुनकर आश्वासन दिया–'नागराज ! चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे अभीष्ट पूर्ण करने के लिए मायाकर को मार डालूँगा ।'

सूतजी बोले–'हे शौनक ! कालान्तर में उन सर्वान्तर्यामी प्रभु ने शेषनाग के पुत्र रूप में अवतार प्रकट होकर मायाकर से घोर युद्ध किया और अन्त में उसकी माया का विच्छेद करके उसे मार डाला । इससे समस्त नाग समाज आनन्दित होकर उनका जय-जयकार करने लगा । संसारभर में सुख-शान्ति छा गई ।'

६. षष्ठ अध्याय

६. विकटावतार का वर्णन

सूतजी ने पुनः कहा–'हे हरिभक्त शौनक ! भगवान् गणेश्वर का एक अवतार 'विकट' नाम से हुआ था । अब मैं तुम्हें उस अवतार से समबन्धित उपाख्यान सुनाता हूँ–

"विकटो नाम विख्यातः कामासुरविदारकः ।
मयूरवाहनश्चायं सौरब्रह्मधरः स्मृतः ॥"

हे शौनक ! भगवान् गणपति के 'विकट' नामक अवतार द्वारा कामासुर का संहार हुआ । यह प्रभु सौरब्रह्म के धारण करने वाले मयूरवाहन कहे जाते हैं । उनकी कथा निम्न प्रकार है–

एक बार की बात है–जलन्धर नामक असुर बहुत प्रबल हो रहा था । समस्त संसार उससे त्रस्त था । उसकी पत्नी वृन्दा पतिव्रता थी, इस कारण जलन्धर का परास्त किया जाना किसी भी प्रकार संभव नहीं था । तब देवगण सोचने लगे कि किसी प्रकार वृन्दा का पातिव्रत धर्म नष्ट हो तो कार्य चले । इस कार्य को हाथ में लिया भगवान् विष्णु ने और जलन्धर का रूप बनाकर वृन्दा के भवन में जा पहुँचे । उस समय जलन्धर रणक्षेत्र में गया हुआ था ।

वृन्दा ने विष्णु को पति रूप में देखकर उनका बड़ा सत्कार किया । उसका स्पर्श करते ही विष्णु का शुक्र स्खलित हो गया, जिससे एक अत्यन्त तेजस्वी असुर की उत्पत्ति हुई । वह असुर अदृश्य की प्रेरणा से दैत्यगुरु की सेवा में पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर एक ओर खड़ा हो गया । फिर बोला–'प्रभो ! मुझे शिष्य रूप में स्वीकार कीजिए ।'

शुक्राचार्य बोले–'तू कामातुरता के कारण उत्पन्न हुआ है, इसलिए तेरा नाम कामासुर होगा । तू भगवान् शंकर के पञ्चाक्षरी मन्त्र 'नमः शिवाय' का अनुष्ठान कर ।'

कामासुर का वर प्राप्त करना

कामासुर गुरुचरणों में प्रणाम कर निर्जन अरण्य में चला गया और आचार्य द्वारा बताई विधि से पंचाक्षरी मन्त्र के जप-पूर्वक शिवजी को

प्रसन्न करने लगा । उसके कठोरतम तप से सन्तुष्ट हुए देवाधिदेव महादेव प्रकट हो गए ।

उनके दर्शन से कृतार्थ हुए कामासुर ने उन्हें प्रणाम कर स्तवन किया फिर विनययुक्त वचनों से बोला–'आशुतोष प्रभो ! आपने आज मुझे कृतार्थ कर दिया है । हे नाथ ! मैं आपके चरणों की सुदृढ़ भक्ति की याचना करता हूँ ।'

शिवजी बोले–'वह तो तुझे सहज ही प्राप्त हो गई वत्स ! अब तेरा अन्य अभीष्ट हो वह भी माँग लो । मेरे लिए अपने भक्त की अभिलाषा पूर्ण करने में अदेय कुछ भी नहीं है ।'

कामासुर ने हर्षपूर्वक निवेदन किया–'नाथ ! मैं समस्त ब्रह्माण्ड को अपने अधीन करना चाहता हूँ, इसलिए आप वही वर दें जिससे मैं त्रैलोक्याधीश बन सकूँ और मृत्यु को भी जीत लूँ और मुझे कभी किसी का भय विचलित न कर पावे ।'

शूलपाणि शंकर बोले–'असुर ! यद्यपि तुम्हारी याचना तो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है, फिर भी मैं तुम्हें वर देता हूँ कि तुम्हारा अभीष्ट अवश्य पूर्ण हो ।'

वर देकर आशुतोष प्रभु अन्तर्हित हो गये और कामासुर अपने स्थान को लौटा । उसने दैत्य शुक्राचार्य को वर प्राप्ति का समस्त वृत्तान्त सुनाया । उन्होंने उसे दैत्येश्वर के पद पर प्रतिष्ठित कर महिषासुर की पुत्री तृष्णा से उसका विवाह करा दिया ।

फिर उस दैत्य ने अपनी सेना एकत्र करनी प्रारम्भ की । अनेक असुर-योद्धा उसके मित्र और सहायक बन गए । रावण, शम्बर, महर्षि बलि और दुर्मद, यह उसके पाँच अमात्य थे । यह अत्यन्त प्रचण्ड, प्रतापी और क्रूर थे । इनके सामने आने से बड़े-बड़े शूर-वीर भी डरते थे । कामासुर प्रायः सदैव ही इन्हें अपने पास रखता था ।

असुर ने एक सुन्दर एवं सुदृढ़ दुर्ग बनवाकर उसका नाम 'रतिद' रखा। यहीं एक बहुत बड़ी बस्ती पड़ गई थी और सब प्रकार की सामग्री उपलब्ध करने की दृष्टि से इसमें अनेकों भव्य बाजार भी बनाये गये थे। कामासुर ने इसी नगरी को अपनी राजधानी बनाया।

अब उसने राज्य का विस्तार करने की दृष्टि से पृथ्वी के राजाओं को वशीभूत कर लिया। फिर स्वर्ग और पाताल पर भी, अधिकार कर लिया। उसके निरंकुश शासन में धर्म का सर्वत्र लोप तथा झूठ, चोरी, छल-कपट, अपहरण आदि का बोलबाला हो गया।

उपस्थित विपत्ति से छुटकारा पाने के लिए एक गोपनीय स्थान पर देवताओं की सभा जुड़ी थी। उस अवसर पर देशाटन करते हुए महर्षि मुद्गल भी वहाँ आ गए। देवताओं ने उनका अर्घ्य-पाद्यादि से पूजन कर निवेदन किया—'प्रभो! हम बहुत दुःखित हो रहे हैं, कृपया कामासुर के संहार का कोई उपाय बताने का कष्ट कीजिए।'

महर्षि ने कुछ देर विचार किया और फिर बोले—'देवगण! मैं आपको असुर के विनाश का एक अमोघ उपाय बताता हूँ—वह सिद्ध क्षेत्र मयूरेश है न। वहाँ जाकर भगवान् गणेश्वर की प्रसन्नता के लिए तपस्या करो। वे प्रभु तुम्हारा सङ्कट अवश्य दूर करेंगे।'

देवताओं ने महर्षि द्वारा बताई हुई विधि से गणेशजी का पूजन कर उनकी उपासना की, जिससे प्रसन्न होकर मयूरवाहन गणराज ने उन्हें दर्शन दिया और बोले—'घबराओ मत! मैं कामासुर को पराजित कर तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण करूँगा।'

कामासुर का आत्मसमर्पण

जब यह समाचार कामासुर ने सुना तो वह क्रोधित हो गया। उसने तुरन्त ही असंख्य दैत्यसेना लेकर देवताओं और मुनियों पर आक्रमण कर

दिया । उसके भीषण प्रहारों से सभी देवगण आदि विचलित होकर मयूरेश्वर विकट को पुकारने लगे ।

उन्हें व्याकुल देखकर भगवान् गणेश्वर मयूर पर सवार होकर रणक्षेत्र में पधारे और दैत्यों का विनाश करने लगे । यह देखकर कामासुर मयूरेश्वर के समक्ष आकर क्रोधपूर्वक बोला—'अरे मूर्ख ! तू यहाँ प्राण गँवाने के लिए क्यों आ गया है ? जा शीघ्र ही मेरी आँखों से ओझल हो जा । अन्यथा तेरे प्राणों की कुशल नहीं है ।'

भगवान् मयूरेश्वर ने कहा—'दैत्यराज ! अब तक तू बहुत अधर्म कर चुका है, किन्तु मैं तुझे अब अधिक अधर्म नहीं करने दूँगा । मैं सभी अधर्मों और अधर्मियों का उच्छेद करने वाला तथा धर्म का संस्थापक हूँ। यदि तुझे जीवित रहने की इच्छा हो तो समस्त दोषों को त्यागकर मेरी शरण में आ ।'

कामासुर का क्रोध बढ़ गया, उसने मयूरवाहन गणेश्वर पर एक भयंकर गदा फेंकी, किन्तु वह गदा भगवान् के चरणों के समीप जा गिरी । दूसरी बार पुनः उसने एक शक्ति का क्षेपण किया, उसकी भी वही दशा हुई । तभी उसे शुक्राचार्य के वचनों का स्मरण हुआ । उन्होंने कहा था—'राजन् ! यदि भगवान् मयूरवाहन युद्ध में आ जायें तो तुम उनकी शरण ले लेना । क्योंकि वे ही सर्ग, स्थिति और प्रलय के कारण रूप आदिदेव गणेश्वर हैं । उनपर तुम्हारा कोई वश नहीं चलेगा ।'

कामासुर ने तुरन्त ही प्रभु के चरण पकड़ लिये और अपने अपराधों की क्षमा माँगने लगा । भगवान् गणेश्वर ने भी कृपापूर्वक उसे अपनी भक्ति प्रदान की ।

❁❁❁

७. सप्तम अध्याय

७. विघ्नराज अवतार

सूतजी बोले–'हे मुने ! मैंने तुम्हें भगवान् के विकटावतार की कथा सुना दी । अब तुम्हें उनके विघ्नराज रूप का उपाख्यान सुनाता हूँ । ध्यान देकर सुनो–

"विघ्नराजावतारश्च शेषवाहन उच्यते ।
ममतासुरहन्ता स विष्णुब्रह्मेति वाचकः ॥"

'हे शौनक ! भगवान् गणपति का जो 'विघ्नराज' नामक अवतार है, वह शेषवाहन कहा जाता है । वह ममतासुर का संहारक और विष्णु-ब्रह्मा का वाचक है । इसकी कथा इस प्रकार है–

पुराकाल की बात है । गिरिराजनन्दिनी पार्वती जी का विवाह हो चुका था । वे उपवन में अपनी सखियों के साथ बैठी हुई वार्तालाप कर रही थीं । तभी किसी एक बात पर उन्हें जोर की हँसी आ गई और उनकी उस हँसी से ही एक पर्वताकार किन्तु अत्यन्त मनोरम पुरुष उत्पन्न होकर उनके सामने आ खड़ा हुआ ।

उस पुरुष को देखकर गिरिजा को बड़ा आश्चर्य हुआ । सोचने लगीं–'यह कौन, कहाँ से आया ?' और फिर भी प्रश्न उन्होंने उस पुरुष से किया और अन्त में बोलीं–'तुम्हारा प्रयोजन क्या है ?'

पार्वती के मान से ममतासुर की उत्पत्ति

पुरुष ने हाथ जोड़कर निवेदन किया–'माता ! मैं आपके हास्य से उत्पन्न हुआ हूँ। आपका पुत्र होने के कारण आपकी कृपा का भी अधिकारी हूँ । आप मुझे जो आज्ञा देंगी, उसका पालन करूँगा ।'

पार्वती बोलीं—'वत्स ! मैं उस समय अपने प्राणप्रिय शिवजी से रूठकर उपवन में बैठी थी, उसी मान की अवस्था में मुझे हँसी आ गई, जिससे तेरा जन्म हो गया । इसलिए मान-परायण होने से तेरा नाम मम अथवा ममता होगा । अब तुम गणेश्वर का स्मरण करो, जिससे तुम्हें अभीष्ट की प्राप्ति हो ।'

यह कहकर शैलपुत्री ने उसे गणेश का षडक्षरी मन्त्र, 'वक्रतुण्डाय हुम्' का उपदेश किया । तब वह उनके चरणों में प्रणाम कर तपस्या करने के लिए अरण्य में चला गया, जहाँ उसकी भेंट दैत्यराज शम्बरासुर से हो गई ।

गिरिजापुत्र ने दैत्यराज से पूछा—'आप कौन हैं ? यहाँ किसलिए आये हैं ? यदि अनुचित न समझें तो मुझे अपना पूर्ण वृत्तान्त बताने की कृपा करें ।'

शम्बरासुर ने उत्तर दिया—'महाभाग ! मेरा नाम शम्बर है । मैं अनेक विद्याओं का ज्ञाता हूँ । यदि तुम चाहो तो वे विद्याएँ मैं तुम्हें दे सकता हूँ, जिससे तुम अवश्य ही अत्यन्त सामर्थ्यवान् बन जाओगे ।'

ममतासुर बहुत प्रसन्न हुआ । उसने शम्बरासुर से समस्त आसुरी विद्याएँ सीख लीं, जिनके अभ्यास से वह स्वयं कामरूप हो गया । तब उसने शम्बरासुर को प्रणाम कर निवेदन किया—'महाभाग ! मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी इस अद्भुत कृपा के लिए सदैव आभारी रहूँगा । अब आप मुझे आदेश दें कि मैं क्या करूँ ?'

शम्बरासुर ने कहा—'वत्स ! अब तुम अपूर्व शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से भगवान् विघ्नराज को प्रसन्न करो । जब वे सन्तुष्ट होकर वर माँगने को कहें, तब तुम केवल समस्त ब्रह्माण्ड का राज्य और अमरत्व ही माँगना, और कुछ भी न माँगना । जब तुम्हें वर प्राप्त हो जाय तब पुनः मेरे पास लौट आना ।'

यह कहकर शम्बरासुर वहाँ से चला गया और ममतासुर ने वहीं रहकर तपस्या आरम्भ की । वह निराहार एवं निर्जल रहता हुआ कठोर तप कर रहा था । भगवान् गजानन के ध्यान में लीन रहना और विनायक के षडक्षरी मन्त्र का जप करना ही उसका कार्यक्रम था ।

इस प्रकार तपश्चर्या करते हुए उसे एक हजार दिव्य वर्ष व्यतीत हो गए । तब वरदराज गणेश्वर ने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिए और कहा–'भक्तराज ! वर माँगो ।'

उसने भगवान् विघ्नराज के दर्शन किए तो हर्ष-विह्वल हो गया और उनके चरणों में प्रणाम कर गद्गद कण्ठ से धीरे-धीरे बोला–'हे प्रभो ! हे वरदायक विघ्नेश्वर! मैं क्या माँगूँ? यह मेरी समझ में नहीं आता । आप सर्व ऐश्वर्य निधान से कोई निम्न कोटि की वस्तु माँगूँ तो मेरा वह कार्य उपहास के योग्य ही होगा । अतएव हे नाथ ! आप मुझे ब्रह्माण्ड का राज्य प्रदान कीजिए और अमर बना दीजिए । मैं शिव, विष्णु आदि से भी युद्ध में पराजित न हो सकूँ । हे प्रभो ! आप मुझे अमोघ शस्त्रधारी कर दें । मेरे समक्ष कभी कोई विघ्न उपस्थित न हो ।'

भगवान् विघ्नराज ने कहा–'असुरेन्द्र ! तेरी कामना दुःसाध्य होते हुए भी पूर्ण करूँगा ।'

यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गए । ममतासुर उनसे वर पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो उठा । उसने शम्बरासुर के पास जाकर समस्त वृत्तान्त कहा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ । उसने अपनी अत्यन्त सुन्दर कन्या 'मोहिनी' का विवाह ममतासुर के साथ कर दिया । कुछ दिन उसने आनन्दोपभोग में व्यतीत किए और तब एक दिन शम्बर की प्रेरणा से वह दैत्यगुरु शुक्राचार्य जी के पास जा पहुँचा । उसने आचार्य को प्रणाम कर विघ्नराज से वर प्राप्त होने की बात सुनाई । इससे शुक्राचार्य जी को बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने कहा–'असुरेश्वर ! तूने विघ्नराज को प्रसन्न कर लिया, यह बहुत अच्छा किया है ।'

ममतासुर के आग्रह पर दैत्यगुरु उसके भवन में पधारे और वहाँ उसे दैत्यराज के पद पर प्रतिष्ठित किया तथा अत्यन्त पराक्रमी पाँच बलवान् दैत्य उसके प्रधान नियुक्त कर दिए, जिसके नाम प्रेत, काल, कलाप, कलाजित् और धर्महा थे ।

उस समय अनेकों बड़े-बड़े दैत्य, दानव एवं राक्षसराज वहाँ उपस्थित थे । ममतासुर ने सभी को अनेक प्रकार की परिचर्याओं और उपहारों से सन्तुष्ट किया । फिर वे सभी अपने-अपने स्थान को लौट गए । इधर ममतासुर ने चिन्तानाशक निर्ममपुरी को अपनी राजधानी बनाया और वहीं एक अत्यन्त वैभवशाली भव्य भवन में रहने लगे ।

उसके दो पुत्र हुए, नाम रखे गए धर्म और अधर्म । वे धीरे-धीरे बड़े होने लगे । इस प्रकार असुरराज निश्चिन्त एवं निर्भय हुआ सुखपूर्वक गृहस्थ सुख-भोग रहा था ।

शम्बरासुर की प्रेरणा से दिग्विजय करना

किन्तु शम्बर को चैन कहाँ ? उसने ममतासुर को त्रैलोक्य-विजय के लिए प्रेरित किया । बोला–'वत्स ! तुम विघ्नराज गणेश्वर से ब्रह्माण्ड के राज्य की प्राप्ति कर वर पा चुके हो । इसलिए उसमें पूर्ण समर्थ भी हो, तब तुम्हें उसकी प्राप्ति कर लेनी चाहिए । देखो, कार्य तो करने से ही होगा, बिना किए तो कुछ मिलता नहीं ।'

ममतासुर ने निवेदन किया–'आप विश्वास रखें, मैं शीघ्र ही समस्त ब्रह्माण्ड पर विजय प्राप्त कर लूँगा । मेरे पास असंख्य असुरों की सेना, आपकी दी हुई विद्याएँ सब विघ्नराज प्रदत्त विजय वर विद्यमान हैं, तब मेरी गति कौन रोक सकता है ?'

दूसरे दिन उन्होंने शुक्राचार्य से निवेदन किया–'प्रभो ! मैं अब ब्रह्माण्ड विजय के लिए यात्रा करना चाहता हूँ । आप मुझपर कृपा करें और अपना शुभ आशीर्वाद प्रदान करें ।'

शुक्राचार्य ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा—'राजन् ! तुम्हें सफलता मिले, किन्तु एक बात ध्यान में रखना कि भगवान् विघ्नराज की कृपा से तुम्हें इतने महान् पराक्रम के वैभव की उपलब्धि हुई है, इसलिए उनसे कभी विरोध मत करना ।'

ममतासुर ने उनकी आज्ञा पालन का वचन दिया और प्रणाम कर असुरसेना को तैयार होने की आज्ञा दी । उसने सर्वप्रथम पृथ्वी के नरेशों पर आक्रमण कर उनपर एक-एक कर विजय प्राप्त की । इस प्रकार समस्त भूमि को जीतने में उसे अधिक समय नहीं लगा । अब उसने पाताल-लोक पर चढ़ाई की और शीघ्र ही वहाँ अधिकार कर इन्द्रलोक पर आक्रमण कर दिया । जहाँ वज्रायुध से घोर युद्ध करना पड़ा । यद्यपि देवगण अधिक संगठित और पराक्रमी थे तो भी विघ्नराज के वर से प्रबल ममतासुर के समक्ष वे टिक न सके । अन्त में स्वर्ग पर भी उसका शासन स्थापित हो गया ।

इसके बाद उसने विष्णुलोक और शिवलोक को भी अपने अधीन कर लिया । सर्वत्र उसका निरंकुश शासन स्थापित हो चुका था । उसके राज्य में धर्म-कर्म का लोप और अधर्म की वृद्धि हो रही थी । इससे तीनों लोकों में भय व्याप्त हो गया था ।

सभी देवता बहुत दुःखित होकर ममतासुर के अत्याचारों से रक्षा का उपाय सोचने लगे । उस समय भगवान् विष्णु ने कहा, 'यदि हमें अपना श्रेय साधन करना है तो भगवान् विघ्नराज की उपासना करनी चाहिए । ये ही प्रभु इस असुर को परास्त कर सकते हैं ।'

उनकी बात मानकर सब देवता विघ्नराज की प्रसन्नता के लिए तप करने लगे । फिर जब भाद्रशुक्ला चतुर्थी आई, तब मध्याह्नकाल में भगवान् विघ्नराज ने दर्शन दिए । देवताओं ने प्रसन्नतापूर्वक उनका स्तवन किया तथा अपने कष्ट की बात सुनाई और फिर अपनी रक्षा की प्रार्थना की ।

भगवान् गणेश्वर ने आश्वासन दिया–'देवताओ ! निश्चिन्त रहो। मैं ममतासुर को पराजित करूँगा।' यह कहकर भगवान् गणेश्वर अन्तर्धान हो गए।

महर्षि नारद ने ममतासुर को देवताओं के तप और विघ्नराज के वरदान की बात बताई और फिर कहा–'राजन् ! भगवान् विघ्नेश्वर अधर्म के अत्यन्त शत्रु हैं और धर्म से प्रसन्न रहते हैं। किन्तु अब तुम्हें अधर्म, अनाचार आदि का त्याग कर भगवान् विघ्नराज की शरण में जाना चाहिए। उन भगवान् ने मेरे द्वारा यह सन्देश प्रेषित किया है।'

दैत्यगुरु भी वहीं बैठे थे, उन्होंने भी यही परामर्श दिया। किन्तु उसके साथी असुरों ने उसे परामर्श दिया–'प्रभो ! हम इतने बलवान् हैं कि अकेला विघ्नराज कुछ भी नहीं कर सकता। उसकी क्या शक्ति है वह हमारे समक्ष युद्ध कर सके। इसलिए आप उससे दबिए मत, आप ब्रह्माण्ड के अधिपति के वश में काल भी रहता है।'

ममतासुर अपने सहयोगी दैत्यों और मन्त्रियों के भ्रमपूर्ण वचनों से भ्रमित हो गया। इसलिए बोला–'ऋषिराज ! यदि विघ्नराज मुझपर आक्रमण करना चाहते हैं तो वीर धर्म के अनुसार मैं भी उनका सामना करूँगा।'

महर्षि ने भगवान् विघ्नराज को ममतासुर का उत्तर जा सुनाया। उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा–'मैं ममतासुर का गर्व नष्ट कर दूँगा।'

ममतासुर का पराजित होना

भगवान् की आज्ञा से युद्ध आरम्भ हो गया। असुरराज भी अपने दोनों पुत्रों और वाहिनियों के साथ रणांगण में आ उपस्थित हुआ। भगवान् विघ्नराज ने उसके आयुध स्तम्भित कर दिए। वह ज्योंही हथियार उठाता त्योंही वे धरती पर गिर जाते। फिर भगवान् ने अपना दिव्य कमल असुर-

सेना के मध्य छोड़ दिया। उस कमल की गन्ध से सभी असुर मूर्च्छित हो गए। ममतासुर भी मूर्च्छित हुआ पड़ा रहा। फिर जब उसे होश आया, तब वह कमल को देखकर कम्पायमान हो उठा और विघ्नराज की स्तुति करने लगा। तब वे भगवान् प्रसन्न हो गए।

उन्होंने ममतासुर को आदेश दिया—'असुरश्रेष्ठ! तू देवताओं को अपने-अपने पद का उपभोग करने दे। ऋषि-मुनियों और ब्राह्मणों को धर्माचरण की स्वतन्त्रता रहना आवश्यक है। तू भी अधर्म कार्यों का त्याग कर और अपने को सीमित रख। जहाँ मेरा पूजन, स्मरण न किया जाता हो वहीं लोगों को मोहित करके उनके हृदय पर अपना राज्य स्थापित कर। किन्तु मेरे भक्तों के समक्ष सेवक के समान रहता हुआ, उनके सम्मान में लगा रह।'

असुरराज ने उनकी आज्ञा स्वीकार की और फिर चरणों में प्रणाम एवं परिक्रमा कर वहाँ से चला गया। इससे समस्त देवता और ऋषि-मुनि आदि प्रसन्न होकर उनकी स्तुति करने लगे।

८. अष्टम अध्याय

८. धूम्रवर्णावतार उपाख्यान

सूतजी बोले—'हे मुने! मैंने तुम्हें भगवान् विघ्नराज का श्रेष्ठ वृत्तान्त सुना दिया है। अब तुम्हें उनके धूम्रवर्ण स्वरूप का उपाख्यान सुनाऊँगा। तुम ध्यानपूर्वक सुनो—

"धूम्रवर्णावतारश्चाभिमानासुरनाशकः ।
आखुवाहनश्चासौ शिवात्मा तु स उच्यते ॥"

'हे शौनक ! श्रीगणेशजी का 'धूम्रवर्ण' नामक जो अवतार हुआ, उसके द्वारा अभिमान नामक असुर का नाश हुआ था । वे प्रभु शिव ब्रह्म स्वरूप एवं मूषकवाहन कहे जाते हैं । इनका उपाख्यान इस प्रकार है कि प्राचीन काल में लोकपितामह चतुरानन ने भगवान् भास्कर को कर्मराज्य का अधीश्वर बना दिया था और उस अत्यन्त महिमायुक्त पद के प्राप्त होने पर सूर्यदेव ने सोचा कि संसार में मेरे समान महिमा वाला कोई नहीं है ।

उन्होंने पुनः सोचा–'कर्म के प्रभाव से चतुरानन सृष्टि रचते, उसी से भगवान् श्रीहरि संसार का पालन करते तथा उसी से शिवजी संसार-कार्य में समर्थ होते हैं । शक्ति भी शिव का पालन-पोषण कर्म के बल पर ही करती है । इस प्रकार सभी अपने-अपने कर्म के अधीन हैं और मैं समस्त कर्मों का संचालन करने वाला देवता हूँ, इससे स्पष्ट है कि सभी मेरे अधीन हैं ।'

भास्कर के अहं से अहंतासुर की उत्पत्ति

इस प्रकार अहंकारपूर्वक विचार करते-करते सहसा उन्हें छींक आ गई, जिससे एक सुन्दर पुरुष की उत्पत्ति हुई । वह महाकाय और महाबली था, उसके नेत्र भी बहुत विशाल थे । वह पुरुष दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास गया और प्रणाम कर एक ओर खड़ा हो गया ।

दैत्यगुरु ने उसे देखकर पूछा–'तू कौन है ? यहाँ किस प्रयोजन से उपस्थित हुआ है ? सभी बात विस्तारपूर्वक मुझे बता ।'

वह पुरुष विनयपूर्वक बोला–'प्रभो ! भगवान् भास्कर कुछ विचार कर रहे थे, तभी उन्हें छींक आ गई । मैं उसी छींक से उत्पन्न हुआ हूँ । इस प्रकार इस पृथ्वी पर तो अनाथ और आश्रयहीन ही हूँ । आपकी कीर्ति सुनकर ही यहाँ आया हूँ और आपके अधीन रहता हुआ आपकी आज्ञा पालन करता रहूँ, ऐसा मेरा विचार है ।'

शुक्राचार्य ने कुछ देर ध्यानावस्थित रहने के पश्चात् कहा, 'तुम्हारी उत्पत्ति सूर्य के अहंकार से हुई है । इस कारण तुम्हारा नाम अहं एवं अभिमान होगा । तुम गणेश के षोड़शाक्षरी मन्त्र 'ॐ गं गौं गणपतये विघ्नविनाशिने स्वाहा' के जपानुष्ठानपूर्वक उन्हीं भगवान् गजानन को प्रसन्न करो ।'

अभिमान ने उनकी आज्ञा सुनकर प्रणाम किया और अनुष्ठान की विधि सीखकर चला गया और वहाँ स्नानादि से निवृत्त होकर अनुष्ठान करने लगा । उसने एक हजार दिव्य वर्ष तक श्रीगणराज का ध्यान करते हुए कठिन तपश्चर्या की ।

मूषकवाहन गणाध्यक्ष प्रसन्न हो गए । अभिमान ने देखा कि भगवान् प्रकट हो गए हैं । उनका गजेन्द्र के समान मुख, एक दाँत, तीन नेत्र, शूर्प जैसे कान एवं विशाल उदर हैं । वे चतुर्भुज स्वरूप प्रभु अपने कर-कमलों में पाशादि आयुध धारण किए हुए हैं ।

उनके अद्‌भुत रूप के दर्शन करके अभिमान हर्ष-विभोर हो गया । उसने तुरन्त ही उन मंगलों के भी मंगल वरदराज को भक्तिभाव से प्रणाम किया और फिर उनका पूजन कर स्तवन करने लगा । इससे सन्तुष्ट हुए भगवान् गजानन ने कहा-'हे सुव्रत ! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ।'

अभिमान ने करबद्ध निवेदन किया-'प्रभो ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे अपनी भक्ति प्रदान कीजिए । आपकी कृपा से मेरी सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जायें तथा आरोग्य, विजय और समस्त विश्व का साम्राज्य प्रदान कीजिए । हे नाथ ! मैं माया से किसी भी प्रकार से मृत्यु को प्राप्त न होऊँ ।' 'ऐसा ही हो' कहकर भगवान् वरदराज अन्तर्हित हो गए ।

अभिमान भी प्रसन्न होता हुआ दैत्यगुरु के समीप पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर वर-प्राप्ति का सम्वाद उन्हें सुनाया । तब शुक्राचार्य ने अनेक

मुख्य असुरों को बुलाकर उसके वरदराज के वर के प्रबल होने की बात बताई और उनकी सहमति से अभिमान को दैत्येश्वर के पद पर अभिषिक्त कर दिया ।

अब अहमासुर प्रबल प्रतापी राजा बन गया था । प्रमदासुर नामक एक दैत्यश्रेष्ठ ने उसके साथ अपनी कन्या का विवाह कर दिया, जिससे गर्व और श्रेष्ठ नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए ।

कुछ दिनों बाद उसने प्रमदासुर की प्रेरणा पर अपना विजय-अभिमान आरम्भ किया । उसने शीघ्र ही पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग पर विजय प्राप्त की । अब वह समस्त ब्रह्माण्ड का अधीश्वर बनकर अपना निरंकुश शासन चलाने लगा ।

अधर्मधारक असुर का परामर्श करना

एक दिन अधर्मधारक नामक असुर ने उसकी सभा में जाकर कहा–'असुरेश्वर ! आपने समस्त विश्व को अपने वश में कर लिया और पूरे ब्रह्माण्ड पर एकछत्र राज्य करते हो, किन्तु गिरि-गुहाओं और भयंकर अरण्यों में छिपकर रहते हुए देवता असुरों के समूल उन्मूलन के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं और वे हमारे छिद्र की ताक में रहते हैं । यदि उन्हें अवसर मिला तो वे हमारा संहार करने में पीछे नहीं रहेंगे । इसलिए जहाँ तक सम्भव हो, उनका अस्तित्व समाप्त कर देना चाहिए । वे सब यज्ञादि कर्मों द्वारा पोषण प्राप्त करते हैं, इसलिए उन कर्मों की समाप्ति बहुत आवश्यक है ।'

अहंतासुर ने उसकी बात मान ली और यज्ञादि कर्म नष्ट करने का आदेश दे दिया । इस कारण असुरों ने उन समस्त कर्मों का खण्डन आरम्भ कर दिया तथा देवताओं की खोज के उद्देश्य से वनों और पर्वतों को भी नष्ट करने लगे तथा–

"सर्वत्राहं प्रतिमाश्च स्थापिता भूमिमण्डले ।
पूजका राक्षसास्तत्र कृतास्तेन सुपापिना ॥"

जहाँ-जहाँ गणेश जी की प्रतिमाएँ स्थापित थीं उन-उन देवालयों से वे प्रतिमाएँ फिकवा दी गईं और उनके स्थान पर उस अहंतासुर ने अपनी प्रतिमाएँ स्थापित करा दीं । उनके पुजारी पद पर भी अहंतासुर के परम भक्त नियुक्त किए गए । इस प्रकार ममतासुर की उपासना प्रचलित हो गई ।

इधर देवता बहुत दुःखी हो रहे थे । वे विचार-विमर्श के लिए एकत्रित हुए । उन्होंने निश्चय किया कि करुणामूर्ति गजानन को प्रसन्न करने के लिए एकाक्षरी मन्त्र का आश्रय लिया जाये । तब वे सब विधिपूर्वक भगवान् गणेश्वर की उपासना करने लगे । इससे सन्तुष्ट होकर उन्होंने दर्शन दिए ।

देवताओं ने स्तवन आदि करने के पश्चात् निवेदन किया—'हे प्रभो ! हम आपके परम भक्त इस समय अहंतासुर के भय से घोर संकट में पड़े हुए हैं, अतएव आप हमारी रक्षा करने की कृपा कीजिए ।'

भगवान् धूम्रवर्ण ने उन्हें आश्वासन दिया—'हे देवताओ ! मैं तुम्हारे समस्त संकट शीघ्र ही दूर करूँगा ।' ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गए । तब प्रसन्न हुए देवगण उन्हीं का ध्यान एवं यश-गानादि करते हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे ।

रात्रि में भगवान् गणेश्वर ने अपनी क्रोधपूर्ण मुद्रा में अहंतासुर को दर्शन दिया, जिससे दैत्यराज काँप उठा । उसने प्रातःकाल अपनी सभा में आकर असुरों से कहा—'मैंने स्वप्न में गणेश्वर को देखा था । वे बड़े क्रोधित हो रहे थे । उन्होंने हमारा नगर भस्म कर दिया और हमें पराजित भी कर दिया था । मैंने देखा कि देवगण पुनः स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं । यह स्वप्न कितना अशुभ और भयंकर है ।'

दैत्यों ने उसे समझाया–'असुरेश्वर ! आप तो प्रत्यक्ष वर के प्रभाव से भय रहित हैं । स्वप्न तो मिथ्या होते हैं, उनमें प्राप्त किया हुआ धन मिलता नहीं और दिया हुआ धन जाता नहीं इसलिए स्वप्न के शुभाशुभ पर विचार व्यर्थ ही है ।'

दैत्यराज मौन हो गया । इधर देवर्षि नारद का आगमन हुआ तो उसने उनका बड़ा सत्कार किया । उन्होंने उसे भगवान् धूम्रवर्ण का सन्देश दिया कि 'तुम मेरे ही वर से प्रबल हुए हो, इसलिए मेरे प्रकोप से नष्ट भी हो जाओगे । अतः शीघ्र ही समस्त अधर्म कार्यों का त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ अन्यथा रणक्षेत्र में मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा ।'

अहंतासुर तथा धूम्रवर्ण का युद्ध

अहंतासुर उस संदेश को सुनकर क्रोधपूर्वक बोला–'मुनिवर ! आप धूम्रवर्ण से कह दें कि हम किसी प्रकार से अशक्त नहीं हैं और इतना पराक्रम रखते हैं कि तुम्हारा भी वध कर डालें ।'

नारदजी चले गए । इधर अहंतासुर ने क्रोधपूर्वक देवताओं को खोज-खोजकर मारना आरम्भ कर दिया । नारदजी ने भी भगवान् धूम्रवर्ण गणेश्वर को असुर की गर्वोक्ति सुना दी । इससे देवताओं में और व्याकुलता फैल गई । वे कातर स्वर में गणराज की प्रार्थना करने लगे । भगवान् ने उन्हें आश्वासन दिया–'देवताओ ! तुम चिन्ता न करो, मैं लीलापूर्वक ही उसका गर्व खण्डन किये देता हूँ । तुम यहाँ बैठे रहकर मेरे कार्य का अवलोकन करो ।'

यह सुनकर उन्होंने अपने अत्युग्र पाश का क्षेपण किया । वह पाश तीव्रतापूर्वक असुरों की ओर दौड़ पड़ा । उसे जहाँ जो कोई भी असुर मिला, उसी को उसने मार डाला । वह पाश नगर, ग्राम, घर, तहखाने

आदि में भी उसे रोकने में समर्थ नहीं था। इससे असुरों की बस्तियाँ उजड़ गईं और समस्त दैत्य-राक्षस हाय-हाय करने लगे।

अहंतासुर उससे बहुत चिन्तित और व्याकुल हुआ। उसके पुत्रों ने उसे सान्त्वना दी, 'पिताजी ! हमारे होते हुए आप क्यों चिन्ता कर रहे हैं ? वह मायामय धूम्रवर्ण हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। हम उसकी माया को आसुरी माया से शीघ्र ही नष्ट कर डालेंगे। आप हमारा पराक्रम तो देखिए।'

इधर दैत्यराज उनके आश्वासन से शान्त हुआ और उधर उसके पुत्र विशाल असुरसेना के साथ गणेश्वर से युद्ध करने की इच्छा से नगर के बाहर निकले। तभी उस तेजस्वी पाश ने वहाँ आकर सभी असुरों को भस्म कर दिया। अहंतासुर के दोनों पुत्र भी उस पाश के तेज से दग्ध होकर परलोक चले गये।

अहंतासुर ने सुना तो वह समस्त दैत्यसेना के सहित रणक्षेत्र में आ गया। पाश तो अब भी सक्रिय था ही। वह उसकी सेना को रुई के ढेर के समान भस्म करने लगा। इस प्रकार कुछ ही समय में उसकी समस्त दैत्य-वाहिनी नष्ट हो गई। तब पाश अहंतासुर की ओर बढ़ने लगा, यह देखकर उसने शीघ्रतापूर्वक दूर भागकर अपने प्राण बचाये।

अहंतासुर का धूम्रवर्ण की शरण में जाना

फिर वह काँपता हुआ दैत्यगुरु की सेवा में जा पहुँचा और उन्हें प्रणाम कर बोला—'प्रभो ! धूम्रवर्ण के मायापाश के समक्ष मेरी एक भी नहीं चली। समस्त दैत्यसेना मारी गई और मैं बड़ी कठिनाई से ही बचकर यहाँ तक आ सका हूँ। हे गुरुदेव ! मुझे वह वरदान प्राप्त जो अमोघास्त्र थे, उनके निष्फल होने का क्या कारण है ?'

शुक्राचार्य बोले–'मूर्ख ! उन गणाध्यक्ष को तू भूल गया, जिन्होंने वर प्रदान कर प्रबल और अजेय बनाया था। उन मायातीत प्रभु की इच्छा ही इतनी प्रबल है कि तीनों लोकों की समस्त क्रियाएँ उसी से चलती हैं। देख, स्वर्ग के देवताओं, पृथ्वी के मनुष्यों और पाताल में असुरों और नागों आदि के निर्विघ्न जीवन-यापन की व्यवस्था भी उन्हीं की इच्छा से होती है। तूने उनसे वर प्राप्त करके उन्हीं की व्यवस्था और इच्छा के कार्यों में व्यवधान उपस्थित कर दिया तथा देवताओं और मुनिगणों को बड़ा कष्ट पहुँचाया। तेरे अत्याचार से समस्त प्राणी उत्पीड़ित हो रहे हैं। अब तू तुरन्त ही उन्हीं परम प्रभु की शरण में जा, अन्यथा वे तेरा सर्वनाश कर डालेंगे।'

असुरेश्वर ने कहा–'प्रभो ! उन्होंने अभी क्या छोड़ा है ? बड़ा भीषण संहार कर डाला है उनके पाश ने।' शुक्राचार्य उसे समझाते हुए बोले–'जो शेष बचा है, उसकी तो रक्षा हो जाएगी। अन्यथा कुछ भी शेष न रहेगा।'

अंहतासुर शुक्राचार्य को प्रणाम कर धूम्रवर्ण की सेवा में उपस्थित हुआ और उनके चरणों में पड़कर रोने लगा। उसकी दुर्दशा देखकर करुणामय प्रभु ने क्षमा कर दी। उनकी इच्छा मात्र से पाश लौटकर उनके पास आ गया। फिर उनकी स्तुति की।

उसके स्तवन से सन्तुष्ट होकर भगवान् ने कहा–'महासुर ! अब तू देवताओं के स्थान, धर्म-स्थान, यज्ञशाला, तीर्थ, मन्दिर आदि को तुरन्त छोड़ दे और जहाँ मेरे भक्त नहीं हैं, तथा जहाँ मेरी पूजा-उपासना नहीं होती वहाँ जाकर निवास कर। मेरे भक्तों, देवताओं, ऋषि-मुनियों आदि की रक्षा करने का भार भी तुझे ग्रहण करना होगा।'

अहंतासुर ने उनके आदेश पालन का वचन दिया और पुनः उनकी स्तुति करने लगा। फिर उनकी भक्ति प्राप्त करके तुरन्त चला गया। यह देखकर सभी देवता अत्यन्त विस्मय करते हुए मंगलमय गणेशजी का पूजन और स्तवन करने लगे। फिर गणेशजी को प्रणाम कर देवताओं ने

उनका जयघोष किया और जब वे प्रभु अन्तर्धान हो गए तब हर्ष-विभोर होकर अपने-अपने स्थानों को गये।

सूतजी बोले—'हे शौनक! मंगलमय भगवान् गणेश्वर के धूम्रवर्ण अवतार का यह सुखदायक एवं पुण्यवर्द्धक उपाख्यान पूर्ण हुआ। इसे जो भक्त परम भक्तिभावपूर्वक श्रवण करता है, वह सदैव ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। इनके द्वारा भोग और मोक्ष की प्राप्ति होती है—

"भविष्यति च सौख्यस्य पठते शृण्वते पदम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैव पुत्रपौत्रादिकं तथा॥"

(०१)

नवम खण्ड

१. प्रथम अध्याय

प्रश्न : आवेश-पीड़ित मनुष्य के लक्षण-विषयक

सूतजी बोले—'वत्स ! हे शौनक ! मैंने तुम्हारे प्रति गणेशजी के अनेक चरित्रों का वर्णन किया है। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि गणेशजी के अनन्त चरित्र हैं, इसलिए सभी का वर्णन तो सौ जन्मों में भी नहीं हो सकता। बोलो, अब और क्या सुनने की इच्छा है ?'

शौनकजी ने सूतजी को प्रणाम कर निवेदन किया—'हे प्रभो ! गणेशजी के शुभ चरित्रों के श्रवण से मन भर ही नहीं रहा है, इसलिए अभी कुछ और भी सुनना चाहता हूँ। आप कृपया गणेशजी को प्रसन्न करने की ही कुछ विधियों का वर्णन करने की कृपा करें।'

प्राचीनकाल की बात मुझे स्मरण हो आई, सुनो। एक समय महर्षि सनन्दन के पास कौतुक-मुनि नारद जी जा पहुँचे और बोले—'प्रभो ! कृपा कर मुझे कल्पग्रन्थों के विषय में कुछ बताइये।' पहले तो महर्षि उनका कुछ अभिप्राय नहीं समझे। फिर उन्होंने उनके समक्ष कल्पग्रन्थों का सारगर्भित विवेचन आरम्भ किया। किन्तु देवर्षि को उससे शान्ति नहीं हुई। वे बोले—'प्रभो ! श्रीविनायक से सम्बन्धित कुछ प्रयोग बताइये।' तब उन्होंने विनायक-शान्ति का एक प्रयोग इस प्रकार बताया—'हे नारदजी ! यदि कोई प्राणी विघ्नराज विनायक के आदेश से पीड़ित हो रहा हो तो उसके निवारणार्थ उन्हीं विघ्नराज को प्रसन्न करना चाहिए। क्योंकि उनके प्रसन्न होने पर कोई विघ्न, कोई भी आदेश नहीं टिक पाता।'

नारदजी ने पूछा–'महर्षे ! विनायक के आवेश से पीड़ित मनुष्य के लक्षण क्या हैं ? यह बताने की कृपा कीजिए।'

सनन्दन बोले–'देवर्षे ! तुम्हारे प्रति मैं सभी कुछ कहूँगा। पीड़ा निवारण की विधि उसके बाद में सुनो–जब पद्मयोनि ब्रह्मा और कैलासपति शिव ने गजानन को समस्त गणों के आधिपत्य पर प्रतिष्ठित किया, तब उनका नाम गणपति हो गया। फिर उन्हें कोई गणेश, कोई गणेश्वर और कोई गणाध्यक्ष कहने लगे।

उस समय ब्रह्माजी और शिवजी ने उन्हें विघ्नों के विनाश का कार्य सौंपा था। परन्तु वे प्रभु जब किसी कारणवश किसी पर रुष्ट हो जाते हैं, तब उसके प्रति वक्रदृष्टि रखते हैं। उस स्थिति में उस मनुष्य को बड़े विचित्र स्वप्नों के दर्शन होते हैं।

देवर्षि की जिज्ञासा बढ़ी, उन्होंने महर्षि के चुप होते ही पूछ लिया–'महर्षे ! उस मनुष्य को प्रभु की वक्र-दृष्टि होने पर क्या-क्या स्वप्न दिखाई देते हैं, सो भी बताइये।'

महर्षि बोले–'उसे दिखाई देता है कि कोई लाल वस्त्रधारी मनुष्य सामने खड़ा या बैठा है और चाण्डालों, गधों या ऊँटों के समूह उसे चारों ओर से घेरे हुए खड़े हैं। इस प्रकार के अन्यान्य अनेक अशुभ दृश्य भी दिखाई दे सकते हैं।

नारदजी ! जाग्रतवस्था तक में अशुभ दृश्य नहीं छोड़ते। उस समय भी आवेश पीड़ित मनुष्य भ्रमजाल में पड़ा रहता है। उसे जीव-जन्तुओं के काटने का अनुभव होता है। चित्त में अशान्ति बनी रहती है तथा भय और आशंका के कारण कुछ भी करने में असमर्थ रहता है। कहीं देशान्तर में जाना अपेक्षित हो तो भी नहीं जा सकता।

वह जिस कार्य को आरम्भ करता है, उसे पूर्ण करने में सफल नहीं होता। सोना पकड़ता है तो वह मिट्टी हो जाता है। सर्वत्र हानि ही हानि

दिखाई देती है। इसलिए सदैव उदासी और निराशा छाई रहती है। जो कुछ वह सोचता है वह कार्य हो ही नहीं पाता। वाद-विवादों में सदैव पराजय का मुख देखना होता है। सर्वत्र तिरस्कार सहना होता है।

हे देवर्षि ! अधिक क्या कहूँ ? विघ्नराज की अप्रसन्नता से पीड़ित हुआ मनुष्य यदि राजकुमार हो तो भी राज्य का उपभोग नहीं कर सकता। यदि राजा हो तो राज्य हाथ से निकल जाता है। शत्रुओं का भय सदैव बना रहता है। ऐसे राजा की प्रजा विद्रोह कर बैठती है और उस स्थिति में भी राज्य से वञ्चित होना पड़ सकता है।

यदि बहुत निपुण, शास्त्रादि में निष्णात एवं पारंगत हो तो उसकी विद्या का ह्रास हो जाता है, उसे विद्वानों के समाज में कभी प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती। कभी-कभी तो मूर्खों के सामने भी शास्त्रार्थ में पराजित होना पड़ता है।

भगवान विघ्नेश का कोप यदि किसी विद्यार्थी पर हो तो वह विद्योपार्जन में असफल रहता है। जो कुछ याद करता है, वह शीघ्र ही भूल जाता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होना तो उसके लिए बहुत ही कठिन कार्य होता है, इसके फलस्वरूप अनुत्तीर्णता ही हाथ लगती है।

व्यापारियों को उनके व्यापार में लाभ नहीं हो पाता। कितना ही लाभ का सौदा क्यों न हो घाटा ही रहता है। पास की जमा पूँजी भी घाटे में निकलने लगती है। न चाहते हुए भी ऋण बढ़ने लगता है, जिनका चुकाना कठिन हो जाता है।

यदि कृषक पर भगवान् गणेश्वर कुपित होते हैं तो उसके खेत में अपेक्षित उपज नहीं होती। अतिवृष्टि से खेती नष्ट हो जाती है अथवा अनावृष्टि के कारण अन्न ही उत्पन्न नहीं होता। यदि होता भी है तथा अन्य किसी प्रकार हानि नहीं भी होती है तो खेती को पशु ही चर जाते हैं अथवा टिड्डियाँ खा जाती हैं।

हे मुने ! यदि वे भगवान् किसी कुमारी कन्या पर अप्रसन्न होते हैं तो उसे मनोनुकूल वर की प्राप्ति नहीं हो पाती । इसलिए उसका दाम्पत्य-जीवन सुखमय नहीं हो पाता । यदि किसी दम्पति पर प्रकोप होता है तो उनमें पारिवारिक अनबन के कारण गृह-कलह बढ़ जाता है । विवाहित स्त्री को भी भगवान् गणेश्वर के प्रकोप से इच्छित सन्तान की प्राप्ति नहीं हो पाती ।

इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियों पर प्रकुपित हुए विघ्नराज उन-उनके अभीष्ट में बाधक हो जाते हैं । उन विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए उन्हीं भगवान् को प्रसन्न करना चाहिए । उनके आवेश से पीड़ित मनुष्यों को आवेश से मुक्त करने के लिए निम्न विधि का प्रयोग करना उचित होगा—

हे देवर्षे ! भगवान् गणेश्वर सहज भक्तिभाव से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं । यदि कोई बहुत कठिन तपश्चर्या करता हुआ भी उनके प्रति हार्दिक भक्ति नहीं रखता तो उसे सफलता नहीं मिल सकती । इसलिए व्यर्थ के दिखावे को छोड़कर विशुद्ध प्रेम एवं अनन्य भाव से उनकी आराधना करनी चाहिए। अब मैं तुम्हें आराधना की सरल विधि बताऊँगा ।'

सरल-विधि गणपति आराधना की

भगवान् विघ्नराज को प्रसन्न करने के लिए किसी शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में आवेश पीड़ित व्यक्ति को शुद्ध जल में स्नान करना चाहिए । प्रथम घृत में पीली सरसों का चूर्ण मिलाकर उबटन करे । स्नान के पश्चात् प्रियंगु, नागकेसर, चन्दन, कस्तूरी, छार, चबीला, केसर, कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों को जल के साथ घिसकर मस्तक पर लेप करना है ।

फिर किसी गहरे कुएँ अथवा सरोवर आदि के चार कलशों में पानी भरकर लावें । वे चारों कलश एक ही आकार के और एक ही रंग के

होने चाहिए। उन्हें चार दिशाओं में स्थापित करें। तदुपरान्त पाँच पवित्र स्थानों की मिट्टी लावें। हे नारदजी ! वह मिट्टी अश्वशाला, गजशाला, गौशाला, जलाशय एवं नदियों के संगम स्थान की होनी चाहिए। वह पञ्चमृत्तिका, गोरोचना, चन्दन, गुग्गुल आदि विभिन्न द्रव्य उन-उन कलशों में डालने चाहिए।

बैठने को लाल बैल का चर्म ले तथा उसपर भद्रासन लगाकर बैठे। फिर विद्वान् ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर उनसे स्वस्तिवाचन का पाठ करावे। तदुपरान्त विघ्नराज के प्रकोप से पीड़ित यजमान को वे ब्राह्मण निम्न क्रम से अभिषिञ्चित करें–

प्रथम पूर्व दिशा के कलश का जल लेकर निम्न मन्त्र से अभिषेक करें (छीटें दें)–

सहस्राक्षं शतधारमृषिभिः पावनं कृतम् ।
तेन त्वामभिषिञ्चामि पावमान्यः पुनन्तु ते ॥

तदुपरान्त दक्षिण दिशा में रखे कलश का जल लेकर निम्न मन्त्र से अभिषिञ्चित करें–

भगस्ते वरुणो राजा भगः सूर्यो बृहस्पतिः ।
भगमिन्द्रश्च वायुश्च भगः सप्तर्षयो ददुः ॥

अब पश्चिम दिशा में रखे हुए कलश का जल लें और निम्न मन्त्र से अभिषिञ्चित करें–

यत्ते केशेषु दौर्भाग्यं सीमन्ते यच्च मूर्धनि ।
ललाटे कर्णयोरक्ष्णोरापस्तद् घ्नन्तु सर्वदा ॥

अन्त में उत्तर दिशा में रखे कलश के जल से उपर्युक्त तीनों मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अभिषेक करना चाहिए। फिर निम्न मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अभिषेक की पूर्णता करनी चाहिए–

ॐ मिताय स्वाहा। ॐ समिताय स्वाहा। ॐ शालाय स्वाहा। ॐ कटकटाय स्वाहा। ॐ कूष्माण्डाय स्वाहा। ॐ राजपुत्राय स्वाहा।

फिर मस्तक पर स्थालीपाक की विधि से चरु तैयार करना चाहिए। उस चरु का उक्त मन्त्रों के साथ ही अग्नि में हवन किया जाता है। फिर अवशिष्ट चरु से बलि सम्बन्धित मन्त्रों के साथ इन्द्रादि दिक्पालों को बलि अर्पित की जानी चाहिए।

तदुपरान्त श्रीविनायक गणेश्वर और माता पार्वती जी को नैवेद्य समर्पित करे। प्रथम गणपति को निम्न मन्त्र से नैवेद्य भेंट करे और भक्तिपूर्वक प्रणाम करे–

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे। वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।

इसके पश्चात् भगवती अम्बिका गौरी को नैवेद्य समर्पित करते हुए नमस्कार करे–

ॐ सुभगाय विद्महे। काममालिन्यै धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्।

फिर गणेशमाता गौरी की स्थापना कर उन्हें पुष्प समर्पित करे तथा पुष्प युक्त अर्घ्य प्रदान करे और अंजलि में दूर्वा, मोदक (लड्डू) एवं पुष्प चढ़ाकर निम्न मन्त्र से अम्बिका की स्तुति करनी चाहिए–

रूपं देहि यशो देहि भाग्यं भगवति देहि मे।
पुत्रान् देहि धनं देहि सर्वकामांश्च देहि मे॥

तदुपरान्त अम्बिका का षोड़शोपचार या पंचोपचार पूजन करें। अगरबत्ती, चन्दन, पुष्प आदि समर्पण कर भगवान् शंकर का पूजन करें। उन्हें नैवेद्य आदि समर्पित कर उनकी प्रतिमा के मस्तक पर श्वेत सुगन्धित चन्दन का लेप करें। उनके कण्ठ में श्वेत पुष्पों की माला धारण करावें। फिर भगवान् शंकर का ध्यान करे।

इस प्रकार समस्त विधियों को सम्पन्न कर ब्राह्मणों को भोजन करावे

और श्रद्धानुसार दक्षिणा दे फिर पुरोहित को भी दक्षिणा और दो वस्त्र प्रदान करें। हे नारदजी ! इस प्रयोग से गणेश के आवेश से पीड़ित मनुष्यों की समस्त पीढ़ाएँ दूर हो जाती हैं।

२. द्वितीय अध्याय

नारदजी की शंका का समाधान कथन

नारदजी बोले–'हे महर्षे ! आज आपने गणेश-पूजन के विधान में शिव-शिवा के पूजन का निर्देश किया है, वह क्यों करना चाहिए ? यह बात मुझे स्पष्ट बताने की कृपा करें।'

महर्षि ने बताया–'देवर्षे ! शिव-शिवा गणेशजी के माता-पिता हैं। भला पुत्र की पूजा के साथ उनकी पूजा क्यों नहीं होनी चाहिए ? अनेक पूजनों में पंचायतन पूजन का विधान है। पहले इष्टदेव का, फिर अग्नि, फिर निर्ऋति का, फिर वागीश का क्रमशः पूजन करें। पंचायतन-पूजन में मध्य में भगवान् विष्णु रहें तो क्रमशः पूर्व की ओर से गणपति, सूर्य, अम्बिका और भगवान् आशुतोष की स्थापना करनी चाहिए। इसी प्रकार सूर्य, अम्बिका, शंकर आदि देवों का पंचायतन जिस प्रकार हो, उसी का क्रमशः पूजन करे। गणेश पूजन की प्रधानता वाले पंचायतन में गणेशजी का पूजन करते हुए उनकी प्रतिमा को मध्य में स्थापित करे। इस स्थिति में पूर्व में शंकर और फिर क्रमशः देवी, सूर्य और विष्णु का पूजन करना चाहिए।

हे नारदजी ! कुछ अनुष्ठानों में मातृन्यास का भी विधान है। इसे करने में वैष्णव और शैव मातृकान्यास के पश्चात् शिवशक्ति का ध्यान करते हुए विघ्नराज गणेश्वर का न्यास करना चाहिए। इसका विधान इस प्रकार है–प्रारम्भ में मातृका स्थान में गणेश बीज लगाने के पश्चात्

एक-एक मातृवर्ण ले और अन्त में चतुर्थी विभक्ति के साथ नमः पद जोड़े। तथा–'गं अं विघ्नेश ह्रींभ्यां नमः ललाटे। गं आं विघ्नराज श्रीभ्यां नमः मुखवृत्ते।

उक्त मन्त्र में ह्रीं के साथ विघ्नेश का, श्री के साथ विघ्नराज का न्यास करना चाहिए। हे मुने! अब आपको इससे आगे का क्रम बताता हूँ–पुष्टि–विनायक, शान्ति-शिवोत्तम, स्वस्ति-विघ्नकृत्, सरस्वती-विघ्नहर्त्ता, स्वाहा-गणनाथ, सुमेधा-एकदन्त, कान्ति-द्विदन्त, कामिनी-गजमुख, मोहिनी-निरञ्जन, नटी-कपर्दी, पार्वती-दीर्घजिह्व, ज्वालिनी-शंकुकर्ण, नन्दा-वृषभध्वज, सुरेशी-गणनायक, कामरूपिणी-गजेन्द्र, उमा-शूर्पकर्ण, तेजोवती-वीरोचन, सती-लम्बोदर, विघ्नेशी-महानन्द, सुरूपधी-चतुर्मुख, कामदा-सदाशिव, पदजिह्व-आमोद, भूति-दुर्मुख, भौतिकी-सुमुख, सिता-प्रमोद, रमा-एकपाद-महिषी-द्विजिह्व, जंभिनी-शूर, विकर्ण-वीर, भृकुटी-षण्मुख, लज्जा-वरद, दीर्षघोषा-वामदेवेश, धनुर्धरी-वक्रतुण्ड, यामिनी-द्विरण्ड, रात्रि-सेनानी, ग्रामणी-कामान्ध, शशिप्रभा-मत्त, लोलनेत्रा-विमत्त, चंचला-मत्तवाह, दीप्ति-जटी, सुभगा-मुण्डी, दुर्भगा-खड्गी, शिवा-वरेण्य, भगा-वृषकेतन, भगिनी-भक्तप्रिय, भोगिनी-गणेश, सुभगा-मेघनाद, कालरात्रि-व्यापी और कालिका-गणेश।

इन गणेश मातृकाओं के गण ऋषि कहते हैं। इसका छन्द-निबूद गायत्री एवं देवता शक्ति सहित गणपति हैं। इसका बीज गां गीं गूं गौं गः इन छः स्वरों से युक्त है। इस प्रकार अंगन्यास करते हुए भगवान् श्री गणेश्वर का ध्यान निम्न प्रकार करना चाहिए–

हस्तीन्द्राननमिन्द्रचूडमरुणच्छायं त्रिनेत्रं रसा-
दाश्लिष्टं प्रियया सपद्मकरया स्वाङ्कस्थया संततम्।
बीजापूरगदाधनुस्त्रिशिखयुक्चक्राब्जपाशोत्पल-
व्रीह्यग्रस्वविषाणरत्नकलशान् हस्तैर्वहन्तं भजे॥

श्रीगणेशवर का श्रेष्ठ गजेन्द्र के समान मुख है, उनके मस्तक में अर्द्धचन्द्र सुशोभित है तथा उनकी शरीर-कान्ति अरुण वर्ण की है। वे तीन नेत्र वाले प्रभु अपने अंक में स्थित पद्महस्ता प्रिया के द्वारा प्रेमपूर्वक आलिंगित हो रहे हैं। उनकी दस भुजाएँ हैं, जिनमें क्रमशः दाड़िम, गदा, धनुष, त्रिशूल, चक्र, पद्म, पाश, उत्पल, धान्यगुच्छक, स्वदन्त, रम्य कलश स्थित हैं। इस प्रकार श्रीगणेशजी का ध्यान करते हैं।

गणेशजी के बारहों महीने के व्रत-विधान

सूतजी बोले–'हे शौनक ! महर्षि सनन्दन ने उक्त विधान संक्षेप में बता दिया और बोले–'हे मुने ! तुम्हारी जिज्ञासा शान्त हो गई होगी। यदि और कुछ पूछना चाहो तो मैं बताने को प्रस्तुत हूँ।' इसपर नारदजी ने कहा–'प्रभो ! अनेक विद्वान् गणेशजी के व्रत की बड़ी महिमा कहते हैं, इसलिए उसके सम्बन्ध में भी बताने की कृपा करें।'

ऋषि बोले–'तुम धन्य हो नारदजी ! जो बार-बार भगवान् गणेश्वर से सम्बन्धित प्रश्न करते हो। यद्यपि तुम स्वयं सभी कुछ जानते हो, फिर भी अनजान के समान जो कुछ पूछते हो, वह सब लोक-कल्याणार्थ ही है, वह बताता हूँ। देवर्षे ! गणेशजी का व्रत प्रतिमास की चतुर्थी के दिन किया जाता है। प्रत्येक मास की चतुर्थी अपना विशेष महत्त्व रखती है। इसलिए उनमें किये गये व्रतों के फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रथम मैं उन सबके फलों का वृत्तान्त ही पृथक् रूप से बताता हूँ, सुनो !

चैत्र मास की चतुर्थी में भगवान् वासुदेव स्वरूप गणेशजी का व्रत किया जाता है। उस दिन श्रद्धानुसार षोड़शोपचार से अथवा पंचोपचार से उनका पूजन करे और ब्राह्मणों को श्रद्धानुसार दक्षिणा दे। इस व्रत के फलस्वरूप पूजनकर्ता मनुष्यों को विष्णुलोक की प्राप्ति होती है। यह व्रत भोग और मोक्ष दोनों का ही देने वाला है।

वैशाख मास की चतुर्थी को भगवान् संकर्षण गणेश का व्रत करना चाहिए। उस दिन भक्तिभावपूर्वक उनका पूजन करे और ब्राह्मणों को शंख दान दे। इस व्रत के फलस्वरूप मनुष्य को भगवान् संकर्षण के श्रेष्ठ लोक की प्राप्ति होती है।

ज्येष्ठ मास की चतुर्थी में प्रद्युम्न रूपी गणेश्वर के व्रत का विधान है। इस दिन उन भगवान् का अनन्य भाव से पूजन करना चाहिए। पूजन के पश्चात् ब्राह्मणों को श्रेष्ठ, मीठे सुस्वादु फलों का दान करे। इसके फलस्वरूप पूजक को स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। यह व्रत स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं, किन्तु केवल स्त्रियों के लिए एक विशेष व्रत और है, जो ज्येष्ठ मास की चतुर्थी में ही किया जाता है। इसके फलस्वरूप वे पार्वतीजी के लोक को गमन करती हैं। इसे 'सतीव्रत' कहते हैं।

आषाढ़ मास की चतुर्थी में अनिरुद्धस्वरूप गणपति का व्रत किया जाता है। इसमें भगवान् का पूजन कर संन्यासियों को कमण्डलु दान करना चाहिए। यह समस्त संन्यासियों की मनुष्यों की समस्त कामनाएँ पूर्ण करनेवाला है।

आषाढ़ी चतुर्थी का ही एक पुत्रदायक गणेश-व्रत भी है। हे नारद ! यह रथन्तर कल्प के प्रथम दिवस किया गया था। उस दिन श्रद्धा-भक्ति सहित गणेशजी का विधिपूर्वक पूजन करना चाहिए। उसके फलस्वरूप दुर्लभ पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है। *श्रावण मास* की चतुर्थी में चन्द्रोदय होने पर गणेशजी को अर्घ्य दे और भक्तिपूर्वक उनके रूप का ध्यान करे। फिर विधिपूर्वक षोड़शोपचार पूजन कर भोग में स्वादिष्ट एवं मिष्ठ मोदक भेंट करे। फिर मोदक का ही भक्षण कर रात्रि में गणेशजी का पुनः पूजन करें। इस व्रत के प्रभाव से समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भाद्रपद मास के कृष्णपक्ष की चतुर्थी में बहुला गौ रूपी श्रीगणेशजी का षोड़शोपचार से पूजन करे और ब्राह्मणों को शक्तिभर दक्षिणा दे। यह व्रत पाँच वर्ष, दस वर्ष, सोलह वर्ष, निरन्तर करना चाहिए। अन्त में व्रत

का उद्यापन करे जिसमें दुधारू गाय का दान करे। इस व्रत के प्रभाव से व्रतकर्त्ता को भगवान् श्रीकृष्ण के गोलोकधाम की प्राप्ति होती है।

भाद्रपद में ही एक अन्य व्रत भी किया जाता है, जिसे 'सिद्धिविनायक-व्रत' कहते हैं। भाद्रपद के शुक्लपक्ष की चतुर्थी में इसे करे। प्रारम्भ में सिद्धिविनायक का ध्यान कर उनके इक्कीस नामों का उच्चारण करें। प्रत्येक नाम का उच्चारण करते समय एक प्रकार के वृक्ष की पत्ती समर्पित करे।' वस्तुतः इक्कीस प्रकार वृक्षों की पत्तियाँ पहले ही एक कर लेनी चाहिए और क्रमानुसार नाम ले लेकर चढ़ाना चाहिए। यथा–

१. 'ॐ सुमुखाय नमः का उच्चारण करके शमी पत्र चढ़ावे, २. 'ॐ गणाधीशाय नमः' कहकर माकापत्र चढ़ावे, ३. 'ॐ उमापुत्राय नमः' कहकर बिल्वपत्र, ४. 'ॐ गणमुखाय नमः' कहकर दूर्वादल, ५. 'ॐ लम्बोदराय नमः' कहकर बेरीपत्र, ६. 'ॐ हरसूनवे नमः' कहकर धत्तूरफल, ७. 'ॐ शूर्पकर्णाय नमः' कहकर तुलसीपत्र, ८. 'ॐ वक्रतुण्डाय नमः' कहकर वरवटी पत्र, ९. 'ॐ गुहाग्रजाय नमः' कहकर आघाडापत्र, १०. 'ॐ एकदन्ताय नमः' कहकर रिंगाणीपत्र, ११. 'ॐ हेरम्बाय नमः' कहकर पलाशपत्र, १२. 'ॐ चतुर्होत्रे नमः' कहकर दालचीनी, १३. 'ॐ सर्वेश्वराय नमः' कहकर अगत्स्य-पत्र, १४. 'ॐ विकटाय नमः' कहकर कन्हेरीपत्र, १५. 'ॐ इभतुण्डाय नमः' कहकर पत्थर पुष्प, १६. 'ॐ विनायकाय नमः' कहकर रुई का पत्र, १७. 'ॐ कपिलाय नमः' कहकर अर्जुनपत्र, १८. 'ॐ कटवे नमः' कहकर देवदारुपत्र, १९. 'ॐ भालचन्द्राय नमः' कहकर मरुवा, २०. 'ॐ सुराग्रजाय नमः' कहकर गान्धारी पत्र और २१. 'ॐ सिद्धिविनायकाय नमः' कहकर केतकी पत्र चढ़ावे।

हे देवर्षे! श्रीगणेश्वर के लिए उनके उक्त नामों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के पत्र-पुष्प समर्पित करने के पश्चात् दूर्वा, गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि के द्वारा उन भगवान् का पूजन करना चाहिए। फिर उन्हें पाँच, दस या अधिक मोदकों का नैवेद्य समर्पित कर आचमन करावे, ताम्बूल अर्पित करे तथा पुष्पांजलि, प्रणाम, प्रार्थना, प्रदक्षिणा आदि के साथ विसर्जन

करना चाहिए। अन्त में समस्त सामग्री सहित गणपति प्रतिमा भी ब्राह्मण को दे दें। साथ ही, शक्त्यनुसार दान-दक्षिणा भी दे। गणपति की प्रतिमा हो तो अत्युत्तम, अन्यथा अन्य किसी सौम्य धातु की बनवानी चाहिए।

चन्द्र-दर्शन का निषेध वर्णन

उक्त व्रत-पूजन प्रतिवर्ष एक दिन किया जाता है। उसे पाँच वर्ष तक तो करे ही, अधिक करे तो अधिक फल होता है। इस व्रत के फलस्वरूप उपासक को गणेशजी के स्वानन्द लोक की प्राप्ति होती है। यह गणेश-व्रत अत्यन्त प्रभावशाली है। किन्तु नारदजी ! इस चतुर्थी में रात्रि समय चन्द्रमा का दर्शन न करे। क्योंकि उस दिन चन्द्र-दर्शन से मिथ्या अभियोग लग जाता है तथा अन्य अनिष्टों की भी सम्भावना रहती है। यदि भूल से चन्द्रमा का दर्शन हो जाये तो उसके दोष-निवारणार्थ भगवान् गणेश्वर का चिन्तन करे। निम्न श्लोक का पाठ चन्द्र-दर्शन के दोष-निवारण में बहुत महत्त्वपूर्ण है—

सिंहप्रसेनमधीत् सिंहो जाम्बवता हतः।
सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः॥

हे नारदजी ! अब आश्विन मास की चतुर्थी के व्रत का फल कहता हूँ। उस दिन भगवान् कपिर्दीश विनायक का षोड़शोपचार से पूजन करे तो सर्वप्राप्ति कराता है। कार्तिक मास की चतुर्थी करका चतुर्थी या 'करवा चौथ' कहलाती है। यह व्रत प्रायः महिलाएँ करती हैं। उन्हें शुद्ध जल से स्नान कर नवीन वस्त्र धारण करने चाहिए। तदुपरान्त प्रसन्नचित्त से गणपति का पूजन करे और चौदह थालियों में स्वादिष्ट पकवान ब्राह्मणों को दे। हे मुने ! सामर्थ्य के अनुसार ही दान करना चाहिए। कम देने की शक्ति हो तो चौदह स्थानों पर कुछ दे। कुछ विद्वान् दस स्थानों पर देने का विधान बताते हैं। इस प्रकार का दान ब्राह्मणों को अथवा गुरुजनों को या बड़ी-बूढ़ी महिलाओं को भी दे सकते हैं। रात्रि में चन्द्रमा

के दर्शन कर विधिपूर्वक अर्घ्य देने के पश्चात् स्वयं भोजन करे। यह व्रत प्रतिवर्ष बारह या सोलह वर्ष तक निरन्तर करना चाहिए। फिर उसका विधिवत् उद्यापन-कार्य सम्पन्न करना उचित है। बाद में भी यदि पुनः आरम्भ करना चाहो तो कर सकते हैं।

मार्गशीर्ष मास की चतुर्थी 'वर व्रत' का आरम्भ किया जाता है। यह व्रत चार वर्ष तक निरन्तर करना चाहिए। इसमें प्रत्येक चतुर्थी को व्रत करने का विधान है। उन दिन प्रथम वर्ष श्रीगणेशजी का पूजन कर एक बार दिन में ही भोजन करे। दूसरे वर्ष दिन में भोजन न कर रात्रि में ही भोजन करना चाहिए। तीसरे वर्ष प्रत्येक चतुर्थी बिना माँगे, बिना प्रयास किये जो कुछ भी मिल जाये वही एक बार खा ले। चौथे वर्ष चतुर्थी में पूरे दिन-रात्रि उपवास करे। इस प्रकार चार वर्ष निरन्तर व्रत करने के पश्चात् व्रत-स्नान करने का विधान है।

महर्षि को मौन देखकर नारदजी ने पूछा—'प्रभो ! व्रत-स्नान की विधि भी बताने की कृपा कीजिये।' यह सुनकर महर्षि बोले—'नारदजी ! वह भी कहता हूँ, सुनो ! यदि सामर्थ्य हो तो उस दिन के लिए गणेशजी की स्वर्ण प्रतिमा बनवावे। यदि यह सम्भव न हो तो किसी काष्ठादि पवित्र पट पर हरिद्रा अथवा चन्दन से गणपति की प्रतिमा आलेखन करे। फिर धरती को लेपकर उसपर चौक पूरें और कलश स्थापित करे। उस कलश में अक्षत और पुष्प डालकर उसे दो लाल वस्त्रों में ढककर गणेशजी की वह प्रतिमा स्थापित कर दे, तदुपरान्त गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप आदि के द्वारा विधिपूर्वक पूजन करके मोदकों का भोग लगाकर आचमन, ताम्बूल, पुष्पमाला आदि समर्पित करे।

रात्रि के समय गायन, भजन, कीर्तन आदि करते हुए रात्रि में जागरण करे। फिर प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर शास्त्रोक्त विधि से सुगन्धित द्रव्यों के द्वारा हवन करना चाहिए। हे मुने ! गण, गणाधिप, ब्रह्मा, यम, वरुण, सोम, सूर्य, हुताशन, गन्धमादि और परमेष्ठी, इन सोलह नामों से आहुतियाँ देनी चाहिए। प्रत्येक नाम के प्रारम्भ में ओंकार और अन्त में चतुर्थी विभक्ति के साथ 'नमः' लगाकर प्रत्येक नाम से

एक-एक आहुति दे। तदुपरान्त 'वक्रतुण्डाय हुम्' मन्त्र के साथ १०८ आहुतियाँ देकर शेष हव्य की पूर्णाहुति करे। फिर दिक्पालों को पूजन कर चौबीस ब्राह्मणों को केवल मोदक और खीर से भोजन कराकर दक्षिणा दे। यदि सामर्थ्य हो तो पुरोहित को बछड़े वाली दुग्धवती नीरोग गाय का दक्षिणा सहित दान करे।

गणेश-व्रत सम्बन्धी फलश्रुति कथन

नारदजी! यह तो इस व्रत की कार्य-विधि हुई। इसके अनन्तर प्रसन्न- चित्त से अपने सब परिजनों के साथ बैठकर स्वयं भी भोजन करे। गणपति का यह सर्वश्रेष्ठ व्रत माना गया है। इसके प्रभाव से उपासक मर्त्यलोक में सब प्रकार के सुखों को भोगता है और अन्त में विष्णुपद भी प्राप्त होकर गणपति जी की कृपा से अत्युच्च लोक को प्राप्त होता है।'

हे मुने! अब तुम्हें पौष मास की चतुर्थी के विषय में कहता हूँ। इस दिन प्रसन्नचित्त से एवं परम भक्तिपूर्वक श्रीगणपति का पूजन कर ब्राह्मणों को मिष्ठान्न का भोजन कराकर शक्ति के अनुसार दक्षिणा दे। इस व्रत के प्रभाव से धन की प्राप्ति होती है।

माघ मास की चतुर्थी में किये जाने वाले व्रत को 'संकष्टीव्रत' कहते हैं। उस दिन उपवास करे और प्रातःकाल से सायंकाल तक गणेशजी का ध्यान करे। रात्रि में चन्द्रोदय होने पर गणेशजी की मूर्ति को प्रतिष्ठापित कर षोड़शोपचार से पूजन करे तथा नैवेद्य से मोदक प्रस्तुत करे। तदुपरान्त लाल चन्दन, कुश, दूर्वा, शमीपत्र, अक्षत, पुष्प, दही और जल को एक ताम्रपात्र में भरकर चन्द्रमा को अर्घ्य दे। उस समय निम्न मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए–

गगनार्णव माण्डव्य चन्द्रदाक्षायणीपते।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं गणेश प्रतिरूपक॥

इस प्रकार चन्द्रमा को अर्घ्य देकर यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन करावे और अन्त में स्वयं भी भोजन करे। इस व्रत के प्रभाव से व्रतकर्त्ता को धन-धान्य, समृद्धि, पशु, वाहन आदि सुखों की प्राप्ति होती है।

माघ मास की चतुर्थी में जो व्रत किया जाता है, उसे 'गौरी-व्रत' कहते हैं। उस दिन गणों के सहित श्रीगौरी का पूजन किया जाता है। माता के पूजन के कारण भगवान् गणेश्वर भी प्रसन्न होते हैं। यह व्रत भी प्रायः महिलाओं के लिए ही है। इसमें जगज्जननी गौरी की मूर्ति या प्रतीक स्थापित कर गन्ध, अक्षत, लाल पुष्प, लाल सूत्र, दीपक, अगरबत्ती, अदरक, पालक, गुड़, दूध, खीर, सेंधा नमक आदि से भक्तिभावपूर्वक पूजन करे। अन्त में माता की आरती करे। यह व्रत सौभाग्य-वृद्धि के लिए भी किया जाता है। इस तिथि से जो जप, तप, हवन, दान आदि जो कुछ सत्कार्य किया जाता है, वह भगवान् गणेश्वर के अनुग्रह से सहस्र गुणा हो जाता है।

अब फाल्गुन मास की चतुर्थी के व्रत के विषय में बताते हैं। इसे 'ढुण्ढिराज-व्रत' कहते हैं। इस व्रत की भी बड़ी महिमा कही गई है। उस दिन भी ढुण्ढिराज-गणेश की स्वर्ण प्रतिमा बनवाकर उसका पूजन करना अधिक श्रेयस्कर होता है। जो उपासक वित्त की असमर्थता के कारण स्वर्ण प्रतिमा नहीं बनवा सकते, वे अन्य शुभ धातु की अथवा मृत्तिका की मूर्त्ति का पूजन करे। विधि सहित विभिन्न उपचारों से पूजन के पश्चात् तिलों का दान एवं हवन करना चाहिए। इस व्रत के प्रभाव से सब प्रकार की सिद्धि होती है। नारदजी ने पूछा—'हे महर्षे! गणेशजी को कौन-सा वार अधिक प्रिय है?' इसके उत्तर में सनन्दन ऋषि ने कहा—'हे मुने! यद्यपि समस्त वार ही शुभ हैं, जिस वार में भी गणेशजी का पूजन किया जाता है उसी वार में किया गया पूजन शुभ फलदायक होता है। भगवान् गणेश्वर काल के भी काल एवं अधिपति हैं इसलिए कोई भी काल उन्हें बाधित नहीं कर सकता। फिर भी हे देवर्षे! मंगलवार या बुधवार अधिक हर्षदायक होता है। कुछ विद्वान् भक्त रविवार को अधिक शुभ मानते हैं। यदि रविवार या मंगलवार को चतुर्थी पड़ती हो तब तो क्या कहने? उस

दिन गणेश्वर के पूजन का बड़ा भारी महत्त्व है तथा उसके प्रभाव से विशेष सुख, समृद्धि और पुण्य की प्राप्ति होती है।' नारदजी ने पूछा–'महामते ! एक वरद-चतुर्थी कहलाती है, उसका उपदेश भगवान् शंकर ने स्कन्द के लिए किया बताया जाता है, उसके विषय में बताने की कृपा करें।'

सनन्दन बोले–'देवर्षे ! आपने अच्छा प्रश्न किया। इसके विषय में तो मैं भूल ही गया था। वरद-चतुर्थी श्रावण मास के शुक्लपक्ष में ही आती है। भगवान् शंकर ने उसकी विधि का उपदेश करते हुए कहा था कि इस दिन गणेश्वर की प्रतिमा स्थापित कर उसका विधिपूर्वक षोड़शोपचार से पूजन करे। इसमें इक्कीस दूर्वांकुर समर्पित करे और मन्त्र-पुष्पांजलि के उच्चारणपूर्वक एक मास पर्यन्त उपवास करे।'

एक मास के पश्चात् व्रत का उद्यापन कर मूर्ति का भी विसर्जन कर देना चाहिए। इस व्रत में गणेश के षडक्षरी मन्त्र के जप का भी विधान है। इस व्रत के प्रभाव से उपासक को समस्त अभीष्टों की सहज ही प्राप्ति हो जाती है। इस लोक में सब प्रकार के सुख भोग सुलभ हो जाते हैं तथा परलोक में आनन्द मिलता है। हे मुने ! भगवान् शंकर के उपदेशानुसार स्कन्द ने उक्त व्रत का अनुष्ठान करके ही भगवान् गणेश्वर को प्रसन्न किया और सिद्धि प्राप्त कर तारकासुर नामक महादैत्य का संहार किया था। हे देवर्षे ! गणपति के व्रतों की ऐसी ही अनुपम महिमा है। भक्तिभाव-पूर्वक जो भी उपासक इन विघ्नराज को प्रसन्न कर लेता है वही समस्त कामनाओं को प्राप्त करके अन्त में उच्च लोकों में परमानन्द की प्राप्ति कर लेता है।

॥ इति श्रीगणेश-पुराणं सम्पूर्णम् ॥

॥ ॐ शान्तिः। ॐ शान्तिः। ॐ शान्तिः ॥

❀❀❀

श्रीगणेशस्तोत्राणि

१. गणेशन्यास:

आचम्य, प्राणायामं सङ्कल्पं च कृत्वा, दक्षिणहस्ते वक्रतुण्डाय नमः। वामहस्ते शूर्पकर्णाय नमः। ओष्ठे विघ्नेशाय नमः। अधरोष्ठे चिन्तामणये नमः। सम्पुटे गजाननाय नमः। दक्षिणपादे लम्बोदराय नमः। वामपादे एकदन्ताय नमः। शिरसि एकदन्ताय नमः। चिबुके ब्रह्मणस्पतये नमः। दक्षिणनासिकायां विनायकाय नमः। वामनासिकायां ज्येष्ठराजाय नमः। दक्षिणनेत्रे विकटाय नमः। वामनेत्रे कपिलाय नमः। दक्षिणकर्णे धरणीधराय नमः। वामकर्णे आशापूरकाय नमः। नाभौ महोदराय नमः। हृदये धूम्रकेतवे नमः। ललाटे मयूरेशाय नमः। दक्षिणबाहौ स्वानन्दवासकारकाय नमः। वामबाहौ सच्चित्सुखधाम्ने नमः।

इति मुद्गलपुराणोक्तो गणेशन्यासः ॥१॥

२. सङ्कष्टहरणं गणेशाष्टकम् (१)

ॐ अस्य श्रीसङ्कष्टहरणस्तोत्रमन्त्रस्य श्रीमहागणपतिर्देवता, सङ्कष्ट-हरणार्थे जपे विनियोगः।

ॐ ॐ ॐकाररूपं त्र्यहमिति च परं यत्स्वरूपं तुरीयं
त्रैगुण्यातीतनीलं कलयति मनसस्तेज-सिन्दूर-मूर्तिम्।
योगीन्द्रैर्ब्रह्मरन्ध्रैः सकल-गुणमयं श्रीहरेन्द्रेण सङ्गं
गं गं गं गं गणेशं गजमुखमभितो व्यापकं चिन्तयन्ति ॥१॥
वं वं वं विघ्नराजं भजति निजभुजे दक्षिणे न्यस्तशुण्डं
क्रं क्रं क्रं क्रोधमुद्रा-दलित-रिपुबलं कल्पवृक्षस्य मूले।

दं दं दं दन्तमेकं दधति मुनिमुखं कामधेन्वा निषेव्यं
धं धं धं धारयन्तं धनदमतिधियं सिद्धि-बुद्धि-द्वितीयम् ॥२॥
तुं तुं तुं तुङ्गरूपं गगनपथि गतं व्याप्नुवन्तं दिगन्तान्
क्लीं क्लीं क्लींकारनाथं गलित-मदमिलल्लोल-मत्तालिमालम्।
ह्रीं ह्रीं ह्रींकारपिङ्गं सकलमुनिवर-ध्येयमुण्डं च शुण्डं
श्रीं श्रीं श्रीं श्रीं श्रयन्तं निखिल-निधिकुलं नौमि हेरम्बबिम्बम् ॥३॥
लौं लौं लौंकारमाद्यं प्रणवमिव पदं मन्त्रमुक्तावलीनां
शुद्धं विघ्नेशबीजं शशिकरसदृशं योगिनां ध्यानगम्यम्।
डं डं डं डामरूपं दलितभवभयं सूर्यकोटिप्रकाशं
यं यं यं यज्ञनाथं जपति मुनिवरो बाह्यमभ्यन्तरं च ॥४॥
हुं हुं हुं हेमवर्णं श्रुति-गणित-गुणं शूर्पकर्णं कृपालुं
ध्येयं सूर्यस्य बिम्बं ह्युरसि च विलसत् सर्पयज्ञोपवीतम्।
स्वाहा-हुंफट् नमो-ऽन्तैष्ठ-ठठठ-सहितैः पल्लवैः सेव्यमानं
मन्त्राणां सप्तकोटि-प्रगुणित-महिमाधारमीशं प्रपद्ये ॥५॥
पूर्वं पीठं त्रिकोणं तदुपरि रुचिरं षट्कपत्रं पवित्रं
यस्योर्ध्वं शुद्धरेखा वसुदलकमलं वा स्वतेजश्चतुस्त्रम्।
मध्ये हुङ्कारबीजं तदनु भगवतः स्वाङ्गषट्कं षडस्त्रे
अष्टौ शक्तीश्च सिद्धीर्बहुलगणपतिर्विष्टरश्चाऽष्टकं च ॥६॥
धर्माद्यष्टौ प्रसिद्धा दशदिशि विदिता वा ध्वजाल्यः कपालं
तस्य क्षेत्रादिनाथं मुनिकुलमखिलं मन्त्रमुद्रामहेशम्।
एवं यो भक्तियुक्तो जपति गणपतिं पुष्प-धूपा-ऽक्षताद्यै-
र्नैवेद्यैर्मोदकानां स्तुतियुत-विलसद् गीतवादित्र-नादैः ॥७॥

राजानस्तस्य भृत्या इव युवतिकुलं दासवत् सर्वदास्ते
लक्ष्मीः सर्वाङ्गयुक्ता श्रयति च सदनं किङ्कराः सर्वलोकाः।
पुत्राः पुत्र्यः पवित्रा रणभुवि विजयी द्यूतवादेऽपि वीरो
यस्येशो विघ्नराजो निवसति हृदये भक्तिभाग् यस्य रुद्रः ॥८॥

इति सङ्कष्टहरणं गणेशाष्टकं सम्पूर्णम् ॥२॥

३. गणेशाष्टकम् (२)

सर्वे ऊचुः

यतोऽनन्तशक्तेरनन्ताश्च जीवा यतो निर्गुणादप्रमेया गुणास्ते।
यतो भाति सर्वं त्रिधा भेदभिन्नं सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥१॥
यतश्चाविरासीज्जगत्सर्वमेतत् तथाऽब्जासनो विश्वगो विश्वगोप्ता।
तथेन्द्रादयो देवसङ्घा मनुष्याः सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥२॥
यतो वह्नि-भानू भवो भूर्जलं च यतः सागराश्चन्द्रमा व्योम वायुः।
यतः स्थावरा जङ्गमा वृक्षसङ्घाः सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥३॥
यतो दानवाः किन्नरा यक्षसङ्घा यतश्चारणा वारणाः श्वापदाश्च।
यतः पक्ष-कीटा यतो वीरुधश्च सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥४॥
यतो बुद्धिरज्ञाननाशो मुमुक्षोर्यतः सम्पदो भक्तिसन्तोषिकाः स्युः।
यतो विघ्ननाशो यतः कार्यसिद्धिः सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥५॥
यतः पुत्रसम्पद्यतो वाञ्छितार्थो यतोऽभक्त-विघ्नास्तथा-ऽनेकरूपाः।
यतः शोक-मोहौ यतः काम एवं सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥६॥
यतोऽनन्तशक्तिः स शेषो बभूव धराधारणेऽनेकरूपे च शक्तः।
यतोऽनेकधा स्वर्गलोका हि नाना सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥७॥

यतो वेदवाचोऽतिकुण्ठा मनोभिः सदा नेति नेतीति यत्ता गृणन्ति।
परब्रह्मरूपं चिदानन्दभूतं सदा तं गणेशं नमामो भजामः ॥८॥

श्रीगणेश उवाच

पुनरूचे गणाधीशः स्तोत्रमेतत् पठेन्नरः।
त्रिसन्ध्यं त्रिदिनं तस्य सर्वं कार्यं भविष्यति ॥९॥
यो जपेदष्टदिवसं श्लोकाष्टकमिदं शुभम्।
अष्टवारं चतुर्थ्यां तु सोऽष्टसिद्धीरवाप्नुयात् ॥१०॥
यः पठेन्मासमात्रं तु दशवारं दिने दिने।
स मोचयेद् बन्धगतं राजवध्यं न संशयः ॥११॥
विद्याकामो लभेद् विद्यां पुत्रार्थी पुत्रमाप्नुयात्।
वाञ्छिताँल्लभते सर्वमेकविंशतिवारतः ॥१२॥
यो जपेत् परया भक्त्या गजाननपरो नरः।
एवमुक्त्वा ततो देवश्चान्तर्धानं गतः प्रभुः ॥१३॥

इति श्रीगणेशपुराणे गणेशाष्टकं सम्पूर्णम् ॥३॥

४. गणेशाष्टकम् (३)

गणपति-परिवारं चारुकेयूरहारं गिरिधरवरसारं योगिनीचक्रवारम्।
भव-भय-परिहारं दुःख-दारिद्र्यदूरं गणपतिमभिवन्दे वक्रतुण्डावतारम् ॥१॥
अखिलमलविनाशं पाणिना हस्तपाशं कनकगिरिनिकाशं सूर्यकोटिप्रकाशम्।
भज भवगिरिनाशं मालतीतीरवासं गणपतिमभिवन्दे मानसे राजहंसम् ॥२॥
विविध-मणि-मयूखैः शोभमानं विदूरैः कनक-रचित-चित्रं कण्ठदेशे विचित्रम्।
दधति विमलहारं सर्वदा यत्नसारं गणपतिमभिवन्दे वक्रतुण्डावतारम् ॥३॥

दुरितगजममन्दं वारणीं चैव वेदं विदितमखिलनादं नृत्यमानन्दकन्दम् ।
दधति शशिसुवक्त्रं चाऽङ्कुशं यो विशेषं गणपतिमभिवन्दे सर्वदाऽऽनन्दकन्दम् ॥४॥
त्रिनयनयुतभाले शोभमाने विशाले मुकुट-मणि-सुढाले मौक्तिकानां च जाले ।
धवलकुसुममाले यस्य शीर्ष्णः सताले गणपतिमभिवन्दे सर्वदा चक्रपाणिम् ॥५॥
वपुषि महति रूपं पीठमादौ सुदीपं तदुपरि रसकोणं यस्य चोर्ध्वं त्रिकोणम् ।
गजमितदलपद्मं संस्थितं चारुछद्मं गणपतिमभिबन्दे कल्पवृक्षस्य वृन्दे ॥६॥
वरदविशदशस्तं दक्षिणं यस्य हस्तं सदयमभयदं तं चिन्तये चित्तसंस्थम् ।
शबलकुटिलशुण्डं चैकतुण्डं द्वितुण्डं गजपतिमभिवन्दे सर्वदा वक्रतुण्डम् ॥७॥
कल्पद्रुमाधःस्थिते कामधेनुं चिन्तामणिं दक्षिण-पाणि-शुण्डम् ।
बिभ्राणमत्यद्भुतचित्तरूपं यः पूजयेत् तस्य समस्तसिद्धिः ॥८॥
व्यासाऽष्टकमिदं पुण्यं गणेशस्तवनं नृणाम् ।
पठतां दुःखनाशाय विद्यां संश्रियमश्नुते ॥९॥

इति श्रीपद्मपुराणे उत्तरखण्डे व्यासविरचितं गणेशाष्टकं सम्पूर्णम् ॥४॥

❁❁❁

५. गणेशाष्टकम् (४)

गजवदन गणेश त्वं विभो विश्वमूर्ते ! हरसि सकलविघ्नान् विघ्नराज प्रजानाम् ।
भवति जगति पूजा पूर्वमेव त्वदीया वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥१॥
सपदि सकलविघ्ना यान्ति दूरे दयालो तव शुचि रुचिरं स्यान्नामसङ्कीर्तनं चेत् ।
अत इह मनुजास्त्वां सर्वकार्ये स्मरन्ति वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥२॥
सकलदुरितहन्तुः स्वर्गमोक्षादिदातुः सुररिपुवधकर्त्तुः सर्वविघ्नप्रहर्त्तुः ।
तव भवति कृपातोऽशेष-सम्पत्तिलाभो वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥३॥

तव गणप गुणानां वर्णने नैव शक्ता जगति सकलवन्द्या शारदा सर्वकाले।
तदितर मनुजानां का कथा भालदृष्टे वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥४॥
बहुतरमनुजैस्ते दिव्यनाम्नां सहस्रैः स्तुतिहुतिकरणेन प्राप्यते सर्वसिद्धिः।
विधिरयमखिलो वै तन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥५॥
त्वदितरदिह नास्ते सच्चिदानन्दमूर्ते इति निगदति शास्त्रं विश्वरूपं त्रिनेत्र।
त्वमसि हरिरथ त्वं शङ्करस्त्वं विधाता वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥६॥
सकलसुखद माया या त्वदीया प्रसिद्धा शशधरधरसूनो त्वं तया क्रीडसीह।
नट इव बहुवेषं सर्वदा संविधाय वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥७॥
भव इह पुरतस्ते पात्ररूपेण भर्त्तः बहुविधनरलीलां त्वां प्रदर्श्याशु याचे।
सपदि भवसमुद्रान्मां समुद्धारयस्व वरदवर कृपालो चन्द्रमौले प्रसीद ॥८॥
अष्टकं गणनाथस्य भक्त्या यो मानवः पठेत्।
तस्य विघ्नाः प्रणश्यन्ति गणेशस्य प्रसादतः ॥९॥

इति जगद्गुरु-शङ्कराचार्य-स्वामिश्रीशान्तानन्दसरस्वती-शिष्य-स्वामि-श्रीमदनन्तानन्दसरस्वतीविरचितं गणेशाष्टकं सम्पूर्णम् ॥५॥

६. गणेशकवचम्

गौर्युवाच

एषोऽतिचपलो दैत्यान् बाल्येऽपि नाशयत्यहो।
अग्रे किं कर्म कर्तेति न जाने मुनिसत्तम ! ॥१॥
दैत्या नाना-विधा दुष्टाः साधुदेवद्रुहः खलाः।
अतोऽस्य कण्ठे किञ्चित्त्वं रक्षार्थं बद्धुमर्हसि ॥२॥

मुनिरुवाच

ध्यायेत् सिंहगतं विनायकममुं दिग्बाहुमाद्ये युगे
त्रेतायां तु मयूरवाहनममुं षड्बाहुकं सिद्धिदम्।
द्वापरे तु गजाननं युग-भुजं रक्ताङ्गरागं विभुं
तुर्ये तु द्विभुजं सिताङ्गरुचिरं सर्वार्थदं सर्वदा ॥३॥
विनायकं शिखां पातु परमात्मा परात्परः।
अतिसुन्दरकायस्तु मस्तकं सुमहोत्कटः ॥४॥
ललाटं कश्यपः पातु भ्रूयुगं तु महोदरः।
नयने भालचन्द्रस्तु गजास्यस्त्वोष्ठपल्लवौ ॥५॥
जिह्वां पातु गणक्रीडश्चिबुकं गिरिजासुतः।
वाचं विनायकः पातु दन्तान् रक्षतु विघ्नहा ॥६॥
श्रवणौ पाशपाणिस्तु नासिकां चिन्तितार्थदः।
गणेशस्तु मुखं कण्ठं पातु देवो गणञ्जयः ॥७॥
स्कन्धौ पातु गजस्कन्धः स्तनौ विघ्नविनाशनः।
हृदयं गणनाथस्तु हेरम्बो जठरं महान् ॥८॥
धराधरः पातु पार्श्वौ पृष्ठं विघ्नहरः शुभः।
लिङ्गं गुह्यं सदा पातु वक्रतुण्डो महाबलः ॥९॥
गणक्रीडो जानु-जङ्घे ऊरू मङ्गलमूर्तिमान्।
एकदन्तो महाबुद्धिः पादौ गुल्फौ सदाऽवतु ॥१०॥
क्षिप्रप्रसादनो बाहू पाणी आशाप्रपूरकः।
अङ्गुलीश्च नखान् पातु पद्महस्तोऽरिनाशनः ॥११॥

सर्वाङ्गानि मयूरेशो विश्वव्यापी सदाऽवतु ।
अनुक्तमपि यत् स्थानं धूम्रकेतुः सदाऽवतु ॥१२॥
आमोदस्त्वग्रतः पातु प्रमोदः पृष्ठतोऽवतु ।
प्राच्यां रक्षतु बुद्धीश आग्नेय्यां सिद्धिदायकः ॥१३॥
दक्षिणस्यामुमापुत्रो नैर्ऋत्यां तु गणेश्वरः ।
प्रतीच्यां विघ्नहर्ताऽव्याद् वायव्यां गजकर्णकः ॥१४॥
कौबेर्यो निधिपः पायादीशान्यामीशनन्दनः ।
दिवाऽव्यादेकदन्तस्तु रात्रौ सन्ध्यासु विघ्नहृत् ॥१५॥
राक्षसा-ऽसुर-वेताल-ग्रह-भूत-पिशाचतः ।
पाशाङ्कुशधरः पातु रजः-सत्त्व-तमः-स्मृतिः ॥१६॥
ज्ञानं धर्मं च लक्ष्मीं च लज्जां कीर्तिं तथा कुलम् ।
वपुर्धनं च धान्यं च गृह-दाराः सुतान् सखीन् ॥१७॥
सर्वायुधधरः पौत्रान् मयूरेशोऽवतात् सदा ।
कपिलोऽजाविकं पातु गजाश्वाद् विकटोऽवतु ॥१८॥
भूर्जपत्रे लिखित्वेदं यः कण्ठे धारयेत् सुधीः ।
न भयं जायते तस्य यक्ष-रक्षः पिशाचतः ॥१९॥
त्रिसन्ध्यं जपते यस्तु वज्रसारतनुर्भवेत् ।
यात्राकाले पठेद् यस्तु निर्विघ्नेन फलं लभेत् ॥२०॥
युद्धकाले पठेद् यस्तु विजयं चाप्नुयाद् ध्रुवम् ।
मारणोच्चाटना - ऽऽकर्ष - स्तम्भ-मोहन-कर्मणि ॥२१॥
सप्तवारं जपेदेतद् दिनानामेकविंशतिम् ।
तत्तत्फलमवाप्नोति साधको नाऽत्र संशयः ॥२२॥

एकविंशतिवारं च पठेत् तावद्-दिनानि यः।
कारागृहगतं सद्यो राज्ञा वध्यं च मोचयेत् ॥२३॥
राजदर्शनवेलायां पठेदेतत् त्रिवारतः।
स राजानं वशं नीत्वा प्रकृतीश्च सभां जयेत् ॥२४॥
इदं गणेशकवचं कश्यपेन समीरितम्।
मुद्गलाय च तेनाथ माण्डव्याय महर्षये ॥२५॥
मह्यं स प्राह कृपया कवचं सर्वसिद्धिदम्।
न देयं भक्तिहीनाय देयं श्रद्धावते शुभम् ॥२६॥
अनेनाऽस्य कृता रक्षा न बाधाऽस्य भवेत् क्वचित्।
राक्षसा - ऽसुर - वेताल - दैत्य - दानवसम्भवाः ॥२७॥

इति श्रीगणेशपुराणे उत्तरखण्डे गणेशकवचं सम्पूर्णम् ॥६॥

❀❀❀

७. सङ्कष्टनाशनं गणेशस्तोत्रम्

नारद उवाच

प्रणम्य शिरसा देवं गौरीपुत्रं विनायकम्।
भक्तावासं स्मरेन्नित्यमायुः-कामा-ऽर्थसिद्धये ॥१॥
प्रथमं वक्रतुण्डं च एकदन्तं द्वितीयकम्।
तृतीयं कृष्ण-पिङ्गाक्षं गजवक्त्रं चतुर्थकम् ॥२॥
लम्बोदरं पञ्चमं च षष्ठं विकटमेव च।
सप्तमं विघ्नराजं च धूम्रवर्णं तथाऽष्टमम् ॥३॥
नवमं भालचन्द्रं च दशमं तु विनायकम्।
एकादशं गणपतिं द्वादशं तु गजाननम् ॥४॥

द्वादशैतानि नामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः।
न च विघ्नभयं तस्य सर्वसिद्धिकरं परम् ॥५॥
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धनम्।
पुत्रार्थी लभते पुत्रान् मोक्षार्थी लभते गतिम् ॥६॥
जपेद् गणपतिस्तोत्रं षड्भिर्मासैः फलं लभेत्।
संवत्सरेण सिद्धिं च लभते नाऽत्र संशयः ॥७॥
अष्टानां ब्राह्मणानां च लिखित्वा यः समर्पयेत्।
तस्य विद्या भवेत् सर्वा गणेशस्य प्रसादतः ॥८॥

इति श्रीनारदपुराणे सङ्कष्टनाशनं गणेशस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥७॥

❀❀❀

८. श्रीगणेशमहिम्नःस्तोत्रम्

अनिर्वाच्यं रूपं स्तवन-निकरो यत्र गणितस्तथा वक्ष्ये स्तोत्रं प्रथमपुरुषस्याऽत्र महतः।
यतो जातं विश्वं स्थितमपि सदा यत्र विलयः स कीदृग् गीर्वाणः सुनिगमनुतः श्रीगणपतिः ॥१॥
गणेशं गाणेशाः शिवमिति च शैवाश्च विबुधा रविं सौरा विष्णुं प्रथमपुरुषं विष्णुभजकाः।
वदन्त्येके शक्ता जगदुदयमूलां परशिवां न जाने किं तस्मै नम इति परंब्रह्म सकलम् ॥२॥
तथेशं योगज्ञा गणपतिमिमं कर्म निखिलं समीमांसा वेदान्तिन इति परं ब्रह्म सकलम्।
अजां साङ्ख्यो ब्रूते सकलगुणरूपां च सततं प्रकर्तारं न्यायस्त्वथ जगति बौद्धा धियमिति ॥३॥
कथं गेयो बुद्धेः परतर इयं बाह्यसरणिर्यथा धीर्यस्य स्यात् स च तदनुरूपो गणपतिः।
महत्कृत्यं तस्य स्वयमपि महान् सूक्ष्ममणुवद् ध्वनिर्ज्योतिर्बिन्दुर्गगनसदृशः किञ्च सदसत् ॥४॥
अनेकास्योऽपाराक्षि-करचरणोऽनन्त-हृदयस्तथा नानारूपो विविधवदनः श्रीगणपतिः।
अनन्ताह्वः शक्त्या विविध-गुणकर्मैक-समयेत्वसंख्यातानन्ताभिमत-फलदोऽनेकविषये ॥५॥

न यस्याऽन्तो मध्यो न च भवति चादिः सुमहतामलिप्तः कृत्वेत्थं सकलमपि खं वत्स च पृथक् ।
स्मृतः संस्मर्तॄणां सकलहृदयस्थः प्रियकरो नमस्तस्मै देवाय च सकलवन्द्याय महते ॥६॥

गणेशाद्यं बीजं दहन-वनिता-पल्लवयुतं मनुश्चैकार्णोऽयं प्रणवसहितोऽभीष्टफलदः ।
सबिन्दुश्चाद्यं गणकऋषिछन्दोऽस्य च निचृत् स देवः प्राग्बीजं वियदपि च शक्तिर्जपकृताम् ॥७॥

गकारो हेरम्ब ! सगुण इति पुंनिर्गुणमयोद्विधाऽप्येको जातः प्रकृतिपुरुषो ब्रह्म हि गणः ।
स चेशश्चोत्पत्ति-स्थिति-लयकरोऽयं प्रथमको यतो भूतं भव्यं भवति पतिरीशो गणपतिः ॥८॥

गकारः कण्ठोर्ध्वं गजमुखसमो मर्त्यसदृशो णकारः कण्ठाधोजठरसदृशाकार इति च ।
अधोभागः कट्यां चरण इति हीशोऽस्य च तनुर्विभातीत्थं नाम त्रिभुवनसमं भूर्भुवः स्वः ॥९॥

गणेशेति त्र्यर्णात्मकमपि वरं नाम सुखदं सकृत्प्रोच्चैरुच्चारितमिति नृभिः पावनकरम् ।
गणेशस्यैकस्य प्रतिजपकरस्यास्य सुकृतं न विज्ञातो नाम्नः सकलमहिमा कीदृशविधः ॥१०॥

गणेशेत्याह्वं यः प्रवदति मुहुस्तस्य पुरतः प्रपश्यंस्तद्वक्त्रं स्वयमपि गणस्तिष्ठति तदा ।
स्वरूपस्य ज्ञानं त्वमुक इति नाम्नाऽस्य भवति प्रबोधः सुप्तस्य त्वखिलमिह सामर्थ्यममुना ॥११॥

गणेशो विश्वेऽस्मिन् स्थित इह च विश्वं गणपतौ गणेशो यत्रास्ते धृति-मतिरनैश्वर्यमखिलम् ।
समुक्तं नामैकं गणपतिपदं मङ्गलमयं तदेकास्यं दृष्टेः सकल-विबुधास्येक्षण-समम् ॥१२॥

बहुक्लेशैर्व्याप्तः स्मृत उत गणेशे च हृदये क्षणात् क्लेशान् मुक्तो भवति सहसा वभ्रचयवत् ।
वने विद्यारम्भे युधि रिपुभये कुत्र गमने प्रवेशे प्राणान्ते गणपतिपदं चाऽऽशु विशति ॥१३॥

गणाध्यक्षो ज्येष्ठः कपिल अपरो मङ्गलनिधिर्दयालुर्हेरम्बो वरद इति चिन्तामणिरजः ।
वरानीशो ढुण्ढिर्गजवदननामा शिवसुतो मयूरेशो गौरीतनय इति नामानि पठति ॥१४॥

महेशोऽयं विष्णुः सकविरविरिन्दुः कमलजः क्षितिस्तोयं वह्निः श्वसन इति खं त्वद्रिरुदधिः ।
कुजस्तारः शुक्रो गुरुरुडुबुधोऽगुश्च धनदो यमः पाशी काव्यः शनिरखिलरूपो गणपतिः ॥१५॥

मुखं वह्निः पादौ हरिरपि विधाता प्रजननं रविर्नेत्रे चन्द्रो हृदयमपि कामोऽस्य मदनः ।
करौ शक्रः कट्यामवनिरुदरं भाति दशनं गणेशस्यासन् वै क्रतुमयवपुश्चैव सकलम् ॥१६॥

अनर्घ्यालङ्कारैररुण-वसनैर्भूषित-तनुः करीन्द्रास्यः सिंहासनमुपगतो भाति बुधराट् ।
स्मितः स्यात्तन्मध्येऽप्युदित-रविबिम्बोपम-रुचिः स्थिता सिद्धिर्वामे मतिरितरगा चामरकरा ॥१७॥
समन्तात्तस्यासन् प्रवरमुनिसिद्धाः सुरगणाः प्रशंसन्तीत्यग्रे विविधनुतिभिः साऽञ्जलिपुटाः ।
बिडौजाद्यैर्ब्रह्मादिभिरनुवृतो भक्तनिकरैर्गणक्रीडामोद-प्रमुद-विकटाद्यैः सहचरैः ॥१८॥
वशित्वाद्यष्टाष्टादश-दिगखिलाल्लोलमनुवाग्धृतिः पादूः खड्गोऽञ्जनरसबलाः सिद्धय इमाः ।
सदा पृष्ठे तिष्ठन्त्यनिमिषदृशस्तन्मुखलया गणेशं सेवन्तेऽप्यतिनिकटसूपायनकराः ॥१९॥
मृगाङ्कास्या रम्भाप्रभृतिगणिका यस्य पुरतः सुसङ्गीतं कुर्वन्त्यपि कुतुकगन्धर्वसहिताः ।
मुदा पारोनाऽत्रेत्यनुपमपदे दोर्विगलिता स्थिरं जातं चित्तं चरणमवलोक्यास्य विमलम् ॥२०॥
हरेणाऽयं ध्यातस्त्रिपुरमथने चाऽसुरवधे गणेशः पार्वत्या बलिविजयकालेऽपि हरिणा ।
विधात्रा संसृष्टावुरगपतिना क्षोणिधरणे नरैः सिद्धौ मुक्तौ त्रिभुवनजये पुष्पधनुषा ॥२१॥
अयं सुप्रासादे सुर इव निजानन्दभुवने महान् श्रीमानाद्यो लघुतरगृहे रङ्कसदृशः ।
शिवद्वारे द्वाः स्थो नृप इव सदा भूपतिगृहे स्थितो भूत्वोमाङ्के शिशुगणपतिर्लालनपरः ॥२२॥
अमुष्मिन् सन्तुष्टे गजवदन एवापि विबुधे ततस्ते सन्तुष्टास्त्रिभुवनगताः स्युर्बुधगणाः ।
दयालुर्हेरम्बो न च भवति यस्मिंश्च पुरुषे वृथा सर्वं तस्य प्रजननमतः सान्द्रतमसि ॥२३॥
वरेण्योभूशुण्डिर्भृगु-गुरु-कुजा-मुद्गलमुखाः ह्यपारास्तद्भक्ता जप-हवन-पूजा-स्तुतिपराः ।
गणेशोऽयं भक्तप्रिय इति च सर्वत्र गदितं विभक्तिर्यत्रास्ते स्वयमपि सदा तिष्ठति गणः ॥२४॥
मृदः काश्चिद्धातोश्छद-विलिखिता वाऽपि दृषदः स्मृताव्याजान्मूर्तिः पथि यदि बहिर्येन सहसा ।
अशुद्धोऽद्धा द्रष्टा प्रवदति तदाह्वा गणपतेः श्रुतः शुद्धोमर्त्यो भवति दुरितादविस्मय इति ॥२५॥
वहिर्द्वारस्योर्ध्वं गजवदन-वर्ष्मेन्धनमयं प्रशस्तं वा कृत्वा विविध-कुशलैस्तत्र निहतम् ।
प्रभावात्तन्मूर्त्या भवति सदनं मङ्गलमयं त्रिलोक्यानन्दस्तां भवति जगतो विस्मय इति ॥२६॥
सिते भाद्रे मासे प्रतिशरदि मध्याह्नसमये मृदो मूर्तिं कृत्वा गणपतितिथौ ढुण्ढिसदृशीम् ।
समर्चन्त्युत्साहः प्रभवति महान् सर्वसदने विलोक्यानन्दस्तां प्रभवति नृणां विस्मय इति ॥२७॥

तथा ह्येकः श्लोको वरयति महिम्नो गणपतेः कथं स श्लोकेऽस्मिन् स्तुत इति भवेत् संप्रपठिते।
स्मृतं नामास्यैकं सकृदिदमनन्ताह्वयसमं यतो यस्यैकस्य स्तवनसदृशं नाऽन्यदपरम् ॥२८॥
गजवदन विभो यद्वर्णितं वैभवं ये त्विह जनुषि ममेत्थं चारु तद्दर्शयाशु।
त्वमसि च करुणायाः सागरः कृत्स्नदाताऽप्यति तव भृतकोऽहं सर्वदा चिन्तकोऽस्मि ॥२९॥
सुस्तोत्रं प्रपठतु नित्यमेतदेव स्वानन्दं प्रतिगमनेऽप्ययं सुमार्गः।
सञ्चिन्त्यं स्वमनसि सत्पदारविन्दं तथाप्याग्रेस्तवनफलं नतीः करिष्ये ॥३०॥
गणेशदेवस्य माहात्म्यमेतद् यः श्रावयेद् वाऽपि पठेच्च तस्य।
क्लेशालयं यान्ति लभेच्च शीघ्रं स्त्री-पुत्र-विद्यार्थ-गृहं च मुक्तिम् ॥३१॥

इति श्रीपुष्पदन्तविरचितं गणेशमहिम्नः स्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥८॥

९. गणेशाऽष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्

यम उवाच

गणेश हेरम्ब गजाननेति महोदर स्वानुभवप्रकाशिन्!
वरिष्ठ! सिद्धिप्रिय! बुद्धिनाथ! वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥१॥
अनेकविघ्नान्तक वक्रतुण्ड स्वसंज्ञवासिंश्च चतुर्भुजेति।
कवीश देवान्तकनाशकारिन्! वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥२॥
महेशसूनो गजदैत्यशत्रो वरेण्यसूनो विकट त्रिनेत्र!।
परेश पृथ्वीधर एकदन्त वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥३॥
प्रमोद मोदेति नरान्तकारे षडूर्मिहन्तर्गजकर्ण ढुण्ढे!।
द्वन्द्वारिसिन्धो स्थिरभावकारिन्! वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥४॥
विनायक ज्ञानविघातशत्रो पराशरस्यात्मज विष्णुपुत्र!।
अनादिपूजाऽऽखुग सर्वपूज्य! वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥५॥

विघ्नेज्य लम्बोदर धूम्रवर्ण मयूरपालेति मयूरवाहिन् !।
सुराऽसुरैः सेवितपादपद्म वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥६॥
वरिन्महाखुध्वज शूर्पकर्ण शिवाज सिंहस्थ अनन्तवाह !।
दितौज विघ्नेश्वर शेषनाभे वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥७॥
अणोरणीयो महतो महीयो रवेर्ज योगेशज ज्येष्ठराज !।
निधीश मन्त्रेण च शेषपुत्र वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥८॥
वर-प्रदातरदितेश्च सूनो परात्पर ज्ञानद तारवक्त्र !।
गुहाग्रज ब्राह्मण पार्श्वपुत्र वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥९॥
सिन्धोश्च शत्रो परशुप्रयाणे शमीश पुष्पप्रिय विघ्नहारिन्।
दूर्वाभरैरर्चित देवदेव वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥१०॥
धियः प्रदातश्च शमीप्रियेति सुसिद्धिदातश्च सुशान्तिदातः।
अमेय-मायामित-विक्रमेति वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥११॥
द्विधा-चतुर्थीप्रिय कश्यपाच्च धनप्रद ज्ञानपदप्रकाशिन्।
चिन्तामणे चित्तविहार-कारिन् ! वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥१२॥
यमस्य शत्रो ह्यभिमानशत्रो विधेर्जहन्तः कपिलस्य सूनो।
विदेह स्वानन्दज योगयोग वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥१३॥
गणस्य शत्रो कपिलस्य शत्रो समस्तभावज्ञ च भालचन्द्र !।
अनादि-मध्यान्तमय प्रचारिन् वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥१४॥
विभो जगद्रूप गणेश भूमन् पुष्टेः पते आखुगतेति बोधः।
कर्तुश्च पातुश्च तु संहरेति वदन्तमेवं त्यजत प्रभीताः ॥१५॥
इदमष्टोत्तरशतं नाम्नां तस्य पठन्ति ये।
शृण्वन्ति तेषु वै भीताः कुरुध्वं मा प्रवेशनम् ॥१६॥

भुक्ति-मुक्तिप्रदं ढुण्ढेर्धन-धान्य-प्रवर्धनम् ।
ब्रह्मभूतकरं स्तोत्रं जपन्तं नित्यमादरात् ॥१७॥
यत्र कुत्र गणेशस्य चिह्नयुक्तानि वै भटाः ।
धामानि तत्र संभीताः कुरुध्वं मा प्रवेशनम् ॥१८॥

इति मुद्गलपुराणे यमदूतसंवादे गणेशाऽष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम् ॥९॥

❀❀❀

१०. गणेशसहस्रनामस्तोत्रम्

व्यास उवाच

कथं नाम्नां सहस्रं स्वं गणेश उपदिष्टवान् ।
शिवायैतन्ममाचक्ष्व लोकानुग्रहतत्पर ॥१॥

ब्रह्मोवाच

देव एवं पुरारातिः पुरत्रय-जयोद्यमे ।
अनर्चनाद् गणेशस्य जातो विघ्नकुलः किल ॥२॥
मनसा स विनिर्धार्य ततस्तद्विघ्नकारणम् ।
महागणपतिं भक्त्या समभ्यर्च्य यथाविधि ॥३॥
विघ्न - प्रशमनोपायमपृच्छदपराजितः ।
सन्तुष्टः पूजया शम्भोर्महागणपतिः स्वयम् ॥४॥
सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम् ।
ततस्तस्मै स्वकं नाम्नां सहस्रमिदमब्रवीत् ॥५॥

ॐ अस्य श्रीमहागणपति-सहस्रनामस्तोत्र-मन्त्रस्य महागणपतिर्ऋषिः, अनुष्टुप्छन्दः, महागणपतिर्देवता, गं बीजम्, हुं शक्तिः, स्वाहा कीलकम्, चतुर्विधपुरुषार्थ-सिद्ध्यर्थे जपादौ विनियोगः ।

न्यासः—ॐ गां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, हृदयाय नमः। ॐ गीं तर्जनीभ्यां नमः, शिरसे स्वाहा। ॐ गूं मध्यमाभ्यां नमः, शिखायै वषट्। ॐ गैं अनामिकाभ्यां नमः, कवचाय हुं। ॐ गौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ गः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः, अस्त्राय फट्। इति न्यासः।

ध्यानम्

पञ्चवक्त्रो दशभुजो भालचन्द्रः शशिप्रभः।
मुण्डमालः सर्पभूषो मुकुटाङ्गदभूषणः॥
अग्न्यर्क-शशिनो भाभिस्तिरस्कुर्वन् दशायुधः॥

मानसोपचारैः सम्पूज्य, लं पृथिव्यात्मकं गन्धं कल्पयामि नमः, इत्यादि।

श्रीमहागणपतिरुवाच

ॐ गणेश्वरो गणक्रीडो गणनाथो गणाधिपः।
एकदंष्ट्रो वक्रतुण्डो गजवक्त्रो महोदरः॥१॥
लम्बोदरो धूम्रवर्णो विकटो विघ्ननायकः।
सुमुखो दुर्मुखो बुद्धो विघ्नराजो गजाननः॥२॥
भीमः प्रमोद आमोदः सुरानन्दो मदोत्कटः।
हेरम्बः शम्बरः शम्भुर्लम्बकर्णो महाबलः॥३॥
नन्दनोऽलम्पटोऽभीरुर्मेघनादो गणञ्जयः।
विनायको विरूपाक्षो धीरशूरो वरप्रदः॥४॥
महागणपतिर्बुद्धिप्रियः क्षिप्रप्रसादनः।
रुद्रप्रियो गणाध्यक्ष उमापुत्रोऽघनाशनः॥५॥
कुमारगुरुरीशानपुत्रो मूषकवाहनः।
सिद्धिप्रियः सिद्धिपतिः सिद्धिः सिद्धिविनायकः॥६॥
अविघ्नस्तुम्बुरुः सिंहवाहनो मोहिनीप्रियः।
कटङ्कटो राजपुत्रः शालकः सम्मितोऽमितः॥७॥

कूष्माण्ड-साम-सम्भूतिर्दुर्जयो धूर्जयो जयः ।
भूपतिर्भुवपनपतिर्भूतानां पतिरव्ययः ॥८॥
विश्वकर्ता विश्वमुखो विश्वरूपो निधिर्घृणिः ।
कविः कवीनामृषभो ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पतिः ॥९॥
ज्येष्ठराजो निधिपतिर्निधिप्रियपतिप्रियः ।
हिरण्मय - पुरान्तस्थः सूर्यमण्डलमध्यगः ॥१०॥
कराहति - ध्वस्त - सिन्धु - सलिलः पूषदन्तभित् ।
उमाङ्ककेलि-कुतुकी मुक्तिदः कुलपालनः ॥११॥
किरीटी कुण्डली हारी वनमाली मनोमयः ।
वैमुख्यहत - दैत्यश्रीः पादाहति - जितक्षितिः ॥१२॥
सद्योजात-स्वर्णमुञ्ज - मेखली दुर्निमित्तहृत् ।
दुःस्वप्नहृत्प्रहसनो गुणी नादप्रतिष्ठितः ॥१३॥
सुरूपः सर्वनेत्राधिवासो वीरासनाश्रयः ।
पीताम्बरः खण्डरदः खण्डेन्दुकृतशेखरः ॥१४॥
चित्राङ्क-श्यामदशनो भालचन्द्रश्चतुर्भुजः ।
योगाधिपस्तारकस्थः पुरुषो गजकर्णकः ॥१५॥
गणाधिराजो विजयस्थिरो गजपतिध्वजी ।
देवदेवः स्मरप्राण-दीपको वायुकीलकः ॥१६॥
विपश्चिद्वरदो नादोन्नद - भिन्न - बलाहकः ।
वराहरदनो मृत्युञ्जयो व्याघ्राजिनाम्बरः ॥१७॥
इच्छाशक्तिधरो देवत्राता दैत्यविमर्दनः ।
शम्भुवक्त्रोद्भवः शम्भुकोपहा शम्भुहास्यभूः ॥१८॥
शम्भुतेजाः शिवाशोकहारी गौरीसुखावहः ।
उमाङ्गमलजो गौरीतेजोभूः स्वर्धुनीभवः ॥१९॥

यज्ञकायो महानादो गिरिवर्ष्मा शुभाननः ।
सर्वात्मा सर्वदेवात्मा ब्रह्ममूर्धा ककुप्श्रुतिः ॥२०॥
ब्रह्माण्ड - कुम्भश्चिद्व्योम - भालः सत्यशिरोरुहः ।
जगज्जन्म - लयोन्मेष - निमेषो - ऽग्न्यर्क - सोमदृक् ॥२१॥
गिरीन्द्रैकरदो धर्माऽधर्मोष्ठः सामबृंहितः ।
ग्रहर्क्षदशनो वाणीजिह्वो वासवनासिकः ॥२२॥
कुलाचलांसः सोमार्कघण्टो रुद्रशिरोधरः ।
नदीनदभुजः सर्पाङ्गुलीकः तारकानखः ॥२३॥
भ्रूमध्यसंस्थितकरो ब्रह्मविद्यामदोत्कटः ।
व्योमनाभिः श्रीहृदयो मेरुपृष्ठोऽर्णवोदरः ॥२४॥
कुक्षिस्थ - यक्ष - गन्धर्व - रक्ष - किन्नर - मानुषः ।
पृथ्वीकटिः सृष्टिलिङ्गः शैलोरुर्दस्रजानुकः ॥२५॥
पातालजङ्घो मुनिपात्कालांगुष्ठस्त्रयीतनुः ।
ज्योतिर्मण्डल - लांगूलो हृदयालाननिश्चलः ॥२६॥
हृत्पद्म - कर्णिकाशालि - वियत्केलि - सरोवरः ।
सद्भक्त - ध्यान - निगडः पूजावारीनिवारितः ॥२७॥
प्रतापी कश्यपसुतो गणपो विष्टपी बली ।
यशस्वी धार्मिकः स्वोजाः प्रथमः प्रथमेश्वरः ॥२८॥
चिन्तामणिद्वीपपतिः कल्पद्रुम - वनालयः ।
रत्नमण्डप - मध्यस्थो रत्नसिंहासनाश्रयः ॥२९॥
तीव्राशिरोधृतपदो ज्वालिनी-मौलि-लालितः ।
नन्दा-ऽऽनन्दित-पीठश्री-र्भोगदा-भूषितासनः ॥३०॥
सकाम-दायिनीपीठः स्फुरदुग्रासनाश्रयः ।
तेजोवतीशिरोरत्नं सत्यनित्यावतंसितः ॥३१॥

सविघ्ननाशिनीपीठः सर्वशक्त्यम्बुजाश्रयः ।
लिपिपद्मासनाधारो वह्निधामत्रयाश्रयः ॥३२॥
उन्नतप्रपदो गूढगुल्फः संवृत्तपार्ष्णिकः ।
पीनजङ्घः श्लिष्टजानुः स्थूलोरुः प्रोन्नमत्कटिः ॥३३॥
निम्ननाभिः स्थूलकुक्षिः पीनवक्षा बृहद्भुजः ।
पीनस्कन्धः कम्बुकण्ठो लम्बोष्ठो लम्बनासिकः ॥३४॥
भग्नवाम - रदस्तुङ्ग - सव्यदन्तो महाहनुः ।
ह्रस्वनेत्रत्रयः शूर्पकर्णो निबिड-मस्तकः ॥३५॥
स्तबकाकार - कुम्भाग्रो रत्नमौलिर्निरंकुशः ।
सर्पहारकटीसूत्रः सर्पयज्ञोपवीतवान् ॥३६॥
सर्पकोटीरकटकः सर्पग्रैवेयकाङ्गदः ।
सर्पकक्ष्योदराबन्धः सर्पराजोत्तरीयकः ॥३७॥
रक्तो रक्ताम्बरधरो रक्तमाल्यविभूषणः ।
रक्तेक्षणो रक्तकरो रक्तताल्वोष्ठपल्लवः ॥३८॥
श्वेतः श्वेताम्बरधरः श्वेतमाल्यविभूषणः ।
श्वेतातपत्ररुचिरः श्वेतचामरबीजितः ॥३९॥
सर्वावयव - सम्पूर्ण - सर्वलक्षण - लक्षितः ।
सर्वाभरण - शोभाढ्यः सर्वशोभा - समन्वितः ॥४०॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यः सर्वकारणकारणम् ।
सर्वदैककरः शार्ङ्गी बीजापुरी गदाधरः ॥४१॥
इक्षुचापधरः शूली चक्रपाणिः सरोजभृत् ।
पाशी धृतोत्पलः शाली - मञ्जरीभृत् स्वदन्तभृत् ॥४२॥
कल्पवल्लीधरो विश्वाभयदैककरो वशी ।
अक्षमालाधरो ज्ञान-मुद्रावान् मुद्गरायुधः ॥४३॥

पूर्णपात्री कम्बुधरो विधृतालिसमुद्गतः ।
मातुलिङ्गधर - श्चूत - कलिकाभृत् कुठारवान् ॥४४॥
पुष्करस्थ - स्वर्णघटी - पूर्णरत्नाभिवर्षकः ।
भारतीसुन्दरीनाथो विनायक - रतिप्रियः ॥४५॥
महालक्ष्मीप्रियतमः सिद्धलक्ष्मीमनोरमः ।
रमारमेशपूर्वाङ्गो दक्षिणोमामहेश्वरः ॥४६॥
महावराहवामाङ्गो रतिकन्दर्पपश्चिमः ।
आमोद - मोदजननः सप्रमोद - प्रमोदनः ॥४७॥
समेधित - समृद्धिश्री-ऋद्धि - सिद्धि - प्रवर्तकः ।
दत्तसौमुख्य - सुमुखः कान्तिकन्दलिताश्रयः ॥४८॥
मदनावत्याश्रिताङ्घ्रिः कृतदौर्मुख्यदुर्मुखः ।
विघ्नसम्पल्लवोपघ्नः सेवोन्निद्रमदद्रवः ॥४९॥
विघ्नकृन्निघ्नचरणो द्राविणीशक्तिसत्कृतः ।
तीव्राप्रसन्ननयनो ज्वालिनीपालितैकदृक् ॥५०॥
मोहिनीमोहनो भोगदायिनीकान्तिमण्डितः ।
कामिनीकान्त - वक्त्रश्रीरधिष्ठित - वसुन्धरः ॥५१॥
वसुन्धरा - मदोन्नद्ध - महाशङ्ख - निधिप्रभुः ।
नमद्वसुमतीमौलि महापद्मनिधिप्रभुः ॥५२॥
सर्वसद्गुरुसंसेव्यः शोचिष्केश - हृदाश्रयः ।
ईशानमूर्धा देवेन्द्रशिखा पवननन्दनः ॥५३॥
अग्र - प्रत्यग्र - नयनो दिव्यास्त्राणां प्रयोगवित् ।
ऐरावतादि - सर्वाशा - वारणावरणप्रियः ॥५४॥
वज्राद्यस्त्रपरीवारो गणचण्डसमाश्रयः ।
जयाऽजयपरीवारो विजया - ऽविजयावहः ॥५५॥

अजितार्चित - पादाब्जो नित्याऽनित्यावतंसितः ।
विलासिनीकृतोल्लासः शौण्डीसौन्दर्यमण्डितः ॥५६॥
अनन्तानन्तसुखदः सुमङ्गल सुमङ्गलः ।
इच्छाशक्ति- ज्ञानशक्ति - क्रियाशक्ति - निषेवितः ॥५७॥
सुभगासंश्रितपदो ललितालिताश्रयः ।
कामिनीकामनः काम - मालिनी - केलिलालितः ॥५८॥
सरस्वत्याश्रयो गौरीनन्दनः श्रीनिकेतनः ।
गुरुगुप्तपदो वाचासिद्धो वागीश्वरीपतिः ॥५९॥
नलिनीकामुको वामारामो ज्येष्ठामनोरमः ।
रौद्रीमुद्रित - पादाब्जो हुम्बीजस्तुण्डशक्तिकः ॥६०॥
विश्वादिजननत्राणः स्वाहाशक्तिः सकीलकः ।
अमृताब्धिकृतावासो मदघूर्णितलोचनः ॥६१॥
उच्छिष्टगण उच्छिष्टगणेशो गणनायकः ।
सर्वकालिक - संसिद्धि - र्नित्यशैवो दिगम्बरः ॥६२॥
अनपायो - ऽनन्तदृष्टि - रप्रमेयो - ऽजरामरः ।
अनाविलो - ऽप्रतिरथो - ऽह्यच्युतो - ऽमृतमक्षरम् ॥६३॥
अप्रतर्क्यो-ऽक्षयो-ऽजय्योऽनाधारो-ऽनामयोऽमलः ।
अमोघसिद्धिरद्वैत - मघोरो - ऽप्रमिताननः ॥६४॥
अनाकरोऽब्धि - भूम्यग्नि - बलघ्नो - ऽव्यक्तलक्षणः ।
आधारपीठ आधार आधाराधेयवर्जितः ॥६५॥
आखुकेतन आशापूरक आखुमहारथः ।
इक्षुसागरमध्यस्थ इक्षुभक्षणलालसः ॥६६॥
इक्षुचापातिरेकश्री - रिक्षुचाप - निषेवितः ।
इन्द्रगोप - समानश्रीरिन्द्रनील - समद्युतिः ॥६७॥

इन्दीवरदलश्याम इन्दुमण्डलनिर्मलः ।
इध्मप्रिय इडाभाग इराधामेन्दिराप्रियः ॥६८॥
इक्ष्वाकुविघ्नविध्वंसी इतिकर्तव्यतेप्सितः ।
ईशानमौलिरीशान ईशानसुत ईतिहा ॥६९॥
ईशणात्रयकल्पान्त ईहामात्रविवर्जितः ।
उपेन्द्र उडुभृन्मौलिरुण्डेरकबलिप्रियः ॥७०॥
उन्नतानन उत्तुङ्ग उदारत्रिदशाग्रणीः ।
ऊर्जस्वानूष्मलमद ऊहापोह - दुरासदः ॥७१॥
ऋग्-यजुः-साम-सम्भूति-ऋद्धि-सिद्धि-प्रदायकः ।
ऋतुचित्तैकसुलभ ऋणत्रयविमोचकः ॥७२॥
लुप्तविघ्नः स्वभक्तानां लुप्तशक्तिः सुरद्विषाम् ।
लुप्तश्रीर्विमुखार्चानां लूता - विस्फोट - नाशनः ॥७३॥
एकारपीठमध्यस्थ एकपादकृतासनः ।
एजिताखिल - दैत्यश्रीरेधिताखिल - संश्रयः ॥७४॥
ऐश्वर्यनिधिरैश्वर्य - मैहिका - ऽमुष्मिकप्रदः ।
ऐरम्मद - समोन्मेष ऐरावत - निभाननः ॥७५॥
ओङ्कारवाच्य ओङ्कार ओजस्वानोषधीपतिः ।
औदार्यनिधिरौद्धत्यधुर्य औन्नत्यनिस्वनः ॥७६॥
अङ्कुशः सुरनागानामङ्कुशः सुरविद्विषाम् ।
अःसमस्त - विसर्गान्त - पदेषु परिकीर्तितः ॥७७॥
कमण्डलुधरः कल्पः कपर्दी कलभाननः ।
कर्मसाक्षी कर्मकर्ता कर्माऽकर्मफलप्रदः ॥७८॥
कदम्बगोलकाकारः कूष्माण्डगणनायकः ।
कारुण्यदेहः कपिलः कथकः कटिसूत्रभृत् ॥७९॥

खर्वः खड्गप्रियः खड्ग-खान्तान्तस्थः खनिर्मलः ।
खल्वाटशृङ्गनिलयः खट्वाङ्गी खदुरासदः ॥८०॥
गुणाढ्यो गहनो गस्थो गद्य - पद्य - सुधार्णवः ।
गद्यगानप्रियो गर्जो गीतगीर्वाणपूर्वजः ॥८१॥
गुह्याचाररतो गुह्यो गुह्यागमनिरूपितः ।
गुहाशयो गुहाब्धिस्थो गुरुगम्यो गुरोर्गुरुः ॥८२॥
घण्टाघर्घरिकामाली घटकुम्भो घटोदरः ।
चण्डश्चण्डेश्वरसुहृच्चण्डीशश्चण्डविक्रमः ॥८३॥
चराऽचरपति - श्चिन्तामणि - चर्वणलालसः ।
छन्दश्छन्दोवपुश्छन्दो दुर्लक्ष्यश्छन्दविग्रहः ॥८४॥
जगद्योनि-र्जगत्साक्षी जगदीशो जगन्मयः ।
जपो जपपरो जप्यो जिह्वासिंहासनप्रभुः ॥८५॥
झलझ्झलोल्लसद्दान - झङ्कारि - भ्रमराकुलः ।
टङ्कार - स्फार - संरावष्टङ्कारि - मणिनूपुरः ॥८६॥
ठद्वयोपल्लवान्तस्थ - सर्वमन्त्रैक - सिद्धिदः ।
डिण्डिमुण्डो डाकिनीशो डामरो डिण्डिमप्रियः ॥८७॥
ढक्का-निनाद-मुदितो ढौको ढुण्ढिविनायकः ।
तत्त्वानां परमं तत्त्वं तत्त्वंपद-निरूपितः ॥८८॥
तारकान्तर - संस्थान - स्तारकस्तारकान्तकः ।
स्थाणुः स्थाणुप्रियः स्थाता स्थावरं जङ्गमं जगत् ॥८९॥
दक्षयज्ञप्रमथनो दाता दानवमोहनः ।
दयावान् दिव्यविभवो दण्डभृद्दण्डनायकः ॥९०॥
दन्तप्रभिन्नाभ्रमालो दैत्यवारणदारणः ।
दंष्ट्रालग्नद्विपघटो देवार्थनृगजाकृतिः ॥९१॥

धन-धान्यपति-र्धन्यो धनदो धरणीधरः।
ध्यानैकप्रकटो ध्येयो ध्यानं ध्यानपरायणः ॥९२॥
नन्द्यो नन्दिप्रियो नादो नादमध्य-प्रतिष्ठितः।
निष्कलो निर्मलो नित्यो नित्याऽनित्यो निरामयः ॥९३॥
परं व्योम परं धाम परमात्मा परं पदम्।
परात्परः पशुपतिः पशुपाशविमोचकः ॥९४॥
पूर्णानन्दः परानन्दः पुराणपुरुषोत्तमः।
पद्मप्रसन्ननयनः प्रणताज्ञानमोचनः ॥९५॥
प्रमाण - प्रत्ययातीतः प्रणतार्तिनिवारणः।
फलहस्तः फणिपतिः फेत्कारः फाणितप्रियः ॥९६॥
बाणार्चिताङ्घ्रियुगलो बालकेलि - कुतूहली।
ब्रह्म ब्रह्मार्चितपदो ब्रह्मचारी बृहस्पतिः ॥९७॥
बृहत्तमो ब्रह्मपरो ब्रह्मण्यो ब्रह्मवित्-प्रियः।
बृहन्नादाग्र्यचीत्कारो ब्रह्माण्डावलिमेखलः ॥९८॥
भ्रूक्षेपदत्त - लक्ष्मीको भर्गो भद्रो भयापहः।
भगवान् भक्तिसुलभो भूतिदो भूतिभूषणः ॥९९॥
भव्यो भूतालयो भोगदाता भ्रूमध्यगोचरः।
मन्त्रो मन्त्रपतिर्मन्त्री मदमत्तमनोरमः ॥१००॥
मेखलावान् मन्दगतिर्मतिमत्कमलेक्षणः।
महाबलो महावीर्यो महाप्राणो महामनाः ॥१०१॥
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्ञगोप्ता यज्ञफलप्रदः।
यशस्करो योगगम्यो याज्ञिको याजकप्रियः ॥१०२॥
रसो रसप्रियो रस्यो रञ्जको रावणार्चितः।
रक्षो रक्षाकरो रत्नगर्भो राज्यसुखप्रदः ॥१०३॥

लक्ष्यं लक्ष्यप्रदो लक्ष्यो लयस्थो लड्डुकप्रियः।
लानप्रियो लास्यपरो लाभकृल्लोकविश्रुतः ॥१०४॥
वरेण्यो वह्निवदनो वन्द्यो वेदान्तगोचरः।
विकर्ता विश्वतश्चक्षुर्विधाता विश्वतोमुखः ॥१०५॥
वामदेवो विश्वनेता वज्रिवज्रनिवारणः।
विश्वबन्धन - विष्कम्भाधारो विश्वेश्वरप्रभुः ॥१०६॥
शब्दब्रह्म शमप्राप्यः शम्भुशक्तिगणेश्वरः।
शास्ता शिखाग्रनिलयः शरण्यः शिखरीश्वरः ॥१०७॥
षड्ऋतुकुसुमस्त्रग्वी षडाधारः षडक्षरः।
संसारवैद्यः सर्वज्ञः सर्वभेषजभेषजम् ॥१०८॥
सृष्टि - स्थिति - लयक्रीडः सुरकुञ्जरभेदनः।
सिन्दूरित - महाकुम्भः सदसद्युक्तिदायकः ॥१०९॥
साक्षी समुद्रमथनः स्वसंवेद्यः स्वदक्षिणः।
स्वतन्त्रः सत्यसङ्कल्पः सामगानरतः सुखी ॥११०॥
हंसो हस्तिपिशाचीशो हवनं हव्यकव्यभुक्।
हव्यो हुतप्रियो हर्षो हृल्लेखामन्त्रमध्यगः ॥१११॥
क्षेत्राधिपः क्षमाभर्ता क्षमापरपरायणम्।
क्षिप्रक्षेमकरः क्षेमानन्दः क्षोणीसुरद्रुमः ॥११२॥
धर्मप्रदोऽर्थदः कामदाता सौभाग्यवर्धनः।
विद्याप्रदो विभवदो भुक्ति-मुक्तिफलप्रदः ॥११३॥
आभिरूप्यकरो वीरश्रीपदो विजयप्रदः।
सर्ववश्यकरो गर्भदोषहा पुत्रपौत्रदः ॥११४॥
मेधादः कीर्तिदः शोकहारी दौर्भाग्यनाशनः।
प्रतिवादिमुखस्तम्भो रुष्टचित्तप्रसादनः ॥११५॥

पराभिचारशमनो दुःखभञ्जनकारकः ।
लवस्रुटिः कला काष्ठा निमेषतत्परः क्षणः ॥११६॥
घटी मुहूर्त्तप्रहरो दिवा नक्तमहर्निशम् ।
पक्षो मासोऽयनः वर्षं युगं कल्पो महालयः ॥११७॥
राशिस्तारा तिथिर्योगो वारः करणमंशकम् ।
लग्नं होरा कालचक्रं मेरुः सप्तर्षयो ध्रुवः ॥११८॥
राहुर्मन्दः कविर्जीवो बुधो भौमः शशी रविः ।
कालः सृष्टिः स्थितिर्विश्वं स्थावरं जङ्गमं च यत् ॥११९॥
भूरापो-ऽग्नि-मरुद्-व्योमा-ऽहंकृतिः प्रकृतिः पुमान् ।
ब्रह्मा विष्णुः शिवो रुद्र ईशः शक्तिः सदाशिवः ॥१२०॥
त्रिदशाः पितरः सिद्धाः यक्षा रक्षांसि किन्नराः ।
साद्ध्या विद्याधरा भूता मनुष्या पशवः खगाः ॥१२१॥
समुद्राः सरितः शैला भूतं भव्यं भवोद्भवः ।
साङ्ख्यं पातञ्जलं योगः पुराणानि श्रुतिः स्मृतिः ॥१२२॥
वेदाङ्गानि सदाचारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं काव्यनाटकम् ॥१२३॥
वैखानसं भागवतं सात्वतं पाञ्चरात्रकम् ।
शैवं पाशुपतं कालामुखं भैरवशासनम् ॥१२४॥
शाक्तं वैनायकं सौरं जैनमार्हतसंहिता ।
सदसद्व्यक्तमव्यक्तं सचेतनमचेतनम् ॥१२५॥
बन्धो मोक्षः सुखं भोगो योगः सत्यमणुर्महान् ।
स्वस्ति हुंफट् स्वधा स्वाहा श्रौषड्-वौषड्वषण्णमः ॥१२६॥
ज्ञानं विज्ञानमानन्दो बोधः संविच्छमो यमः ।
एक एकाक्षराधार एकाक्षरपरायणः ॥१२७॥

एकाग्रधीरेकवीर एकाऽनेकस्वरूपधृक् ।
द्विरूपो द्विभुजो द्व्यक्षो द्विरदो द्विपरक्षकः ॥१२८॥
द्वैमातुरो द्विवदनो द्वन्द्वातीतो द्वयातिगः ।
त्रिधामा त्रिकरस्त्रेता - त्रिवर्ग - फलदायकः ॥१२९॥
त्रिगुणात्मा त्रिलोकादि - स्त्रिशक्तीश - स्त्रिलोचनः।
चतुर्बाहुश्चतुर्दन्तश्चतुरात्मा चतुर्मुखः ॥१३०॥
चतुर्विधोपायमय - श्चतुर्वर्णाश्रमाश्रयः ।
चतुर्विध - वचोवृत्ति - परिवृत्ति - प्रवर्तकः ॥१३१॥
चतुर्थीपूजनप्रीत - श्चतुर्थीतिथिसम्भवः ।
पञ्चाक्षरात्मा पञ्चात्मा पञ्चास्यः पञ्चकृत्यकृत् ॥१३२॥
पञ्चाधारः पञ्चवर्णः पञ्चाक्षरपरायणः ।
पञ्चतालः पञ्चकरः पञ्चप्रणवभावितः ॥१३३॥
पञ्चब्रह्ममयस्फूर्तिः पञ्चावरणवारितः ।
पञ्चभक्ष्यप्रियः पञ्चबाणः पञ्चशिवात्मकः ॥१३४॥
षट्कोणपीठः षट्चक्रधामा षड्ग्रन्थिभेदकः ।
षडध्व-ध्वान्त-विध्वंसी षडङ्गुलमहाह्रदः ॥१३५॥
षण्मुखः षण्मुखभ्राता षट्शक्तिपरिवारितः ।
षड्वैरिवर्गविध्वंसी षडूर्मिभयभञ्जनः ॥१३६॥
षट्तर्कदूरः षट्कर्मनिरतः षड्रसाश्रयः ।
सप्तपातालचरणः सप्तद्वीपोरुमण्डलः ॥१३७॥
सप्तस्वर्लोकमुकुटः सप्तसप्तिवरप्रदः ।
सप्ताङ्गराज्यसुखदः सप्तर्षिगणमण्डितः ॥१३८॥
सप्तच्छन्दोनिधिः सप्तहोता सप्तस्वराश्रयः ।
सप्ताब्धिकेलिकासारः सप्तमातृनिषेवितः ॥१३९॥

सप्तच्छन्दोमोदमदः सप्तच्छन्दोमखप्रभुः ।
अष्टमूर्ति - र्ध्येयमूर्तिरष्टप्रकृति - कारणम् ॥१४०॥
अष्टाङ्गयोगफलभूरष्टपत्राम्बुजासनः ।
अष्टशक्ति - समृद्धश्रीरष्टैश्वर्य - प्रदायकः ॥१४१॥
अष्टपीठोपपीठश्री - रष्टमातृ - समावृतः ।
अष्टभैरव - सेव्योऽष्ट - वसुवन्द्यो - ऽष्टमूर्तिभृत् ॥१४२॥
अष्टचक्र - स्फुरन्मूर्तिरष्टद्रव्य - हविःप्रियः ।
नवनागासनाध्यासी नवनिध्यनुशासिता ॥१४३॥
नवद्वारपुराधारो नवाधारनिकेतनः ।
नवनारायणस्तुत्यो नवदुर्गानिषेवितः ॥१४४॥
नवनाथमहानाथो नवनागविभूषणः ।
नवरत्नविचित्राङ्गो नवशक्तिशिरोद्धृतः ॥१४५॥
दशात्मको दशभुजो दशदिक्पतिवन्दितः ।
दशाध्यायो दशप्राणो दशेन्द्रिय-नियामकः ॥१४६॥
दशाक्षर - महामन्त्रो दशाशा - व्यापि - विग्रहः ।
एकादशादिभी रुद्रैः स्तुत एकादशाक्षरः ॥१४७॥
द्वादशोद्दण्डदोर्दण्डो द्वादशान्तनिकेतनः ।
त्रयोदशभिदाभिन्न विश्वेदेवाधिदैवतम् ॥१४८॥
चतुर्दशेन्द्रवरदश्चतुर्दशमनु - प्रभुः ।
चतुर्दशादि - विद्याढ्य - श्चतुर्दश - जगत्प्रभुः ॥१४९॥
सामपञ्चदशः पञ्चदशीशीतांशुनिर्मलः ।
षोडशाधारनिलयः षोडशस्वरमातृकः ॥१५०॥
षोडशान्तपदावासः षोडशेन्दुकलात्मकः ।
कलासप्तदशी सप्तदशः सप्तदशाक्षरः ॥१५१॥

अष्टादशद्वीपपति - रष्टादश - पुराणकृत् ।
अष्टादशौषधीसृष्टिरष्टादशविधिस्मृतः ॥१५२॥
अष्टादशलिपिव्यष्टि - समष्टि - ज्ञान - कोविदः ।
एकविंशः पुमानेक - विंशत्यङ्गुलि - पल्लवः ॥१५३॥
चतुर्विंशति - तत्त्वात्मा पञ्चविंशाख्यपूरुषः ।
सप्तविंशतितारेशः सप्तविंशतियोगकृत् ॥१५४।
द्वात्रिंशद् - भैरवाधीश - श्चतुस्त्रिंशन्महाह्रदः ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसम्भूतिरष्टत्रिंशत्कलातनुः ॥१५५॥
नमदेकोनपञ्चाशन् - मरुद्वर्ग - निरर्गलः ।
पञ्चाशदक्षरश्रेणी पञ्चाशद्रुद्रविग्रहः ॥१५६॥
पञ्चाशद्विष्णुशक्तीशः पञ्चाशन्मातृकालयः ।
द्विपञ्चाशद्वपुःश्रेणी त्रिषष्ट्यक्षरसंश्रयः ॥१५७॥
चतुःषष्ट्यर्णनिर्णेता चतुःषष्टिकलानिधिः ।
चतुःषष्टिमहासिद्ध - योगिनीवृन्द - वन्दितः ॥१५८॥
अष्टषष्टि - महातीर्थ - क्षेत्रभैरव - भावनः ।
चतुर्नवति - मन्त्रात्मा षण्णवत्यधिकप्रभुः ॥१५९॥
शतानन्दः शतधृतिः शतपत्रायतेक्षणः ।
शतानीकः शतमखः शतधारावरायुधः ॥१६०॥
सहस्त्रपत्रनिलयः सहस्त्रफणभूषणः ।
सहस्त्रशीर्षापुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् ॥१६१॥
सहस्त्रनामसंस्तुत्यः सहस्त्राक्षबलापहः ।
दशसाहस्त्रफणभृत् - फणिराज - कृतासनः ॥१६२॥
अष्टाशीतिसहस्त्राद्य महर्षिस्तोत्र - यन्त्रितः ।
लक्षाधीशप्रियाधारो लक्षाधारमनोमयः ॥१६३॥

चतुर्लक्षजपप्रीत - श्चतुर्लक्ष - प्रकाशितः ।
चतुरशीतिलक्षाणां जीवानां देहसंस्थितः ॥१६४॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशः कोटिचन्द्रांशुनिर्मलः ।
शिवाभवाध्युष्टकोटि - विनायक - धुरन्धरः ॥१६५॥
सप्तकोटि - महामन्त्र - मन्त्रितावयवद्युतिः ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिसुर - श्रेणिप्रणतपादुकः ॥१६६॥
अनन्त - नामानन्तश्रीरनन्ता - ऽनन्त - सौख्यद:ॐ ।
पुनः ऋष्यादिक-न्यासम् उत्तरन्यासं मानसपूजां च कृत्वा,
इति वैनायकं नाम्नां सहस्रमिदमीरितम् ।
इदं ब्राह्मो मुहूर्ते यः पठति प्रत्यहं नरः ॥१॥
करस्थं तस्य सकलमैहिका - ऽऽमुष्मिकं सुखम् ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं धैर्यं शौर्यं बलं यशः ॥२॥
मेधा प्रज्ञा धृतिः कान्तिः सौभाग्यमतिरूपता ।
सत्यं दया क्षमा शान्तिर्दाक्षिण्यं धर्मशालिता ॥३॥
जगत्संयमनं विश्वसंवादो वादपाटवम् ।
सभापाण्डित्यमौदार्यं गाम्भीर्यं ब्रह्मवर्चसम् ॥४॥
औन्नत्यं च कुलं शीलं प्रतापो वीर्यमार्यता ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं स्थैर्यं विश्वातिशायिता ॥५॥
धन-धान्या-ऽभिवृद्धिश्च सकृदस्य जपाद् भवेत् ।
वश्यं चतुर्विधं नृणां जपादस्य प्रजायते ॥७॥
धर्मा्ऽर्थ - काम - मोक्षाणामनायासेन साधनम् ।
शाकिनी-डाकिनी - रक्षो - यक्षोरग - भयापहम् ॥८॥
साम्राज्यसुखदं चैव समस्त-रिपुमर्दनम् ।
समस्त - कलहध्वंसि - दग्धबीज - प्ररोहणम् ॥९॥

दुःस्वप्ननाशनं क्रुद्धस्वामि - चित्त - प्रसादनम् ।
षट्कर्माऽष्ट - महासिद्धि - त्रिकालज्ञान - साधनम् ॥१०॥
परकृत्याप्रशमनं परचक्र - विमर्दनम् ।
सङ्ग्रामरङ्गे सर्वेषामिदमेकं जयावहम् ॥११॥
सर्ववन्ध्यात्वदोषघ्नं गर्भरक्षैककारणम् ।
पठ्यते प्रत्यहं यत्र स्तोत्रं गणपतेरिदम् ॥१२॥
देशे तत्र न दुर्भिक्षमीतयो दुरितानि च ।
न तद्गृहं जहाति श्रीर्यत्राऽयं पठ्यते स्तवः ॥१३॥
क्षय - कुष्ठ - प्रमेहार्श - भगन्दर - विसूचिकाः ।
गुल्मं प्लीहानमश्मानमतिसारं महोदरम् ॥१४॥
कासं श्वासं गुदावर्तं शूलं शोफादिसम्भवम् ।
शिरोरोगं वर्मि हिक्कां गण्डमालामरोचकम् ॥१५॥
वात-पित्त-कफ-द्वन्द्व-त्रिदोष-जनित-ज्वरम् ।
आगन्तुविषमं शीतमुष्णं चैकाहिकादिकम् ॥१६॥
इत्याद्युक्तमनुक्तं वा रोग - दोषादि - सम्भवम् ।
सर्वं प्रशमयत्याशु स्तोत्रस्याऽस्य सकृज्जपः ॥१७॥
सकृत्पाठेन संसिद्धः स्त्री-शूद्र-पतितैरपि ।
सहस्त्रनाममन्त्रोऽयं जपितव्यः शुभाप्तये ॥१८॥
महागणपतेः स्तोत्रं सकामः प्रजपन्निदम् ।
इच्छया सकलान् भोगाननुभूयेह पार्थिवान् ॥१९॥
मनोरथफलै - र्दिव्यै - र्व्योमयानै - र्मनोरमैः ।
चन्द्रेन्द्र - भास्करोपेन्द्र - ब्रह्मा - शर्वादि - सद्मसु ॥२०॥
कामरूपः कामगतिः कामतो विचरन्निह ।
भुक्त्वा यथेप्सितान् भोगानभीष्टान् सहबन्धुभिः ॥२१॥

गणेशानुचरो भूत्वा महागणपतेः प्रियः।
नन्दीश्वरादि - सानन्दी नन्दितः सकलैर्गणैः ॥२२॥
शिवाभ्यां कृपया पुत्रनिर्विशेषं च लालितः।
शिवभक्तः पूर्णकामो गणेश्वरवरात् पुनः ॥२३॥
जातिस्मरो धर्मपरः सार्वभौमोऽभिजायते।
निष्कामस्तु जपन्नित्यं भक्त्या विघ्नेशतत्परः ॥२४॥
योगसिद्धिं परां प्राप्य ज्ञान-वैराग्य-संस्थितः।
निरन्तरोदितानन्दे परमानन्दसंविदि ॥२५॥
विश्वोत्तीर्णे परेपारे पुनरावृत्तिवर्जिते।
लीनो वैनायके धाम्नि रमते नित्यनिर्वृतः ॥२६॥
यो नामभिर्हुनेदेतैरर्चयेत् पूजयेन्नरः।
राजानो वश्यतां यान्ति रिपवो यान्ति दासताम् ॥२७॥
मन्त्राः सिध्यन्ति सर्वेऽपि सुलभास्तस्य सिद्धयः।
मूलमन्त्रादपि स्तोत्रमिदं प्रियतरं मम ॥२८॥
नभस्ये मासि शुक्लायां चतुर्थ्यां मम जन्मनि।
दूर्वाभिर्नामभिः पूजा तर्पणं विधिवच्चरेत् ॥२९॥
अष्टद्रव्यैर्विशेषेण जुहुयाद् भक्तिसंयुतः।
तस्येप्सितानि सर्वाणि सिध्यन्त्यत्र न संशयः ॥३०॥
इदं प्रजप्तं पठितं पाठितं श्रावितं श्रुतम् ॥३१॥
व्याकृतं चर्चितं ध्यातं विसृष्टमभिनन्दितम्।
इहाऽमुत्र च सर्वेषां विश्वैश्वर्यं प्रदायकम् ॥३२॥
स्वच्छन्दचारिणाऽप्येष येनाऽयं धार्यते स्तवः।
स रक्ष्यते शिवोद्भूतैर्गणैरध्युष्टकोटिभिः ॥३३॥
पुस्तके लिखितं यत्र गृहे स्तोत्रं प्रपूजयेत्।
तत्र सर्वोत्तमा लक्ष्मीः सन्निधत्ते निरन्तरम् ॥३४॥

दानैरशेषैरखिलैर्व्रतैश्च तीर्थैरशेषैरखिलैर्मखैश्च ।
न तत्फलं विन्दति यद् गणेश-सहस्त्रनाम्नां स्मरणेन सद्यः ॥३५॥
एतन्नाम्नां सहस्त्रं पठति दिनमणौ प्रत्यहं प्रोज्जिहाने
सायं मध्यंदिने वा त्रिषवणमथवा सन्ततं वा जनो यः ।
स स्यादैश्वर्यधुर्यः प्रभवति च सतां कीर्तिमुच्चैस्तनोति
प्रत्यूहं हन्ति विश्वं वशयति सुचिरं वर्धते पुत्र-पौत्रैः ॥३६॥
अकिञ्चनोऽपि मत्प्राप्तिश्चिन्तको नियताशनः ।
जपेत्तु चतुरो मासान् गणेशार्चनतत्परः ॥३७॥
दरिद्रतां समुन्मूल्य सप्तजन्मानुगामपि ।
लभते महतीं लक्ष्मीमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥३८॥
आयुष्यं वीतरोगं कुलमतिविमलं सम्पदश्चार्तदानाः
कीर्तिर्नित्यावदाता भणितिरभिनवाकान्तिरव्याधिभव्या ।
पुत्राः सन्तः कलत्रं गुणवदभिमतं यद्यदेतच्च सत्यं
नित्यं यः स्तोत्रमेतत् पठति गणपतेस्तस्य हस्ते समस्तम् ॥३९॥
ॐ गणञ्जयो गणपतिर्हेरम्बो धरणीधरः ।
महागणपतिर्लक्षप्रदः क्षिप्रप्रसादनः ॥४०॥
अमोघसिद्धिरमृतो मन्त्रश्चिन्तामणिर्निधिः ।
सुमङ्गलो बीजमाशापूरको वरदः शिवः ॥४१॥
काश्यपो नन्दनो वाचासिद्धो ढुण्ढिविनायकः ।
मोदकैरेभिरत्रैकविंशत्या नामभिः पुमान् ॥४२॥
यः स्तौति मद्गतमनो मदाराधनतत्परः ।
स्तुतो नाम्नां सहस्त्रेण तेनाऽहं नाऽत्र संशयः ॥४३॥
नमो नमः सुरवर - पूजिताङ्घ्रये नमो नमो निरुपममङ्गलात्मने ।
नमो नमो विपुलपदैकसिद्धये नमो नमः करिकलभाननाय ते ॥४४॥

इति श्रीगणेशपुराणे उपासनाखण्डे महागणपतिप्रोक्तं गणेशसहस्त्रनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥१०॥

❁❁❁

११. गणेशस्तोत्रम्

अधुना शृणु देवस्य साधनं योगदं परम्।
साधयित्वा स्वयं योगी भविष्यसि न संशयः ॥१॥
स्वानन्दः स्वविहारेण संयुक्तश्च विशेषतः।
सर्वसंयोगकारित्वाद् गणेशो मायया युतः ॥२॥
विहारेण विहीनश्चाऽयोगो निर्मायिकः स्मृतः।
संयोगाभेद-हीनत्वाद् भवहा गणनायकः ॥३॥
संयोगा-ऽयोगयोर्योगः पूर्णयोगस्त्वयोगिनः।
प्रह्लादगणनाथस्तु पूर्णो ब्रह्ममयः परः ॥४॥
योगेन तं गणाधीशं प्राप्नुवन्तश्च दैत्यपः।
बुद्धिः सा पञ्चधा जाता चित्तरूपा स्वभावतः ॥५॥
तस्य माया द्विधा प्रोक्ता प्राप्नुवन्तीह योगिनः।
तं विद्धि पूर्णभावेन संयोगाऽयोगवर्जितः ॥६॥
क्षिप्तं मूढं च विक्षिप्तमेकाग्रं च निरोधकम्।
पञ्चधा चित्तवृत्तिश्च सा माया गणपस्य वै ॥७॥
क्षिप्तं मूढं च चित्तं च यत्कर्मणि च विकर्मणि।
संस्थितं तेन विश्वं वै चलति स्व-स्वभावतः ॥८॥
अकर्मणि च विक्षिप्तं चित्तं जानीहि मानद!।
तेन मोक्षमवाप्नोति शुक्लगत्या न संशयः ॥९॥
एकाग्रमष्टधा चित्तं तदेवैकात्मधारकम्।
संप्रज्ञात-समाधिस्थं जानीहि साधुसत्तम! ॥१०॥
निरोधसंज्ञितं चित्तं निवृत्तिरूपधारकम्।
असंप्रज्ञातयोगस्थं जानीहि योगसेवया ॥११॥
सिद्धिर्नानाविधा प्रोक्ता भ्रान्तिदा तत्र सम्मता।
माया सा गणनाथस्य त्यक्तव्या योगसेवया ॥१२॥

पञ्चधा चित्तवृत्तिश्च बुद्धिरूपा प्रकीर्तिता।
सिद्ध्यर्थं सर्वलोकश्च भ्रमयुक्ता भवन्त्यतः ॥१३॥
धर्मा-ऽर्थ-काम-मोक्षाणां सिद्धिर्भिन्ना प्रकीर्तिता।
ब्रह्मभूतकरी सिद्धिस्त्यक्तव्या पञ्चधा सदा ॥१४॥
मोहदा सिद्धिरत्यन्तमोहधारकतां गता।
बुद्धिश्चैव स सर्वत्र ताभ्यां खेलति विघ्नपः ॥१५॥
बुद्ध्या यद् बुद्ध्यते तत्र पश्चान् मोहः प्रवर्तते।
अतो गणेशभक्त्या स मायया वर्जितो भवेत् ॥१६॥
पञ्चधा चित्तवृत्तिञ्च पञ्चधा सिद्धिमादरात्।
त्यक्त्वा गणेशयोगेन गणेशं भज भावतः ॥१७॥
ततः स गणराजस्य मन्त्रं तस्मै ददौ स्वयम्।
गणानां त्वेति वेदोक्तं स विधिं मुनिसत्तम ॥१८॥
तेन सम्पूजितो योगी प्रह्लादेन महात्मना।
ययौ गृत्समदो दक्षः स्वर्गलोकं विहायसा ॥१९॥
प्रह्लादश्च तथा साधुः साधयित्वा विशेषतः।
योगं योगीन्द्रमुख्यं स शान्तिसद्धारकोऽभवत् ॥२०॥
विरोचनाय राज्यं स ददौ पुत्राय दैत्यपः।
गणेशभजने योगी स सक्तः सर्वदाऽभवत् ॥२१॥
सगुणं विष्णुरूपं च निर्गुणं ब्रह्म वाचकम्।
गणेशेन धृतं सर्वं कलांशेन न संशयः ॥२२॥
एवं ज्ञात्वा महायोगी प्रह्लादोऽभेदमाश्रितः।
हृदि चिन्तामणिं ज्ञात्वाऽभजदन्यभावनः ॥२३॥
स्वल्पकालेह दैत्येन्द्रः शान्तियोगपरायणः।
शान्तिं प्राप्तो गणेशेनैकभावोऽभवत्परः ॥२४॥

शापश्चैव गणेशेन प्रह्लादस्य निराकृतः ।
न पुनर्दुष्टसङ्गेन भ्रान्तोऽभून्मयि मानद ! ॥२५॥
एवं मदं परित्यज्य ह्येकदन्तसमाश्रयात् ।
असुरोऽपि महायोगी प्रह्लादः स बभूव ह ॥२६॥
एतत् प्रह्लादमाहात्म्यं यः शृणोति नरोत्तमः ।
पठेद् वा तस्य सततं भवेदीप्सितदायकम् ॥२७॥

इति मुद्गलपुराणोक्तं प्रह्लादकृतं गणेशस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥११॥

१२. गणेशपञ्चरत्नस्तोत्रम्

मुदा करात्तमोदकं सदा विमुक्तिसाधकं कलाधरावतंसकं विलासिलोकरञ्जकम् ।
अनायकैकनायकं विनाशितेभदैत्यकं नताऽशुभा-ऽशुनाशकंनमामि तं विनायकम् ॥१॥
नतेतरातिभीकरं नवोदितार्कभास्वरं नमत्सुरारिनिर्जरं नताधिकापदुद्धरम् ।
सुरेश्वरं निधीश्वरं गजेश्वरं गणेश्वरं महेश्वरं तमाश्रये परात्परं निरन्तरम् ॥२॥
समस्तलोकशङ्करं निरस्तदैत्यकुञ्जरं दरेतरोदरं वरं वरेभ-वक्त्रमक्षरम् ।
कृपाकरं क्षमाकरं मुदाकरं यशस्करं मनस्करं नमस्कृतं नमस्करोमि भास्वरम् ॥३॥
अकिञ्चनार्तिमार्जनं चिरन्तनोक्तिभाजनं पुरारिपूर्वनन्दनं सुरारि-गर्व-चर्वणम् ।
प्रपञ्चनाश-भीषणं धनञ्जयादिभूषणं कपोलदानवारणं भजे पुराणवारणम् ॥४॥
नितान्त-कान्तदन्त-कान्तिमन्त-कान्तकात्मजमचिन्त्यरूपमन्तहीनमन्तरायकृन्तनम् ।
हृदन्तरे निरन्तरं वसन्तमेव योगिनां तमेकदन्तमेव तं विचिन्तयामि सन्ततम् ॥५॥
महागणेशपञ्चरत्नमादरेण योऽन्वहं प्रगायति प्रभातके हृदि स्मरन् गणेश्वरम् ।
अरोगतामदोषतां सुसाहितीं सुपुत्रतां समाहितायुरष्टभूतिमभ्युपैति सोऽचिरात् ॥६॥

इति श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गणेशपञ्चरत्नस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥१२॥

१३. गणेशपञ्चचामरस्तोत्रम्

ललाट-पट्टलुण्ठितामलेन्दु-रोचिरुद्भटे कृताति-वर्चरस्वरोत्सरत्किरीट-तेजसि ।
फटाफटत्फटत्स्फुरत्फणाभयेन भोगिनां शिवाङ्कतः शिवाङ्कमाश्रयच्छिशौ रतिर्मम ॥१॥
अदभ्र-विभ्रम-भ्रमद्-भुजाभुजङ्गफूत्कृतीर्निजाङ्कमानिनीषतो निशम्य नन्दिनः पितुः ।
त्रसत्सुसंकुचन्तमम्बिका-कुचान्तरं यथा विशन्तमद्य बालचन्द्रभालबालकं भजे ॥२॥
विनादिनन्दिने सविभ्रमं पराभ्रमन्मुखस्वमातृवेणिमागतां स्तनं निरीक्ष्य सम्भ्रमात् ।
भुजङ्ग-शङ्कया परेत्यपित्र्यमङ्कमागतं ततोऽपि शेषफूत्कृतैः कृतातिचीत्कृतं नुमः ॥३॥
विजृम्भमाणनन्दि-घोरघोण-घुर्घुरध्वनिप्रहास-भासिताशमम्बिका-समृद्धि-वर्धिनम् ।
उदित्वर-प्रसृत्वर-क्षरत्तर-प्रभाभरप्रभातभानु-भास्वरं भवस्वसम्भवं भजे ॥४॥
अलङ्गृहीत-चामरामरीजनातिबीजनप्रवातलोलि- तालकं नवेन्दुभालबालकम् ।
विलोलदुल्ललल्ललाम-शुण्डदण्ड-मण्डित सतुण्डमुण्डमालि-वक्रतुण्डमीड्यमाश्रये ॥५॥
प्रफुल्ल-मौलिमाल्य-मल्लिकामरन्द-लेलिहामिलन्निलिन्द-मण्डलीच्छलेन यं स्तवीत्यलम् ।
त्रयीसमस्तवर्णमालिका शरीरिणीव तं सुतं महेशितुर्मतङ्गजाननं भजाम्यहम् ॥६॥
प्रचण्ड-विघ्न-खण्डनैः प्रबोधने सदोद्धुरः समर्धि-सिद्धिसाधनाविधा-विधानबन्धुरः ।
सबन्धुरस्तु मे विभूतये विभूतिपाण्डुरः पुरस्सरः सुरावलेर्मुखानुकारिसिन्धुरः ॥७॥
अराल-शैलबालिका-ऽलकान्तकान्त-चन्द्रमौलिकान्तिसौध-माधयन्मनोऽनुराधयन् गुरोः ।
सुसाध्य-साधवं धियां धनानि साधयन्नयन्नशेषलेखनायको विनायको मुदेऽस्तु नः ॥८॥
रसाङ्गयुङ्-नवेन्दु-वत्सरे शुभे गणेशितुस्थितौ गणेशपञ्चचामरं व्यधादुमापतिः ।
पतिः कविव्रजस्य यः पठेत् प्रतिप्रभातकं स पूर्णकामनो भवेदिभानन-प्रसादभाक् ॥९॥
छात्रत्वे वसता काश्यां विहितेयं यतः स्तुतिः ।
ततश्छात्रैरधीतेयं वैदुष्यं वर्द्धयेद्धिया ॥१०॥

इति श्रीकविपत्युपनामक-उमापतिशर्मद्विवेदि-विरचित-
गणेशपञ्चचामरस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥१३॥

❁❁❁

१४. ढुण्ढिराजभुजङ्गप्रयातस्तोत्रम्

उमाङ्गोद्भवं दन्तिवक्त्रं गणेशं भजे कङ्कणैः शोभितं धूम्रकेतुम्।
गले हार-मुक्तावलीशोभितं तं नमो ज्ञानरूपं गणेशं नमस्ते ॥१॥
गणेशैकदन्तं शुभं सर्वकार्ये स्मरन् मन्मुखं ज्ञानदं सर्वसिद्धिम्।
मनश्चिन्तितं कार्यसिद्धिर्भवेत्तं नमो बुद्धिकन्तं गणेशं नमस्ते ॥२॥
कुठारं धरन्तं कृतं विघ्नराजं चतुर्भिर्नखैरेकदन्तैकवर्णम्।
इदं देवरूपं गणं सिद्धिनाथं नमो भालचन्द्रं गणेशं नमस्ते ॥३॥
शिरः सिन्दुरं कुङ्कुमं देहवर्णं शुभैभादिकं प्रीयते विघ्नराजम्।
महासङ्कटच्छेदने धूम्रकेतुं नमो गौरिपुत्रं गणेशं नमस्ते ॥४॥
तथा पातकं छेदितुं विष्णुनाम तथा ध्यायतां शङ्करं पापनाशम्।
यथा पूजितं षण्मुखं शोकनाशं नमो विघ्ननाशं गणेशं नमस्ते ॥५॥
सदा सर्वदा ध्यायतामेकदन्तं सदा पूजितं सिन्दुरारक्तपुष्पैः।
सदा चर्चितं चन्दनैः कुङ्कुमाक्तं नमो ज्ञानरूपं गणेशं नमस्ते ॥६॥
नमो गौरिदेह-मलोत्पन्न तुभ्यं नमो ज्ञानरूपं नमः सिद्धिपं तम्।
नमो ध्यायतामर्चतां बुद्धिदं तं नमो गौर्यपत्यं गणेशं नमस्ते ॥७॥
भुजङ्गप्रयातं पठेद् यस्तु भक्त्या प्रभाते नरस्तन्मयैकाग्रचित्तः।
क्षयं यान्ति विघ्ना दिशः शोभयन्तं नमो ज्ञानरूपं गणेशं नमस्ते ॥८॥

इति श्रीढुण्डिराजभुजङ्गप्रयातस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥१४॥

❀❀❀

१५. गणपतिस्तवः

ऋषिरुवाच

अजं निर्विकल्पं निराहारमेकं निरानन्दमानन्दमद्वैतपूर्णम्।
परं निर्गुणं निर्विशेषं निरीहं परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम ॥१॥

गुणातीतमानं चिदानन्दरूपं चिदाभासकं सर्वगं ज्ञानगम्यम्।
मुनिध्येयमाकाशरूपं परेशं परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम ॥२॥
जगत्कारणं कारणज्ञानरूपं सुरादिं सुखादिं गणेशं भजेम।
जगद्-व्यापिनं विश्ववन्द्यं सुरेशं परब्रह्मरूपं गणेशं भजेम ॥३॥
रजोयोगतो ब्रह्मरूपं श्रुतिज्ञं सदा कार्यसक्तं हृदाऽचिन्त्यरूपम्।
जगत्कारणं सर्वविद्यानिदानं परब्रह्मरूपं गणेशं नताः स्मः ॥४॥
सदा सत्ययोग्यं मुदा क्रीडमानं सुरारीन् हरन्तं जगत्पालयन्तम्।
अनेकावतारं निजज्ञानहारं सदा विश्वरूपं गणेशं नमामः ॥५॥
तमोयोगिनं रुद्ररूपं त्रिनेत्रं जगद्धारकं तारकं ज्ञानहेतुम्।
अनेकागमैः स्वं जनं बोधयन्तं सदा सर्वरूपं गणेशं नमामः ॥६॥
नमः स्तोमहारं जनाऽज्ञानहारं त्रयीवेदसारं परब्रह्मसारम्।
मुनिज्ञानकारं विदूरे विकारं सदा ब्रह्मरूपं गणेशं नमामः ॥७॥
निजैरोषधीस्तर्पयन्तं कराद्यैः सुरौघान् कलाभिः सुधास्राविणीभिः।
दिनेशांशु-सन्तापहारं द्विजेशं शशाङ्क-स्वरूपं गणेशं नमामः ॥८॥
प्रकाशस्वरूपं नमो वायुरूपं विकारादिहेतुं कलाधारभूतम्।
अनेकक्रिया-ऽनेकशक्तिस्वरूपं सदा शक्तिरूपं गणेशं नमामः ॥९॥
प्रधानस्वरूपं महत्तत्त्वरूपं धराचारिरूपं दिगीशादिरूपम्।
असत्-सत्स्वरूपं जगद्धेतुरूपं सदा विश्वरूपं गणेशं नताः स्मः ॥१०॥
त्वदीये मनः स्थापयेदङ्घ्रियुग्मे स नो विघ्नसङ्घातपीडां लभेत।
लसत्सूर्यबिम्बे विशाले स्थितोऽयं जनो ध्वान्तपीडां कथं वा लभेत ॥११॥
वयं भ्रामिताः सर्वथाऽज्ञानयोगादलब्धस्वाङ्घ्रिः बहून् वर्षपूगान्।
इदानीमवाप्तस्तवैव प्रसादात् प्रपन्नान् सदा पाहि विश्वम्भराद्य ॥१२॥
एवं स्तुतो गणेशस्तु सन्तुष्टोऽभून् महामुने।
कृपया परयोपेतोऽभिधातुमुपचक्रमे ॥१३॥

इति श्रीमद्-गर्गऋषिप्रणीतो गणपतिस्तवः सम्पूर्णः ॥१५॥

१६. गणेशस्तवराजः

भगवानुवाच

गणेशस्य स्तवं वक्ष्ये कलौ झटिति सिद्धिदम्।
न न्यासो न च संस्कारो न होमो न च तर्पणम् ॥१॥
न मार्जनं च पञ्चाशत्सहस्त्रजपमात्रतः।
सिद्ध्यत्यर्चनतः पञ्चशत - ब्राह्मणभोजनात् ॥२॥

ॐ अस्य श्रीगणेशस्तवराजमन्त्रस्य भगवान् सदाशिवऋषिः, अनुष्टुप्छन्दः, श्रीमहागणपतिर्देवता, श्रीमहागणपतिप्रीत्यर्थं जपे विनियोगः।

विनायकैक-भावना-समर्चना-समर्पितं प्रमोदकैः प्रमोदकैः प्रमोद-मोद-मोदकम्।
यदर्पितं सदर्पितं नवान्यधान्यनिर्मितं न कण्डितं न खण्डितं न खण्डमण्डनं कृतम् ॥१॥
सजातिकृद्विजातिकृत्-स्वनिष्ठ-भेदवर्जितं निरञ्जनं च निर्गुणं निराकृतिं ह्यनिष्क्रियम्।
सदात्मकं चिदात्मकं सुखात्मकं परं पदं भजामि तं गजाननं स्वमाययात्तविग्रहम् ॥२॥
गणाधिप ! त्वमष्टमूर्तिरीशसूनुरीश्वरस्त्वमम्बरं च शम्बरं धनञ्जयः प्रभञ्जनः।
त्वमेव दीक्षितः क्षितिर्निशाकरः प्रभाकरश्चराऽचर-प्रचार-हेतुरन्तराय-शान्तिकृत् ॥३॥
अनेकदं तमाल-नीलमेकदन्त-सुन्दरं गजाननं नमोऽगजानना-ऽमृताब्धि-मन्दिरम्।
समस्त - वेदवादसत्कला - कलाप - मन्दिरं महान्तराय - कृत्तमोऽर्कमाश्रितोऽन्दरुं परम् ॥४॥
सरत्नहेम - घण्टिका - निनाद - नूपुरस्वनैर्मृदङ्ग - तालनाद - भेदसाधनानुरूपतः।
धिमि-द्धिमि-त्तथोङ्ग-थोङ्ग-थैयि-थैयिशब्दतो विनायकः शशाङ्कशेखरः प्रहृष्य नृत्यति ॥५॥
सदा नमामि यूथनायकैकनायकं कलाकलाप-कल्पना-निदानमादिपूरुषम्।
गणेश्वरं गुणेश्वरं महेश्वरात्मसम्भवं स्वपादपद्म-सेविनामपार-त्रैभवप्रदम् ॥६॥
भजे प्रचण्ड-तुन्दिलं सदन्दशूकभूषणं सनन्दनादि-वन्दितं समस्त-सिद्धसेवितम्।
सुराऽसुरौकयोः सदा जयप्रदं भयप्रदं समस्तविघ्न-घातिनं स्वभक्त-पक्षपातिनम् ॥७॥
कराम्बुजात-कङ्कणः पदाब्ज-किङ्किणीगणो गणेश्वरो गुणार्णवः फणीश्वराङ्गभूषणः।
जगत्रयान्तराय-शान्तिकारकोऽस्तु तारको भवार्णवस्थ-घोरदुर्गहा चिदेकविग्रहः ॥८॥

यो भक्तिप्रवणश्चरा-ऽचर-गुरोः स्तोत्रं गणेशाष्टकं
शुद्धः संयतचेतसा यदि पठेन्नित्यं त्रिसन्ध्यं पुमान्।
तस्य श्रीरतुला स्वसिद्धि-सहिता श्रीशारदा सर्वदा
स्यातां तत्परिचारिके किल तदा काः कामनानां कथाः ॥९॥

इति श्रीरुद्रयामलतो गणेशस्तवराजः सम्पूर्णः ॥१६॥

❀❀❀

१७. महागणपतिस्तोत्रम्

योगं योगविदां विधूत-विविध-व्यासङ्ग-शुद्धाशय-
प्रादुर्भूत - सुधारस - प्रसृमर - ध्यानास्पदाध्यासिनाम्।
आनन्दप्लवमान - बोधमधुरा - ऽऽमोदच्छटामेदुरं
तं भूमानमुपास्महे परिणतं दन्तावलास्यात्मना ॥१॥

तारश्री-परशक्तिकामरसुधा-रूपानुगं यं विदु-
स्तस्मै स्यात् प्रणतिर्गुणाधिपतये यो रागिणाऽभ्यर्थ्यते।
आमन्त्र्य प्रथमं वरेति वरदेत्यार्तेन सर्वं जनं
स्वामिन् मे वशमानयेति सततं स्वाहादिभिः पूजितः ॥२॥

कल्लोलाञ्चल - चुम्बिताम्बुद - तताविक्षुद्रवाम्भोनिधौ
द्वीपे रत्नमये सुरद्रुमवनामोदैकमेदस्विनि।
मूले कल्पतरोर्महामणिमये पीठेऽक्षराम्भोरुहे
षट्कोणाकलित - त्रिकोणरचना - सत्कीर्णकेऽमुं भजे ॥३॥

चक्रपास - रसाल - कार्मुक - गदा - सद्बीजपूरद्विज-
ब्रीह्यग्रोत्पल - पाशपङ्कजकरं शुण्डाग्रजाग्रद्घटम्।
आश्लिष्टं प्रियया सरोजकरया रत्नस्फुरद् भूषया
माणिक्यप्रतिमं महागणपतिं विश्वेशमाशास्महे ॥४॥

दानाम्भः परिमेदुर - प्रसमर - व्यालम्बिरोलम्लभृत्
सिन्दूरारुण - गण्डमण्डलयुग - व्याजात् प्रशस्तिद्वयम्।
त्रैलोक्येष्ट-विधानवर्णसुभगं यः पद्मरागोपमं
धत्ते स श्रियमातनोतु सततं देवो गणानां पतिः ॥५॥
भ्राम्यन् मन्दरघूर्णनापरवश - क्षीराब्धिवीचिच्छटा-
सच्छायाश्चल - चामर - व्यतिकर - श्रीगर्वसर्वङ्कषाः।
दिक्कान्ताघन - सारचन्दनरसा - साराश्रयान्तां मनः
स्वच्छन्दप्रसर - प्रलिप्तवियतो हेरम्बदन्तत्विषः ॥६॥
मुक्ताजालकरम्बित - प्रविकसन् - माणिक्यपुञ्जच्छटा-
कान्ताः कम्बुकदम्ब - चुम्बितघनाम्भोज - प्रवालोपमाः।
ज्योत्स्नापूर - तरङ्ग - मन्थरतरत् - सन्ध्यावयस्याश्चिरं
हेरम्बस्य जयन्ति दन्तकिरणाकीर्णाः शरीरत्विषः ॥७॥
शुण्डाग्राकलितेन हेमकलशेनावर्जितेन क्षरन्
नानारत्नचयेन साधकजनान् सम्भावयन् कोटिशः।
दानामोद - विनोदलुब्ध - मधुप - प्रोत्सारणाविर्भवत्
कर्णान्दोलनखेलनो विजयते देवो गणग्रामणीः ॥८॥
हेरम्बं प्रणमामि यस्य पुरतः शाण्डिल्यमूले श्रिया
बिभ्रत्याम्बुरुहे समं मधुरिपुस्ते शङ्खचक्रे वहन्।
न्यग्रोधस्य तले सहाद्रिसुतया शम्भुस्तथा दक्षिणे
बिभ्राणः परशुं त्रिशूलमितया देव्या धरण्या सह ॥९॥
पश्चात् पिप्पलमाश्रितो रतिपतिर्देवस्य रत्योत्पले
बिभ्रत्या सममैक्षवं धनुरिपून् पौष्पान् वहन् पञ्च च।
वामे चक्रगदाधरः स भगवान् क्रीडः प्रियङ्गोस्तले
हस्तोद्यच्छकशालिमञ्जरिकया देव्या धरण्या सह ॥१०॥

षट्कोणाश्रिषु षट्सु खड्गजमुखाः पाशाङ्कुशाभीवरान्
बिभ्राणाः प्रमदासखाः पृथुमहाशोणाश्म-पुञ्जत्विषः।
आमोदः पुरतः प्रमोदसुमुखौ तं चाऽभिष्टतो दुर्मुखः
पश्चात् पार्श्वगतोऽस्य विघ्न इति यो यो विघ्नकर्तेति च ॥११॥
आमोदादिगणेश्वर - प्रियतमास्तत्रैव नित्यं स्थिताः
कान्ताश्लेषरसज्ञ - मन्थरदृशः सिद्धिः समृद्धिस्ततः।
कान्तिर्या मदनावतीत्यपि तथा कल्पेषु या गीयते
साऽन्या याऽपि मदद्रवा तदपरा द्राविण्यतः पूजिताः ॥१२॥
आश्लिष्टौ वसुधेत्यथो वसुमती ताभ्यां सितालोहितौ
वर्षन्तौ . वसुपार्श्वयोर्विलसतस्तौ शङ्खपद्मौ निधी।
अङ्गान्यत्वथ मातरश्च परितः शुक्रादयोऽब्जाश्रया-
स्तद्बाह्ये कुलिशादयः परिपतत्कालानलज्योतिषः ॥१३॥
इत्थं विष्णु-शिवादि-तत्त्वतनवे श्रीवक्रतुण्डाय हुं-
काराक्षिप्त - समस्तदैत्य - पृतनाव्राताय दीप्तत्विषे।
आनन्दैक - रसावबोधलहरी - विध्वस्तसर्वोर्मये
सर्वत्र प्रथमानमुग्धमहसे तस्मै परस्मै नमः ॥१४॥
सेवाहेवाकिदेवा - सुरनरनिकर - स्फार - कोटीर - कोटी-
कोटिव्याटीकमान - द्युमणिसममणि - श्रेणिभावेणिकानाम्।
राजन्नीराजनश्रीमुखचरणनख - द्योतविद्योतमानः
श्रेयः स्थेयः स देयान् मम विमलदृशोबन्धुर-सिन्धुरास्यः ॥१५॥
एतेन प्रकटरहस्यमन्त्रमाला-गर्भेण स्फुटतरसंविदा स्तवेन।
यः स्तौति प्रचुरतरं महागणेशं तस्येयं भवति वशंवदा त्रिलोकी ॥१६॥

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य-श्रीराघवचैतन्यविरचितं
महागणपतिस्तोत्रं समाप्तम् ॥१७॥

❁❁❁

१८. एकदन्तगणेशस्तोत्रम्

महासुरं सुशान्तं वै दृष्ट्वा विष्णुमुखाः सुराः ।
भृग्वादयश्च मुनय एकदन्तं समाययुः ॥१॥
प्रणम्य तं प्रपूज्यादौ पुनस्तं नेमुरादरात् ।
तुष्टुवुर्हर्षसंयुक्ता एकदन्तं गणेश्वरम् ॥२॥

देवर्षय ऊचुः

सदात्मरूपं सकलादि भूतममायिनं सोऽहमचिन्त्यबोधम् ।
अनादि-मध्यान्त-विहीनमेकं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥३॥
अनन्त-चिद्रूप-मयं गणेशं ह्यभेद-भेदादि-विहीनमाद्यम् ।
हृदि प्रकाशस्य धरं स्वधीस्थं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥४॥
विश्वादिभूतं हृदि योगिनां वै प्रत्यक्षरूपेण विभान्तमेकम् ।
सदा निरालम्ब-समाधिगम्यं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥५॥
स्वबिम्बभावेन विलासयुक्तं बिन्दुस्वरूपा रचिता स्वमाया ।
तस्यां स्ववीर्यं प्रददाति यो वै तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥६॥
त्वदीय-वीर्येण समर्थभूता माया तया संरचितं च विश्वम् ।
नादात्मकं ह्यात्मतया प्रतीतं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥७॥
त्वदीय-सत्ताधरमेकदन्तं गणेशमेकं त्रयबोधितारम् ।
सेवन्त आपुस्तमजं त्रिसंस्थास्तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥८॥
ततस्त्वया प्रेरित एव नादस्तेनेदमेवं रचितं जगद् वै ।
आनन्दरूपं समभावसंस्थं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥९॥
तदेव विश्वं कृपया तवैव सम्भूतमाद्यं तमसा विभातम् ।
अनेकरूपं ह्यजमेकभूतं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१०॥
ततस्त्वया प्रेरितमेव तेन सृष्टं सुसूक्ष्मं जगदेकसंस्थम् ।
सत्त्वात्मकं श्वेतमनन्तमाद्यं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥११॥

तदेव स्वप्नं तपसा गणेशं स-सिद्धिरूपं विविधं बभूव।
सदैकरूपं कृपया तवाऽपि तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१२॥
सम्प्रेरितं तच्च त्वया हृदिस्थं तथा सुसृष्टं जगदंशरूपम्।
तेनैव जाग्रन्मयमप्रमेयं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१३॥
जाग्रत्स्वरूपं रजसा विभातं विलोकितं तत्कृपया यदैव।
तदा विभिन्नं भवदेकरूपं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१४॥
एवं च सृष्ट्वा प्रकृतिस्वभावात्तदन्तरे त्वं च विभासि नित्यम्।
बुद्धिप्रदाता गणनाथ एकस्तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१५॥
त्वदाज्ञया भान्ति ग्रहाश्च सर्वे नक्षत्ररूपाणि विभान्ति खे वै।
आधारहीनानि त्वया धृतानि तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१६॥
त्वदाज्ञया सृष्टिकरो विधाता त्वदाज्ञया पालक एव विष्णुः।
त्वदाज्ञया संहरते हरोऽपि तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१७॥
यदाज्ञया भूर्जलमध्यसंस्था यदाज्ञयाऽऽपः प्रवहन्ति नद्यः।
सीमां सदा रक्षति वै समुद्रस्तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१८॥
यदाज्ञया देवगणो दिविष्ठो ददाति वै कर्मफलानि नित्यम्।
यदाज्ञया शैलगणोऽचलो वै तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१९॥
यदाज्ञया शेष इलाधरो वै यदाज्ञया मोहप्रदश्च कामः।
यदाज्ञया कालधरोऽर्यमा च तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥२०॥
यदाज्ञया वाति विभाति वायुर्यदाज्ञयाऽग्निर्यठरादिसंस्थः।
यदाज्ञया वै सचराऽचरं च तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥२१॥
सर्वान्तरे संस्थितमेकगूढं यदाज्ञया सर्वमिदं विभाति।
अनन्तरूपं हृदि बोधकं वै तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥२२॥
यं योगिनो योगबलेन साध्यं कुर्वन्ति तं कः स्तवनेन स्तौति।
अतः प्रणामेन सुसिद्धिदोऽस्तु तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥२३॥

गृत्समद उवाच

एवं स्तुत्वा च प्रह्लादं देवाः समुनयश्च वै।
तूष्णीभावं प्रपद्यैव ननृतुर्हर्षसंयुताः ॥२४॥
स तानुवाच प्रीतात्मा ह्येकदन्तः स्तवेन वै।
जगाद तान् महाभागान् देवर्षीन् भक्तवत्सलः ॥२५॥

एकदन्त उवाच

प्रसन्नोऽस्मि च स्तोत्रेण सुराः सप्तर्षिणः किल।
वृणुध्वं वरदोऽहं वो दास्यामि मनसीप्सितम् ॥२६॥
भवत्कृतं मदीयं वै स्तोत्रं प्रीतिप्रदं मम।
भविष्यति न सन्देहः सर्वसिद्धिप्रदायकम् ॥२७॥
यं यमिच्छति तं तं वै दास्यामि स्तोत्रपाठतः।
पुत्र-पौत्रादिकं सर्वं लभते धन-धान्यकम् ॥२८॥
गजा-ऽश्वादिकमत्यन्तं राज्यभोगं लभेद् ध्रुवम्।
भुक्तिं मुक्तिं च योगं वै लभते शान्तिदायकम् ॥२९॥
मारणोच्चाटनादीनि राज्यबन्धादिकं च यत्।
पठतां शृण्वतां नृणां भवेच्च बन्धहीनता ॥३०॥
एकविंशतिवारं च श्लोकांश्चैवैकविंशतिम्।
पठते नित्यमेकं च दिनानि त्वेकविंशतिम् ॥३१॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु वै भवेत्।
असाध्यं साधयेन् मर्त्यः सर्वत्र विजयो भवेत् ॥३२॥
नित्यं यः पठते स्तोत्रं ब्रह्मभूतः स वै नरः।
तस्य दर्शनतः सर्वे देवाः पूता भवन्ति वै ॥३३॥
एवं तस्य वचः श्रुत्वा प्रहृष्टा देवतर्षयः।
ऊचुः करपुटाः सर्वे भक्तियुक्ता गजाननम् ॥३४॥

इत्येकदन्त-गणेशस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥१८॥

१९. शङ्करादिकृतं गजाननस्तोत्रम् (१)

देवा ऊचुः

गजाननाय पूर्णाय सांख्यरूपमयाय ते।
विदेहेन च सर्वत्र संस्थिताय नमो नमः ॥१॥
अमेयाय च हेरम्ब परशुधारकाय ते।
मूषकवाहनायैव विश्वेशाय नमो नमः ॥२॥
अनन्तविभवायैव परेशां पररूपिणे।
शिवपुत्राय देवाय गुहाग्रजाय ते नमः ॥३॥
पार्वतीनन्दनायैव देवानां पालकाय ते।
सर्वेषां पूज्यदेहाय गणेशाय नमो नमः ॥४॥
स्वानन्दवासिने तुभ्यं शिवस्य कुलदैवत।
विष्णवादीनां विशेषेण कुलदेवाय ते नमः ॥५॥
योगाकाराय सर्वेषां योगशान्तिप्रदाय च।
ब्रह्मेशाय नमस्तुभ्यं ब्रह्मभूतप्रदाय ते ॥६॥
सिद्धि-बुद्धिपते नाथ! सिद्धि-बुद्धिप्रदायिने।
मायिने मायिकेभ्यश्च मोहदाय नमो नमः ॥७॥
लम्बोदराय वै तुभ्यं सर्वोदरगताय च।
अमायिने च मायाया आधाराय नमो नमः ॥८॥
गजः सर्वस्य बीजं यत्तेन चिह्नेन विघ्नप।
योनिस्त्वां प्रजानन्ति तदाकारा भवन्ति ते ॥९॥
तेन त्वं गजवक्त्रश्च किं स्तुमस्त्वां गजानन।
वेदादयो विकुण्ठाश्च शङ्कराद्याश्च देवपाः ॥१०॥
शुक्रादयश्च शेषाद्याः स्तोतुं शक्ता भवन्ति न।
तथापि संस्तुतोऽसि त्वं स्फूर्त्या त्वद्दर्शनात्मना ॥११॥

एवमुक्त्वा प्रणेमुस्तं गजानन शिवादयः।
स तानुवाच प्रीतात्मा भक्तिभावेन तोषितः ॥१२॥

गजानन उवाच

भवत्कृतमिदं स्तोत्रं मदीयं सर्वदं भवेत्।
पठते शृण्वते चैव ब्रह्मभूत-प्रदायकम् ॥१३॥

इति मौद्गलोक्तं गजाननस्तोत्रं समाप्तम् ॥१९॥

❀❀❀

२०. देवर्षिकृतं गजाननस्तोत्रम् (२)

देवर्षय ऊचुः

विदेहरूपं भवबन्धहारं सदा स्वनिष्ठं स्वसुखप्रदन्तम्।
अमेयसांख्येन च लक्ष्यमीशं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१॥
मुनीन्द्रवन्द्यं विधिबोधहीनं सुबुद्धिदं बुद्धिधरं प्रशान्तम्।
विकारहीनं सकलाङ्गकं वै गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥२॥
अमेयरूपं हृदि संस्थितं तं ब्रह्माऽहमेकं भ्रमनाशकारम्।
अनादि-मध्यान्तमपाररूपं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥३॥
जगत्प्रमाणं जगदीशमेवमगम्यमाद्यं जगदादिहीनम्।
अनात्मनां मोहप्रदं पुराणं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥४॥
न पृथ्विरूपं न जलप्रकाशनं न तेजसंस्थं न समीरसंस्थम्।
न खे गतं पञ्चविभूतिहीनं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥५॥
न विश्वगं तैजसगं न प्राज्ञं समष्टि-व्यष्टिस्थ-मनन्तगं तम्।
गुणैर्विहीनं परमार्थभूतं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥६॥
गुणेशगं नैव च बिन्दुसंस्थं न देहिनं बोधमयं न ढुण्ढी।
सुयोगहीनं प्रवदन्ति तत्स्थं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥७॥

अनागतं ग्रैवगतं गणेशं कथं तदाकारमयं वदामः ।
तथापि सर्वं प्रतिदेहसंस्थं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥८॥
यदि त्वया नाथ ! धृतं न किञ्चित्तदा कथं सर्वमिदं भजामि ।
अतो महात्मानमचिन्त्यमेवं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥९॥
सुसिद्धिदं भक्तजनस्य देवं सकामिकानामिह सौख्यदं तम् ।
अकामिकानां भवबन्धहारं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१०॥
सुरेन्द्रसेव्यं ह्यसुरैः सुसेव्यं समानभावेन विराजयन्तम् ।
अनन्तबाहुं मूषकध्वजं तं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥११॥
सदा सुखानन्दमयं जले च समुद्रजे इक्षुरसे निवासम् ।
द्वन्द्वस्य यानेन च नाशरूपे गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१२॥
चतुःपदार्था विविधप्रकाशस्तदेव हस्तं सुचतुर्भुजं तम् ।
अनाथनाथं च महोदरं वै गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१३॥
महाखुमारूढमकालकालं विदेहयोगेन च लभ्यमानम् ।
अमायिनं मायिकमोहदं तं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१४॥
रविस्वरूपं रविभासहीनं हरिस्वरूपं हरिबोधहीनम् ।
शिवस्वरूपं शिवभासनाशं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१५॥
महेश्वरीस्थं च सुशक्तिहीनं प्रभुं परेशं परवन्द्यमेवम् ।
अचालकं चालकबीजरूपं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१६॥
शिवादि-देवैश्च खगैश्च वन्द्यं नरैर्लता-वृक्ष-पशुप्रमुख्यैः ।
चराऽचरैर्लोक-विहीनमेवं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१७॥
मनोवचोहीनतया सुसंस्थं निवृत्तिमात्रं ह्यजमव्ययं तम् ।
तथाऽपि देव पुरसंस्थितं तं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१८॥
वयं सुधन्या गणपस्तवेन तथैव मर्त्यार्चनतस्तथैव ।
गणेशरूपाश्च कृतास्त्वया तं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥१९॥

गजाख्यबीजं प्रवदन्ति वेदास्तदेव चिह्नेन च योगिनस्त्वाम्।
गच्छन्ति तेनैव गजाननं तं गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥२०॥
पुराणवेदाः शिवविष्णुकाद्यामराः शुकाद्या गणपस्तवे वै।
विकुण्ठिताः किं च वयं स्तवामो गजाननं भक्तियुतं भजामः ॥२१॥

मुद्गल उवाच

एवं स्तुत्वा गणेशानं नेमुः सर्वे पुनः पुनः।
तानुत्थाप्य वचो रम्यं गजानन उवाच ह ॥२२॥

गजानन उवाच

वरं ब्रूत महाभागा देवाः सर्षिगणाः परम्।
स्तोत्रेण प्रीतिसंयुक्तो दास्यामि वाञ्छितं परम् ॥२३॥
गजाननवचः श्रुत्वा हर्षयुक्ताः सुरर्षयः।
जगुस्तं भक्तिभावेन साश्रुनेत्राः प्रजापते ॥२४॥

देवर्षय ऊचुः

यदि गजानन स्वामिन्! प्रसन्नो वरदोऽसि मे।
तदा भक्तिं दृढां देहि लोभहीनां त्वदीयकाम् ॥२५॥
लोभासुरस्य देवेश! कृता शान्तिसुखप्रदा।
तया जगदिदं सर्वं वरयुक्तं कृतं त्वया ॥२६॥
अधुना देवदेवेश! कर्मयुक्ता द्विजातयः।
भविष्यन्ति धरायां वै वयं स्वस्थानगास्तथा ॥२७॥
स्व-स्वधर्मरताः सर्वे कृतास्त्वया गजानन।
अतः परं वरं ढुण्ढे याचमानः किमप्यहो! ॥२८॥
यदा ते स्मरणं नाथ करिष्यामो वयं प्रभो।
तदा सङ्कटहीनान् वै कुरु त्वं भो गजानन! ॥२९॥

एवमुक्त्वा प्रणेमुस्तं गजाननमनामयम्।
तानुवाच च प्रीत्यात्मा भक्ताधीनः स्वभावतः ॥३०॥

गजानन उवाच

यद्यच्च प्रार्थितं देवा मुनयः सर्वमञ्जसा।
भविष्यति न सन्देहो मत्स्मृत्या सर्वदा हि वः ॥३१॥
भवत्कृतं मदीयं वै स्तोत्रं सर्वत्र सिद्धिदम्।
भविष्यति विशेषेण मम भक्ति-प्रदायकम् ॥३२॥
पुत्र-पौत्र-प्रदं पूर्णं धन-धान्य-प्रवर्धनम्।
सर्वसम्पत्करं देवाः पठनाच्छ्रवणान्नृणाम् ॥३३॥
मारणोच्चाटनादीनि नश्यन्ति स्तोत्रपाठतः।
परकृत्यं च विपेन्द्रा अशुभं नैव बाधते ॥३४॥
संग्रामे जयदं चैव यात्राकाले फलप्रदम्।
शत्रूच्चाटनादिषु च प्रशस्तं तद् भविष्यति ॥३५॥
कारागृहगतस्यैव बन्धनाशकरं भवेत्।
असाध्यं साधयेत् सर्वमनेनैव सुरर्षयः ॥३६॥
एकविंशतिवारं वै चैकविंशद्दिनावधिम्।
प्रयोगं यः करोत्वेव सर्वसिद्धिभाक् स भवेत् ॥३७॥
धर्मा-ऽर्थ-काम-मोक्षाणां ब्रह्मभूतस्य दायकम्।
भविष्यति न सन्देहः स्तोत्रं मद्भक्तिवर्धनम्।
एवमुक्त्वा गणाधीशस्तत्रैवान्तरधीयत ॥३८॥

इति मुद्गलपुराणान्तर्गतं गजाननस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥२०॥

२१. गजाननस्तोत्रम् (३)

देवर्षय ऊचुः

नमस्ते गजवक्त्राय गजाननसुरूपिणे।
पराशरसुतायैव वत्सलासूनवे नमः ॥१॥
व्यासभ्रात्रे शुकस्यैव पितृव्याय नमो नमः।
अनादिगणनाथाय स्वानन्दावासिने नमः ॥२॥
रजसा सृष्टिकर्त्रे ते सत्त्वतः पालकाय वै।
तमसा सर्वसंहर्त्रे गणेशाय नमो नमः ॥३॥
सुकृतेः पुरुषस्यापि रूपिणे परमात्मने।
बोधाकाराय वै तुभ्यं केवलाय नमो नमः ॥४॥
स्वसंवेद्याय देवाय योगाय गणपाय च।
शान्तिरूपाय तुभ्यं वै नमस्ते ब्रह्मनायक ॥५॥
विनायकाय वीराय गजदैत्यस्य शत्रवे।
मुनिमानसनिष्ठाय मुनीनां पालकाय च ॥६॥
देवरक्षकरायैव विघ्नेशाय नमो नमः।
वक्रतुण्डाय घोराय चैकदन्ताय ते नमः ॥७॥
त्वयाऽयं निहतो दैत्यो गजनामा महाबलः।
ब्रह्माण्डे मृत्युसंहीनो महाश्चर्यं कृतं विभो! ॥८॥
हते दैत्येऽधुना कृत्स्नं जगत्सन्तोषमेष्यति।
स्वाहा-स्वधायुतं पूर्णं स्वधर्मस्थं भविष्यति ॥९॥
एवमुक्त्वा गणाधीश सर्वे देवर्षयस्ततः।
प्रणम्य तूष्णीभावं ते सम्प्राप्ता विगतज्वराः ॥१०॥
कर्णौ सम्पीड्य गणप-चरणे शिरसो ध्वनिः।
मधुरः प्रकृतस्तैस्तु तेन तुष्टो गजाननः ॥११॥

तानुवाच मदीया ये भक्ताः परमभाविताः।
तैश्च नित्यं प्रकर्तव्यं भवद्भिर्नमनं यथा ॥१२॥
तेभ्योऽहं परमंप्रीतो दास्यामि मनसीप्सिताम्।
एतादृशं प्रियं मे च नमनं नाऽत्र संशयः ॥१३॥
एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् सिद्धि-बुद्ध्यादि-संयुतः।
अन्तर्दधे ततो देवा मुनयः स्वस्थलं ययुः ॥१४॥

इति श्रीमदान्त्ये मौद्गले द्वितीयखण्डे गजासुरवधे गजाननस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥२१॥

❀❀❀

२२. विनायक-विनतिः

हेरम्बमम्बामवलम्बमानं लम्बोदरं लम्ब-वितुण्ड-शुण्डम्।
उत्सङ्गमारोपयितुं ह्यपर्णां हसन्तमन्तर्हरिरूपमीडे ॥१॥
मिलिन्द - वृन्द - गुञ्जनोल्लसत्कपोल - मण्डलं
श्रुति - प्रचालन - स्फुरत्समीरवीजिताननम्।
वितुण्ड - शुण्डमण्डल - प्रसार - शोभिविग्रहं
निवारिताघ - विघ्नराशिमङ्कलालपं भजे ॥२॥
गजेन्द्र-मौक्तिकालि-लग्न-कम्बुकण्ठ-पीठकं
सुवर्णबल्लि- मण्डली - विधानबद्ध - दन्तकम्।
प्रमोदि - मोदकाञ्चितं करण्डकं कराम्बुजे
दधानमम्बिकामनो विनोद - मोद - दायकम् ॥३॥
गभीर-नाभि-तुन्दिलं सुपीत-पाट-धौतकं
प्रतप्त - हाटकोपवीत - शोभिताङ्ग - संग्रहम्।
सुराऽसुरार्चिताङ्घ्रिकं शुभक्रिया सहायकं
महेशचित्त - चायकं विनायकं नमाम्यहम् ॥४॥

गजाननं गणेश्वरं गिरीशजा - कुमारकं
महेश्वरात्मजं मुनीन्द्र - मानसाधि - धावकम् ।
मतिप्रकर्ष - मण्डितं सुभक्त - चित्त -मोदकं
भजज्जनालिघोर - विघ्नघातकं भजाम्यहम् ॥५॥
लसल्ललाट - चन्द्रकं क्रियाकृतेऽस्त - तन्द्रकं
महेन्द्रवन्द्य - पादुकं षडाननाग्रजानुजम् ।
अहिं निवार्य मूषकाधिरक्षकं मयूरकं
विलोक्य सुप्रसन्नमानसं गणाधिपं भजे ॥६॥
हरिं निरीक्ष्य भीतिचञ्चलाक्षमेत्य मातरं
निजावनाय पार्श्वमागतां विलोक्य सत्त्वरम् ।
तदीय-वक्षसि प्रविश्य सुस्थिरं परे वरे
नमामि सेवकालिशोक-शोषकं निरन्तरम् ॥७॥
निलिम्प - लोकमण्डली - प्रपूर्ण - पूजनीयकं
सुभक्त - भक्तिभावना विभाविताखिलप्रदम् ।
प्रभूत- भूमि - भावकं दुरूह - दुःख - पावकं
व्रजेश्वरांश - सम्भवं विधुप्रभासितालिकम् ॥८॥
गिरीन्द्र - नन्दिनी - कराम्बुज - प्रसाधिताऽलकं
विलोल-शुण्ड-चुम्बितोग्र-भालचन्द्र-बालकम् ।
निजाखु - खेलनापरं कखन्त - मस्तचापलं
नमामि सिद्धि- बुद्धि -हस्त-चालि- पञ्चचामरम् ॥९॥
विनायकस्य विनतिं पठतां शृण्वतां सताम् ।
सिद्धि-बुद्धि- प्रदां सन्ति मङ्गलानि पदे पदे ॥१०॥

इति पण्डित-श्रीशिवप्रसादद्विवेदि-विरचिता विनायक-विनतिः समाप्ता ॥२२॥

❁❁❁

२३. गणपतिस्तोत्रम्

जेतुं यस्त्रिपुरं हरेण हरिणा व्याजाद्बलिं बध्नता
स्त्रष्टुं वारिभवोद्भवेन भुवनं शेषेण धर्तुं धरम्।
पार्वत्या महिषासुरप्रमथने सिद्धाधिपैः सिद्धये
ध्यातः पञ्चशरेण विश्वजितये पायात् स नागाननः ॥१॥
विघ्नव्यालकुलाभिमानगरुडो विघ्नेभपञ्चाननः
विघ्नोत्तुङ्गगिरिप्रभेदनपविर्विघ्नाम्बुधेर्वाडवो ।
विघ्नाघौघघनप्रचण्डपवनो विघ्नेश्वरः पातु नः ॥२॥
खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरं
प्रस्यन्दन्मदगन्धलुब्धमधुपव्यालोलगण्डस्थलम् ।
दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं
वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कामदम् ॥३॥
गजाननाय महसे प्रत्यूहतिमिरच्छिदे ।
अपारकरुणापूरतरङ्गितदृशे नमः ॥४॥
अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् ।
अनेकदन्तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे ॥५॥
श्वेताङ्गं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः
क्षीराब्धौ रत्नदीपैः सुरनरतिलकं रत्नसिंहासनस्थम् ।
दोर्भिः पाशाङ्कुशाब्जाभयवरमनसं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रं
ध्यायेच्छान्त्यर्थमीशं गणपतिममलं श्रीसमेतं प्रसन्नम् ॥६॥
आवाहये तं गणराजदेवं रक्तोत्पलाभासमशेषवन्द्यम् ।
विघ्नान्तकं विघ्नहरं गणेशं भजामि रौद्रं सहितं च सिद्ध्या ॥७॥
यं ब्रह्म वेदान्तविदो वदन्ति परं प्रधानं पुरुषं तथाऽन्ये ।
विश्वोद्गतेः कारणमीश्वरं वा तस्मै नमो विघ्नविनाशनाय ॥८॥

विघ्नेश वीर्याणि विचित्रकाणि वन्दीजनैर्मागधकैः स्मृतानि ।
श्रुत्वा समुत्तिष्ठ गजानन त्वं ब्राह्मे जगन्मङ्गलकं कुरुष्व ॥९॥
गणेश हेरम्ब गजाननेति महोदर स्वानुभवप्रकाशिन् ।
वरिष्ठ सिद्धिप्रिय बुद्धिनाथ वदन्त एवं त्यजत प्रभीतीः ॥१०॥
अनेकविघ्नान्तक वक्रतुण्ड स्वसंज्ञवासिंश्च चतुर्भुजेति ।
कवीश देवान्तकनाशकारिन् वदन्त एवं त्यजत प्रभीतीः ॥११॥
अनन्तचिद्रूपमयं गणेशं ह्यभेदभेदादिविहीनमाद्यम् ।
हृदि प्रकाशस्य धरं स्वधीस्थं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१२॥
विश्वादिभूतं हृदि योगिनां वै प्रत्यक्षरूपेण विभान्तमेकम् ।
सदा निरालम्बसमाधिगम्यं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१३॥
यदीयवीर्येण समर्थभूता माया तया संरचितं च विश्वम् ।
नागात्मकं ह्यात्मतया प्रतीतं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१४॥
सर्वान्तरे संस्थितमेकमूढं यदाज्ञया सर्वमिदं विभाति ।
अनन्तरूपं हृदि बोधकं वै तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१५॥
यं योगिनो योगबलेन साध्यं कुर्वन्ति तं कः स्तवनेन नौति ।
अतः प्रणामेन सुसिद्धिदोऽस्तु तमेकदन्तं शरणं व्रजामः ॥१६॥
देवेन्द्रमौलिमन्दारमकरन्दकणारुणाः ।
विघ्नान् हरन्तु हेरम्बचरणाम्बुजरेणवः ॥१७॥
एकदन्तं महाकायं लम्बोदरगजाननम् ।
विघ्ननाशकरं देवं हेरम्बं प्रणमाम्यहम् ॥१८॥
यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥१९॥

इति श्रीगणपतिस्तोत्रं सम्पूर्णम् ॥२३॥

२४. गणेशमानसपूजा

गृत्समद उवाच

विघ्नेशवीर्याणि विचित्रकाणि बन्दीजनैर्मागधकैः स्मृतानि।
श्रुत्वा समुत्तिष्ठ गजानन त्वं ब्राह्मैर्जगन्मङ्गलकं कुरुष्व ॥१॥
एवं मया प्रार्थित-विघ्नराजश्चित्तेन चोत्थाय बहिर्गणेशः।
तं निर्गतं वीक्ष्य नमन्ति देवाः शम्भ्वादयो योगिमुखास्तथाऽहम् ॥२॥
शौचादिकं ते परिकल्पयामि हेरम्ब वै दन्तविशुद्धमेवम्।
वस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य मुखारविन्दं देवं सभायां विनिवेशयामि ॥३॥
द्विजादिसर्वैरभिवन्दितं च शुकादिभिर्मोद - समोदकाद्यैः।
सम्भाष्य चालोक्य समुत्थितं तं सुमण्डपं कल्प्य निवेशयामि ॥४॥
रत्नैः सुदीप्तैः प्रतिबिम्बितं तं पश्यामि चित्तेन विनायकं च।
तत्रासनं रत्नसुवर्णयुक्तं सङ्कल्प्य देवं विनिवेशयामि ॥५॥
सिद्ध्या च बुद्ध्या सह विघ्नराज ! पाद्यं कुरु प्रेमभरेण सर्वैः।
सुवासितं नीरमथो गृहाण चित्तेन दत्तं च सुखोष्णभावम् ॥६॥
ततः सुवस्त्रेण गणेशपादौ सम्प्रोक्ष्य दूर्वादिभिरर्चयामि।
चित्तेन भावप्रिय दीनबन्धो मनो विलीनं कुरु ते पदाब्जे ॥७॥
कर्पूर-एलादि-सुवासितं तु सुकल्पितं तोयमथो गृहाण।
आचम्य तेनैव गजानन ! त्वं कृपाकटाक्षेण विलोकयाशु ॥८॥
प्रवाल-मुक्ताफल-हारकाद्यैः सुसंस्कृतं ह्यन्तरभावकेन।
अनर्घ्यमर्घ्यं सफलं कुरुष्व मया प्रदत्तं गणराज ढुण्ढे ॥९॥
सौधं त्रियुक्तं मधुपर्कमाद्यं सङ्कल्पितं भावयुतं गृहाण।
पुनस्तथाऽऽचम्य विनायकं त्वं भक्तांश्च भक्तेश सुरक्षयाशु ॥१०॥
सुवासितं चम्पक-जातिकाद्यैस्तैलं मया कल्पितमेव ढुण्ढे।
गृहाण तेन प्रविमर्दयामि सर्वाङ्गमेवं तव सेवनाय ॥११॥

ततः सुखोष्णेन जलेन चाऽहमनेकतीर्थाहृतकेन ढुण्ढिम् ।
चित्तेन शुद्धेन च स्नापयामि स्नानं मया दत्तमथो गृहाण ॥१२॥
ततः पयःस्नानमचिन्त्यभावं गृहाण तोयस्य तथा गणेश ।
पुनर्दधिस्नानमनामयत्वं चित्तेन दत्तं च जलस्य चैवम् ॥१३॥
ततो घृतस्नानमपारवन्द्य सुतीर्थजो विघ्नहर प्रसीद ।
गृहाण चित्तेन सुकल्पितं तु ततो मधुस्नानमथो जलस्य ॥१४॥
सुशर्करायुक्तमथो गृहाण स्नानं मया कल्पितमेव ढुण्ढे ।
ततो जलस्नानमघापहर्तृ विघ्नेश मायां हि निवारयाशु ॥१५॥
सुदक्षपङ्कस्तमथो गृहाण स्नानं परेशाधिपते ततश्च ।
कौमण्डलीसम्भवजं कुरुष्व विशुद्धमेवं परिकल्पितं तु ॥१६॥
ततस्तु सूक्तैर्मनसा गणेशं सम्पूज्य दूर्वादिभिरल्पभावैः ।
अपारकैर्मण्डलभूतब्रह्मणस्पत्यादिकेस्तं ह्यभिषेचयामि ॥१७॥
ततः सुवस्त्रेण तु प्रोञ्छनं त्वं गृहाण चित्तेन मया सुकल्पितम् ।
ततो विशुद्धेन जलेन ढुण्ढे ह्याचान्तमेवं कुरु विघ्नराज ॥१८॥
अग्नौ विशुद्धे तु गृहाण वस्त्रे ह्यनर्घमौल्ये मनसा मया ते ।
दत्ते परिच्छाद्य निजात्मदेहं ताभ्यां मयूरेश जनांश्च रक्ष ॥१९॥
आचम्य विघ्नेश पुनस्तथैव चित्तेन दत्तं सुखमुत्तरीयम् ।
गृहाण भक्तप्रतिपालक त्वं नमो यथा तारकसंयुतं तु ॥२०॥
यज्ञोपवीतं त्रिगुणस्वरूपं सौवर्णमेवं ह्यहिनाथभूतम् ।
भावेन दत्तं गुणनाथ तत्त्वं गृहाण भक्तोद्धरकारणाय ॥२१॥
आचान्तमेवं मनसा प्रदत्तं कुरुष्व शुद्धेन जलेन ढुण्ढे ।
पुनश्च कौमण्डलकेन पाहि विश्वं प्रभो खेलकरं सदा ते ॥२२॥
उद्यद्दिनेशाभमथो गृहाण सिन्दूरकं ते मनसा प्रदत्तम् ।
सर्वाङ्गसंलेपनमादराद् वै कुरुष्व हेरम्ब च तेन पूर्णम् ॥२३॥

सहस्रशीर्षं मनसाश्रयं त्वद्दत्तं किरीटं तु सुवर्णजं वै।
अनेकरत्नैः खचितं गृहाण ब्रह्मेश ते मस्तकशोभनाय ॥२४॥
विचित्ररत्नैः कनकेन ढुण्ढे युतानि चित्तेन मया परेश ।
दत्तानि नानापदकुण्डलानि गृहाण शूर्पश्रुतिभूषणाय ॥२५॥
शुण्डाविभूषार्थमनन्तखेलिन् सुवर्णजं कञ्चुकमागृहाण ।
रत्नैश्च युक्तं मनसा मया यद्दत्तं प्रभो तत् सफलं कुरुष्व ॥२६॥
सुवर्णरत्नैश्च युतानि ढुण्ढे सदैकदन्ताभरणानि कल्प्य ।
गृहाण चूडाकृतये परेश दतानि दन्तस्य च शोभनार्थम् ॥२७॥
रत्नैः सुवर्णेन कृतानि तानि गृहाण चत्वारि मया प्रकल्प्य ।
सम्भूषय त्वं कटकानि नाथ चतुर्भुजेषु ह्यज विघ्नहारिन् ॥२८॥
विचित्ररत्नैः खचितं सुवर्णसम्भूतकं गृह्य मया प्रदत्तम् ।
तथाऽङ्गुलीष्वाङ्गुलिकं गणेश चित्तेन संशोभय तत्परेश ॥२९॥
विचित्ररत्नैः खचितानि ढुण्ढे केयूरकाणि ह्यथ कल्पितानि ।
सुवर्णजानि प्रमथाधिनाथ गृहाण दत्तानि च बाहुषु त्वम् ॥३०॥
प्रवाल-मुक्ताफल-रत्नजांस्त्वं सुवर्णसूत्रैश्च गृहाण कण्ठे ।
चित्तेन दत्ता विविधाश्च माला उरोदरे शोभय विघ्नराज ॥३१॥
चन्द्रं ललाटे गणनाथ पूर्णं वृद्धि -क्षयाभ्यां तु विहीनमाद्यम् ।
संशोभय त्वं वरसंयुतं ते भक्तप्रियत्वं प्रकटीकुरुष्व ॥३२॥
चिन्तामणिं चिन्तितदं परेश हृद्देशगं ज्योतिमयं कुरुष्व ।
मणिं सदानन्दसुखप्रदं च विघ्नेश दीनानथ पालयस्व ॥३३॥
नाभौ फणीशं च सहस्रशीर्षं संवेष्टनेनैव गणाधिनाथ ।
भक्तं सुभूषं कुरु भूषणेन वरप्रदानं सफलं परेश ॥३४॥
कटीतटे रत्नसुवर्णयुक्तां काञ्चीं सुचित्तेन च धारयामि ।
विघ्नेश ज्योतिर्गणदीपनं ते प्रसीद भक्तं कुरु मां दयाब्धे ॥३५॥

हेरम्ब ते रत्नसुवर्णयुक्ते सुनूपुरे मञ्जिरके तथैव।
सुकिङ्किणीनादयुते सुबुद्ध्या सुपादयोः शोभय मे प्रदत्ते ॥३६॥
इत्यादि-नानाविध-भूषणानि तवेच्छया मानसकल्पितानि।
सम्भूषयाम्येव त्वदङ्गकेषु विचित्रधातुप्रभवाणि ढुण्ढे ॥३७॥
सुचन्दनं रक्तममोघवीर्यं सुघर्षितं ह्यष्टकगन्धमुख्यैः।
युक्तं मया कल्पितमेकदन्त गृहाण ते त्वङ्गविलेपनार्थम् ॥३८॥
तिलेषु वैचित्र्यमथाष्टगन्धैरङ्गेषु तेऽहं प्रकरोमि चित्रम्।
प्रसीद चित्तेन विनायक त्वं ततः सुरक्तं रविमेव भाले ॥३९॥
घृतेन वै कुङ्कुमकेन रक्तान् सुतन्दुलांस्ते परिकल्पयामि।
भाले गणाध्यक्ष गृहाण पाहि भक्तान् सुभक्तिप्रिय दीनबन्धो ॥४०॥
गृहाण भो चम्पकमालतीनि सुपङ्कजानि स्थलपङ्कजानि।
चित्तेन दत्तानि च मल्लिकानि पुष्पाणि नानाविधवृक्षजानि ॥४१॥
पुष्पोपरि त्वं मनसा गृहाण हेरम्ब मन्दारसमीदलानि।
मया सुचित्तेन प्रकल्पितानि ह्यपारकाणि प्रणवाकृते तु ॥४२॥
दूर्वाङ्कुरान् वै मनसा प्रदत्तांस्त्रिपञ्चपत्रैर्युतकांश्च स्निग्धान्।
गृहाण विघ्नेश्वर संख्यया त्वं हीनांश्च सर्वोपरि वक्रतुण्ड ॥४३॥
दशाङ्गभूतं मनसा मया ते धूपं प्रदत्तं गणराज ढुण्ढे।
गृहाण सौरभ्यकरं परेश सिद्ध्या च बुद्ध्या सह भक्तपाल ॥४४॥
दीपं सुवर्त्या युतमादरात्ते दत्तं मया मानसकं गणेश।
गृहाण नानाविधजं घृतादि-तैलादि-सम्भूतममोघदृष्टे ॥४५॥
भोज्यं तु लेह्यं गणराज पेयं चौष्यं च नानाविध-षड्रसाढ्यम्।
गृहाण नैवेद्यमथो मया ते सुकल्पितं पुष्टिपते महात्मन् ॥४६॥
सुवासितं भोजनमध्यभागे जलं मया दत्तमथो गृहाण।
कमण्डलुस्थं मनसा गणेश पिबस्व विश्वादिकतृप्तिकारिन् ॥४७॥

ततः करोद्वर्तनकं गृहाण सौगन्ध्ययुक्तं मुखमार्जनाय।
सुवासितेनैव सुतीर्थजेन सुकल्पितं नाथ गृहाण ढुण्ढे ॥४८॥
पुनस्तथाऽऽचम्य सुवासितं च दत्तं मया तीर्थजलं पिबस्व।
प्रकल्प्य विघ्नेश ततः परं ते सम्प्रोञ्छनं हस्तमुखे करोमि ॥४९॥
द्राक्षादि-रम्भाफल-चूतकानि खार्जूर-कार्कन्धुक-दाडिमानि।
सुस्वादयुक्तानि मया प्रकल्प्य गृहाण दत्तानि फलानि ढुण्ढे ॥५०॥
पुनर्जलेनैव करादिकं ते संक्षालयामि मनसा गणेश।
सुवासितं तोयमथो पिबस्व मया प्रदत्तं मनसा परेश ॥५१॥
अष्टाङ्गयुक्तं गणनाथ दत्तं ताम्बूलकं ते मनसा मया वै।
गृहाण विघ्नेश्वर भावयुक्तं सदाऽसकृत्तुण्डविशोधनार्थम् ॥५२॥
ततो मया कल्पितके गणेश महासने रत्नसुवर्णयुक्ते।
मन्दार-कूर्पासकयुक्त-वस्त्रैरनर्घ्य-सञ्छादतके प्रसीद ॥५३॥
ततस्त्वदीयावरणं परेश सम्पूजयामि मनसा यथावत्।
नानोपचारैः परमप्रियस्तु त्वत्प्रीतिकामार्थमनाथबन्धो ॥५४॥
गृहाण लम्बोदर दक्षिणां ते ह्यसंख्यभूतां मनसा प्रदत्ताम्।
सौवर्ण-मुद्रादिक-मुख्यभावां पाहि प्रभो विश्वमिदं गणेश ॥५५॥
राजोपचारान् विविधान् गृहाण हस्त्यश्व-छत्रादिकमादराद् वै।
चित्तेन दत्तान् गणनाथ ढुण्ढे ह्यपारसंख्यान् स्थिरजङ्गमांस्ते ॥५६॥
दानस्य नानाविधरूपकांस्ते गृहाण दत्तान् मनसा मया वै।
पदार्थभूतान् स्थिर-जङ्गमांश्च हेरम्ब मां तारय मोहभावात् ॥५७॥
मन्दारपुष्पाणि शमीदलानि दूर्वाङ्कुरांस्ते मनसा ददामि।
हेरम्ब लम्बोदर दीनपाल गृहाण भक्तं कुरु मां पदे ते ॥५८॥
ततो हरिद्रामबिरं गुलालं सिन्दूरकं ते परिकल्पयामि।
सुवासितं वस्तुसुवासभूतैर्गृहाण ब्रह्मेश्वर-शोभनार्थम् ॥५९॥

ततः शुकाद्याः शिव-विष्णुमुख्या इन्द्रादयः शेषमुखास्तथाऽन्ये।
मुनीन्द्रकाः सेवकभावयुक्ताः सभासनस्थं प्रणमन्ति ढुण्ढिम् ॥६०॥
वामाङ्कके भक्तियुता गणेशं सिद्धिस्तु नानाविधसिद्धिभिस्तम्।
अत्यन्तभावेन सुसेवते तु मायास्वरूपा परमार्थभूता ॥६१॥
गणेश्वरं दक्षिणभागसंस्था बुद्धिः कलाभिश्च सुबोधिकाभिः।
विद्याभिरेवं भजते परेशा मायासु सांख्यप्रदचित्तरूपा ॥६२॥
प्रमोदमोदाः खलु पृष्ठभागे गणेश्वरं भावयुतो भजन्ते।
भक्तेश्वरा मुद्गलशम्भुमुख्याः शुकादयस्तस्य पुरो भजन्ते ॥६३॥
गन्धर्वमुख्या मधुरं जगुश्च गणेशगीतं विविधस्वरूपम्।
नृत्यं कलायुक्तमथो पुरस्ताच्छत्रुस्तथा ह्यप्सरसो विचित्रम् ॥६४॥
इत्यादि-नानाविध-भावयुक्तैः संसेवितं विघ्नपतिं भजामि।
चित्तेन ध्यात्वा तु निरञ्जनं वै करोमि नानाविधदीपयुक्तम् ॥६५॥
चतुर्भुजं पाशधरं गणेशं तथाऽङ्कुशं दन्तयुतं तमेवम्।
त्रिनेत्रयुक्तं त्वभयङ्करं तं महोदरं चैकरदं गजास्यम् ॥६६॥
सर्पोपवीतं गुणकर्णधारं विभूतिभिः सेवितपादपद्मम्।
ध्याये गणेशं विविधप्रकारैः सुपूजितं शक्तियुतं परेशम् ॥६७॥
ततो जपं वै मनसा करोमि स्वमूलमन्त्रस्य विधानयुक्तम्।
असंख्यभूतं गणराजहस्ते समर्पयाम्येव गृहाण ढुण्ढे ॥६८॥
आरार्तिकां कर्पुरकादिभूतामपारदीपां प्रकरोमि पूर्णाम्।
चित्तेन लम्बोदर तां गृहाण ह्यज्ञानध्वान्तौघहरा निजानाम् ॥६९॥
वेदेषु वैघ्नेश्वरकैः सुमन्त्रैः सुमन्त्रितं पुष्पदलं प्रभूतम्।
गृहाण चित्तेन मया प्रदत्तमपारवृत्त्या त्वथ मन्त्रपुष्पम् ॥७०॥
अपारवृत्त्या स्तुतिमेकदन्तं गृहाण चित्तेन कृतां गणेश।
युक्तं श्रुतिस्मार्तभवैः पुराणैः सर्वैः परेशाधिपते मया ते ॥७१॥

प्रदक्षिणा मानसकल्पितास्ता गृहाण लम्बोदर भावयुक्ताः ।
संख्याविहीना विविधस्वरूपा भक्तान् सदा रक्ष भवार्णवाद् वै ॥७२॥
नतिं ततो विघ्नपते गृहाण साष्टाङ्गकाद्या विविधस्वरूपाम् ।
संख्याविहीनां मनसा कृतां ते सिद्ध्या च बुद्ध्या परिपालयाशु ॥७३॥
न्यूनातिरिक्तं तु मया कृतं चेत्तदर्थमन्ते मनसा गृहाण ।
दूर्वाङ्कुरान् विघ्नपते प्रदत्तान् सम्पूर्णमेवं कुरु पूजनं मे ॥७४॥
क्षमस्व विघ्नाधिपते मदीयान् सदापराधान् विविधस्वरूपान् ।
भक्तिं मदीयां सफलां कुरुष्व सम्प्रार्थयामि मनसा गणेश ॥७५॥
ततः प्रसन्नेन गजाननेन दत्तं प्रसादं शिरसाऽभिवन्द्य ।
स्वमस्तके तं परिधारयामि चित्तेन विघ्नेश्वरमानतोऽस्मि ॥७६॥
उत्थाय विघ्नेश्वर एव तस्मादतस्ततस्त्वन्तरधानशक्त्या ।
शिवादयस्तं प्रणिपत्य सर्वे गताः सुचित्तेन च चिन्तयामि ॥७७॥
सर्वान्नमस्कृत्य ततोऽहमेव भजामि चित्तेन गणाधिपं तम् ।
स्वस्थानमागत्य महानुभावैर्भक्तैर्गणेशस्य च खेलयामि ॥७८॥
एवं त्रिकालेषु गणाधिपं तं चित्तेन नित्यं परिपूजयामि ।
तेनैव तुष्टः प्रददातु भावं विघ्नेश्वरो भक्तिमयं तु मह्यम् ॥७९॥
गणेशपादोदकपानकं च ह्युच्छिष्टगन्धस्य सुलेपनं तु ।
निर्माल्य-सन्धारणकं सुभोज्यी लम्बोदरस्यास्तु हि मुक्तशेषम् ॥८०॥
यद्यत्करोम्येव तदेव दीक्षा गणेश्वरस्यास्तु सदा गणेश ।
प्रसीद नित्यं तव पादभक्तं कुरुष्व मां ब्रह्मपते दयालो ॥८१॥
ततस्तु शय्यां परिकल्पयामि मन्दार-कूर्पासक-वस्त्रयुक्ताम् ।
सुवास-पुष्पादिभिरर्चितां ते गृहाण निद्रां कुरु विघ्नराज ॥८२॥
सिद्ध्या च बुद्ध्या सहितं गणेश सुनिद्रितं वीक्ष्य तथाऽहमेव ।
गत्वा स्ववासं च करोमि निद्रां ध्यात्वा हृदि ब्रह्मपतिं तदीयः ॥८३॥

एतादृशं सौख्यमयोघशक्ते देहि प्रभो मानसजं गणेशम्।
मह्यं च तेनैव कृतार्थरूपो भवामि भक्त्या रसलालसोऽहम् ॥८४॥

गार्ग्य उवाच

एवं नित्यं महाराज गृत्समादो महायशाः।
चकार मानसीं पूजां योगीन्द्राणां गुरुः स्वयम् ॥८५॥
य एतां मानसीं पूजां करिष्यति नरोत्तमः।
पठिष्यति सदा सोऽपि गाणपत्यो भविष्यति ॥८६॥
श्रावयिष्यति यो मर्त्यः श्रोष्यते भावसंयुतः।
स क्रमेण महीपाल! ब्रह्मभूतो भविष्यति ॥८७॥
यद्यदिच्छति तत्तद् वै सफलं तस्य जायते।
अन्ते स्वानन्दगः सोऽपि योगिवन्द्यो भविष्यति ॥८८॥

इति श्रीमदान्त्ये मौद्गल्ये गणेशमानसपूजा समाप्ता ॥२४॥

❀❀❀

२५. गणेशबाह्यपूजा

ऐल उवाच

बाह्यपूजां वद विभो! गृत्समदप्रकीर्तिताम्।
येन मार्गेण विघ्नेशं भजिष्यसि निरन्तरम् ॥१॥

गार्ग्य उवाच

आदौ च मानसीं पूजां कृत्वा गृत्समदा मुनिः।
बाह्यां चकार विधिवत्तां शृणुष्व सुखप्रदाम् ॥२॥
हृदि ध्यात्वा गणेशानं परिवारादिसंयुतम्।
नासिकारन्ध्रमार्गेण तं बाह्याङ्गं चकार ह ॥३॥
आदौ वैदिकमन्त्रं स गणानां त्वेति सम्पठन्।
पश्चाच्छ्लोकं समुच्चार्य पूजयामास विघ्नपम् ॥४॥

गृत्समद उवाच

चतुर्बाहुं त्रिनेत्रं च गजास्यं रक्तवर्णकम्।
पाशाऽङ्कुशादि-संयुक्तं मायायुक्तं प्रचिन्तयेत्॥५॥
आगच्छ ब्रह्मणां नाथ सुरा-ऽसुर-वरार्चित।
सिद्धि-बुद्ध्यादि-संयुक्त! भक्तिग्रहणलालस!॥६॥
कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं तवागमनतः प्रभो।
विघ्नेशाऽनुगृहीतोऽहं सफलो मे भवोऽभवत्॥७॥
रत्नसिंहासनं स्वामिन् गृहाण गणनायक।
तत्रोपविश्य विघ्नेश रक्ष भक्तान् विशेषतः॥८॥
सुवासिताभिरद्भिश्च पादप्रक्षालनं प्रभो!।
शीतोष्णाम्भः करोमि ते गृहाण पाद्यमुत्तमम्॥९॥
सर्वतीर्थाहृतं तोयं सुवासितं सुवस्तुभिः।
आचमनं च तेनैव कुरुष्व गणनायक॥१०॥
रत्न-प्रवाल-मुक्ताद्यैरनर्घ्यैः संस्कृतं प्रभो!।
अर्घ्यं गृहाण हेरम्ब द्विरदानन तोषकम्॥११॥
दधि-मधु-घृतैर्युक्तं मधुपर्कं गजानन।
गृहाण भावसंयुक्तं मया दत्तं नमोऽस्तु ते॥१२॥
पाद्ये च मधुपर्के च स्नाने वस्त्रोपधारणे।
उपवीते भोजनान्ते पुनराचमनं कुरु॥१३॥
चम्पकाद्यै-र्गणाध्यक्ष वासितं तैलमुत्तमम्।
अभ्यङ्गं कुरु सर्वेश! लम्बोदर! नमोऽस्तु ते॥१४॥
यक्ष-कर्दमकाद्यैश्च विघ्नेश भक्तवत्सल!।
उद्वर्तनं कुरुष्व त्वं मया दत्तैर्महाप्रभो॥१५॥

नानातीर्थजलैर्ढुण्ढे ! सुखोष्णभावरूपकैः ।
कमण्डलूद्भवैः स्नानं कुरु ढुण्ढे समर्पितैः ॥१६॥
कामधेनु-समुद्भूतं पयः परमपावनम् ।
तेन स्नानं कुरुष्व त्वं हेरम्ब परमार्थवित् ॥१७॥
पञ्चामृतानां मध्ये तु जलैः स्नानं पुनः पुनः ।
कुरु त्वं सर्वतीर्थेभ्यो गङ्गादिभ्यः समाहृतैः ॥१८॥
दधि धेनुपयोद्भूतं मलापहरणं परम् ।
गृहाण स्नानकार्यार्थं विनायक दयानिधे ॥१९॥
धेनुदुग्धोद्भवं ढुण्ढे घृतं सन्तोषकारकम् ।
महामलापघातार्थं तेन स्नानं कुरु प्रभो ॥२०॥
सारघं संस्कृतं पूर्णं मधु मधुरसोद्भवम् ।
गृहाण स्नानकार्यार्थं विनायक नमोऽस्तु ते ॥२१॥
इक्षुदण्डसमुद्भूतां शर्करां मलनाशिनीम् ।
गृहाण गणनाथ त्वं तया स्नानं समाचर ॥२२॥
यक्षकर्दमकाद्यैश्च स्नानं कुरु गणेश्वर ! ।
अन्त्यं मलहरं शुद्धं सर्वसौगन्ध्यकारकम् ॥२३॥
ततो गन्धाक्षतादींश्च दूर्वाङ्कुरान् गजानन ।
समर्पयामि स्वल्पांस्त्वं गृहाण परमेश्वर ॥२४॥
ब्राह्मणस्पत्यसूक्तैश्च ह्येकविंशतिवारकैः ।
अभिषेकं करोमि ते गृहाण द्विरदानन ॥२५॥
तत आचमनं देव सुवासितजलेन च ।
कुरुष्व गणनाथ त्वं सर्वतीर्थभवेन वै ॥२६॥
वस्त्रयुग्मं गृहाण त्वमनर्घ्यं रक्तवर्णकम् ।
लोकलज्जाहरं चैव विघ्ननाथ नमोऽस्तु ते ॥२७॥

उत्तरीयं सुचित्रं वै नभस्ताराङ्कितं यथा।
गृहाण सर्वसिद्धीश मया दत्तं सुभक्तितः ॥२८॥
उपवीतं गणाध्यक्ष गृहाण च ततः परम्।
त्रैगुण्यमयरूपं तु प्रणवग्रन्थिबन्धनम् ॥२९॥
ततः सिन्दूरकं देव गृहाण गणनायक।
अङ्गलेपनभावार्थं सदानन्दविवर्धनम् ॥३०॥
नानाभूषणकानि त्वमङ्गेषु विविधेषु च।
भासुरस्वर्णरत्नैश्च निर्मितानि गृहाण भो ॥३१॥
अष्टगन्ध-समायुक्तं गन्धं रक्तं गजानन।
द्वादशाङ्गेषु ते ढुण्ढे लेपयामि सुचित्रवत् ॥३२॥
रक्तचन्दनसंयुक्तानथ वा कुङ्कुमैर्युतान्।
अक्षतान् विघ्नराज त्वं गृहाण भालमण्डले ॥३३॥
चम्पकादि-सुवृक्षेभ्यः सम्भूतानि गजानन।
पुष्पाणि शमी-मन्दार-दूर्वादीनि गृहाण च ॥३४॥
दशाङ्गं गुग्गुलुं धूपं सर्वसौरभकारकम्।
गृहाण त्वं मया दत्तं विनायक महोदर ॥३५॥
नानाजातिभवं दीपं गृहाण गणनायक।
अज्ञानमलजं दोषं हरन्तं ज्योतिरूपकम् ॥३६॥
चतुर्विधान्नसम्पन्नं मधुरं लड्डुकादिकम्।
नैवेद्यं ते मया दत्तं भोजनं कुरु विघ्नप ॥३७॥
सुवासितं गृहाणेदं जलं तीर्थसमाहृतम्।
भुक्तिमध्ये च पानार्थं देवदेवेश ते नमः ॥३८॥
भोजनान्ते करोद्वर्तं यक्षकर्दमकेन च।
कुरुष्व त्वं गणाध्यक्ष पिब तोयं सुवासितम् ॥३९॥

दाडिमं खर्जुरं द्राक्षां रम्भादीनि फलानि वै।
गृहाण देवदेवेश नानामधुरकाणि तु ॥४०॥
अष्टाङ्गं देव ताम्बूलं गृहाण मुखवासनम्।
असकृद्विघ्नराज त्वं मया दत्तं विशेषतः ॥४१॥
दक्षिणां काञ्चनाद्यां तु, नानाधातुसमुद्भवाम्।
रत्नाद्यैः संयुतां ढुण्ढे गृहाण सकलप्रिय ॥४२॥
राजोपचारकाद्यानि गृहाण गणनायक।
दानानि तु विचित्राणि मया दत्तानि विघ्नप ॥४३॥
तत आभरणं तेऽहमर्पयामि विधानतः।
विविधैरुपचारैश्च तेन तुष्टो भव प्रभो ॥४४॥
ततो दूर्वाङ्कुरान् ढुण्ढे एकविंशतिसंख्यकान्।
गृहाण कार्यसिद्ध्यर्थं भक्तवात्सल्यकारणात् ॥४५॥
नानादीपसमायुक्तं नीराजनं गजानन।
गृहाण भावसंयुक्तं सर्वाज्ञानादिनाशन ॥४६॥
गणानां त्वेति मन्त्रस्य जपं साहस्रकं परम्।
गृहाण गणनाथ त्वं सर्वसिद्धिप्रदो भव ॥४७॥
आर्तिक्यं च सुकर्पूरं नानादीपमयं प्रभो।
गृहाण ज्योतिषां नाथ तथा नीराजयाम्यहम् ॥४८॥
पादयोस्ते तु चत्वारि नाभौ द्वे वदने प्रभो।
एकं तु सप्तवारं वै सर्वाङ्गेषु निरञ्जनम् ॥४९॥
चतुर्वेदभवैर्मन्त्रैर्गाणपत्यैर्गजानन।
मन्त्रितानि गृहाण त्वं पुष्पपत्राणि विघ्नप ॥५०॥
पञ्चप्रकारकैः स्तोत्रैर्गाणपत्यैर्गणाधिप।
स्तौमि त्वां तेन सन्तुष्टो भव भक्तिप्रदायक ॥५१॥

एकविंशतिसंख्यं वा त्रिसंख्यं वा गजानन।
प्रादक्षिण्यं गृहाण त्वं ब्रह्मन् ब्रह्मेशभावन ॥५२॥
साष्टाङ्गां प्रणतिं नाथ एकविंशतिसम्मिताम्।
हेरम्ब सर्वपूज्य त्वं गृहाण तु मया कृताम् ॥५३॥
न्यूनातिरिक्तभावार्थं किञ्चिद् दुर्वाङ्कुरान् प्रभो।
समर्पयामि तेन त्वं साङ्गां पूजां कुरुष्व ताम् ॥५४॥
त्वया दत्तं स्वहस्तेन निर्माल्यं चिन्तयाम्यहम्।
शिखायां धारयाम्येव सदा सर्वप्रदं च तत् ॥५५॥
अपराधानसंख्यातान् क्षमस्व गणनायक।
भक्तं कुरु च मां ढुण्ढे तव पादप्रियं सदा ॥५६॥
त्वं माता त्वं पिता मे वै सुहृत्सम्बन्धिकादयः।
त्वमेव कुलदेवश्च सर्वं त्वं मे न संशयः ॥५७॥
जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिभिर्देह-वाङ्मनसैः कृतम्।
सांसर्गिकेण यत्कर्म गणेशाय समर्पये ॥५८॥
बाह्यं नानाविधं पापं महोग्रं तल्लयं व्रजेत्।
गणेशपादतीर्थस्थ मस्तके धारणात् किल ॥५९॥
पादोदकं गणेशस्य पीतं मर्त्येण तत्क्षणात्।
सर्वान्तर्गतजं पापं नश्यति गणनातिगम् ॥६०॥
गणेशोच्छिष्टगन्धं वै द्वादशाङ्गेषु चर्चयेत्।
गणेशतुल्यरूपः स दर्शनात् सर्वपापहा ॥६१॥
यदि गणेशपूजादौ गन्धभस्मादिकं चरेत्।
अथवोच्छिष्टगन्धं तु नो चेत्तत्र विधिं चरेत् ॥६२॥
द्वादशाङ्गेषु विघ्नेशं नाममन्त्रेण चाऽर्चयेत्।
तेन सोऽपि गणेशेन समो भवति भूतले ॥६३॥

आदौ गणेश्वरं मूर्ध्नि ललाटे विघ्ननायकम्।
दक्षिणे कर्णमूले तु वक्रतुण्डं समर्चयेत् ॥६४॥
वामे कर्णस्य मूले वै चैकदन्तं समर्चयेत्।
कण्ठे लम्बोदरं देवं हृदि चिन्तामणिं तथा ॥६५॥
बाहौ दक्षिणके चैव हेरम्बं वामबाहुके।
विकटं नाभिदेशे तु विघ्ननाथं समर्चयेत् ॥६६॥
कुक्षौ दक्षिणगायां तु मयूरेशं समर्चयेत्।
वामकुक्षौ गजास्यं वै पृष्ठे स्वानन्दपासिनम् ॥६७॥
सर्वाङ्गलेपनं शस्तं चित्रितं चाऽष्टगन्धकैः।
गणेशानां विशेषेण सर्वभद्रस्य कारणात् ॥६८॥
ततोच्छिष्टं तु नैवेद्यं गणेशस्य भुनज्म्यहम्।
भुक्ति-मुक्तिप्रदं पूर्णं नानापापनिकृन्तनम् ॥६९॥
गणेशस्मरणेनैव करोमि कालखण्डनम्।
गाणपत्यैश्च संवासः सदाऽस्तु मे गजानन ॥७०॥

गार्ग्य उवाच

एवं गृत्समदश्चैव चकार बाह्यपूजनम्।
त्रिकालेषु महायोगी सदा भक्तिसमन्वितः ॥७१॥
तथा कुरु महीपाल गाणपत्यो भविष्यसि।
यथा गृत्समदः साक्षात्तथा त्वमपि निश्चितम् ॥७२॥

इति श्रमदान्त्ये मुद्गलपुराणे गणेशबाह्यपूजा समाप्ता ॥२५॥

इति गणेशस्तोत्राणि।

श्रीगणेश चालीसा

दोहा

जय गणपति सद्‌गुन सदन, करिवर बदन कृपाल ।
विघ्नहरण मंगल-करण, जय जय गिरिजालाल ॥

जय जय जय गणपति गणराजू । मंगल भवन करण शुभ काजू ॥
जय गजबदन सदन सुखदाता । विश्व विनायक बुद्धि विधाता ॥
वक्रतुण्ड शुचि शुण्ड सुहावन । तिलक त्रिपुण्ड भाल मनभावन ॥
राजत मणि-मुक्तन उर माला । स्वर्ण मुकुट शिर नयन विशाला ॥
पुस्तक पाणि कुठार त्रिशूलं । मोदक भोग सुगन्धित फूलं ॥
सुन्दर पीताम्बर तन साजित । चरणपादुका मुनि मन राजित ॥
धनि शिव सुवन षडाननभ्राता । गौरी ललन विश्व विख्याता ॥
ऋद्धि सिद्धि तव चँवर सुधारे । मूषक वाहन सोहत द्वारे ॥
कहौं जन्म शुभ कथा तुम्हारी । अति शुचि पावन मंगलकारी ॥
एक समय गिरिराज कुमारी । पुत्र हेतु तप कीन्हीं भारी ॥
भयो यज्ञ जब पूर्ण अनूपा । तब पहुँच्यो तुम धरि द्विज रूपा ॥
अतिथि जानि भे गौरि सुखारी । बहु विधि सेवा करी तुम्हारी ॥
अति प्रसन्न ह्वै तुम वर दीन्हा । मातु पुत्र हित जो तप कीन्हा ॥
मिलहिं पुत्र तुहि बुद्धि विशाला । बिना गर्भ धारण यहि काला ॥
गणनायक गुण ज्ञान निधाना । पूजित प्रथम रूप भगवाना ॥
अस कहि अन्तर्धान रूप ह्वै । पलना पर बालक स्वरूप ह्वै ॥
बनि शिशु रुदन जबहिं तुम ठाना । लखि मुख सुख नहिं गौरि समाना ॥
सकल मगन सुख मंगल गावहिं । नभ ते सुरन सुमन बर्षावहिं ॥
शम्भु उमा बहुदान लुटावहिं । सुर-मुनिजन सुत देखन आवहिं ॥
लखि अति आनन्द मंगल साजा । देखन भी आए शनि राजा ॥
निज अवगुण गनि शनि मन माहीं । बालक देखन चाहत नाहीं ॥

गिरिजा कछु मन भेद बढ़ायो । उत्सव मोर न शनि तुहि भायो ॥
कहन लगे शनि, मन सकुचाई । का करिहौं, शिशु मोहि दिखाई ॥
नहिं विश्वास, उमा उर भयऊ । शनि सों ब्रालक देखन कहेऊ ॥
पड़तहिं शनि दृगकोण प्रकाशा । बालक सिर उड़ि गयो अकाशा ॥
गिरिजा गिरीं विकल है धरणी । सो दुख दशा जाइ नहिं व़रणी ॥
हाहाकार मच्यो कैलाशा । शनि कीन्हों लखि सुत का नाशा ॥
तुरत गरुड़ चढ़ि विष्णु सिधाये । काटि चक्र सों गजशिर लाये ॥
बालक के धड़ ऊपर धार्‌यो । प्राण मन्त्र पढ़ि शंकर डार्‌यो ॥
नाम 'गणेश' शम्भु तब कीन्हें । प्रथम पूज्य बुद्धिनिधि, वर दीन्हें ॥
बुद्धि परीक्षा जब शिव लीन्ही । पृथ्वी कर प्रदक्षिणा कीन्ही ॥
चले षडानन भरमि भुलाई । रचे बैठि तुम बुद्धि उपाई ॥
चरण मातु पितु के धर लीन्हें । तिनके सात प्रदक्षिण कीन्हें ॥
धनि गणेश कहि शिव हिय हर्ष्यो । नभ ते सुरन सुमन बहु बर्ष्यो ॥
तुम्हरी महिमा बुद्धि बड़ाई । शेष सहस मुख सके न गाई ॥
मैं मतिहीन मलीन दुखारी । करहुँ कौन विधि विनय तुम्हारी ॥
भजत 'राम सुन्दर' प्रभुदासा । लग प्रयाग, ककरा, दुर्वासा ॥
अब प्रभु दया दीन पर कीजै । अपनी भक्ति शक्ति कछु दीजै ॥

दोहा

श्री गणेश यह चालीसा, पाठ करै धर ध्यान ।
नित नव मंगल गृह बसै, लहे जगत सनमान ॥
सम्बत अपना सहस दश, ऋषि पंचमी दिनेश ।
पूरण चालीसा भयो, मंगल मूर्ति गणेश ॥

॥ इति श्रीगणेशचालीसा समाप्त ॥

●

प्रार्थना : श्रीगणेशजी की

जय गणेश जय गणेश जय गणेश देवा ।
माता जाकी पार्वती पिता महादेवा ।
लड्डुवन का भोग लगे सन्त करे सेवा ।
एकदन्त दयावन्त चार भुजा धारी ।
मस्तक सिन्दूर सोहे मूसे की सवारी ।
अन्धन को आँख देत कोढ़िन को काया ।
बाँझन को पुत्र देत निर्धन को माया ।
हार चढ़ें फूल चढ़ें और चढ़ें मेवा ।
लड्डुवन का भोग लगे सन्त करे सेवा ।
दीनन की लाज राखो शम्भु-सुत वारी ।
कामना को पूरा करो जग बलिहारी ।